प्रकाशक—
शारदा मन्दिर
२९/१ गणेश दीक्षित,
काशी।

एम० ए० परीक्षा का पाठ्यग्रन्थ

प्रथम संस्करण
मूल्य ५॥)

मुद्रक—
महताब राय
नागरी मुद्रण, काशी।

ईशस्तवः

(१)

गणानां त्वा गणपतिं हवामहे
कविं कवीनामुपमश्रवस्तमम् ।
ज्येष्ठराजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पत
आ नः शृण्वन्नूतिभिः सीद सादनम् ॥

—ऋ० २।२३।१

(२)

तव स्याम पुरुवीरस्य शर्म-
न्नुरुशंसस्य वरुण प्रणेतः ।
यूयं नः पुत्रा अदितेरदब्धा
अभि क्षमध्वं युज्याय देवाः ॥

—ऋ० २।२८।३

(३)

अचित्ती यच्चकृमा दैव्ये जने
दीनैर्दक्षैः प्रभूती पूरुषत्वता ।
देवेषु च सवितर्मानुषेषु च
त्वं नो अत्र सुवतादनागसः ॥

—ऋ० ४।५४।३

संकेत सूची

अ० = अथर्ववेद

अ० = अध्याय

अनु० = अनुक्रमणी

अष्टा० = अष्टाध्यायी

आपि० शि० = आपिशली शिक्षा

उप = उपनिषद

ऋ०=ऋग्वेद

ऋ० प्रा० = ऋक् प्रातिशाख्य

ऐत० ब्रा० = ऐतरेय ब्राह्मण

कौषी० ब्रा० = कौषीतकि ब्राह्मण

छ० आ०=छन्द आर्चिक

छा० उ० = छान्दोग्य उपनिषद्

जै० सू० = जैमिनि सूक्त

ता० ब्रा० = ताण्ड्य ब्राह्मण

तै० ब्रा०=तैत्तिरीय ब्राह्मण

प० = पटल

बृह० उ०=बृहदारण्यक उपनिषद्

ब्रा० = ब्राह्मण

मी० सू० = मीमांसा सूत्र

वि० पू०=विक्रम पूर्व

वैशे० = वैशेषिक

शत० ब्रा० = शतपथ ब्राह्मण

शा० भा०=शाङ्करभाष्य

शु० य०=शुक्ल यजुर्वेद

सा० सू०=साङ्ख्य सूत्र

सा० सं०=साम संहिता

हा० ओ० सी०=हारवर्ड ओरियन्टल सीरीज

भूमिका

वेद के स्वरूप, महत्त्व तथा सिद्धान्त से परिचय प्राप्त करना प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति का, प्रधानतः प्रत्येक भारतीय का, नितान्त आवश्यक कर्तव्य है। वेद हमारी संस्कृति के मूल स्रोत हैं, हमारी सभ्यता को उच्चकोटि तक पहुँचानेवाले ग्रन्थ-रत्न हैं, जिनकी विमल प्रभा देश तथा काल के दुर्भेद्य आवरण को छिन्न-भिन्न कर आज भी विश्व के अध्यात्म-पारखी जौहरियों की आँखों को चकाचौंध बनाती है। जो लोग वेद के भीतर संसार की समस्त भौतिक तथा ऐहिक विद्याओं, कलाओं और आविष्कारों को ढूँढ निकालने का अक्लान्त परिश्रम करते हैं, वे नहीं जानते कि वेद तथा ज्ञान में अन्तर है। विद् धातु तथा ज्ञा धातु में सामान्यतः ऐक्य होने पर भी मूलतः पार्थक्य है। भौतिक विद्याओं की जानकारी का नाम है ज्ञान तथा अध्यात्म-शास्त्र के तथ्यों की अवगति का अभिधान है वेद। एक का लक्ष्य बाह्य विषयों के विश्लेषण की ओर रहता है, तो दूसरे का लक्ष्य आन्तर विषयों के संश्लेषण की ओर रहता है। यह पार्थक्य संस्कृत से सम्बद्ध अनेक यूरोपीय भाषाओं के शब्दों के अनुशीलन से भी स्पष्टतः जाना जा सकता है। जर्मन भाषा में दो सम्बद्ध धातु हैं—केन्नेन तथा वाइसेन। अंग्रेजी में दो सम्बद्ध शब्द हैं—नालेज तथा विजडम। इनमें केन्नेन तथा नो का साक्षात् सम्बन्ध है संस्कृत के ज्ञा धातु से और वाइसेन और विजडम का सम्बन्ध है विद् धातु से[1]। फलतः इन विदेशी शब्दों के भी अर्थों में वही भेद है, जो संस्कृत के ज्ञान तथा वेद शब्दों के अर्थ में है। इसलिए हमारी दृष्टि में वेद का मौलिक तात्पर्य अध्यात्म-शास्त्र की समस्याओं का हल करना है। सायण के

---

1 Kennen; Weisen, Knowledge; Wisdom.; know

अनुसार वेद का वेदत्व प्रत्यक्ष अथवा अनुमान के द्वारा अगम्य उपाय के बोधन में है—

"प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते ।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता ॥"

विश्व के आद्य ग्रन्थ, भारतीय धर्म के कमनीय कल्पद्रुम, आर्य-संस्कृति के प्राणदाता वेद के रूप तथा रहस्य, स्वरूप तथा सिद्धान्त का ज्ञान भारतीय संस्कृति के उपासक के लिये नितान्त आवश्यक है। परन्तु दुःख की बात है कि वेदों के गाढ़ अनुशीलन की बात तो दूर रहे, उनके साथ हमारा सामान्य परिचय भी नहीं है। वेदों के परिचायक ग्रन्थों की नितान्त आवश्यकता बनी है।

वेद हमारे वैदिक धर्म के मूलग्रन्थ हैं। भारत के वर्तमान धर्म, धार्मिक विकास तथा दर्शन के नाना सम्प्रदायों के यथार्थ ज्ञान के लिए वेद का ज्ञान नितान्त अपेक्षित है। साधारण शिक्षित जनों की तो कथा ही न्यारी है जब हमारे संस्कृत की शिक्षा-दीक्षा से मण्डित पण्डित-जन भी वेद से बहुत ही कम परिचय रखते हैं। सच तो यह है कि हमने पुराण तथा दर्शन की ओर अधिक ध्यान देकर वेदों के प्रति बड़ी उदासीनता दिखलाई है। हम लोगों ने उस अमूल्य निधि को सन्दूक के अन्दर बन्द कर रखा है। न आप उससे लाभ उठाते हैं, न दूसरों को लाभ उठाने का अवसर देते हैं। इसलिए आज वेद के प्रति हमारा अज्ञान पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ है; वेद की हमारी अवहेलना अन्तिम कोटि को स्पर्श कर रही है। इस अज्ञान को दूर करने के लिए मेरा यह एक लघु प्रयास है।

वेद के प्रति प्राचीन भारतीय समीक्षकों की विचारधारा एक छोर पर है, तो नव्य पाश्चात्य आलोचकों की दूसरी छोर पर। इस ग्रन्थ में इन दोनों छोरों को मिलाने का यथाशक्ति उद्योग किया गया है। दोनों प्रकार

की समीक्षाओं तथा मन्तव्यों का निर्देश उचित स्थान पर किया गया है। ग्रन्थ में तीन खण्ड हैं। प्रवेशखण्ड में वेद से सम्बन्ध रखनेवाले प्रारम्भिक विषयों का—जैसे वेद का महत्त्व, स्वरूप, वेदानुशीलन की पद्धति, वेद का आविर्भावकाल—विवरण प्रस्तुत किया गया है। इतिहास खण्ड में वेद तथा वेदाङ्ग का क्रमबद्ध इतिहास है। यह खण्ड ग्रन्थ का मेरुदण्ड है। मैंने वेद के नाना ग्रन्थो के विषय-विवेचन की ओर विशेष लक्ष्य रखा है जिससे पाठकों के सामने वेद के अन्तरङ्ग का यथासाध्य पूर्ण चित्र प्रस्तुत हो। संस्कृति खण्ड में वैदिक संस्कृति के मान्य सिद्धान्त संक्षेप में उपस्थित किये गये हैं। इस प्रकार वेद के साहित्य का इतिहास और तत्कालीन संस्कृति का विवरण एक ही ग्रन्थ में संक्षेप में निबद्ध करने का यह प्रयास उभय दृष्टिवाले पाठकों के लिए लाभदायक सिद्ध होगा, ऐसी मेरी पूरी धारणा है।

लेखक वेद की गम्भीरता तथा रहस्यवादिता में पूर्ण श्रद्धा रखने वाला एक आस्तिक जन है। फलतः वेद की नवीन दृष्टि से ऐतिहासिक मीमांसा करने पर भी वह उसे अध्यात्मशास्त्र का एक द्युतिमान् निधि मानता है जिसका मूल्य वर्तमानयुग के लिए भी अत्यन्त अधिक है। स्थानाभाव से वैदिक मन्त्रों के रहस्यों का उद्‌घाटन नहीं हुआ है, परन्तु स्थान-स्थान पर उनके भीतर वर्तमान गम्भीर सिद्धान्तों की ओर संकेत अवश्यमेव कर दिया गया है। यह ग्रन्थ आचार्य तथा एम० ए० परीक्षा के छात्रों की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर लिखा गया है। इसलिए नवीन तथ्यों के विवरण देने की अपेक्षा परिनिष्ठित सिद्धान्तों का ही विवेचन अधिक है। परिशिष्ट में वैदिक व्याकरण और स्वरप्रक्रिया के नियमों का संक्षिप्त परिचय छात्रों के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध होगा।

मैं उन देशी तथा विदेशी विद्वानों का विशेष आभार मानता हूँ जिनके ग्रन्थों की विवेचना से मैंने लाभ उठाया है। वेद के विषय में

अनुसार वेद का वेदत्व प्रत्यक्ष अथवा अनुमान के द्वारा अगम्य उपाय के बोधन में है—

"प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते ।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता ॥"

विश्व के आद्य ग्रन्थ, भारतीय धर्म के कमनीय कल्पद्रुम, आर्य-संस्कृति के प्राणदाता वेद के रूप तथा रहस्य, स्वरूप तथा सिद्धान्त का ज्ञान भारतीय संस्कृति के उपासक के लिये नितान्त आवश्यक है। परन्तु दुःख की बात है कि वेदों के गाढ़ अनुशीलन की बात तो दूर रहे, उनके साथ हमारा सामान्य परिचय भी नहीं है। वेदों के परिचायक ग्रन्थों की नितान्त आवश्यकता बनी है।

वेद हमारे वैदिक धर्म के मूलग्रन्थ हैं। भारत के वर्तमान धर्म, धार्मिक विकास तथा दर्शन के नाना सम्प्रदायों के यथार्थ ज्ञान के लिए वेद का ज्ञान नितान्त अपेक्षित है। साधारण शिक्षित जनों की तो कथा ही न्यारी है जब हमारे संस्कृत की शिक्षा-दीक्षा से मण्डित पण्डित-जन भी वेद से बहुत ही कम परिचय रखते हैं। सच तो यह है कि हमने पुराण तथा दर्शन की ओर अधिक ध्यान देकर वेदों के प्रति बड़ी उदासीनता दिखलाई है। हम लोगों ने इस अमूल्य निधि को सन्दूक के अन्दर बन्द कर रखा है। न आप उससे लाभ उठाते हैं, न दूसरों को लाभ उठाने का अवसर देते हैं। इसलिए आज वेद के प्रति हमारा अज्ञान पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ है; वेद की हमारी अवहेलना अन्तिम कोटि को स्पर्श कर रही है। इस अज्ञान को दूर करने के लिए मेरा यह एक लघु प्रयास है।

वेद के प्रति प्राचीन भारतीय समीक्षकों की विचारधारा एक छोर पर है, तो नव्य पाश्चात्य आलोचकों की दूसरी छोर पर। इस ग्रन्थ में इन दोनों छोरों को मिलाने का यथाशक्ति उद्योग किया गया है। दोनों प्रकार

की समीक्षाओं तथा मन्तव्यों का निर्देश उचित स्थान पर किया गया है। ग्रन्थ में तीन खण्ड हैं। प्रवेशखण्ड में वेद से सम्बन्ध रखनेवाले प्रारम्भिक विषयों का—जैसे वेद का महत्त्व, स्वरूप, वेदानुशीलन की पद्धति, वेद का आविर्भावकाल—विवरण प्रस्तुत किया गया है। इतिहास खण्ड में वेद तथा वेदाङ्ग का क्रमबद्ध इतिहास है। यह खण्ड ग्रन्थ का मेरुदण्ड है। मैंने वेद के नाना ग्रन्थो के विषय-विवेचन की ओर विशेष लक्ष्य रखा है जिससे पाठकों के सामने वेद के अन्तरङ्ग का यथासाध्य पूर्ण चित्र प्रस्तुत हो। संस्कृति खण्ड में वैदिक संस्कृति के मान्य सिद्धान्त संक्षेप में उपस्थित किये गये हैं। इस प्रकार वेद के साहित्य का इतिहास और तत्कालीन संस्कृति का विवरण एक ही ग्रन्थ में संक्षेप में निवद्ध करने का यह प्रयास उभय दृष्टिवाले पाठकों के लिए लाभदायक सिद्ध होगा, ऐसी मेरी पूरी धारणा है।

लेखक वेद की गम्भीरता तथा रहस्यवादिता में पूर्ण श्रद्धा रखने वाला एक आस्तिक जन है। फलतः वेद की नवीन दृष्टि से ऐतिहासिक मीमांसा करने पर भी वह उसे अध्यात्मशास्त्र का एक द्युतिमान् निधि मानता है जिसका मूल्य वर्तमानयुग के लिए भी अत्यन्त अधिक है। स्थानाभाव से वैदिक मन्त्रों के रहस्यो का उद्घाटन नहीं हुआ है, परन्तु स्थान-स्थान पर उनके भीतर वर्तमान गम्भीर सिद्धान्तों की ओर संकेत अवश्यमेव कर दिया गया है। यह ग्रन्थ आचार्य तथा एम० ए० परीक्षा के छात्रों की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर लिखा गया है। इसलिए नवीन तथ्यों के विवरण देने की अपेक्षा परिनिष्ठित सिद्धान्तों का ही विवेचन अधिक है। परिशिष्ट में वैदिक व्याकरण और स्वरप्रक्रिया के नियमों का संक्षिप्त परिचय छात्रों के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध होगा।

मैं उन देशी तथा विदेशी विद्वानों का विशेष आभार मानता हूँ जिनके ग्रन्थों की विवेचना से मैंने लाभ उठाया है। वेद के विषय में

अनुसार वेद का वेदत्व प्रत्यक्ष अथवा अनुमान के द्वारा अगम्य उपाय के बोधन में है—

"प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते ।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता ॥"

विश्व के आद्य ग्रन्थ, भारतीय धर्म के कमनीय कल्पद्रुम, आर्य-संस्कृति के प्राणदाता वेद के रूप तथा रहस्य, स्वरूप तथा सिद्धान्त का ज्ञान भारतीय संस्कृति के उपासक के लिये नितान्त आवश्यक है। परन्तु दुःख की बात है कि वेदों के गाढ़ अनुशीलन की बात तो दूर रहे, उनके साथ हमारा सामान्य परिचय भी नहीं है। वेदों के परिचायक ग्रन्थों की नितान्त आवश्यकता बनी है।

वेद हमारे वैदिक धर्म के मूलग्रन्थ हैं। भारत के वर्तमान धर्म, धार्मिक विश्वास तथा दर्शन के नाना सम्प्रदायों के यथार्थ ज्ञान के लिए वेद का ज्ञान नितान्त अपेक्षित है। साधारण शिक्षित जनों की तो कथा ही न्यारी है जब हमारे संस्कृत की शिक्षा-दीक्षा से मण्डित पण्डित-जन भी वेद से बहुत ही कम परिचय रखते हैं। सच तो यह है कि हमने पुराण तथा दर्शन की ओर अधिक ध्यान देकर वेदों के प्रति बड़ी उदासीनता दिखलाई है। हम लोगों ने उस अमूल्य निधि को सन्दूक के अन्दर बन्द कर रखा है। न आप उससे लाभ उठाते हैं, न दूसरों को लाभ उठाने का अवसर देते हैं। इसलिए आज वेद के प्रति हमारा अज्ञान पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ है, वेद की हमारी अवहेलना अन्तिम कोटि को स्पर्श कर रही है। इस अज्ञान को दूर करने के लिए मेरा यह एक लघु प्रयास है।

वेद के प्रति प्राचीन भारतीय समीक्षकों की विचारधारा एक छोर पर है, तो नव्य पाश्चात्य आलोचकों की दूसरी छोर पर। इस ग्रन्थ में इन दोनों छोरों को मिलाने का यथाशक्ति उद्योग किया गया है। दोनों प्रकार

की समीक्षाओं तथा मन्तव्यों का निर्देश उचित स्थान पर किया गया है। ग्रन्थ में तीन खण्ड हैं। प्रवेशखण्ड में वेद से सम्बन्ध रखनेवाले प्रारम्भिक विषयों का—जैसे वेद का महत्त्व, स्वरूप, वेदानुशीलन की पद्धति, वेद का आविर्भावकाल—विवरण प्रस्तुत किया गया है। इतिहास खण्ड में वेद तथा वेदाङ्ग का क्रमबद्ध इतिहास है। यह खण्ड ग्रन्थ का मेरुदण्ड है। मैंने वेद के नाना ग्रन्थो के विषय-विवेचन की ओर विशेष लक्ष्य रखा है जिससे पाठकों के सामने वेद के अन्तरङ्ग का यथासाध्य पूर्ण चित्र प्रस्तुत हो। संस्कृति खण्ड में वैदिक संस्कृति के मान्य सिद्धान्त संक्षेप में उपस्थित किये गये हैं। इस प्रकार वेद के साहित्य का इतिहास और तत्कालीन संस्कृति का विवरण एक ही ग्रन्थ में संक्षेप में निबद्ध करने का यह प्रयास उभय दृष्टिवाले पाठकों के लिए लाभदायक सिद्ध होगा, ऐसी मेरी पूरी धारणा है।

लेखक वेद की गम्भीरता तथा रहस्यवादिता में पूर्ण श्रद्धा रखने वाला एक आस्तिक जन है। फलतः वेद की नवीन दृष्टि से ऐतिहासिक मीमांसा करने पर भी वह उसे अध्यात्मशास्त्र का एक द्युतिमान् निधि मानता है जिसका मूल्य वर्तमानयुग के लिए भी अत्यन्त अधिक है। स्थानाभाव से वैदिक मन्त्रों के रहस्यों का उद्घाटन नहीं हुआ है, परन्तु स्थान-स्थान पर उनके भीतर वर्तमान गम्भीर सिद्धान्तों की ओर संकेत अवश्यमेव कर दिया गया है। यह ग्रन्थ आचार्य तथा एम० ए० परीक्षा के छात्रों की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर लिखा गया है। इसलिए नवीन तथ्यों के विवरण देने की अपेक्षा परिनिष्ठित सिद्धान्तों का ही विवेचन अधिक है। परिशिष्ट में वैदिक व्याकरण और स्वरप्रक्रिया के नियमों का संक्षिप्त परिचय छात्रों के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध होगा।

मैं उन देशी तथा विदेशी विद्वानों का विशेष आभार मानता हूँ जिनके ग्रन्थों की विवेचना से मैंने लाभ उठाया है। वेद के विषय में

पश्चिमी विद्वानों ने बड़ा ही अध्यवसाय तथा अनुराग दिखलाया है। हम उनके विशेष ऋणी हैं। मैं महामहोपाध्याय पूज्यपाद पण्डित गोपीनाथ कविराज जी का विशेष आभारी हूँ जिनके लेखों तथा मौखिक व्याख्यानों से मैंने अत्यधिक लाभ उठाया है। वैदिक व्याकरण सम्बन्धी अनुक्रमणी में मेरे प्राचीन छात्र और वर्तमान सहयोगी पण्डित कान्तानाथ तैलग एम० ए० ने मेरी विशेष सहायता की है। नामों की अनुक्रमणी मेरे कनिष्ट पुत्र चिरञ्जीवी गोपालशंकर के परिश्रम की उपज है। ग्रन्थ के लिखने और प्रूफ देखने में मेरे ज्येष्ठ पुत्र गौरीशंकर उपाध्याय एम० ए० ने मेरी विशेष सहायता की है। इन सब को आशीर्वाद देना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ।

अन्त में भगवान् विश्वनाथ से मेरी नम्र प्रार्थना है कि उन्हीं की अनुकम्पा तथा प्रसाद से उपार्जित ज्ञानकणिका का यह परिणत फल अपने उद्देश्य की सिद्धि में सफलता लाभ करे तथा वेद के अमूल्य अनुपम उपदेशों तथा सिद्धान्तों की ओर राष्ट्रभाषा के माध्यम द्वारा जिज्ञासु जनों का ध्यान आकृष्ट करे।

इद नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः ॥

मकर संक्रान्ति
संवत् २०११
१४–१–५५
काशी

बलदेव उपाध्याय

विषय-सूची

प्रवेश खण्ड १–६०

पृष्ठ

प्रथम परिच्छेद — वेद का महत्त्व — ३–१२

वेद की प्रशंसा ४, वेद का धार्मिक महत्त्व ८; भाषागत महत्त्व ६।

द्वितीय परिच्छेद — वेद और ब्राह्मण दर्शन — १३–३५

(१) न्याय का मत १५; सांख्य का मत १७, वेदान्त का मत १८, मीमांसा का मत १६; वेद की अपौरुषेयता २०; मनु का मत २१।

(२) वेद में रहस्यवाद—उपनयन का प्रयोजन २३; सूक्ष्मा वाक् २५; ध्वनि की विशुद्धि २८; वेद का उन्मेष २९।

(३) वेद की रक्षा—अष्टविकृति ३०, संहिता, पद तथा क्रम पाठ ३१, जटा, शिखा तथा घनपाठ ३२; सामवेद की स्वर-गणना ३३।

तृतीय परिच्छेद — वैदिक अनुशीलन का इतिहास — ३६–५३

(१) प्राचीन काल ३६;

(२) पाश्चात्य वेदज्ञों का कार्य ४०; ग्रन्थों का संस्करण ४२; अनुवाद ४५, व्याख्या-ग्रन्थ ४७; वैदिक-पुराण विज्ञान ४८; वैदिक साहित्य का इतिहास ४९; वैदिक साहित्य की सूचियाँ ५०।

पृष्ठ

(३) नव्य भारत में वैदिक अनुशीलन ५०-५३ ।

चतुर्थ परिच्छेद वेद की व्याख्यापद्धति ५४-७६

कौत्स का पूर्वपक्ष ५६, यास्क का सिद्धान्त-पक्ष ५८, वेदार्थानुसंधान ६०, पाश्चात्य पद्धति के गुण-दोष ६१, वैदिक शब्दों की पाठ-कल्पना ६३; आध्यात्मिक पद्धति ६४, स्मृति का महत्त्व ६९, सायण का महत्त्व ७२ ।

पञ्चम परिच्छेद वेदों का काल-निरूपण ७७-९०

डा० मैक्समूलर का मत ७८; प्राचीन वर्षारम्भ ८०, लोकमान्य तिलक का मत ८२, शिलालेख से पुष्टि ८५, भूगर्भ-सम्बन्धी वैदिक तथ्य ८६ ।

इतिहास खण्ड ९१-३४८

षष्ठ परिच्छेद संहिता-साहित्य ९३-१७२

वेद का परिचय ९३,

(१) ऋक्संहिता ९७-१२०

ऋग्वेद-विभाग ९७, मण्डल क्रम ९८, ऋग्वेदीय ऋचाओं की गणना ९९, दशमण्डल १०१; ऋग्वेदीय शाखायें १०७, विषय-विवेचन १०८, दानस्तुति ११२, संवाद-सूक्त ११५, दार्शनिक-सूक्त ११७ ।

) यजुर्वेद संहिता १२१-१३४

विषय-विवेचन १२२, काण्व संहिता १२६, भाष्यकार १२७, कृष्णयजुर्वेद १२८, तैत्तिरीय संहिता १२०, मैत्रायणी संहिता १३०; कठ संहिता १३१; कपिष्ठल-कठ संहिता १३२ ।

पृष्ठ

(३) सामवेद संहिता — १३४-१५३

साम का अर्थ १३६, सामवेद का परिचय १३७, सामवेद की शाखाएँ १३९; सामभाष्य १४३; सामगान-पद्धति १४४; साम का परिचय १४५; गानों के प्रकार १४९; स्तोम तथा विष्टुति १५१; साम के विभाग १५२।

(४) अथर्ववेद संहिता — १५४-१७२

नामकरण १५५; अथर्ववेद की शाखाएँ १५६, अथर्व का विस्तार १५९; अथर्व भाष्य १६०; महत्त्व १६१, विषय-विवेचन १६४।

सप्तम परिच्छेद ब्राह्मण — १७३-२३४

सामान्य-परिचय १७३, विधि १७७, विनियोग १७८; हेतु १७९; अर्थवाद १८०, निरुक्ति १८१, आख्यान १८२; ब्राह्मणों का महत्त्व १८६; ब्राह्मणों का देश १८८, काल १८९, भाषा तथा शैली १९०; ब्राह्मणकालीन धर्म और समाज १९०; नैतिकता १९४, नारी की महिमा १९७।

ब्राह्मण-साहित्य — १९८

वैदिक ग्रन्थों की सूची २०१; ऐतरेय ब्राह्मण २०५; महत्त्व २०६; शाङ्खायन ब्राह्मण २०९।

यजुर्वेदीय ब्राह्मण — २११-२१९

शतपथ ब्राह्मण २११, भाष्यकार २१३, शतपथ की प्राचीनता २१३; शतपथ का वैशिष्ट्य २१४; तैत्तिरीय ब्राह्मण २१६।

पृष्ठ

एकादश परिच्छेद आर्य और दस्यु ३८१–४०७

पञ्चजना ३८१, यदु, तुर्वंश, अनु, द्रुह्यु ३८३; पुरु, तृत्सु ३८४, सृञ्जय ३८५ क्रिवि, वृचीवन्त ३८६, नहुष ३८७, अन्य जातियाँ ३८८, विख्यात राजा ३८९, पुरुमीढ ३८९, अभ्यावर्त्ती ३९१, मनुसावर्णि ३९१, दाशराज्ञ युद्ध ३९२।

दस्यु और दास ३९३–४०७

दास ३९५, दस्यु ३९८, पणि ४००, पणि तथा फीनिशिया ४०५।

द्वादश परिच्छेद सामाजिक जीवन ४०८–४४६

वेदकालीन समाज ४०७, विवाह प्रथा ४०९, नारी की महिमा ४१२, सामाजिक जीवन ४१४ दुर्ग ४१५; पुर ४१६, नगर ४१७, वैदिक ग्राम ४१९, वैदिक कालीन गृह ४२१, गृह-निर्माण ४२१, घरेलू सामान ४२४; वह्य ४२६, आसन्दी ४२६, भोजन ४२९, मास भोजन ४३१, फल ४३१, सोम और सुरा ४३२; वस्त्र और परिधान ४३६, परिधान-विधि ४३९, पेशस् ४४०, पगड़ी ४४१; जूता ४४२, भूषा-सज्जा ४४३, ओपश, कुरीर, कुम्य ४४५।

त्रयोदश परिच्छेद आर्थिक जीवन ४४७–४६८

कृषिकर्म ४४८, अनाज ४५०, ऋतु ४५१; सिंचाई ४५२, पशुपालन ४५३, गाय ४५५, अन्य उद्यम ४५८, व्यापार ४६२; स्थल-व्यापार ४६४, सामुद्रिक व्यापार ४६४, सिक्के ४६६, ऋण ४६७।

पृष्ठ

चतुर्दश परिच्छेद राजनैतिक जीवन ४६९-४७७

राजसत्ता ४६९; समिति ४७०; सभा ४७१; रत्नी ४७२; अभिषेक का महत्त्व ४७३; शासन-पद्धतियाँ ४७५।

पञ्चदश परिच्छेद धार्मिक जीवन ४७८-५२०

भारोपीय धर्म ४७९; भारत पारसीक युग का धर्म ४८०, देवता का स्वरूप ४८२; वेद में अद्वैत तत्त्व ४८४, ऋत ४८६।

(२) देव परिचय ४८९-५२०

द्यु-स्थान देवता वरुण ४८९, पूषन् ४९४, मित्र ४९४, सवितृ ४९५, सूर्य ४९६, विष्णु ४९७, अश्विन् ४९८, उषा ५०० ।

अन्तरिक्ष-स्थान देवता इन्द्र ५०२, अपां नपात् ५०६, पर्जन्य ५०७, आपः ५०७, रुद्र ५०७, मरुतः ५१६ ।

पृथ्वीस्थान देवता अग्नि ५१७, बृहस्पति ५१८, सोम ५२० ।

(३) यज्ञ संस्था ५२१-५२८

अग्निहोत्र ५२२, दर्श पूर्णमास, आग्रयण, चातुर्मास्य, निरूढपशु—५२२ सौत्रामणी, पिण्डपितृ यज्ञ ५२३

सोम-याग ५२३-५२८

एकाह, अहीन, सत्र, अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी ५२४ अतिरात्र, ज्योतिष्टोम, अत्यग्निष्टोम, वाजपेय, आप्तोर्याम, ५२५ । स्वर्ग की कल्पना ५२५, उपसंहार ५२८ ।

पृष्ठ

परिशिष्ट १
वैदिक व्याकरण और स्वर प्रक्रिया ५३१–५५७
ध्वनि विशेषता—मात्रा, ५३१, अनुनासिकीकरण ५३२, व्यञ्जन वर्ण—यम, क्रम, ५३३, स्वरभक्ति ५३५, अभिनिधान ५३६, व्यूह और व्यवाय ५३६।
सन्धि प्रकरण ५३७–५४३
स्वर सन्धि—प्रश्लिष्ट सन्धि ५३७, अभिनिहत सन्धि ५३७, पदवृत्ति सन्धि ५३८, उद्ग्राह सन्धि ५३८; उद्ग्राहपदवृत्ति सन्धि ५३८।
प्रकृतिभाव ५३८; विवृत्ति ५३९, स्वरभक्ति के भेद ५४०।
विसर्ग सन्धि ५४०। व्यञ्जन सन्धि ५४२, वशागम सन्धि ५४३, अन्तःपात सन्धि ५४३। नकार-विकार ५४३।
शब्द रूप ५४४; कारक के विशिष्ट प्रयोग ५४६, समास ५४६।
धातुरूप और लकार ५४७
लेट् लकार ५४७, लुट् लकार ५४९, तुमर्थक प्रत्यय ५५०।
वैदिक स्वर ५२२
स्वर के भेद ५५२, स्वरित के भेद ५५३, सामान्य नियम ५५४, द्व्युदात्त पद ५५४, उदात्त का अभाव ५५५, सन्धि स्वर ५५५, स्वर-परिवर्तन ५५६, पदपाठ के नियम ५५७।
परिशिष्ट २ नामानुक्रमणी ५५८–५७९

वैदिक साहित्य

[१]

प्रवेश खण्ड

(१) वेद का महत्त्व
(२) वेद और ब्राह्मणदर्शन
(३) वैदिक अनुशीलन का इतिहास
(४) वेद की व्याख्यापद्धति
(५) वेद का रचनाकाल

पृष्ठ

परिशिष्ट १
वैदिक व्याकरण और स्वर प्रक्रिया ५३१–५५७
ध्वनि विशेषता—मात्रा, ५३१, अनुनासिकीकरण ५३२, व्यञ्जन वर्ण—यम, क्रम, ५३३, स्वरभक्ति ५३५, अभिनिधान ५३६, व्यूह और व्यवाय ५३६।

सन्धि प्रकरण ५३७–५४३
स्वर सन्धि—प्रश्लिष्ट सन्धि ५३७, अभिनिहत सन्धि ५३७, पदवृत्ति सन्धि ५३८, उद्ग्राह सन्धि ५३८, उद्ग्राहपदवृत्ति सन्धि ५३८।

प्रकृतिभाव ५३८; विवृत्ति ५३९, स्वरभक्ति के भेद ५४०।
विसर्ग सन्धि ५४०। व्यञ्जन सन्धि ५४२, वशागम सन्धि ५४३, अन्तःपात सन्धि ५४३। नकार-विकार ५४३।

शब्द रूप ५४४, कारक के विशिष्ट प्रयोग ५४६, समास ५४६।

धातुरूप और लकार ५४७
लेट् लकार ५४७, लुट् लकार ५४९, तुमर्थक प्रत्यय ५५०।

वैदिक स्वर ५२२
स्वर के भेद ५५२, स्वरित के भेद ५५३, सामान्य नियम ५५४, द्व्युदात्त पद ५५४, उदात्त का अभाव ५५५, सन्धि स्वर ५५५, स्वर-परिवर्तन ५५६, पदपाठ के नियम ५५७।

परिशिष्ट २ नामानुक्रमणी ५५८–५७९

वैदिक साहित्य

[१]

प्रवेश खण्ड

(१) वेद का महत्त्व

(२) वेद और ब्राह्मणदर्शन

(३) वैदिक अनुशीलन का इतिहास

(४) वेद की व्याख्यापद्धति

(५) वेद का रचनाकाल

सत्या विशुद्धिस्तत्रोक्ता विद्यैवैकपदागमा ।
युक्ता प्रणवरूपेण सर्ववादाविरोधिनी ॥
विधातुस्तस्य लोकानामङ्गोपाङ्ग—निबन्धनाः ।
विद्याभेदाः प्रतायन्ते ज्ञानसंस्कारहेतवः ॥

—वाक्यपदीय, १।९–१०

प्रथम परिच्छेद

वेद का महत्त्व

भारतीय संस्कृति के इतिहास में वेदों का स्थान नितान्त गौरवपूर्ण है। श्रुति की दृढ़ आधारशिला के ऊपर भारतीय धर्म तथा सभ्यता का भव्य विशाल प्रासाद प्रतिष्ठित है। हिन्दुओं के आचार-विचार, रहन-सहन, धर्म-कर्म को भली भाँति समझने के लिए वेदों का ज्ञान विशेष आवश्यक है। अपने प्रातिभ चक्षु के सहारे साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों के द्वारा अनुभूत अध्यात्मशास्त्र के तत्त्वों की विशाल विमल राशि का ही नाम 'वेद' है। स्मृति तथा पुराणों में वेद की पर्याप्त प्रशंसा उपलब्ध होती है। मनु के कथनानुसार वेद पितृगण, देवता तथा मनुष्यों का सनातन, सर्वदा विद्यमान रहनेवाला चक्षु है। लौकिक वस्तुओं के साक्षात्कार के लिए जिस प्रकार नेत्र की उपयोगिता है, उसी प्रकार अलौकिक तत्त्वों के रहस्य जानने के लिए वेद की उपादेयता है। इष्ट-प्राप्ति तथा अनिष्ट-परिहार के अलौकिक उपाय को बतलानेवाला ग्रन्थ वेद ही है। वेद का 'वेदत्व' इसी में है कि वह प्रत्यक्ष या अनुमान के द्वारा दुर्बोध तथा अज्ञेय उपाय का ज्ञान स्वयं कराता है। ज्योतिष्टोम याग के सम्पादन से स्वर्ग प्राप्ति होती है अतः वह ग्राह्य है तथा कलञ्ज भक्षण से अनिष्ट की उपलब्धि होती है, अतएव वह परिहार्य है। इसका ज्ञान तार्किक-शिरोमणि भी हजारों अनुमानों की सहायता से भी नहीं कर सकता। इस अलौकिक उपाय के जानने का एकमात्र साधन हमारे पास वेद ही है।

सत्या विशुद्धिस्तत्रोक्ता विद्यैवैकपदागमा ।
युक्ता प्रणवरूपेण सर्ववादाविरोधिनी ॥
विधातुस्तस्य लोकानामङ्गोपाङ्ग—निबन्धनाः ।
विद्याभेदाः प्रतायन्ते ज्ञानसंस्कारहेतवः ॥

—वाक्यपदीय, १।६–१०

वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमे वसन् ।
इहैव लोके तिष्ठन् स ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

(मनु स्मृति १२।१०२)

जब भारतीय धर्म की जानकारी के लिए वेदों को इतना महत्व प्राप्त है, तब इनका अनुशीलन प्रत्येक भारतीय का आवश्यक कर्तव्य होना ही चाहिए । महाभाष्यकार पतञ्जलि के अनुसार षडङ्ग वेद का अध्ययन तथा ज्ञान प्रत्येक ब्राह्मण का सहज कर्म होना चाहिए (ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मो षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च) । मनु ने क्षोभभरे शब्दों में वेदानध्यायी विप्र की विशिष्ट निन्दा की है कि जो द्विजन्मा वेद का बिना अध्ययन किये अन्य शास्त्रों में परिश्रम करता है, वह जीवित दशा में ही अकेले नहीं बल्कि पूरे वंश के साथ शूद्रत्व को शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है । द्विज का द्विजत्व तो इसी में है कि वह गुरु के द्वारा उपनीत होकर वेदों का अध्ययन करे, परन्तु इस कार्य के अभाव में वह द्विजत्व से वंचित होकर शूद्र-कोटि में सद्यः प्रविष्ट हो जाता है—

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥

—मनु २।१६८

अतः उचित तो यह था कि अन्य ग्रन्थो के अध्ययन की अपेक्षा हम वेदानुशीलन को महत्त्व देते, वैदिक धर्म तथा भारतीय संस्कृति के विशुद्ध रूप को समझने के लिए वेद के तत्त्वों के अध्ययन में समय बिताते, परन्तु आजकल वेदाध्ययन की दशा बड़ी दयनीय है । विदेशी भाषा का अध्ययन ही हमारी उदरपूर्ति का प्रधान साधन होने के हेतु हमारे अथक परिश्रम का विषय बना हुआ है । संस्कृतभाषा के पढ़नेवालों की भी रुचि वेदों की ओर नहीं है । काव्य-नाटक की कोमल

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते ।
एतं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता ॥

वेदकी भारतीय धर्म में इतनी प्रतिष्ठा है कि अनेक प्रबल तर्क के सहारे विपक्षियों की युक्तियों को छिन्न-भिन्न कर देनेवाले तर्ककुशल भी आचार्यों के सामने यदि कोई वेदविरोध दृष्टिगोचर होता है, तो उनका मस्तक स्वभावत नत हो जाता है। हम ईश्वरविरोध को सह्य कर सकते हैं, परन्तु वेद से आंशिक भी विरोध हमारी दृष्टि में नितान्त वर्जनीय है। ईश्वर की सत्ता न मानने वाले भी दर्शन 'आस्तिकता' से विहीन नहीं माने जाते, परन्तु वेद की प्रामाणिकता को अनङ्गीकार करने से दर्शनों पर नास्तिकता की पक्की छाप पड़ी रहती है। 'आस्तिक' वही है जो वेद की प्रामाणिकता में विश्वास रखे तथा 'नास्तिक' वही है जो वेद की निन्दा करे। इस प्रकार वेदों का माहात्म्य हिन्दूधर्म में नितान्त उच्चतम तथा विशाल है। शतपथ ब्राह्मण का स्पष्ट कथन है कि धन से परिपूर्ण पृथिवी के दान करने से जिस लोक को मनुष्य जीत लेता है, तीन वेदों के अध्ययन करने से उतना ही नहीं, प्रत्युत उससे भी बढ़कर अविनाशशाली अक्षय्य लोक को मनुष्य प्राप्त करता है। अत. वेदों का स्वाध्याय करना अत्यन्त आवश्यक तथा उपादेय है —

"यावन्त ह वै इमां पृथिवीं वित्तेन पूर्णां ददत् लोकं जयति त्रिभिस्तावन्तं जयति, भूयांस च अक्षय्यं च य एव विद्वान् अहरहः स्वाध्यायमधीते तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्य. ।" शत० ११।५।६।१

वेदज्ञ की प्रशंसा में मनुकी यह उक्ति बड़ी मार्मिक है—वेदशास्त्र के तत्त्व को जाननेवाला व्यक्ति जिस किसी आश्रम में निवास करता हुआ कार्य का सम्पादन करता है वह इसी लोक में रहते हुए भी ब्रह्म का साक्षात्कार करता है—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते ।
एतं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता ॥

वेदकी भारतीय धर्म में इतनी प्रतिष्ठा है कि अनेक प्रबल तर्क के सहारे विपक्षियों की युक्तियों को छिन्न-भिन्न कर देनेवाले तर्ककुशल भी आचार्यों के सामने यदि कोई वेदविरोध दृष्टिगोचर होता है, तो उनका मस्तक स्वभावतः नत हो जाता है । हम ईश्वरविरोध को सह्य कर सकते हैं, परन्तु वेद से आंशिक भी विरोध हमारी दृष्टि में नितान्त वर्जनीय है । ईश्वर की सत्ता न मानने वाले भी दर्शन 'आस्तिकता' से विहीन नहीं माने जाते, परन्तु वेद की प्रामाणिकता को अनङ्गीकार करने से दर्शनों पर नास्तिकता की पक्की छाप पड़ी रहती है । 'आस्तिक' वही है जो वेद की प्रामाणिकता में विश्वास रखे तथा 'नास्तिक' वही है जो वेद की निन्दा करे । इस प्रकार वेदों का माहात्म्य हिन्दूधर्म में नितान्त उच्चतम तथा विशाल है । शतपथ ब्राह्मण का स्पष्ट कथन है कि धन से परिपूर्ण पृथिवी के दान करने से जिस लोक को मनुष्य जीत लेता है, तीन वेदों के अध्ययन करने से उतना ही नहीं, प्रत्युत उससे भी बढ़कर अविनाशशाली अक्षय्य लोक को मनुष्य प्राप्त करता है । अतः वेदों का स्वाध्याय करना अत्यन्त आवश्यक तथा उपादेय है —

"यावन्त ह वै इमां पृथिवीं वित्तेन पूर्णां ददत् लोकं जयति त्रिभिस्तावन्त जयति, भूयाम च अक्षय्यं च य एव विद्वान् अहरहः स्वाध्यायमधीते तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्य. ।" शत० ११।५।६।१

वेदज्ञ की प्रशंसा में मनु की यह उक्ति बड़ी मार्मिक है—वेदशास्त्र के तत्त्व को जाननेवाला व्यक्ति जिस किसी आश्रम में निवास करता हुआ कार्य का सम्पादन करता है वह इसी लोक में रहते हुए भी ब्रह्म का साक्षात्कार करता है—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते ।
एत विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता ॥

वेदकी भारतीय धर्म में इतनी प्रतिष्ठा है कि अनेक प्रबल तर्क के सहारे विपक्षियों की युक्तियों को छिन्न-भिन्न कर देनेवाले तर्ककुशल भी आचार्यों के सामने यदि कोई वेदविरोध दृष्टिगोचर होता है, तो उनका मस्तक स्वभावत. नत हो जाता है । हम ईश्वरविरोध को सह्य कर सकते हैं, परन्तु वेद से आंशिक भी विरोध हमारी दृष्टि में नितान्त वर्जनीय है । ईश्वर की सत्ता न मानने वाले भी दर्शन 'आस्तिकता' से विहीन नहीं माने जाते, परन्तु वेद की प्रामाणिकता को अनङ्गीकार करने से दर्शनों पर नास्तिकता की पक्की छाप पड़ी रहती है । 'आस्तिक' वही है जो वेद की प्रामाणिकता में विश्वास रखे तथा 'नास्तिक' वही है जो वेद की निन्दा करे । इस प्रकार वेदों का माहात्म्य हिन्दूधर्म में नितान्त उच्चतम तथा विशाल है । शतपथ ब्राह्मण का स्पष्ट कथन है कि धन से परिपूर्ण पृथिवी के दान करने से जिस लोक को मनुष्य जीत लेता है, तीन वेदों के अध्ययन करने से उतना ही नहीं, प्रत्युत उससे भी बढ़कर अविनाशशाली अक्षय्य लोक को मनुष्य प्राप्त करता है । अतः वेदों का स्वाध्याय करना अत्यन्त आवश्यक तथा उपादेय है .—

"यावन्त ह वै इमां पृथिवीं वित्तेन पूर्णां ददत् लोकं जयति त्रिभिस्तावन्त जयति, भूयांस च अक्षय्यं च य एव विद्वान् अहरहः स्वाध्यायमधीते तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्य ।" शत० ११।५।६।१

वेदज्ञ की प्रशंसा में मनुकी यह उक्ति बड़ी मार्मिक है—वेदशास्त्र के तत्त्व को जाननेवाला व्यक्ति जिस किसी आश्रम में निवास करता हुआ कार्य का सम्पादन करता है वह इसी लोक में रहते हुए भी ब्रह्म का साक्षात्कार करता है—

वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमे वसन्।
इहैव लोके तिष्ठन् स ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

(मनुस्मृति १२।१०२)

जब भारतीय धर्म की जानकारी के लिए वेदों को इतना महत्व प्राप्त है, तब इनका अनुशीलन प्रत्येक भारतीय का आवश्यक कर्तव्य होना ही चाहिए। महाभाष्यकार पतञ्जलि के अनुसार षडङ्ग वेद का अध्ययन तथा ज्ञान प्रत्येक ब्राह्मण का सहज कर्म होना चाहिए (ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मो षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च)। मनु ने क्षोभभरे शब्दों में वेदानध्यायी विप्र की विशिष्ट निन्दा की है कि जो द्विजन्मा वेद का बिना अध्ययन किये अन्य शास्त्रों में परिश्रम करता है, वह जीवित दशा में ही अकेले नहीं बल्कि पूरे वंश के साथ शूद्रत्व को शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है। द्विज का द्विजत्व तो इसी में है कि वह गुरु के द्वारा उपनीत होकर वेदों का अध्ययन करे, परन्तु इस कार्य के अभाव में वह द्विजत्व से वंचित होकर शूद्र-कोटि में सद्यः प्रविष्ट हो जाता है—

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥

—मनु २।१६८

अतः उचित तो यह था कि अन्य ग्रन्थों के अध्ययन की अपेक्षा हम वेदानुशीलन को महत्त्व देते, वैदिक धर्म तथा भारतीय संस्कृति के विशुद्ध रूप को समझने के लिए वेद के तत्त्वों के अध्ययन में समय बिताते, परन्तु आजकल वेदाध्ययन की दशा बड़ी दयनीय है। विदेशी भाषा का अध्ययन ही हमारी उदरपूर्ति का प्रधान साधन होने के हेतु हमारे अथक परिश्रम का विषय बना हुआ है। संस्कृतभाषा के पढ़नेवालों की भी रुचि वेदों की ओर नहीं है। काव्य-नाटक की कोमल

रसमयी कविता के आस्वादन करने में ही हम अपने को भाग्यशाली समझते हैं, वेदों को फूटी नजर से भी नहीं देखते।

क्या यह खेद का विषय नहीं है कि काव्य नाटक के अनुशीलन में ही हम अपने अमूल्य समय को बिताकर अपने कर्तव्यों की समाप्ति समझने लगते हैं, परन्तु इनके मूल स्रोतभूत वेद तथा वैदिक संस्कृति से परिचय पाने में भी हम मुँह मोड़े हुए रहते हैं। साधारण संस्कृतानभिज्ञ जनता की तो बात ही न्यारी है, हम उन पण्डितों तथा शास्त्रियों से भी परिचित हैं जो केवल अष्टाध्यायी के कतिपय सुप्रसिद्ध अल्पाक्षर सूत्रों के ऊपर शास्त्रार्थ करने में घटों बिता देते हैं, परन्तु वेद के सीधे सरल मन्त्रों के भी अर्थ करने में अपने को नितान्त असमर्थ पाते हैं। क्या यह हमारे लिए लज्जा की बात नहीं है कि जिन विद्वान् ब्राह्मणों के ऊपर समाज के नेतृत्व का उत्तरदायित्व टिका हुआ है वे ही इन ग्रन्थ-रत्नों के जौहर न समझें, वे ही इनके द्वारा प्रतिपादित आचारपद्धति के रहस्योद्‌घाटन में अपने को कृतकार्य न पावें। काशी, पूना जैसे विद्याक्षेत्रों में आज भी अनेक वैदिक विद्यमान हैं जिन्होंने समाज की उदासीनता की अवहेलना कर अश्रान्त परिश्रम तथा अनुपम लगन के साथ विविध कठिनाइयों के बीच श्रुतियों के प्रत्येक मन्त्र को कण्ठाग्र जीवित रखा है। इनकी जितनी श्लाघा की जाय, थोड़ी है, जितनी प्रशंसा की जाय, मात्रा में वह न्यून ही जँचती है, क्योंकि इनके कण्ठों से आज भी हम मन्त्रों का उच्चारण उसी भाँति, उसी स्वरभङ्गी में, सुन सकते हैं जिस प्रकार अतीव प्राचीनकाल के ऋषिजन इनका विधि-पूर्ण उच्चारण किया करते थे। इस प्रकार इन मन्त्रों के रक्षक रूप में ये वैदिक विद्वत्समाज के आदर के पात्र तथा श्रद्धा के भाजन हैं, परन्तु इनमें एक त्रुटि गुलाब में कांटों की तरह बेतरह खटक रही है। ये अक्षरज्ञ होने पर भी अर्थज्ञ नहीं होते। और यह भी निश्चित बात है कि वेद के अर्थों का ज्ञाता विद्वान केवल मन्त्रवर्ण से परिचित व्यक्ति

की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्व रखता है। इसीलिए निरुक्तकार यास्क ने बाध्य होकर अर्थज्ञ विद्वान् की जो प्रचुर प्रशंसा की है वह अनोखी और अनूठी है। "जो व्यक्ति वेद का अध्ययन तो करता है, पर उसके अर्थ को नहीं जानता, वह ठूँठे वृक्ष की तरह केवल भार ढोने वाला ही होता है। जो अर्थ को जानता है वही सम्पूर्ण कल्याण को भोगता है और ज्ञान के द्वारा पापों को दूर कर वह स्वर्ग प्राप्त करता है" :—

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूत्,
अधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते,
नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा॥

ऐसी विषम स्थिति में वेदों के अर्थ को जानकर तत्प्रतिपादित धर्म, आचार, व्यवहार तथा अध्यात्मशास्त्र के मन्तव्यों के समझने का उद्योग सर्वथा स्तुत्य तथा प्रशसनीय है।

वेद के अर्थज्ञान का कौन-सा उपयोग है? वेद के अनुशीलन से हमारा क्या लाभ हो सकता है? आजकल विज्ञान तथा साम्यवाद के युग में वेदों में ऐसा कौन-सा आकर्षण है जिसके कारण हम इन नवीन उपयोगी विषयों के अनुशीलन से मुँह मोड़कर अतीव प्राचीन विषय की ओर मुड़ें। क्या वैदिक मन्त्रों में हमारे माननीय कविजनों की रसभरी कमनीय काव्यकला का दर्शन मिलेगा? काव्यदृष्टि से वेदानुशीलन करनेवाले पाठकों से हमारा नम्र निवेदन है कि यदि वे कालिदास की निसर्गमनोरम उपमा, भवभूति के पत्थर को रुलानेवाले करुणरस, दण्डी के पदलालित्य, बाण की मधुर स्वरवर्णपदा कविता की आशा से वैदिक मन्त्रों का अध्ययन करना चाहते हैं, तो डर है कि उन्हें निराश होना पड़ेगा। वैदिक मन्त्रों में भी कवित्व है, परन्तु उसकी माधुरी कुछ विलक्षण ढंग की है। इसी प्रकार यदि वेदों में कुमारिल तथा शङ्करा-

चार्य के ग्रन्थों में उपलब्ध तर्कविन्यास की आशा की जायगी, तो वह उतनी सफल नहीं हो सकेगी। वेदों में आध्यात्मिक तत्त्वों का उत्कृष्ट भाण्डागार है, परन्तु उनके प्रतिपादन की दिशा इन अर्वाचीन ग्रन्थों की शैली से नितान्त भिन्न है। उपनिषदों में अध्यात्मशास्त्र के रहस्य तर्क की कर्कश प्रणाली के द्वारा उद्भावित नहीं किये गये हैं, प्रत्युत उनमें खरी स्वानुभूति की कसौटी पर कसकर तत्त्वरत्नों का हृदयस्पर्शी विवेचन किया गया है।

वेदों का सर्वाधिक धार्मिक महत्त्व है। आधुनिक भारत में जितने विभिन्न मत मतान्तर प्रचलित हैं, इनका मूलस्रोत वेद से ही प्रवाहित होता है। वेद ज्ञान के वे मानसरोवर हैं जहाँ से ज्ञान की विमल धारायें विभिन्न मार्गों से बह कर भारत ही की नहीं समस्त जगत् के प्रदेशों को उर्वरा बनाती हैं। ये आर्यों के ही नहीं, प्रत्युत मानवजाति के सब से प्राचीन ग्रन्थ हैं। यदि हम जानना चाहते हैं कि हमारे पूर्वज किस प्रकार अपना जीवन बिताते थे, कौन क्रीडायें उनके मनोरञ्जन की साधिका थीं, किस प्रकार उनका विवाहसम्बन्ध देहसम्बन्ध का ही प्रतीक न होकर आध्यात्मिक संयोग का प्रतिनिधि माना जाता था, किन देवताओं की वे उपासना किया करते थे, किस प्रकार वे प्रातःकाल प्राची के मुखमण्डल को उजागर करनेवाली 'पुराणी युवति' उषा की सुनहली छटा में अग्नि में आहुति प्रदान किया करते थे, किस तरह आवश्यकतानुसार वे इन्द्र, वरुण, पूषा, मित्र, सविता तथा पर्जन्य की स्तुति अपने ऐहिक कल्याण तथा आमुष्मिक मंगल की साधना के लिये किया करते थे, तो हमारे पास एक ही साधन है, वेदों का गाढ़ अनुशीलन—श्रुतियों का गहरा अध्ययन। श्रुतियों की सहायता से ही भारतीय दर्शनों के विविध विकास को हम भलीभाँति समझ सकते हैं। उपनिषदों में समग्र आस्तिक तथा नास्तिक दर्शन के तत्त्वों की बीजरूपेण उपलब्धि होती है। यदि 'नेह नानास्ति किञ्चन' अद्वैत तत्त्व का बीजरूप से

सूचक है, तो श्वेताश्वतर में वर्णित लोहितकृष्णशुक्ला अजा सांख्याभिमत सत्त्वरजस्तमोमयी—त्रिगुणात्मिका—प्रकृति की प्रतीक है। यदि हम रामानुज मत के विशिष्टाद्वैत, निम्बार्क के द्वैताद्वैत, मध्वाचार्य के द्वैत, वल्लभ के शुद्धाद्वैत, चैतन्य के अचिन्त्यभेदाभेद के रहस्योद्घाटन के अभिलाषी हैं, तो उपनिषदों का गम्भीर मनन तथा पर्यालोचन अनन्य साधन है।

भारतीयों के लिये वेदों की उपयोगिता तो बनी हुई है। वेदों से भारतीयों का जीवन ओतप्रोत है। हमारी उपासना के भाजन देवगण, हमारे संस्कारों की दशा बतानेवाली पद्धति, हमारे मस्तिष्क को प्रेरित करनेवाली विचारधारा—इन सब का उद्भव स्थान वेद ही है। अतः हमारे हृदय में वेदों के प्रति यदि प्रगाढ़ श्रद्धा है, तो कोई आश्चर्य का विषय नहीं है। परन्तु वेदों का महत्त्व इतना संकीर्ण तथा सीमित नहीं है। मानव जाति के प्राचीन इतिहास, रहन-सहन, आचार-व्यवहार की जानकारी के लिए भी उतने ही उपादेय तथा आदरणीय हैं। पहले कहा गया है कि वेद मानव जाति के विचारों को लिपिबद्ध करने वाले गौरवमय ग्रन्थों में सबसे प्राचीन माने जाते हैं। अतः अतीव अतीतकाल में मानवों के व्यवहार तथा विचार का पता इन अमूल्य ग्रन्थरत्नों की पर्यालोचना से भली भाँति लग सकता है।

भाषा की दृष्टि से वेदों का महत्त्व कम नहीं है। वैदिक भाषा के अध्ययन ने भाषा विज्ञान को सुदृढ़ भित्ति पर प्रतिष्ठित कर दिया है। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यभाग में 'भाषाविज्ञान' के प्रतिष्ठापन का सर्वाधिक श्रेय संस्कृत भाषा को ही है। उसके पहले यूरोपीय भाषाविदों में मूलभाषा के विषय में पर्याप्त मतभेद था। कोई ग्रीकभाषा को ही समग्र भाषाओं की जननी मानता था, तो कोई लैटिनभाषा को इस महत्त्वपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित करने का इच्छुक था। पक्के ईसाई भाषा-वेत्ताओं की माननीय सम्मति में हिब्रू (यहूदी भाषा) ही पृथ्वीतल

को भाषाओं में सर्वप्राचीन, आदिम तथा मूलभाषा थी। इस प्रकार भाषाविदों में प्राचीन भाषा के लिए पर्याप्त मतभेद था, तुमुल वाक्-कोलाहल चल रहा था। संस्कृत की उपलब्धि होने पर ही इस कोलाहल का अन्त हुआ, मतभेद का बीज दूर हुआ और एक मत से प्राचीनतम आर्यभाषा की रूपरेखा का निर्धारण भली भाँति किया जाने लगा। इसका सुफल इतना महत्त्वशाली है कि वेदों का अनुशीलन करना प्रत्येक भाषाशास्त्र के रहस्यवेत्ता व्यक्ति के लिए बहुत ही आवश्यक है। एक दो उदाहरणों के द्वारा इस महत्त्व को समझाना अनुचित न होगा।

हिन्दी पाठक ईसाई धर्मोपदेशकों के लिए प्रयुक्त होनेवाले 'पादरी' शब्द से परिचित ही है। भारत की प्राय समस्त भाषाओं में यह शब्द इसी अर्थ में व्यवहृत पाया जाता है। इसका इतिहास विशेष मनोरञ्जक है। यूरोपियन जातियों में पोर्चुगीजों (पुर्तगाल के निवासी) ने भारत में आकर अपना सिक्का जमाने के लिए ईसाई धर्म का भी प्रचार करना शुरू किया। वे लोग इन धर्मोपदेशकों को पाद्रे (Padre) कहते थे। इस शब्द से भारतीय भाषाओं का 'पादरी' शब्द ढल कर तैयार हुआ है। पोर्चुगीज़ 'पाद्रे' शब्द लेटिन 'पेतर' शब्द का अपभ्रंश है और यह 'पेतर' संस्कृत भाषा का सुप्रसिद्ध 'पितर्' (पितृ) ही है। इस प्रकार संस्कृत की सहायता से हम 'पादरी' का अर्थ 'पिता' समझ सकते हैं और अंग्रेजी में आज भी इन पूजनीय धर्मोपदेष्टाओं के लिए पिता (फादर) शब्द का ही प्रयोग किया जाता है।

अंग्रेजी के रात्रिवाचक 'नाइट' (Night) शब्द में उपलब्ध परन्तु अनुच्चार्यमाण gh वर्णों का रहस्य संस्कृत की सहायता के बिना नहीं समझा जा सकता। उच्चारण के अभाव में इन वर्णों को इस पद में स्थान देने की क्या आवश्यकता है? शब्दों के लेखनक्रम में सुधारवादी अमेरिकन भाषावेत्ताओं ने भी इन अक्षरों पर अभी अपना दण्ड-प्रहार इसीलिए

नहीं किया है कि इन वर्णों की सहायता से इसके मूल रूप का परिचय भलीभाँति चल जाता है। gh घ का सूचक है जो मूल शब्द में किसी कवर्गीय वर्ण की सूचना दे रहा है। संस्कृत 'नक्तं' के साथ इसकी साम्य विवेचना करने पर इस रहस्य का उद्घाटन हो जाता है। 'नाइट' शब्द का मूल यही 'नक्तं' शब्द है। लैटिन 'नाक्टरनल' (Nocturnal) में भी इसी कारण 'ककार' की स्थिति बनी हुई है। अंग्रेजी फार्चुन (Fortune) शब्द के रहस्य का परिचय कम मनोरञ्जक नहीं है। 'फार्चुन' का अर्थ होता है, धन, सम्पत्ति, समृद्धि, भाग्य आदि। 'फार्चुन' शब्द इटली देश की एक प्राचीन 'फोर्स' (Fors) नामक देवी के साथ सम्बद्ध है जो ज्युपिटर की पुत्री मानी जाती है। ये दोनों शब्द 'लाने' के अर्थ में व्यवहृत 'फेरे' (Ferre to bring) धातु से सम्बद्ध हैं। 'फोर्स' देवी की कल्पना 'उषा' देवी से बिल्कुल मिलती है। दोनों के स्वरूप एक ही प्रकार के उल्लिखित हैं। जिस प्रकार उषा देवी नाना प्रकार के कल्याणों को भक्तों के लिए लाती है उसी प्रकार यह देवी भी करती है। 'फोर्स' का शाब्दिक साम्य 'हरति' के साथ है तथा इसीलिए 'हृ' से व्युत्पन्न 'हर्यत्' (= सुन्दर) शब्द का प्रयोग उषा के लिए बहुशः किया गया है। इस प्रकार उषा की समता से 'फोर्स' तथा 'फार्चुन' शब्दों का ठीक अर्थ समझा जा सकता है। अतः अंग्रेजी शब्दों के अर्थ तथा रूप को समझने के लिए संस्कृत शब्दों से परिचय नितरां अपेक्षित है।

वैदिक भाषा की लौकिक भाषा के साथ तुलना करने पर अनेक मनोरंजक बातें दृष्टिपथ में आ जाती हैं। भाषा-शास्त्र का यह एक सामान्य नियम है कि भौतिक अर्थ में व्यवहृत होने वाले शब्द कालान्तर में आध्यात्मिक अर्थ में प्रयुक्त होने लगते हैं। पार्थिव जगत् से हटकर वे सुदूर मानसिक जगत् की वस्तुओं की सूचना देते हैं। वेद इस विषय में बहुत-से रोचक उदाहरण उपस्थित करता है। इन्द्र की

स्तुति के प्रसङ्ग में गृत्समद ऋषि की अन्तर्दृष्टि पुकार कर कह रही है— "यः पर्वतान् प्रकुपिताँ अरम्णात्" अर्थात् इन्द्र ने चलायमान पर्वतों को स्थिर किया। यहाँ कुप् तथा रम् धातु के प्राचीन अर्थ का ऊहापोह भाषा-दृष्टि से नितान्त उपदेशप्रद है। कुप् धातु का मौलिक अर्थ है भौतिक सचलन। और रम् धातु का अर्थ है स्थिरीकरण, चचल पदार्थ को निश्चल बनाना। कालान्तर में इन धातुओं ने अपनी दीर्घ जीवन-यात्रा में पलटा खाया। सब से अधिक मानसिक विकार उस दशा में उत्पन्न होते हैं जब हम क्रोध के वशीभूत होते हैं। हम उस दशा में अपने मन के भीतर एक विचित्र प्रकार की प्रखर चञ्चलता का अनुभव पद-पद पर करते हैं। अत. अर्थ की समता के बल पर 'कोप' शब्द भौतिक जगत् के स्तर से ऊपर उठकर मानस स्तर तक अनायास पहुँच जाता है। आधुनिक संस्कृत में यदि हम कहें "कुपितो मकरध्वज" तो वाक्यपदीय के मन्तव्यानुसार कोप-रूपी 'लिङ्ग' की सत्ता के कारण मकरध्वज से अभिप्राय 'काम' से समझा जाता है और समुद्र का अर्थ लक्षणया ही बोधित किया जा सकता है। 'रम्' का अर्थ है भौतिक स्थिरीकरण; परन्तु धीरे-धीरे इस शब्द ने भौतिक भाव को छोड़कर मानस भाव से अपना सम्बन्ध स्थापित कर लिया है। खेल तमाशों में चञ्चल चित्त स्थिर हो जाता है, क्योंकि उसे इन वस्तुओं में एक विचित्र प्रकार के आनन्द का सचार होता है। यही कारण है कि आजकल रम् का प्रयोग क्रीडा अर्थ में किया जाता है। प्रचलित भाषा के प्रयोगों में कभी-कभी प्राचीन अर्थ की भी झलक आ जाती है। 'क्रीडाया रमते चित्तम्' (क्रीडा में चित्त रमता है) यहाँ 'रमते' का लक्ष्य स्थिरीकरण के लिए स्पष्ट प्रतीत होता है। अत संस्कृत शब्दो के अर्थ में इस परिवर्तन की जानकारी के लिए वेद तथा वैदिक भाषा का अध्ययन नितान्त अपेक्षित है।

———

द्वितीय परिच्छेद

वेद और ब्राह्मणदर्शन

(१)

वेद के स्वरूप के विषय में प्राच्य तथा प्रतीच्य विद्वानो में दृष्टिभेद होना स्वाभाविक है। पश्चिमी विद्वानों की आधिभौतिक दृष्टि में वेद ऋषियों के द्वारा प्रणीत शब्दराशि है। सामान्य ग्रन्थों के समान वेद भी ग्रंथ ही हैं। फलतः जो ऋषि उसके मन्त्रविशेष से सम्बद्ध हैं वे वस्तुतः उसके रचयिता हैं। ऋग्वेद में ही प्राचीन तथा नवीन ऋषियों को वेद मन्त्रों का कर्ता बतलाया गया है तथा उनके कर्ता होने का स्पष्ट उल्लेख भी मिलता है—इदं ब्रह्म क्रियमाणं नवीयः (ऋ० ७।३५।१४), ब्रह्म कृण्वन्तो हरिवो वसिष्ठाः (ऋ० ७।३७।४), ब्रह्मेन्द्राय वज्रिणे अकारि (ऋ० ७।९७।९) आदि मन्त्रों में इस बात का उल्लेख पाया जाता है। भाषा-शास्त्र की दृष्टि से मण्डित तथा आध्यात्मिक भावना में अविश्वासी वर्तमान विद्वानों की दृष्टि में ऋषिलोग ही वैदिक मन्त्रों के कर्ता हैं, परन्तु भारत के वेदमर्मज्ञ प्राचीन शास्त्रों तथा शास्त्रज्ञो ने एक स्वर से ऋषियों को वैदिक मन्त्रों का द्रष्टा ही माना है, कर्ता नहीं। यह विषय नितान्त गम्भीर, मननीय तथा प्रमाणसाध्य है। यहाँ इसकी स्वल्प मीमांसा ही से हमें सन्तोष करना पड़ेगा।

अनेक वैदिक मन्त्रों के अनुशीलन से यह प्रतीत होता है कि ऋषियों को अलौकिक सामर्थ्य प्राप्त था तथा दैवी प्रतिभा के सहारे उन्होंने अपने प्रातिभ चक्षु से इन मन्त्रों का दर्शन किया। (द्रष्टव्य ऋ० ७।३३।७–१३ मन्त्र) अनेक मन्त्रों में वसिष्ठ को अलौकिक रीति से

प्रदत्त ज्ञान का उल्लेख मिलता है (ऋ० ७।८७।४,७।८८।४)। 'वाक्' की ऋग्वेद में अनेकत्र भव्य स्तुति की गई है तथा ऋषियों के भीतर उसके प्रवेश करने का स्पष्ट निर्देश है—

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्
तामन्वविन्दन् ऋषिषु प्रविष्टाम् ॥
(ऋ० १०।७१।३)

ऋषिदृष्ट प्रार्थना के अलौकिक फलों का निर्देश मन्त्रों में ही पाया जाता है (ऋ० ३।५३।१२, ७।३३।३) मन्त्रों में ही वैदिक वाणी की नित्यता के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं जिनमें 'वाचा विरूप नित्यया' (ऋ० ८।७५।६) मुख्य है। 'ऋषि' शब्द ऋष् गतौ धातु से औणादिक इन् (इन् सर्वधातुभ्यः—उणादि सूत्र ४।१२६) प्रत्यय के योग से निष्पन्न होता है। अतः इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—मन्त्रद्रष्टा[1]। इसीलिए यास्क का कथन है—साक्षात्कृत-धर्माण ऋषयो बभूवु। विश्वामित्र तथा वसिष्ठ आदि मन्त्रों के 'ऋषि' कहलाते हैं, 'कर्त्ता' नहीं। इसीलिए इन ऋषियों को मन्त्रों का द्रष्टा होना न्यायसंगत है, कर्ता होना नहीं[2]।

आस्तिक तथा नास्तिक दर्शन के विभेद का मुख्य साधन तो यही 'वेद-प्रामाण्य' ही है। नास्तिक—चार्वाक, जैन तथा बौद्ध—वेदवाक्यों में प्रामाण्य बुद्धि नहीं मानते। उधर षड्दर्शन, ईश्वर के अस्तित्व के विषय में एकमत्य न रखने पर भी, वेद की प्रामाणिकता में समान

१—ऋषि मन्त्र-द्रष्टा। गत्यर्थत्वाद् [illegible] मन्त्र दृष्टवन्त ऋषय। [illegible] इति उणादिसूत्र ४।१२६।

२ [illegible] त ऋषयोऽभवन्तदृषीणामृषित्व-[illegible]। [illegible]। मन्त्रान् ददर्श [illegible]।—निरुक्त।

भावेन आदर तथा श्रद्धा रखते हैं। जैन तथा बौद्ध तार्किकों ने अनेक युक्तियों के सहारे वेदों के प्रामाण्य को ध्वस्त करने का विकट प्रयत्न अपने तर्क ग्रंथों में किया है, परन्तु इनका मार्मिक खण्डन नैयायिक तथा मीमांसक दार्शनिकों ने तर्क-व्यूहों के द्वारा कर अपने मतको पुष्ट, युक्तियुक्त तथा प्रामाणिक सिद्ध किया है। इस विषय में कुमारिल भट्ट का समीक्षण बड़ा ही मार्मिक तथा प्रामाणिक माना जाता है (द्रष्टव्य श्लोक-वार्तिक 'शब्दनित्यताधिकरण' पृ० ७२८–८४५)

ब्राह्मण दार्शनिको के दृष्टिकोण मे भी यत्किंचित् भिन्नता है—विशेषतः नैयायिकों तथा मीमांसकों में। नैयायिक शब्द की अनित्यता का पक्षपाती तथा समर्थक है, तो मीमांसक शब्द की नित्यता का। इसीलिए दोनों की दृष्टियों में पार्थक्य उपलब्ध होता है। न्याय का अभीष्ट मत इस गौतम सूत्र से चलता है—मन्त्रायुर्वेद-प्रामाण्यवच्च तत्-प्रामाण्यमाप्त-प्रामाण्यात् (न्याय-सूत्र २।१।६८)। वेद का प्रामाण्य आप्त के प्रामाण्य के कारण है। गौतम वेदकर्ता के आप्तत्व के विषय में संकेत नहीं देते, परंतु 'तात्पर्यटीका' में वाचस्पति मिश्र की व्याख्या के अनुसार जगत्कर्त्ता परमेश्वर नित्य, सर्वज्ञ तथा परम कारुणिक है। इसलिए उसने सृष्टि के अनन्तर मानवों के कल्याणार्थ नाना उपदेशों को अवश्य किया। उस परमेश्वर के ये समस्त उपदेश या वाक्य ही वेद है। नित्य सर्वज्ञ वक्ता होने के कारण ही वेद का प्रामाण्य है। जयन्त भट्ट आदि ने भी इसी मत की पुष्टि की है। वैशेषिक दर्शन में भी इसी सिद्धान्त की उपलब्धि होती है। तद्-वचनाद् आम्नायस्य प्रामाण्यम् (१।१।३) आम्नाय का प्रामाण्य 'तद्-वचन' होने से ही है। तद् कौन ? परमेश्वर। किरणावली में उदयनाचार्य की यही व्याख्या है—तद् वचनात् = तेन ईश्वरेण प्रणयनात्। बुद्धिपूर्वा वाक्य-कृतिर्वेदे (वैशे० ६।१।१) सूत्र तो स्पष्टतः वेद को पौरुषेय सिद्ध कर रहा है। आशय है

कि जिस प्रकार लौकिक वाक्यों की रचना बुद्धिपूर्वक होती है उसी प्रकार वेद की भी रचना वेदार्थ को जानने वाले पुरुष के द्वारा की गई है। वेदकर्ता पुरुष समस्त अलौकिक वेदार्थ विषय में नित्य ज्ञान से सम्पन्न होता है। सुतरां 'शाश्वत-धर्म-गोप्ता' सर्वज्ञ परमेश्वर ही धर्म-प्रतिपादक वेद का आदि वक्ता है तथा उसके प्रामाण्य के कारण ही वेद का प्रामाण्य है।

मीमांसकों के 'शब्दनित्य' का नैयायिकों ने खण्डन कर शब्द के अनित्यत्व का समर्थन किया है[1]। तब वेद तथा सामान्य वाक्य एकही कोटि में चले जाते हैं। नैयायिक यह नहीं मानता। वह वेद को 'नित्य' मानता है। भाष्यकार वात्स्यायन के मत में अतीत तथा भविष्य युगान्तर तथा मन्वन्तर में सम्प्रदाय का अविच्छेद ही वेद का नित्यत्व है अर्थात् एक दिव्य युग के अनन्तर दूसरे युग के आरम्भ में तथा एक मन्वन्तर के बाद दूसरे मन्वतर के आरम्भ में वेद के अध्यापक, अध्येता तथा वेदाध्यापन अव्याहत रहते हैं और चिरकाल तक इसी रूप में अव्याहत रहेंगे। इसी तात्पर्य से शास्त्रमें वेद को 'नित्य' कहा गया है। महाप्रलय होने पर भी इस प्रक्रिया में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं होती। तात्पर्य टीका के अनुसार महाप्रलय में नित्य सर्वज्ञ परमेश्वर वेद का प्रणयन कर सृष्टि के आरम्भ में स्वयं ही सम्प्रदाय का प्रवर्तन करते हैं[2]। योगदर्शन के भाष्यमें व्यासदेव ने भी यही कहा है कि परमेश्वर बद्ध जीवों के प्रति अनुग्रह करते हैं और उनके उद्धार के लिए ही प्रलय के बाद वे पुनः ज्ञान तथा धर्म का उपदेश करते हैं[3]

---

१ [illegible] मिश्र—भामती (२।२।३)

२ महाप्रलये तु [illegible] सर्गादि [illegible] स्वयमेव सम्प्रदाय प्रवर्तयते एवमित्यत —वाचस्पति।

३ [illegible] भूतानुग्रह प्रयोजनम्। ज्ञानधर्मोपदेशेन कल्प प्रलय-महाप्रलयेषु [illegible] पुरुषानुद्धरिष्यामीति—योगभाष्य १।२५।

फलतः वेद सम्प्रदाय का प्रवर्तक महाप्रलय के अनन्तर भी स्वयं नित्य सर्वज्ञ परमेश्वर ही होता है। निष्कर्ष यह है कि न्यायवैशेषिक दर्शनो के अनुसार वेद पौरुषेय है तथा नित्य है।

वेद के विषय में सांख्यशास्त्र का मत पूर्वोक्त न्यायमत से एकान्त विरुद्ध है। सांख्य वेद को पौरुषेय मान ही कैसे सकता है? जब उसने पुरुष-ईश्वर—का निषेध ही कर दिया है (सांख्यसूत्र ५।४६)। मुक्त तथा अमुक्त पुरुषों में वेद के निर्माण की योग्यता नहीं है। जीवन्मुक्तों में अग्रगण्य विष्णु विशुद्ध सत्त्व सम्पन्न होने से निरतिशय सर्वज्ञ अवश्य हैं, परन्तु वीतराग होने से सहस्र शाखा वाले वेद के निर्माण में सर्वथा अयोग्य हैं। अमुक्त पुरुषों को असर्वज्ञता ही निर्माण के अयोग्य सिद्ध कर रही है (सा० सू० ५।४७)[1]। वेद के अपौरुषेय होने में एक और भी युक्ति है। पौरुषेय की परिभाषा है—यस्मिन्नदृष्टेऽपि कृतबुद्धिरुप—जायते तत् पौरुषेयम् (सां० सू० ५।५०)। पुरुष के द्वारा उच्चरित-मात्र होने से ही कोई वस्तु पौरुषेय नहीं होती, प्रत्युत दृष्ट के समान अदृष्ट में भी बुद्धिपूर्वक निर्माण होने पर ही पौरुषेयता आती है। श्रुति के अनुसार—'उस महाभूत के निश्वास ही ऋग्वेद आदि वेद हैं' (तस्यैतस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदः')। श्वास प्रश्वास तो स्वतः आविर्भूत होते हैं, उनके उत्पादन में पुरुष को कोई भी बुद्धि नहीं होती है। अतः उस महाभूत के निःश्वासरूप ये वेद अदृष्टवशात् अबुद्धिपूर्वक स्वतः ही आविर्भूत होते है। उसमें उसका किञ्चिन्मात्र भी प्रयत्न जागरूक नहीं रहता। अतः वेद पौरुषेय न होकर अपौरुषेय है। अपनी स्वाभाविक शक्ति की—यथार्थ ज्ञान की उत्पादन शक्ति की—अभिव्यक्ति के कारण वेद स्वतः प्रामाण्य है। नैयायिकों के समान वह आप्त-प्रामाण्य के ऊपर अपने प्रामाण्य के लिए आश्रित नहीं होता (निज-

---

१ द्रष्टव्य विज्ञान भिक्षु—इन सूत्र का सांख्य प्रवचन भाष्य।

शक्त्यभिव्यक्तेः स्वत. प्रामाण्यम् ५।५१)। इस प्रकार सांख्यमत में वेद अपौरुपेय तथा स्वतः प्रमाण है।

वेदान्त का भी मत इस मत के साथ साम्य रखता है। श्रुति को वेदान्त-शास्त्र प्रत्यक्ष शब्द के द्वारा द्योतित करता है, क्योंकि प्रामाण्य के प्रति वह किसी अन्यकी अपेक्षा नहीं रखती (प्रत्यक्ष श्रुतिः प्रामाण्य प्रत्यनपेक्षत्वात्)। शास्त्रयोनित्वात् (१।१।२) सूत्रके भाष्य में शकराचार्य ने ब्रह्म को वेद की योनि अर्थात् कारण अवश्य माना है, परन्तु यह कारणता ग्रन्थकर्तृता के रूप में प्रकट नहीं होती। पुरुपनि.श्वास के समान सर्वज्ञान का आकर ऋग्वेदादि वेद अप्रयत्न से ही लीलान्याय से उस पुरुष से सभूत माने गये है।[1] वेद की उत्पत्ति में उस ब्रह्म का कोई भी प्रयत्न जागरूक नहीं है। वेद नित्य है।[2] श्रुति स्पष्ट शब्दो में कहती है कि ऋषियो में वाणी स्वतः प्रविष्ट हो गई थी। अत. वाणी के द्रष्टा होने से ऋषियों का ऋषित्व है। महाभारत में भी व्यासजी का यह वचन नितान्त माननीय है—

> युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः।
> लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाता स्वयंभुवा॥
>
> (वनपर्व)

आशय है कि युग के अन्त में वेदों का अन्तर्धान हो जाता है। सृष्टि के आदि में स्वयभू के द्वारा अनुशासित महर्षि लोगों ने उन्हीं वेदों को इतिहास के साथ अपनी तपस्या के बल पर प्राप्त किया। इस वचन से स्पष्ट है कि वेद नित्य है; प्रलय में उसका केवल तिरोधान होता है तथा सृष्टि के आरम्भ में महर्षियों को तपोबल से पुन उसकी स्फूर्ति हो जाती है। 'वेदान्त परिभाषा' का कथन है कि सर्ग के आदिकाल में

---

१ ब्रह्मसू १।१।३ पर शाकर भाष्य।

२ अत एव च नित्यत्वम्—ब्रह्मसूत्र १।३।२९

परमेश्वर ने पूर्वसृष्टि में सिद्ध वेदों की आनुपूर्वी के समान आनुपूर्वी वाले वेद को बनाया, उस आनुपूर्वी से विजातीय नहीं। 'पौरुपेयत्व' का अर्थ यही है कि सजातीय उच्चारण की अपेक्षा न करने 'वाले' उच्चारण का विषय होना। वेद की सृष्टि ऐसी नहीं है। इसीलिए वेद 'अपौरुपेय' कहलाता है।[1]

मीमांसकों की वेद—विषयक मीमांसा पर्याप्तरूपेण विस्तृत है। जैमिनि ने अपने सूत्रों में(अ०प्रथमका द्वितीय)पाद शबर स्वामी ने उनके भाष्य में तथा कुमारिल भट्ट ने श्लोक वार्तिक में तथा अवान्तर कालीन ग्रन्थकारों ने भी इस मत की समीक्षामें बडी शक्ति तथा युक्ति-वैभव का विलास दिखलाया है। मीमांसक शब्द को नित्य मानते हैं तथा नैयायिकों के 'शब्दानित्यत्व' सिद्धान्त को अपनी दृष्टि से खण्डन करते हैं। शब्द नित्यत्व के विषय में मीमांसकों के सिद्धान्त आज के वैज्ञानिक युग में भी विशेष महत्त्वशाली है। उनका कथन है कि शब्द अश्रुत होने पर लुप्त नहीं हो जाता। क्रमशः विकीर्ण होने पर, वहु स्थानों में फैल जाने पर वह लघु तथा अश्रुत हो जाता है, परन्तु लुप्त नही होता। 'शब्द करो' कहते ही आकाश में अन्तर्हित शब्द तालु तथा जिह्वा के संयोग से आविर्भूत मात्र हो जाता है, उत्पन्न नहीं होता (मी० सू० १।१।१४)। वहुत व्यक्तियों के द्वारा उच्चारण करने पर भी शब्द एक रूप ही रहता है, वृद्धि तो केवल नाद की होती है। नाद का अर्थ है उच्चारण-जन्य ध्वनि। नाद तथा शब्द में अन्तर होता है। नाद अनित्य होता है, परन्तु शब्द नित्य (मी० सू० १।१।१७) शब्द सुनते ही

---

[1] पौरुपेयत्व सजातीयोच्चारणानपेक्षोच्चारण-विषयत्वम्। तथा च सर्गाद्यकाले परमेश्वरः पूर्व सर्ग सिद्धवेदानुपूर्वी समानानुपूर्वीकं वेदं विरचितवान् न तु तद् विजातीय वेदमिति।

—वेदान्त परिभाषा, आगम-परिच्छेद का अन्त।

अर्थ का युगपद् ज्ञान तथा प्रतिपाद्य वस्तु का सद्यः ज्ञान होना शब्द की नित्यता के विषय में मीमांसकों की अन्य युक्तियाँ हैं (मी० सू० १।१।१८, १९) नित्य शब्द के राशिभूत वेद को नित्य होना स्वाभाविक है। इस विषय में मीमांसा एकमत है कि शब्द, अर्थ तथा शब्दार्थ का सम्बन्ध ये तीनों नित्य हैं (औत्पत्तिकस्तु शब्दस्य अर्थेन सम्बन्धः (जै० सू० १।५) । अतः वेद की नित्यता तथा प्रामाण्य स्वतः सिद्ध है।

वेद अपौरुषेय है। वह स्वतः आविर्भूत होनेवाला नित्य पदार्थ है। उसकी उत्पत्ति में किसी भी पुरुष का—परमेश्वर का भी—उद्योग क्रियाशील नहीं है। तैत्तिरीय, काठक अथवा कौथुम पदों का सम्बन्ध भिन्न भिन्न मन्त्र-संहिताओं के साथ अवश्य मिलता है, परन्तु यह आख्या ग्रन्थकर्तृत्व के कारण न होकर प्रवचन के कारण है (आख्या प्रवचनात् जै० सू० १।१।३०) । प्रवचन से तात्पर्य यह है कि इन ऋषियों ने तत्तत् मन्त्र-संहिताओं का प्रथम उपदेश किया। वेद में अनित्य पदार्थों के दर्शन तथा श्रवण से भी उनके पौरुषेय होने का सिद्धान्त अनेक लोग मानते हैं। जैसे तैत्तिरीय संहिता में बबर प्रावाहणि नामक किसी व्यक्ति का नाम निर्देश पाया जाता है (बबरः प्रावाहणिरकामयत तै० सं० ७।२।२।१) अतः इस व्यक्ति का निर्देशक वेद अवश्य ही इस व्यक्ति के अनन्तर उत्पन्न हुआ होगा अथ च अनित्य होगा। मीमांसा का उत्तर है कि यहाँ बबर नामक किसी मनुष्य का उल्लेख न होकर प्रवहण स्वभावशील बबर-ध्वनियुक्त वायु का निर्देश है (परं तु श्रुति-सामान्य मात्रम् जै० १।१।३१) । वेद के किसी भाग में वनस्पतियों के सत्र करने का और कहीं सर्पों के सत्र करने का उल्लेख अवश्य मिलता है, परन्तु इससे उक्त सिद्धान्त को हानि नहीं पहुँचती, क्योंकि यह अर्थवाद है जो चेतन पुरुष, विशेषतः ब्राह्मण, को सत्र करने के लिए उत्साहित करता है। वेद के कर्तारूप से किसी भी पुरुष का स्मरण

कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। वेद में कहीं कहीं ऐतिहासिक व्यक्तियों तथा राजाओं के नाम, विशेषतः नाराशंसी गाथाओं में, अवश्य आते हैं, परन्तु सर्वज्ञानात्मक वेद में ऐसे उल्लेख उसकी अपौरुषेयता के भंग करने में समर्थक नहीं हो सकते। वेदों के उल्लेख के अनुसार ही आगामी युगों मे व्यक्तियों का आविर्भाव होता रहता है, अतीत युग में उत्पन्न व्यक्तियों का उल्लेख वेद में नहीं है। जैमिनि तथा शबर स्वामी के अनुसार वेद की नित्यता का प्रामाण्य तो स्वय वेद ही है—

तस्मै नूनमभिद्यवे वाचा विरूप नित्यया।
वृष्णे चोदस्व सुष्टुतिम्॥

(ऋ० ८।७५।६)

इस मन्त्र में निर्दिष्ट 'नित्या वाक्' का प्रयोग वेद मन्त्रो के ही लिए किया गया है। इसे ही जैमिनि ने अपने सिद्धान्त की पुष्टि के लिए 'चरम हेतु' (अन्तिम कारण) स्वीकार किया है। फलतः मीमासा मत में वेद अपौरुपेय, नित्य तथा स्वतः प्रमाण है।

स्मृति तथा पुराणों में वेद-विपयक भावना अधिकतर मीमांसक मत के अनुकूल है। मनुस्मृति में वेद की तथा वेदज्ञ की भूयसी महिमा गाई गई है। मनु का यह परिनिष्ठित मत है कि वेद देव, पितर तथा मनुष्यो के लिए मार्गदर्शक, नित्य, अपौरुपेय तथा अप्रमेय है:—

पितृदेव-मनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्
अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः।

(मनु १२।९४)

वेदज्ञ की श्रेष्ठता के विपय में मनु का कथन बड़ा प्रामाणिक है कि वेदशास्त्र का ज्ञाता सेनापत्य, राज्य, दण्डनेतृत्व तथा समग्र पृथिवी का अधिपतित्व करने के लिए योग्य होता है। स्मृति का प्रामाण्य तो श्रुति की अनुकूलता में ही है। वेद ही वाणी (वेदरूपा वाणी) को

परमेश्वर का अविनाशी रूप, यज्ञ का प्रथम निर्माण करनेवाली, वेदों की माता तथा अमृत की नाभि (खजाना) बतला रहा है—

> वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य
> वेदानां माताऽमृतस्य नाभिः ॥
>
> (तै० ब्रा० २।८।८।५)

निष्कर्ष यह है कि भारतवर्ष के नाना दर्शन-विभाग एकमत से वेद की नित्यता, स्वतः प्रामाण्य तथा मानवमात्र के लिए उपदेष्टा के रूप में पूर्ण विश्वास करते हैं तथा श्रद्धा रखते हैं। अधिकांश उसे अपौरुषेय ही मानते हैं। पौरुषेय मतानुयायी नैयायिक भी उसे सर्वज्ञ परमेश्वर की ही रचना मानते हैं। वेदों में कुछ ऐसा रहस्य भरा हुआ है कि शंकराचार्य जैसा तार्किक-शिरोमणि भी वेद विरोध के सामने नतमस्तक हो जाता है तथा तद्विरुद्ध सिद्धान्त का परित्याग कर देता है। तथ्य यह है कि श्रुति सकल-कल्याणैक सर्वज्ञ परमेश्वर की दिव्य वाणी है जिसका दर्शन ऋषियों ने अपने तपःपूत हृदय से दीर्घ तपस्या के अनन्तर किया था। हृदय में प्रकट होने के कारण ही वेद ने श्रुति नाम को [illegible] है।

आध्यात्मिकतया वैयक्तिक पुनरुद्धार होता है और जिसके विना उन सात्त्विक तत्त्वों को समझने की योग्यता कभी प्राप्त नहीं हो सकती। दीक्षा में आचार्य का कर्त्तव्य पिताका-सा है, अर्थात् जन्म देना। उपनयन वह गुप्त प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक आध्यात्मिक व्यक्ति अपनी ही आध्यात्मिकता की चेतना में डूबकर अपनी आध्यात्मिक शक्ति के अंश को गर्भ में फेंक देता है, मानो ये अन्तःप्राण के हों अथवा नव शिष्य के 'लिङ्गदेह' हों। यह उस पापनिवृत्ति की प्रक्रिया की दीक्षा देता है, जिसके फलस्वरूप दीक्षित व्यक्ति के शरीर में आध्यात्मिक सत्त्व (अस्तित्व) की रचना होती है। आध्यात्मिक शक्ति का संचार पवित्र स्वरों के सहारे किया जाता है। इस प्रक्रिया के तात्कालिक परिणाम-स्वरूप तुन्दिका (नाभि) केन्द्र में उत्तेजना उत्पन्न करना है, जिसे बाद के साहित्य में 'तुन्दिका स्थान की ग्रन्थियों को कसना' कहा गया है। ज्योंही इस स्थान में उत्तेजना उत्पन्न होती है, त्योंही शिष्य की आध्यात्मिक शक्तियाँ विकाश का स्थान पा जाती हैं। इन शक्तियों का क्रमिक विकास—जो प्रत्येक व्यक्ति में गुप्त रूप से विद्यमान रहता है और जिसका अनुभव उसे तब तक नहीं होता, जब तक उसके शरीरके भीतर से उसके दीक्षागुरु इन शक्तियों को प्राणोत्पादक संस्पर्श द्वारा उत्पन्न नहीं कर देते—स्थूल शरीर के आणविक विकाश से सम्बन्ध रखता है। इस वैकाशिक प्रक्रिया की समाप्ति से अर्थ है, पूर्वारम्भिक आध्यात्मिक अंशों की पूर्ण प्रौढ़ता। इसी तरह मनुष्य के विकारपूर्ण—स्वाभाविक—शरीर से विभिन्न इस आध्यात्मिक शरीर की रचना होती है।

उपनयन का प्रयोजनः—

> "जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते।
> वेदपाठाद् भवेद् विप्रो ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः"

परमेश्वर का अविनाशी रूप, यज्ञ का प्रथम निर्माण करनेवाली, वेदों की माता तथा अमृत का नाभि (खजाना) बतला रहा है—

> वागक्षर प्रथमजा ऋतस्य
> वेदाना माताऽमृतस्य नाभिः ॥
>
> (तै० ब्रा० २।८।८।५)

निष्कर्ष यह है कि भारतवर्ष के नाना दर्शन-विभाग एकमत से वेद की नित्यता, स्वत. प्रामाण्य तथा मानवमात्र के लिए उपदेष्टा के रूप में पूर्ण विश्वास करते है तथा आग्रह रखते हैं। अधिकाश उसे अपौरुषेय ही मानते है। पौरुपेय मतानुयायी नैयायिक भी उसे सर्वज्ञ परमेश्वर की ही रचना मानता है। वेदों में कुछ ऐसा रहस्य भरा हुआ है कि शकराचार्य जैसा तार्किक-शिरोमणि भी वेद विरोध के सामने नतमस्तक हो जाता है तथा तद्विरुद्ध सिद्धान्त का परित्याग कर देता है। तथ्य यह है कि श्रुति परम-कारुणिक सर्वज्ञ परमेश्वर की दिव्या वाक् है जिसका श्रवण ऋषियों ने अपने तपःपूत हृदय मे दीर्घ तपस्या के अनन्तर किया था। हृदय में श्रवण करने के कारण ही वेद के श्रुति नाम की सार्थकता है।

---

(२)

वेद मे रहस्यवाद

"यह बात सर्वविदित है कि द्विजोंके सिवा और किसी को भी वेदाध्ययन का अधिकार नहीं है, बल्कि यों कहना चाहिये कि उचित संस्कार के बिना इसके गूढ तत्त्वों का ज्ञान होना बिलकुल असम्भव है। वास्तव में उपनयन विधि अथवा गायत्री-दीक्षा ऐसी संस्कार-क्रिया है, जिससे

आध्यात्मिकतया वैयक्तिक पुनरुद्धार होता है और जिसके विना उन सात्त्विक तत्त्वों को समझने की योग्यता कभी प्राप्त नहीं हो सकती। दीक्षा में आचार्य का कर्त्तव्य पिताका-सा है, अर्थात् जन्म देना। उपनयन वह गुप्त प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक आध्यात्मिक व्यक्ति अपनी ही आध्यात्मिकता की चेतना में डूबकर अपनी आध्यात्मिक शक्ति के अंश को गर्भ में फेंक देता है, मानो ये अन्तःप्राण के हों अथवा नव शिष्य के 'लिङ्गदेह' हों। यह उस पापनिवृत्ति की प्रक्रिया की दीक्षा देता है, जिसके फलस्वरूप दीक्षित व्यक्ति के शरीर में आध्यात्मिक सत्त्व (अस्तित्व) की रचना होती है। आध्यात्मिक शक्ति का संचार पवित्र स्वरों के सहारे किया जाता है। इस प्रक्रिया के तात्कालिक परिणाम-स्वरूप तुन्दिका (नाभि) केन्द्र में उत्तेजना उत्पन्न करना है, जिसे वाद के साहित्य में 'तुन्दिका स्थान की ग्रन्थियों को कसना' कहा गया है। ज्योंही इस स्थान में उत्तेजना उत्पन्न होती है, त्योंही शिष्य की आध्यात्मिक शक्तियाँ विकाश का स्थान पा जाती हैं। इन शक्तियों का क्रमिक विकास—जो प्रत्येक व्यक्ति में गुप्त रूप से विद्यमान रहता है और जिसका अनुभव उसे तव तक नहीं होता, जब तक उसके शरीरके भीतर से उसके दीक्षागुरु इन शक्तियों को प्राणोत्पादक संस्पर्श द्वारा उत्पन्न नहीं कर देते—स्थूल शरीर के आणविक विकाश से सम्बन्ध रखता है। इस वैकाशिक प्रक्रिया की समाप्ति से अर्थ है, पूर्वारम्भिक आध्यात्मिक अंशों की पूर्ण प्रौढता। इसी तरह मनुष्य के विकारपूर्ण—स्वाभाविक—शरीर से विभिन्न इस आध्यात्मिक शरीर की रचना होती है।

उपनयन का प्रयोजनः—

> "जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते।
> वेदपाठाद् भवेद् विप्रो ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः"

इससे प्रकट होता है कि, सच्चे ब्राह्मण के जीवन की चार अवस्थाएँ हैं। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से इस शरीर का जन्म निम्नतम अवस्था का द्योतक है, जो शूद्रावस्था के समान है। यह वह अवस्था है, जिसमें वैदिक अनुशीलन का प्रश्न ही नहीं उठता। ब्राह्मण माता-पिता से उत्पन्न होने पर भी विशेष विभिन्नता नहीं रहती, क्योंकि एक ब्राह्मण का पुत्र वेदाध्ययन के अधिकार से उतना ही दूर है, जितना एक शूद्र का पुत्र। विभिन्नता केवल इतनी ही है कि ब्राह्मण में—काल्पनिकतया ही—निस्सन्देह वह गुण है, जिसे दार्शनिक दृष्टि से 'नैसर्गिक स्वरूप-योग्यता' कहते हैं और शूद्र में यह गुण नहीं होता। शक्ति स्वयं जन्म-जात गुण है, जो वंश-परम्परागत किसी व्यक्ति-विशेष में विद्यमान रहता है। वंश में संस्कार का अर्थ उपनयन अथवा दीक्षा है, जिससे पुनर्जन्म या पुनरुद्धार होता है—ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार बप-तिस्मा की संस्कार-विधि के बाद क्रिश्चियन नास्तिकों का पुनर्जन्म होता है। इसलिये 'द्विज' वही है, जिसका पुनर्जन्म हो या यों कहिये कि, जिसका (जिसके शरीर का) आध्यात्मिक प्रकाश तथा ज्ञानपूर्ण पुनर्जन्म हो। वैदिक साहित्य के रहस्यमय वाक्य-निबन्ध में अध्यात्मीकरण की सम्पूर्ण प्रक्रिया—ज्ञानपूर्ण शरीर की रचना—'स्वाध्याय' के भीतर छिपी हुई है, जिसका वर्णन उपर्युक्त विप्रावस्था के श्लोक में किया जा चुका है। 'स्वाध्याय' का मर्मार्थ—जैसा लगाया जाता है—पवित्र वेद-पाठ करना नहीं है। यह अर्थ तो उसके मौलिक एवम् वास्तविक अर्थ का अनुमानमात्र है। गुरु की इच्छा शक्ति द्वारा प्रोत्साहित किया हुआ प्रकाश (ज्ञान) शक्ति-सञ्चालन क्रिया का गुण-दोष विवेचन करता है। उपनयन इसी विधि की प्रारम्भिक प्रक्रिया है। वह शब्द, जिसे शिष्य अपने दीक्षागुरु से ग्रहण करता है (जो उसके ही योग से दीक्षागुरु के प्रभाव से अभिमन्त्रित होता है), वास्तव में आन्तरिक ज्ञान का बाह्य पक्ष है और सूक्ष्म नाद (Subtle Sound) की प्रकृति का होता

है। यही सूक्ष्मा वाक् बुद्धि या ज्ञान के रूप में प्रकट होती है, जिसके बाद इच्छा जागरित हो उठती है और चित्त प्रोत्साहित हो पड़ता है। फिर शान्त चित्त चलायमान होने लगता है और फलस्वरूप 'कायाग्नि' उत्पन्न होती है, जिसका धारा-प्रवाह स्वभावतः उन्मुख होता है। तत्पश्चात प्राणों की तदनुरूप गति की उत्पत्ति होती है। इसे ही 'नाभिरूपी कमल का खिलना' कहते हैं। प्रोत्साहित की हुई चेतना (प्राण), नाभि स्थान से उठकर मस्तिष्क में विद्युत् की भाँति एक झटका लगाती और फिर नीचे उतर आती है। इसी बीच मस्तिष्क, पिण्ड-स्थान से उत्पन्न चेतना-शक्ति के दूसरे वैद्युतिक प्रवाह से टकराकर, पुनर्झंकृत हो उठता है। इसी प्रक्रिया से स्पष्ट ध्वनि (Audible Sound) की उत्पत्ति होती है। बात यह है कि वायु या प्राण आभ्यन्तरिक अङ्ग के घर-सा और इसके गुणों से परिपूर्ण हो जाता है। अग्नि से प्रभावान्वित होकर यह स्वयम् फैलने लगता है; और इसी बीच विभिन्न श्रुतियों के सहारे यह सभी ग्रन्थियों को खोल देता है और तब वर्णों की उत्पत्ति होती है। अन्तर्भूत सूक्ष्मा वाक् या ध्वनि अग्नि के परिमाणों के साथ मिल जाती है। इसका रूप अथवा आकार, जो अपूर्व और अविभाज्य है, उपर्युक्त साकार तथा अभिव्यक्त वाक् में प्रतिबिम्बित होता है।

सूक्ष्म वाक्:—

ऊपर जो कुछ कहा जा चुका है, उससे यह प्रमाणित होता है कि आभ्यन्तरिक स्वर (Inner Sound) की अभिव्यक्ति या व्यंजना की प्रक्रिया ज्ञान के आनुक्रमिक शुद्धीकरण से अभिन्न है। अतः स्वाध्याय विप्रावस्था का द्योतक है। जब इस अवस्था में पूर्णता आ जाती है, तभी किसी भी व्यक्ति को प्रकाशोन्मुख होना कहा जाता है, जो एक ब्राह्मण का विशिष्ट लक्षण है। सत्य अथवा परब्रह्म का पूर्ण ज्ञान

उस आत्मा में कभी उदित नहीं हो सकता, जिसने शब्द ब्राह्मण के (वैद्युतिक) धारा-प्रवाह से जो आन्तरिक शिराओं की अभिशुद्धि (संस्कार) के पश्चात् उत्पन्न किया जाता है—प्रारम्भिक अवस्था का उपक्रम नही किया हो और उपनयन के द्वारा दीक्षागुरु ने उसके आध्यात्मिक केन्द्रों को नहीं खोल दिया हो।

इस प्रकार वेद ही ज्ञान अथवा आत्मज्ञान का एकमात्र मार्ग है, जिसके बिना आत्मग्रन्थियाँ कदापि नही खोली जा सकती। जब ऋषियों को मंत्रों का ज्ञान हो जाता है और वे धार्मिक तत्त्वों को समझ जाते हैं, तब उन्हे नित्या, अतीन्द्रिया [Supersensuous] तथा सूक्ष्मा [Subtle] वाक् का अन्तर्दर्शन होता है। यह सूक्ष्मा वाक् स्वभावतः प्रकाश तथा ज्ञान का निष्कर्ष है। जब इसे बाह्य-केन्द्र में प्रतिपादित किया जाता है, तब इसके वर्णनके आधार-स्वरूप भाषाकी प्रचलित वर्णमाला की शरण लेनी पड़ती है। वेद-ग्रन्थ, जैसा साधारणतया समझा जाता है, इसी प्रकार के हैं और उन वेद-ग्रन्थों को विल्म कहते हैं—

"यां सूक्ष्मां नित्यामतीन्द्रियां वाचमृषयः साक्षात्-कृतधर्माणो मन्त्रदृशः पश्यन्ति, तामसाक्षात्-कृतधर्मेभ्यः परेभ्यः प्रतिवेदयिष्यमाणा· विल्म समामनन्ति, स्वप्ने वृत्तमिव दृष्टश्रुतानुभूतमाचिख्यासन्ते।" अतः वेद तत्त्वतः एक और अविभाज्य है। इसका विभाजन अनवस्थित भाषा की दृष्टि से ही हो सकता है।

इस कारण वेदका निष्कर्ष दिव्य ध्वनि में भरा है, जिसका ज्ञान स्वत किसी जिज्ञासु को प्राप्त हो जाता है, जो ब्रह्मनाड़ी, केन्द्रीय आकाश अथवा परव्योम में पार्थिव वायु के मोह के परे पहुँचने की चेष्टा करता है। मध्यकालीन रहस्यवादियों के अनाहता वाक् के साथ तथा इसके वास्तविक रूपमें प्रणव के साथ इसकी तुलना करनी चाहिये। यह भर्तृहरिकी एकपदागमा विद्या (Monosyllabic Vidya) है।

इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि प्राचीन भारतवर्ष की प्रत्येक विचार—पद्धति वेद के विशुद्ध ज्ञानकी प्राप्ति के साधन बने, जिसके विना सत्यका अन्तर्ज्ञान होना एकान्त असम्भव समझा जाता था। व्याकरण के वाग्-योगकी विधिसे स्थूला वाक् या ध्वनि (Physical Sound) की शुद्धि और वाह्य अंशों (Adventitious Elements) से मुक्त हो सकी; जिसके फल-स्वरूप यह ब्रह्माण्ड में चिरस्रोतस्विनी ध्वनिसी दीख सकी और जिसके द्वारा अनन्त नित्य सत्यका ज्ञान प्राप्त होता है। यह शुद्धीकरण उसी ध्वनि (सूक्ष्मा वाक्) की संस्कार-क्रिया ही है। दैवी वाक् संस्कृतकी जिसे या सिद्ध भाषा कहते है, उत्पत्ति का मूल कारण है। इस प्रकार विशुद्ध होकर ध्वनि उत्पादक शक्ति (Creative Potency) के साथ सयुक्त हो जाती है। सस्कारकी अन्तिम अवस्था तभी प्राप्त होती है, जब ज्ञान पूर्ण हो जाता है। व्याकरण का स्फोट, जो नित्य और स्वयं प्रकाशमान है, वही शाश्वत शब्दब्रह्म अथवा गुप्तवेद है। शब्द के जैसा स्फोट भी नित्यरूप होकर परब्रह्म से अथवा सृष्टि की सत्ता के साथ अर्थ की भाँति लगा रहता है; और यही उस प्रकाश का निरूपक होता है, जिससे सत्ताका ज्ञान प्राप्त होता है। किन्तु इसके द्वारा सत्ता का ज्ञान होने के पूर्व इसे स्पष्ट ध्वनि से प्रकट किया जाता है। हठयोग और तन्त्र समानाधारपर निर्मित है। व्याकरण में जिसे स्फोट का प्रत्यक्षीकरण कहा गया है, उसे ही यहाँ कुण्डलिनी की जागरूकता—सृष्टिकी सार्वलौकिक गर्भाशय—के रूपमें प्रकट किया जाता है। यह शब्द-ब्रह्मसे मिलता जुलता है, जो प्रत्येक मानव शरीरमें उत्तेजित करनेवाले संस्पर्शकी प्रतीक्षामें, सुप्तप्राय विद्यमान रहता है। वक्रगतिशक्ति (Serpentine Energy) का उन्मुखीभूत आवेग—जब इसमें जागरूकता उत्पन्न कर दी जाती है—स्वाध्याय की अवस्था का द्योतक है, जैसा उपर्युक्त श्लोक में वर्णित है, और

जिसका भाव ज्ञान का क्रमशः संस्कृत होना है। आज्ञाचक्र में ज्ञानकी विशुद्धता अपनी चरम सीमा को पहुँच जाती है, जिसके परे सहस्रारका अनिर्वचनीय प्रकाश है और जहाँ ज्ञान ज्ञाता तथा ज्ञेय एकतत्त्व या अद्वैत में विलुप्त हो जाते हैं। यही सत्य ब्राह्मण है। नादानुसन्धान तथा अन्य क्रमादि—शब्द-ब्राह्मण-तक—उसके वास्तविक रूपमें पहुँचनेकी चेष्टामात्र को ही लक्षित करते हैं। इस विषय में मीमांसकोंका अपना अलग मार्ग है। कारण, यद्यपि वे ब्राह्मबोध से कुछ लाभ नहीं उठाते, तो भी उनका वेद-बोध, नित्या वाक् की ही भाँति, अन्य रहस्यमार्गों के तुल्य है। शब्दविचार में वैयाकरणों और मीमांसकों के बीच अवश्य एक मूलभूत पार्थक्य है, किन्तु इस बातको वे दोनों स्वीकार करते हैं कि शब्द द्वारा ही सत्य का ज्ञान चाहे जिस प्रकार भी अवधारणा की गयी हो प्राप्त होता है।

ध्वनि की विशुद्धि—

कहा भी जाता है—"एक शब्द सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति" अर्थात् एक ही शब्द के पूर्णज्ञान और सम्यक् प्रयोग से—ऐहलौकिक और पारलौकिक—दोनों फलों की प्राप्ति हो सकती है। यही वैदिक ज्ञान का रहस्य है। इस सम्बन्ध का पूर्ण ज्ञान तभी प्राप्त हो सकता है जब कि शब्द (विशेषत ध्वनि) बाह्यतत्त्वों से विमुक्त और परिमार्जित किया जाता है। जैसा कि हमें मालूम है, कोई भी ध्वनि सर्वदा विशुद्ध नहीं रहती। योग की प्रक्रिया से ही उसमें विशुद्धता लायी जा सकती है। इस विशुद्धीकरण के बाद ही पूर्ण ज्ञान की उपलब्धि आप से आप हो जाती है। इस प्रकार व्युत्पन्न और विशुद्ध होकर यह योगियों के हाथ में नैसर्गिक गुणों से पूर्ण, एक अनन्तशक्तिशाली यन्त्र बन जाता है। स्वाध्याय अर्थात् वेदाध्ययन जिसके विषय में यह कहा जा चुका है कि यह विप्रावस्था का लक्षण विशेष है, इस संस्कार या शुद्धीकरण के ही समान है, जिसे सामान्य

बोल-चाल में हम 'संस्कृतभाषा' कहते हैं। रहस्यवाद की दृष्टि से यह वही शुद्धीकृत ध्वनि है, जो दिव्य शक्तियों से ओत-प्रोत होकर 'दिव्या' कहलाती है।

मनुजी ने स्पष्ट रूप से कहा है कि, वेद ब्राह्मण में अन्तर्भूत आध्यात्मिक शक्ति का सार है। वैदिक साहित्य के "भूः" का अर्थ विश्व की निम्नतम मेखला तथा "स्वः" का उच्चतम अर्थात् निराकार लोक स्वर्ग है और इन दोनों का मध्यस्थित प्रदेश "भुवः" अथवा अन्तरिक्ष है। यद्यपि इन "भूः" "भुव." तथा "स्वः" का अर्थ विभिन्न रूप से किया गया है, किन्तु वास्तव में यह तीनों केवल एक ही मण्डल हैं। निम्नलोक (पृथ्वी) का सार स्वयं प्रकाश रूप में प्रकट होता है; जिसे अग्नि कहा जाता था। आध्यात्मिक अभ्यास की सारी विधि—जिसे वैदिक वाणी में क्रतु (यज्ञ) कहा गया है—इसी पवित्र एवम् गुप्त अग्नि के जलने के साथ प्रारम्भ हुई। अग्नि-मन्थन का गुप्त कार्य अर्थात् अरणियों के द्वारा प्राण तथा अपान या आत्मा तथा मन्त्र का प्रतिरूप अग्नि उत्पन्न करना वास्तव में वही प्रक्रिया या विधि है, जिसे तन्त्र तथा हठयोग में 'कुण्डलिनी में उद्दीपन उत्पन्न करना' कहा गया है। जब अग्नि पृथ्वीपर विस्तृत हो जाती है, तब नियमित रूप से संस्कृत (शुद्ध) होने लगती है। तत्पश्चात् यह प्रकाश का सच्चा रूप धारण करती है और अन्तरिक्ष का सार बन जाती है। इसे तब वायु कहते हैं। पूर्णरूप से परिमार्जित या संस्कृत हो जाने-पर स्वर्गीय दिव्य दीप्ति का रूप धारण करती है, जिसे 'रवि' कहते हैं। तब ये तीनों तरह के प्रकाश, जो उपर्युक्त लोकों के सार हैं, एकीभूत होकर एक प्रकाश हो जाते हैं। वस्तुतः यही वेद है—

"अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञ-सिध्यर्थमृग्-यजुः-साम-लक्षणम्॥"

[मनु० १।२३]

कहना नहीं होगा कि इस प्रकाश के विना सच्चे ज्ञान की प्राप्ति असम्भव है। इस भाव को समझ लेने पर—जो विषयविशेष में निर्धारित किया जा चुका है—यह निष्कर्ष निकलता है कि वेद ही स्वभावतः सार्वलौकिक ज्ञान का निर्झर एवम् विशुद्ध अन्तर्ज्ञान का मुख्य द्वार है।[1]

---

(३)

वेद की रक्षा

हिन्दू धर्म के लिए इतने महत्त्वशाली होने के कारण ही प्राचीन ऋषियों तथा विद्वानों ने इसकी पूर्ण रक्षा का उपाय किया है। यह उपाय इतना जागरूक है कि इतने दीर्घकाल के अनन्तर भी वेद का एक अक्षर भी स्खलित तथा च्युत नहीं हुआ। और हमारे वेदपाठियों के मुँह से आज भी वेदों का सस्वर उच्चारण उसी प्रकार विशुद्धरूप में सुना जा सकता है जैसा यह प्राचीन वैदिक युग में किया जाता था। इसके लिए अष्ट विकृतियों की व्यवस्था महर्षियों ने की है। इन विकृतियों की दया से वेद का पद क्रमोच्चारण तथा विलोक—उच्चारण में अनेक बार आता है जिससे उसके रूप-ज्ञान में किसी प्रकार की त्रुटि की सम्भावना हो ही नहीं सकती। इन विकृतियों के नाम हैं[2]—(१) जटा (२) माला, (३) शिखा, (४) रेखा, (५) ध्वज, (६)

---

१ महामहोपाध्याय पण्डित गोपीनाथ कविराज जी के एतद्विषयक गम्भीर लेख का एक अंश। पूरे लेख के लिए द्रष्टव्य गंगा का 'वेदांक' पृष्ठ १९२–१९७।

२ जटा माला शिखा रेखा ध्वजो दण्डो रथो घनः।
　अष्टौ विकृतयः प्रोक्ताः क्रमपूर्वा महर्षिभिः॥

दण्ड, (७) रथ तथा (८) घन। इनमें से कतिपय विकृतियों का ही वर्णन यहाँ किया जा रहा है।

मन्त्रों का प्रकृत उपलब्ध पाठ 'संहितापाठ' कहलाता है। इस पाठ के प्रत्येक पद का विच्छेद होने पर यही 'पदपाठ' का नाम धारण करता है। पदपाठ में पद तो वे ही रहते हैं, परन्तु स्वरों में पर्याप्त अन्तर आ जाता है। क्रम से दो पदों का पाठ 'क्रमपाठ' कहलाता है। अनुलोम तथा विलोम से जहाँ क्रम तीन बार पढ़ा जाता है उसे कहते हैं 'जटा'। जटापाठ में जब अगला एक पद जोड़ दिया जाता है तब इसका नाम होता है शिखा।[1] इन विकृतियों में सबसे विलक्षण तथा कठिन है घनपाठ जिसमें पदों की आवृत्ति अनुलोम तथा विलोम क्रम से अनेक बार होती है। घन चार प्रकार का होता है जिसका एक प्रकार शिखा के बाद पदों का विपर्यास तथा पुनः पाठ करने से होता है।[2] एक मन्त्र की आधी ऋचा के भिन्न पाठों में रूप की परीक्षा कीजिए।

संहितापाठ

ओषधयः सं वदन्ते सोमेन सह राज्ञा ॥ ऋ० १०।९७।२२

पदपाठ

१ २ ३ ४ ५ ६
ओषधयः। सं०। वदन्ते। सोमेन। सह। राज्ञा।

क्रमपाठ

१ २ २ ३ ३ ४ ४ ५
ओषधयः स। सं० वदन्ते। वदन्ते सोमेन। सोमेन सह।

५ ६
सह राज्ञा। राज्ञेति राज्ञा।

---

१ पदोत्तरं जटामेव शिखामार्याः प्रचक्षते ॥

२ शिखामुक्त्वा विपर्यस्य तद् पदानि पुनः पठेत्
अयं घन इति प्रोक्तः ॥

उदात्त हैं, प्रथम पर १ का अंक है तथा द्वितीय 'म' अचिन्हित है। उनसे परे 'र्य' स्वरित होने से उसपर २ र का चिन्ह है।

(ख) अनुदात्त से परे स्वरित पर भी २र चिन्ह लगता है तथा पूर्व अनुदात्त पर '३ क' का चिन्ह। जैसे

३क२र ३क २र
तन्वा (साम० ५२), चम्वोः। अर्थात् जात्य स्वरित के ऊपर '२र' का चिन्ह लगता है।

(३) २ उ—जब दो उदात्त एक साथ आते हों और उनके बाद अनुदात्त आता हो तब प्रथम उदात्त के ऊपर '२उ' का चिन्ह रहता है

र २उ ३
तथा दूसरा अचिह्नित रहता है—यथा ऊत्या वसो (साम० ४१) यहाँ त्या और व दो उदात्तों के बाद 'सो' अनुदात्त है। फलत प्रथम उदात्त 'त्या' के ऊपर २ उ का चिन्ह है। इन्हीं की विशेष गणना की व्यवस्था सामवेद में की गई है। ऊपर उद्धृत तृच में अचिन्हित अक्षर १८ हैं। प्रथम ऋचा में अचिन्हित अक्षर हैं ४, दूसरी ऋचा में भी ४ तथा तृतीय ऋचा में १० इन्हीं का योग १८ है जो धा० १८ = धारी १८ के द्वारा सूचित किया गया है। २ उ चिन्हित अक्षर दो है (= उ० २)। रकार चिन्हित स्वरित (२र) सख्या में ४ (= स्व० ४) है। इन तीनों की सूचना 'ठी' सकेत में है। ठी = ठ + ई। ई चतुर्थ स्वर होने से स्व० ४ का सूचक है। ठकार ट वर्ग का द्वितीय वर्ण हैं। अत वह उ० २ का सकेत करता है। धारी के सकेत का नियम यह है कि उसे ५ से भाग देने पर शेष से वर्ग का निश्चय किया जाता है। १८ में ५ का भाग देने पर शेष ३ रहता है जिससे तृतीय वर्ग (ट वर्ग) की सूचना मिलती है। अत 'ठी' के भीतर ही पूर्वोक्त तीनों चिन्हों का सुन्दर संकेत किया गया है। यह व्यवस्था केवल उत्तरार्चिक के मन्त्रों के

लिये है। पूर्वाचिक में स्वरित, उदात्त तथा धारी का क्रम पूर्व क्रम से उलटा होता है।[१]

कैसी दुर्भेद्य पंक्ति है वेददुर्ग की रक्षा के लिए। यही कारण है कि आज भी हमारा वेद उसी विशुद्धि तथा प्रामाणिकता के साथ उपलब्ध हो रहा है। संसार के साहित्य में यह एक अत्यन्त विलक्षण तथा विस्मयावह घटना है।

---

१ विशेष द्रष्टव्य सातवेंकर का संस्करण, स्वाध्याय मण्डल औंध, सं० १९९६, भूमिका पृ० १०-१२

तृतीय परिच्छेद

वैदिक अनुशीलन का इतिहास

(१) प्राचीन काल

संहिता की रचना के अनन्तर ही उनके रहस्यमय मन्त्रों के अर्थ समझाने की प्रवृत्ति जागरूक हुई। ब्राह्मण ग्रन्थों में इस प्रवृत्ति का प्रथम प्रयास दृष्टिगत होता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ का विस्तृत वर्णन तो विद्यमान है ही, साथ ही साथ उनमें मन्त्रों का भी अर्थ न्यूनाधिक मात्रा में किया गया मिलता है। शब्दों की व्युत्पत्ति भी दी गई है। इन व्युत्पत्तियों को बड़े आदर के साथ यास्क ने 'इति ह विज्ञायते' कहकर निरुक्त में उद्धृत किया है। तथ्य की बात यह है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में विकीर्ण सामग्री के आधार पर ही निघण्टु तथा निरुक्त की रचना पीछे की गई। मन्त्रों के पदकार ऋषियों ने भी वेदार्थ के समझने में हमारी बड़ी सहायता की है। प्रत्येक मन्त्र के अवान्तरभूत पदों का पृथक्करण कर प्राचीन ऋषियों ने तत्तत् संहिताओं के 'पदपाठ' भी निर्मित किये हैं। इससे मन्त्रों के अर्थ का परिचय भलीभाँति मिल जाता है। इन पदपाठ के कर्ता ऋषियों का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जाता है।

शाकल्य—इन्होंने ऋग्वेद का 'पदपाठ' प्रस्तुत किया है। बृहदारण्यक उप० में शाकल्य का जनक की सभा में याज्ञवल्क्य के साथ शास्त्रार्थ करने का वर्णन उपलब्ध होता है (अ० ४)। पुराणों के अनुसार ये ही शाकल्य ऋग्वेद के पदपाठ के रचयिता भी हैं। ब्रह्माण्ड पुराण (पूर्वभाग, द्वितीय पाद, अ० ३४) का कथन है—

शाकल्यः प्रथमस्तेषां तस्मादन्यो रथीतरः।
बाष्कलिश्च भरद्वाज इति शाखाप्रवर्तकाः॥ ३२॥
देवमित्रश्च शाकल्यो ज्ञानाहंकारगर्वितः।
जनकस्य स यज्ञे वै विनाशमगमद् द्विजः॥ ३३॥

शाकल्य का उल्लेख निरुक्त में तथा ऋक्-प्रातिशाख्य में मिलता है। अतः इन्हें उपनिषत्कालीन ऋषि मानना न्यायसंगत प्रतीत होता है। यास्क ने अपने निरुक्त में कहीं-कहीं इनके पदपाठ को स्वीकार नहीं किया है। उदाहरणार्थ निरुक्त ५।२१ में 'अरुणो मासकृद् वृक.' (१०।५।१८) की व्याख्या में यास्क ने 'मासकृत्' को एकपद मानकर 'मासों का कर्त्ता' अर्थ किया है, परन्तु शाकल्य ने यहाँ दो पद (मा, सकृत्) माना है। निरुक्त (६।२८) में 'वने न वायो' (ऋ० १०।२९।१) मन्त्र उद्धृत किया गया है। यहाँ 'वायः' को शाकल्य ने दो पद माना है (वा + यः)। इसका उल्लेख कर यास्क ने इसे अग्राह्य माना है। वे इसे एक ही पद मानते हैं। 'वायः' का यास्कसम्मत अर्थ है—'पक्षी'। इस प्रकार निरुक्त में कहीं-कहीं इनके मत का अनुमोदन नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त रावण कृत पदपाठ का भी अस्तित्व मिलता है। रावण ने ऋग्वेद के ऊपर अपना भाष्य भी लिखा है और साथ ही साथ पदपाठ भी प्रस्तुत किया है। यह पदपाठ शाकल्य का अनुकरण नहीं है, प्रत्युत अनेक स्थलों पर उन्होंने अपनी बुद्धि के अनुसार नवीन पदपाठ दिया है।

यजुर्वेद के भी पदपाठ उपलब्ध हैं। माध्यन्दिन संहिता का पदपाठ तो बम्बई में मुद्रित हो चुका है, परन्तु काण्वसंहिता का पदपाठ अभी तक अमुद्रित है। इनके रचयिताओं का पता नहीं चलता। तैत्तिरीय संहिता के पदपाठकार का नाम आत्रेय है। इसका निर्देश भट्ट भास्कर ने अपने 'तैत्तिरीय संहिता भाष्य' के आरम्भ में किया है—उखश्चात्रेयाय ददौ येन पदविभागश्चक्रे। इसीलिए 'काण्डानुक्रमणी' में आत्रेय

पदकार कहे गये हैं (यस्याः पदकृदात्रेयो वृत्तिकारस्तु कुण्डिनः)। बोधायन गृह्य (३।९।७) में ऋषितर्पण के अवसर पर पदकार आत्रेय को भी तर्पण करने का उल्लेख है (आत्रेयाय पदकाराय)। ये आत्रेय शाकल्य के ही समकालीन प्रतीत होते हैं।

सामवेद के पदकार गार्ग्य हैं, जिनके नाम तथा कार्य का समर्थन हमें अनेक प्राचीन ग्रन्थों से मिलता है। निरुक्त (४।३।४) में 'मेहन' शब्द के प्रसङ्ग में बडी रोचक बातें प्रस्तुत की गई हैं। दुर्गाचार्य का कथन है कि ऋग्वेदियों के अनुसार यह एक ही पद है, पर छान्दोग्यों (सामवेदियों) के अनुसार यहाँ तीन पद हैं (म, इह, न)। यास्क ने दोनों पदकारों—शाकल्य तथा गार्ग्य—के मतों का एकत्र समीकरण किया है।[1] इस प्रसग में सामपदकार 'गार्ग्य' के नाम का स्पष्ट उल्लेख है। स्कन्दस्वामी की भी यही सम्मति है—एकमिति शाकल्यः, त्रीणीति गार्ग्य.'। गार्ग्य के पदपाठ की विशेपता यह है कि इसमें पदों का छेद बहुत ही अधिक मात्रा में किया गया है। मित्रं का पदपाठ मि + त्रम्, अन्ये का अन् + ये, समुद्र० का सम् + उद्रम् है। इन पदपाठों को प्रामाणिक मान कर यास्क ने अपनी निरुक्ति भी ठीक इन्हीं के अनुरूप दी है। प्रमीते त्रायते इति मित्रः (१०।२१) = मरण से जो त्राण करता है वर्पादान से, वही मित्र—सूर्य है। समुद्द्रवन्ति अस्मात् आपः = जल जिससे बहता रहे, वह है समुद्र (२।१०) आदि। गार्ग्य की यह विशेपता ध्यान देने की वस्तु ह। अथर्ववेद का पदपाठ ऋग्वेद के अनुरूप ही है। इसके रचयिता का पता नहीं चलता।

---

[1] वह्वृचाना 'मेहना' इत्येक पदम्। छन्दोगाना त्रीण्येतानि पदानि—म, इह, न इति। तदुभय पश्यता भाष्यकारेण उभयो शाकल्यगार्ग्ययोरभिप्रायावत्रानुविहितौ। (दुर्गवृत्ति—वेंकटेश्वर संस्करण, पृ० २७६)

इन विभिन्न पदकारों में ऐकमत्य नहीं है। जिसे एक आचार्य एक पद मानता उसे ही दूसरे विद्वान् दो-दो या तीन-तीन पद मानते हैं। इस पद्धति के लिए अवश्य ही प्राचीन समय में कोई परम्परा रही होगी। 'आदित्य' शब्द के विषय में निरुक्त के भाष्यकार स्कन्दस्वामी ने भिन्न-भिन्न आचार्यों के मतों का इस प्रकार उल्लेख किया है—शाकल्यात्रेयप्रभृतिभिर्नावगृहीतम्; पूर्वनिर्वचनाभिप्रायेण। गार्ग्यप्रभृतिभिरवगृहीतम्। विचित्राः पदकाराणामभिप्रायाः। क्वचिदुपसर्गविपर्येऽपि नावगृह्णन्ति। यथा शाकल्येन 'अधिवासम' इति नावगृहीतम्। आत्रेयेण तु अधिवासमिति अवगृहीतम् (२।१३)

स्कन्दस्वामी का अभिप्राय यह है कि पदकारो का तात्पर्य विचित्र ही होता है। उपसर्ग होने पर कोई अवग्रह नहीं देते और कोई सामान्य नियम से देते हैं। 'अधिवास' शब्द में शाकल्य अवग्रह नहीं मानते, आत्रेय मानते हैं। जो कुछ भी कारण हो वेदार्थ के अनुशीलन का प्रथम सोपान है—यही पदपाठ। बिना पद का रूप जाने अर्थ का ज्ञान क्या कभी हो सकता है? पदपाठ के लिए भी व्याकरण के नियमो का आविष्कार बहुत पहिले ही हो चुका होगा।

ब्राह्मण ग्रन्थों में दी गई निरुक्ति तथा व्युत्पत्ति के आधार पर निघण्टु तथा निरुक्त ग्रन्थों की रचना अवान्तर काल में की गई। वेदाङ्ग का पूर्ण प्रयोजन भी वेद के अर्थ के समझने में सहायता देना है। प्रत्येक वेदाङ्ग के द्वारा वेद के अर्थ ज्ञान में कितनी सहायता मिलती है, इसका विशेष वर्णन अगले परिच्छेद में किया जायगा।

मध्ययुग के अनेक वैदिक विद्वानों ने वैदिक संहिताओं के ऊपर भाष्य की रचना कर उसके अर्थ को विशद तथा बोधगम्य बनाया। इस अर्थानुशीलन कार्य में उन्होंने निरुक्त, व्याकरण, पुराण, इतिहास आदि समस्त आवश्यक सामग्री का उपयोग किया। ऐसे भाष्यकारों में माधव

भट्ट, स्कन्दस्वामी, नारायण, उद्गीथ, वेंकटमाधव, आनन्दतीर्थ ऋग्वेद के मान्य भाष्यकर्ता हैं, भवस्वामी, गुहदेव, क्षुर, भट्टभास्कर मिश्र तैत्तिरीय संहिता के, उवट और महीधर माध्यन्दिन संहिता के, माधव, भरतस्वामी तथा गुणविष्णु सामवेद के आदरणीय भाष्य-निर्माता हैं।[1] इन सबसे विलक्षण कार्य है आचार्य सायण का जिन्होंने पाँचों वैदिक संहिताओं, ११ ब्राह्मणों तथा २ आरण्यकों के ऊपर अपने पाण्डित्यपूर्ण भाष्यग्रन्थों का निर्माण किया। सायणाचार्य के भाष्य ही आज हमारे वेद के अर्थ तथा यज्ञ के रहस्य समझने में एकमात्र पथ-प्रदर्शक तथा प्रकाशस्तम्भ हैं, इसमें किञ्चिन्मात्र भी सन्देह नहीं है।

२—पाश्चात्य वेदज्ञों का कार्य

वेद के अनुशीलन की ओर पाश्चात्य लोगों का ध्यान १८ वें शतक के अन्तिम काल में तब हुआ जब १७८४ ई० में सर विलियम जोन्स नामक अंग्रेजी विद्वान् के प्रयत्न से जो आगे चलकर ईस्ट इन्डिया कम्पनी के उच्च न्यायालय के प्रधान जज हुये कलकत्ते में बंगाल एशियाटिक सोसाइटी नामक शोधसंस्था की नींव रक्खी गई। इसी समय से पाश्चात्यों का ध्यान संस्कृत भाषा तथा साहित्य की ओर आकृष्ट हुआ। तब से लेकर आज तक उनका प्रयत्न विशेष रूप से जारी है।

आज से ठीक १५० वर्ष पूर्व १८०५ ईस्वी में कोलब्रूक साहब ने 'एशियाटिक रिसरचेज़' नामक पत्र में वेद के ऊपर एक विस्तृत विवेचनात्मक निबन्ध लिखा जिसमें वेद के नाना ग्रन्थों के विवरण के साथ उनका महत्त्व भी प्रदर्शित किया गया है। वेदानुशीलन के विषय में पाश्चात्य पण्डितों का यही प्रथम प्रयास है। इसके पहले प्रसिद्ध फ्रेन्च लेखक वाल्टेयर ने भारत में राबर्ट डी नोबिलिस नामक एक मिशनरी के

---

[1] इन भाष्यकारों के परिचय के लिए देखिए—

बलदेव उपाध्याय—आचार्य सायण और माधव पृ० १०८–१८

द्वारा लाये गये एक कल्पित यजुर्वेद की पुस्तक के आधार पर हिन्दुओं की विद्या तथा बुद्धि की विशेष प्रशंसा की थी। परन्तु इस ग्रन्थ के कृत्रिम तथा कल्पित सिद्ध होने पर लोगों में संस्कृत के विषय में बहुत कुछ अविश्वास तथा अश्रद्धा पैदा हो गई थी। उसका निराकरण कोलब्रुक साहब के लेख से भलीभांति हो गया। ये आरम्भ में संस्कृत के इतने विरोधी थे कि भगवद्गीता को अंग्रेजी में १८८५ ई० में अनुवाद करने वाले विलकिन्स साहब को ये संस्कृत के पीछे पागल कहा करते थे। परन्तु पीछे उनकी सम्मति बदली और उन्होंने संस्कृत का गाढ़ अनुशीलन कर संस्कृत के ग्रन्थ-रत्नों को यूरोपीय विद्वानों से परिचित कराया। यह निबन्ध भी पश्चिमी विद्वानों का ध्यान वैदिक साहित्य की ओर आकृष्ट करने में विशेष सफल रहा। प्रायः पचीस वर्षों के बाद रोजेन नामक जर्मन विद्वान ने बड़े उत्साह से ऋग्वेद का सम्पादन आरम्भ किया। परन्तु १८३७ में इनकी असामयिक मृत्यु के कारण केवल प्रथम अष्टक ही सम्पादित होकर प्रकाशित हुआ। इसी समय में पेरिस में संस्कृत के अध्यापक बरनूफ साहब ने इतने अच्छे और योग्य छात्र तैयार किये कि उन्होंने आगे चलकर वेद के अनुशीलन में महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

यूरोप में वैदिक अनुशीलन के इतिहास में १८४६ ई० चिर-स्मरणीय रहेगी क्योंकि इसी वर्ष रुडाल्फ राथ नामक जर्मन विद्वान ने 'वेद का साहित्य तथा इतिहास' नामक छोटी परन्तु महत्त्वपूर्ण पुस्तिका लिखी जिसमें यूरोप में वेद के अनुशीलन के प्रति वास्तविक और गंभीर प्रवृत्ति पैदा हुई। राथ महोदय ऐतिहासिक पद्धति के उद्भावक के रूप में चिरस्मरणीय रहेंगे, क्योंकि इन्होंने वेद के अर्थ समझने के लिये सायण आदि भारतीय भाष्यकार की व्याख्या को एकदम अग्राह्य ठहराकर पश्चिमी भाषा विज्ञान तथा तुलनात्मक धर्म को ही प्रधान सहायक माना। दोषपूर्ण होने पर भी इस पद्धति ने वेदों के अर्थ-ज्ञान

के लिये ऐतिहासिक पद्धति को विशेष महत्त्व दिया। इनकी दृष्टि में वेद के ही विभिन्न स्थलों में आये हुए शब्दों की छानबीन करने से संदिग्ध शब्दों के अर्थ स्वय आभासित हो सकते है। इसी पद्धति का अनुसरण कर राथ महोदय ने सेन्टपीटसंवर्ग संस्कृत-जर्मन महाकोश का निर्माण किया, जो इसकी विद्वत्ता, प्रतिभा तथा अध्यवसाय का पर्याप्त सूचक ह। इसमें प्रत्येक शब्द का अर्थ विकाश-क्रम से दिया गया है जिसमें वेद से लेकर लौकिक सस्कृत ग्रन्थों के भी सन्दर्भ अर्थ-निर्णय करने के लिये उद्धृत किये गये हैं। इस कोश में वैदिक शब्दों का अर्थ-सकलन स्वयं राथ महोदय ने ही किया है तथा लौकिक सस्कृत शब्दों का अर्थ-निर्णय दूसरे जर्मन विद्वान वोठलिंग ने किया। यह कोश आज भी वेजोड़ है तथा सस्कृत शब्दों के ऐतिहासिक अर्थ-विकाश समझाने के लिये नितान्त उपयोगी है।

राथ महोदय के सहपाठियों तथा शिष्यों की एक लम्बी परम्परा है जिसमें वेद के अनुशीलन में विशेष भाग लिया गया है। इन पश्चिमी विद्वानो के कार्य को हम कई श्रेणियों में बाँट सकते हैं। एक तो है वैदिक ग्रन्थों का वैज्ञानिक शुद्ध सस्करण, दूसरा है वैदिक ग्रथों का अनुवाद तथा तीसरा है वेदार्थ के अनुशीलन-विषयक ग्रन्थ तथा वैदिक सस्कृति के रूप-प्रकाशक व्याख्या-पुस्तक। स्थानाभाव से मान्य ग्रंथकारों तथा उनके कार्यों का ही यहाँ विवेचन किया जा रहा है।

ग्रन्थों का संस्करण

मैक्समूलर साहब पाश्चात्य विद्वानों के शिरोमणि है जिन्होंने वेद के विषय में नाना ग्रथों की रचना कर उनके सिद्धान्त तथा धर्म को पश्चिमी देशों में खूब ही लोकप्रिय बनाया। विद्वत्ता के साथ सहानुभूति भी उनका विशेष गुण था। वे भारतीय धर्म, दर्शन तथा सस्कृति को सहानुभूति की दृष्टि से परखते थे तथा भारतीयों के हृदय तक पहुँचने की कोशिश करते थे। आज भी उनके ग्रथ विद्वत्ता के साथ

उदारता के प्रतीक हैं। उनका सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है ऋग्वेद के सायण भाष्य का प्रथम बार विवेचनापूर्ण सम्पादन। इस ग्रन्थ के प्रकाशन से वेद-विषयक अध्ययन अध्यापन की नींव यूरोप में पक्की हो गई। इसका प्रारम्भ १८४९ ई० तथा समाप्ति १८७५ ई० में हुई। तीन हजार से अधिक पृष्ठों में इस बृहत् ग्रंथ का सम्पादन तथा कई सौ पृष्ठों की भूमिका तथा टिप्पणी से संपादक के अध्यवसाय का कुछ अनुमान किया जा सकता है। १८९०—९२ में इसका सुधरा हुआ द्वितीय संस्करण प्रकाशित हुआ। प्राचीन वैदिक संस्कृत साहित्य नामक ग्रंथ में वैदिक साहित्य की विद्वत्तापूर्ण मीमांसा करने के अतिरिक्त इन्होंने 'पवित्र प्राच्य ग्रंथमाला' में स्वयं तथा अन्य पश्चिमी विद्वानों के द्वारा वैदिक ग्रंथों का अनुवाद प्रकाशित किया। डाक्टर वेबर का नाम भी पश्चिमी विद्वानों में प्रसिद्ध है जिनका विस्तृत तथा सूक्ष्मदर्शी पांडित्य आलोचकों को विस्मय में डाल देनेवाला था। इन्होंने यजुर्वेद संहिता तथा तैत्तरीय संहिता का सम्पादन ही नहीं किया, बल्कि इनदिशे स्तूदियन नामक शोध-पत्रिका में वैदिक अनुसंधान को अग्रसर किया। आउफ्रेक्ट नामक जर्मन विद्वान ने १८६२-६३ में ऋग्वेद का एक संस्करण अत्यन्त योग्यता के साथ रोमन लिपि में निकाला। श्रोदर साहब जर्मन विद्वान् ने मैत्रायणी संहिता का एक वैज्ञानिक संस्करण बड़ी योग्यता के साथ १८८१—८६ में तथा काठक संहिता का १९००-११ में संस्करण निकाला। ये संहितायें अभी हाल में ही स्वाध्याय मण्डल (औंध) से सातवलेकर जी के सम्पादकत्व में प्रकाशित हुई हैं। इसके अतिरिक्त स्टेवेन्सन महोदय द्वारा राणायनी शाखा की साम-संहिता का १८४२ में अंग्रेजी अनुवाद के साथ, बेनफी साहब के द्वारा कौथुमशाखीय साम-संहिता का १८४८ में जर्मन अनुवाद के साथ तथा राथ और ह्विटनी द्वारा १८५६ में अथर्ववेद का संस्करण पश्चिमी विद्वानों के प्रयास तथा परिश्रम का उज्ज्वल उदाहरण है। पिप्पलाद शाखा की अथर्वसंहिता

की एक ही प्रति काश्मीर में उपलब्ध हुई थी। उसी के आधार पर प्रो० ब्ल्यूमफील्ड तथा डा० गार्बे ने इस अतिजीर्ण प्रति का पूरा फोटो लेकर उसी फोटो को तीन बड़ी बड़ी जिल्दों में १९०१ ई० में जर्मनी से प्रकाशित किया। फोटो होने से यह ग्रंथ मूल प्रति की हूबहू नकल है। इसके प्रकाशन से पश्चिमी विद्वानों के भारतीय विद्या की रक्षा के प्रति विशेष मनोयोग और ध्यान का इससे कोई उत्तम उदाहरण क्या प्रस्तुत किया जा सकता है? ब्राह्मणों, श्रौत सूत्रों तथा प्रातिशाख्यों के भी शुद्ध वैज्ञानिक संस्करण अनेक विद्वानों ने समय समय पर किया है।

प्रो० हाग (M Haug) का ऐतरेय ब्राह्मण का संस्करण तथा अंग्रेजी अनुवाद आज भी अपनी भूमिका के लिए उपादेय है (बम्बई, १८६३)। डा० आउफ्रेक्ट का रोमन अक्षरों में इस ब्रा० का संस्करण अत्यन्त विशुद्ध माना जाता है (बान, जर्मनी, १८७९)। इसी प्रकार प्रो० लिण्डनर (B Lindner) का कौषीतकि ब्रा० का संस्करण भी सुंदर है (जेना, १८८७)। माध्यन्दिन शतपथ ब्रा० का प्रथम सं० डा० वेबर के सम्पादकत्व में बर्लिन से निकला था (१८५५ ई०)। सामवेदी ब्राह्मणों में अनेक के अनुवाद जर्मन भाषा में है तथा अंग्रेजी में भी। डा० वेबर ने अद्भुत ब्रा० का सं० तथा अनुवाद (बर्लिन १८५८) तथा वंश ब्रा० का सम्पादन किया है। डा० बर्नेल (A. C Burnell) ने अनेक सामवेदी ब्राह्मणों को प्रकाशित किया—सामविधान लण्डन में (१८७३ ई०), वंश ब्रा० तथा देवताध्याय ब्रा० १८७२ में, आर्षेय ब्रा० १८७६ में तथा संहितोपनिषद् ब्रा० १८७७ में मंगलोर में। जैमिनीय ब्रा० का विशेष अंश अंग्रेजी अनुवाद तथा टिप्पणियों के साथ डा० एर्टल (H. Oertal) ने तथा जर्मन अनुवाद के साथ डा० कैलेण्ड ने प्रकाशित किया। प्रथम ग्रन्थ 'अमेरिकन ओरिएण्टल जर्नल' (१६ वीं जिल्द) में छपा है, तो

दूसरा स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में। प्रो० गास्ट्रा (D. Gaastra) ने गोपथ ब्रा० का एक सुन्दर नागराक्षरों में सं० निकाला है (लेडन, हालैण्ड, १९१९)।

श्रौतसूत्रों के भी विशुद्ध सं० पाश्चात्यों की कृपा से हमें प्राप्त हैं। इस विषय में आश्वलायन गृह्य तथा पारस्कर गृह्य के सम्पादक स्टेन्सलर (Stenzler), शांखायन श्रौतसूत्र के सम्पादक हिलेब्राण्ट (Hillebrandt), बौधायन श्रौतसूत्र के सम्पादक कैलेण्ड (W. Caland), आपस्तम्ब श्रौतसूत्र के सम्पादक गार्बे (R. Garbe), मानव श्रौतसूत्र के सम्पादक क्नाउएर (Knauer), कात्यायन श्रौत के सं० वेबर तथा कौशिक श्रौतसूत्र के सं० ब्लूमफील्ड के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

अनुवाद

वैदिक ग्रन्थों के अनुवाद की ओर भी पश्चिमी विद्वानों की दृष्टि आरम्भ से ही आकृष्ट हुई है। आज से पूरे सौ वर्षों से ऊपर हुए १८५० ई० में डाक्टर विल्सन (H. H. Wilson) ने ऋग्वेद का पूरा अंग्रेजी अनुवाद सायणभाष्य के अनुसार किया। ऋग्वेद के दो जर्मन अनुवाद प्रायः एक ही काल में प्रकाशित हुए—ग्रासमान (H. Grassmann) का पद्यानुवाद (१८७६–७७ ई० दो जिल्दों में) जिसमें राथसाहब की पद्धति से सायण भाष्य की उपेक्षा कर स्वतन्त्ररीति से अनुवाद किया गया है; (२) लुडविग (A. Ludwig) का गद्यानुवाद विस्तृत व्याख्या के साथ ६ जिल्दों में (१८७६–१८८८ तक) जिसमें इतनी स्वतन्त्रता अंगीकृत नहीं हुई है। इसके अनन्तर काशी से ग्रिफिथ (R. T. H. Griffith) का अंग्रेजी में पद्यानुवाद उपयोगी सूचियों तथा टिप्पणियों के साथ (१८८९–९२) प्रकाशित हुआ जिसमें सायण भाष्य का पूरा उपयोग किया गया है। ऋग्वेद के ऊपर

जर्मन विद्वान् डा० ओल्डन बर्ग (H. Oldenberg) की बड़ी ही मार्मिक तथा विवेचनापूर्ण व्याख्या दो जिल्दों में बर्लिन से प्रकाशित हुई है (१९०९–१२)। इस ग्रन्थ में ओल्डनबर्ग ने प्रत्येक सूक्त के ऊपर पूर्ववर्ती पण्डितों की व्याख्या का निर्देश कर अपनी विशद विवेचना प्रस्तुत की है। इन्होंने एक दूसरे ग्रन्थ में ऋग्वेद के छन्द आदि अन्य विषयो की विशद विवेचना प्रस्तुत की है (१८८८ ई०, बर्लिन)। ये ग्रन्थ ऋग्वेद के अनुशीलन के लिए बड़े ही महत्त्वशाली, प्रामाणिक तथा उपादेय हैं जिनकी उपयोगिता आज भी अक्षुण्ण बनी हुई है।

यजुर्वेद की माध्यन्दिन संहिता का अंग्रेजी पद्य में अनुवाद ग्रिफिथ ने किया है (काशी, १८८९)। तैत्तिरीय संहिता का बड़ा ही प्राञ्जल अनुवाद डा० कीथ (A. B. Keith) ने हार्वर्ड ओरियन्टल सीरीज (जि० १८, १९; १९१४ अमेरिका) में किया है जिसके आरम्भ में बहुत ही उपयोगी बातों की मीमांसा अनुवादक के विलक्षण विद्वत्ता का परिचय देती है। सामवेद का पद्यानुवाद भी अंग्रेजी में ग्रिफिथ साहब का है। अथर्ववेद के दो अनुवाद प्रस्तुत हैं। ग्रिफिथ का अनुवाद मूल अर्थ को समझने में पूरा सहायक है (१८९५–९८, काशी), तो ह्विटनी (W. H. Whitney) का अनुवाद जिसे लैनमैन (C. R. Lanman) ने पूरा करके प्रकाशित किया है (हारवर्ड ओ० सी० जिल्द ७ और ८, १९०५) विद्वत्तापूर्ण भूमिका तथा टिप्पणियों के कारण वैदिकों के लिए बड़ा ही उपादेय, प्रामाणिक तथा प्राञ्जल है। ब्राह्मण ग्रन्थों में तीन के अनुवाद अत्यन्त परिश्रमसाध्य तथा उपयोगी हैं—(१) शतपथ ब्रा० का इग्लिंग (D. J Eggeling) का 'पवित्र प्राच्य ग्रंथमाला' के ५ जिल्दों (१२, २६, ४१, ४३, ४४) में प्रकाशित अनुवाद अध्यवसाय तथा परिश्रम का उदाहरण है। (२) ऋग्वेद के दोनों ब्राह्मणों का डा० कीथ का अनुवाद (हा० ओ० सी०, जि० २५, १९२०) सौ पृष्ठों की उपयोगी भूमिका के साथ सवलित होने से

नितान्त महत्त्वपूर्ण है। (३) ताण्ड्य महाब्राह्मण का डा० कैलण्ड (Caland) का अनुवाद (विब्लि०, कलकत्ता १६३२) भी साम-वेदीय विषयों से सम्बद्ध भूमिका से युक्त होने से बहुत ही उपयोगी है जिसमें कर्मकाण्ड–सम्बद्ध विषयों का भी संकेत टिप्पणियों में दे दिया गया है। छोटे मोटे ब्राह्मणों के तो अनुवाद जर्मन तथा अंग्रेजी में अनेक हैं। ऊपर के तीनों ब्राह्मणों के अनुवाद विस्तार में ही बड़े नहीं हैं, प्रत्युत विद्वत्ता में भी अद्वितीय है।

उपनिषदों के अनुवाद तो अनेक हैं और बहुत पाण्डित्यपूर्ण हैं। वेदांग के ग्रन्थों जैसे प्रातिशाख्य, निरुक्त आदि के भी उपादेय अनुवादों को पाश्चात्य विद्वानों ने प्रकाशित किया है।

व्याख्या—ग्रन्थ

वेदों के विषयों के ऊपर भी स्वतन्त्र रूप से पश्चिमी विद्वानों ने बड़ी ही उपयोगी सामग्री एकत्र की है। 'संस्कृत जर्मन महाकोष' की चर्चा तो ऊपर की गई है। ग्रासमान का वैदिक कोष ऋग्वेद से ही सम्बन्ध रखता है (१८७३–७५) जिसमें ऋग्वेदीय प्रत्येक स्थल का उल्लेख करके शब्द के अर्थ का निर्णय किया गया है। ऋग्वेद के अनु-वाद की त्रुटियों की पूर्ति इस कोश से होती है। डा० मैक्डानल तथा कीथ का 'वैदिक इन्डेक्स' वैदिक संस्कृति से सम्बद्ध विषयों का एक छोटा विश्वकोष ही है जिसमें ऐतिहासिक तथा भौगोलिक विषयों के अतिरिक्त सामाजिक, आर्थिक आदि विषयों की पूर्ण मीमांसा है।

वैदिक व्याकरण तीन विद्वानों के बड़े ही सुन्दर हैं—

(१) ह्विटनी का व्याकरण मुख्यतया लौकिक संस्कृत का ही है, परन्तु तुलना के लिए वैदिक भाषा का भी व्याकरण दिया गया है।

(२) डा० मैक्डानल का वैदिक व्याकरण (वेदिक ग्रामर १९१०, जर्मनी) तो इस विषय का सर्वतोमान्य तथा प्रामाणिक ग्रन्थ है जिसका

संक्षिप्त रूप भी सामान्य छात्रों के लिये विशेष उपयोगी है (वेदिक ग्रामर फार स्टूडेन्ट्स, आक्सफोर्ड १९२०) । एक विशेषता अवश्य गम्भीरतया मननीय है कि जहाँ पाणिनि व्याकरण में वैदिक प्रयोगों को 'बहुलं छन्दसि' के भीतर निविष्ट कर दिया गया है, उन्हें भी यहाँ नियमों में बाँधने का प्रयत्न किया गया है ।

(३) डा० वाकरनागेल (J. Wacker nagel) का वैदिक व्याकरण जर्मन भाषा में निबद्ध है और अनेक जिल्दों में प्रकाशित इस ग्रन्थ में नवीनतम भाषाशास्त्रीय अनुसन्धानों का भी पूर्ण उपयोग किया गया है । यह ग्रन्थ विद्वानों की सम्मति में अपने विषय का सर्वोत्तम प्रौढ़ ग्रन्थ है ।

वैदिक छन्दों के ऊपर भी पश्चिमी विद्वानो ने अध्ययन किया है । प्रो० वेबर ने अपने 'इन्दिशे स्तूदियन' नामक शोध जर्नल की आठवीं जिल्द में इस विषय का विस्तृत अध्ययन प्रकाशित किया है । प्रो० आर्नोल्ड (E V. Arnold) ने ऋग्वेदस्थ छन्दो का अध्ययन कर मन्त्रों के काल-निर्णय का भी स्तुत्य प्रयास किया है 'वेदिक मीटर' नामक ग्रन्थ में (१९०५ ई०) । इनके सिद्धान्त परिश्रम-साध्य होने पर भी विद्वानों में मान्य नहीं हुए ।

वैदिक पुराण-विज्ञान—वेदों के धर्म के अध्ययन प्रसग में पाश्चात्य पण्डितों ने एक स्वतन्त्र तुलनात्मक पुराण विज्ञान (कम्पैरेटिव माइथोलाजी) की सृष्टि की है जिसमें वेद के धार्मिक सिद्धान्तों की तुलना अन्य धर्मों के तथ्यों से भी की गई है । वैदिक धर्म पर प्रो० मैक्समूलर, मैक्डानल तथा जर्मन विद्वान् हिलेब्रान्ट ने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं जिनमें हिलेब्रान्ट का जर्मन ग्रन्थ तीन बड़ी बड़ी जिल्दों में प्रकाशित हुआ है (वेदिशे माथोलॉगी) । इसके अतिरिक्त श्रौत यज्ञयागों के विषय में भी इनका प्रामाणिक ग्रन्थ बड़ा ही उपादेय है (वेदिशे रिचुआल लितरातुर, जर्मनी १९२७) । जर्मन भाषा से अपरिचित पाठकों

के लिए डा० मैकूडानल का 'वेदिक माथोलाजी' नामक ग्रन्थ व्यापकता तथा प्रामाणिकता की दृष्टि से नितान्त उपादेय है। फ्रेंच विद्वानों ने भी श्रौत-विषयक अनेक ग्रन्थों की रचना फ्रेंच भाषा में की है। डा० कीथ का दो जिल्दों में विभक्त ग्रन्थ भी विशेष उपयोगी है। इसमें वेद का धर्म तथा उपनिषद् के तत्त्वज्ञान की प्रामाणिक मीमांसा है। 'रिलिजन एण्ड फिलासोफी आफ वेद एण्ड उपनिषद्' नामक यह ग्रन्थ हारवर्ड से दो जिल्दों में प्रकाशित हुआ (संख्या ३१-३२, १९२४-२५) है। वेद के धर्म के अनुशीलन के लिए पाश्चात्यों के अनेक ग्रन्थ हैं।

वैदिक साहित्य का इतिहास—इस विषय में भी तीन चार ग्रन्थ विशेष प्रसिद्ध हैं। डा० वेबर के एतद्विषयक ग्रन्थ को अपने विषय का सर्वप्रथम प्रतिपादक होने का गौरव प्राप्त है। यह मूलतः जर्मन भाषा में निकला था जिसका अंग्रेजी अनुवाद ट्रूबनर संस्कृत सीरीज (लण्डन) में उपलब्ध है। मैक्समूलर का ग्रन्थ 'हिस्ट्री आफ एनशण्ट संस्कृत लिटरेचर' (१८५९ लण्डन) वैदिक ग्रन्थों का गाढ़ अध्ययन प्रस्तुत करता है और यह आज भी अपनी उपयोगिता से वंचित नहीं हुआ है। मैक्डानल का 'हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर' (संस्कृत साहित्य का इतिहास) अधिकतर वैदिक साहित्य का ही विशेष अध्ययन है और छात्रों के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध हुआ है (लण्डन, १९०५)। डा० विन्टरनित्स का तीन खण्डों में विभक्त ग्रन्थ 'हिस्ट्री आफ इन्डियन लिटरेचर' (मूल जर्मन का प्रकाशन १९०४, लाइपजिग से) इन तीनों की अपेक्षा व्यापकता तथा विशालता की दृष्टि में बढ़ कर है। इसके प्रथम खण्ड में वैदिक साहित्य का व्यापक परिचय दिया गया है। जर्मन पाठकों को लक्ष्य कर लिखा गया यह ग्रन्थ सामान्य बातों के विशेष वर्णन में ही व्यस्त रहा है, परन्तु फिर भी इसकी उपयोगिता कम नहीं है। मूलतः जर्मन भाषा में निबद्ध 'हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर'

नामक ग्रन्थ के आरम्भिक दो खण्डों का अंग्रेजी अनुवाद कलकत्ता विश्वविद्यालय ने प्रकाशित किया है। तीसरा खण्ड अभी तक मूल जर्मन में ही उपलब्ध होता है।

वैदिक साहित्य की सूचियाँ—वैदिक ग्रन्थों के वैज्ञानिक तथा विशुद्ध संस्करण के लिए सूचियों का विशेष उपयोग होता है। प्राचीन काल में अनेक 'अनुक्रमणी ग्रन्थ' इसी की पूर्ति के लिये लिखे गये हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने इधर विशेष ध्यान दिया है। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण है डा० ब्लूमफील्ड का 'वेदिक कानूकार्डेन्स' (हार्वर्ड ओरिएन्टल सीरीज, १० वीं जिल्द, १९०६, पृष्ठ स० ११०२) जिसमें उस समय तक छपे वैदिक ग्रन्थों की प्रत्येक ऋचा के प्रत्येक पाद तथा ग्रैप आदि गद्यमय यजुर्वाक्यों की भी बृहत् सूची है। इसमें विभिन्न पाठ-भेदों का भी सग्रह है। रोमन लिपि में छपे मन्त्रों वाला यह ग्रन्थ साधारण पाठकों के लिए उपयोगी है, तो इन्हीं का दूसरा ग्रन्थ 'ऋग्वेदिक रेपिटीशन्स' (हा० ओ० सी०, २० तथा २४ वीं जिल्द) खासकर विशेषज्ञों के उपयोग के लिए है। इसमें दिखलाया गया है कि किस प्रकार ऋग्वेद के मन्त्र या पाद की पुनरावृत्ति कहाँ कहाँ हुई है तथा उससे उपयोगी तथ्यों की मीमासा की गई है। कर्नल जेकब (G. A. Jacob) का 'उपनिषद् वाक्यकोश' भी ६६ उपनिषदों तथा गीता के वाक्यों की बृहत् सूची प्रस्तुत करता है तथा अध्ययन के लिए कम उपयोगी नहीं है (१८९१, बम्बई)। फ्रेंच विद्वान ल्यूई रेनो (Louis Renon) ने एक उपयोगी ग्रन्थ की रचना की है जिसमें वेद तथा वैदिक विषयों पर निर्मित ग्रथों तथा लेखों का पूर्ण परिचय है। यह उपादेय ग्रथ फ्रेंच भाषा में 'बिब्लिओग्राफी वेदीक' नाम से पेरिस से प्रकाशित है (१९३१)।

(३) नव्य भारत में वैदिक अनुशीलन

गत शताब्दी के अन्तिम भाग में भारतवर्ष के विद्वानों की भी दृष्टि वेद की ओर आकृष्ट हुई। इसका कारण था दो नवीन धर्म-सुधारक

समाजों की स्थापना। बंगाल में राजा राममोहनराय के द्वारा स्थापित 'ब्रह्मसमाज' ने तथा पंजाब में स्वामी दयानन्द सरस्वती के द्वारा प्रतिष्ठापित 'आर्यसमाज' ने वैदिक सिद्धान्त को ही हिन्दू धर्म का मौलिक विशुद्ध सिद्धान्त ठहरा कर उनकी ओर भारतीयों का ध्यान आकृष्ट किया। ब्रह्मसमाज ने उपनिषदों के अध्ययन को पुनरुज्जीवित किया तथा आर्यसमाज ने वैदिक संहिता के अध्ययन-अध्यापन को। पाश्चात्य विद्वानों के वैदिक अनुशीलन से भी भारत में प्रोत्साहन मिला और भारतीय विद्वानों ने वैदिक ग्रन्थों के विशुद्ध संस्करण तथा ऐतिहासिक अनुशीलन प्रस्तुत किये। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने यजुर्वेद तथा ऋग्वेद के ऊपर अपनी पद्धति के अनुसार संस्कृत में सुन्दर भाष्यों की रचना की है।

नवीन शैली के वेदज्ञों में शङ्कर पाण्डुरङ्ग पण्डित, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, शंकर बालकृष्ण दीक्षित और सत्यव्रत सामश्रमी का नाम विशेष उल्लेखनीय है। शंकर पाण्डुरंग पण्डित ने सायण भाष्य के साथ अथर्ववेद का बड़ा ही विशुद्ध संस्करण चार जिल्दों में प्रकाशित किया (बम्बई १८९५-१८९८) जिससे अच्छा संस्करण इसका आजतक प्रकाशित न हो सका। इन्होंने नवीन पद्धति पर ऋग्वेदकी व्याख्या भी 'वेदार्थ यत्न' नामक ग्रन्थ में विवेचनात्मक टिप्पणों के साथ मराठी तथा अंग्रेजी में प्रकाशित करना आरम्भ किया। यह श्लाघनीय उद्योग व्याख्याता की अकाल मृत्यु के कारण तृतीय मण्डल तक ही समाप्त होकर रह गया। लोकमान्य बाल गङ्गाधर तिलक के दोनों ग्रन्थ 'ओरायन' और 'आर्कटिक होम इन दि वेदज' वैदिक आलोचना के मौलिक गवेषणापूर्ण ग्रन्थ हैं जिनमें उनकी विद्वत्ता, तर्क का उपन्यास तथा बुद्धि की निर्मलता अवलोकनीय है। 'ओरायन' में ज्योतिष-सम्बन्धी प्रमाणों के आधार पर वेद का निर्माणकाल विक्रम से चार हजार वर्ष पूर्व निर्णीत है तथा दूसरे में

आर्यों का मूल निवास उत्तरी ध्रुव के पास सिद्ध किया गया है तथा पाश्चात्यों के प्रचलित मतों का खण्डन है। दीक्षित ने 'भारतीय ज्योतिष' सम्बन्धी अपने मराठी ग्रन्थ में वैदिक ग्रन्थों में उपलब्ध ज्योतिष प्रमाणों के बल पर वेदरचना की विस्तृत प्रामाणिक विवेचना की है ('भारतीय ज्योतिःशास्त्र' १८९६, पूना)। सत्यव्रत सामश्रमी बगाल के एक मान्य वैदिक थे जिन्होंने सामवेद से सम्बद्ध ग्रन्थों का प्रामाणिक तथा विशुद्ध सस्करण प्रकाशित किया है। वे सामवेद के मार्मिक विद्वान् थे तथा उनका कीर्ति-स्तम्भ है सामसंहिता तथा गान सहिता का ५ भागों में विशुद्ध सस्करण (कलकत्ता, १८७७) जिसमें साम, गायन, सायणभाष्य आदि का एकत्र प्रकाशन प्रामाणिक ढग से किया गया है। आर्य-समाज के अनेक विद्वानों ने वैदिक ग्रथों का संस्करण तथा विवरण प्रस्तुत कर अपने वेद-प्रेम का परिचय दिया है। आर्यसमाजी विद्वान् श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने चारों वेदों की सहिताओं को बड़ी ही उपयोगी अनुक्रमणिका के साथ स्वाध्याय मण्डल (औंध, जिला सतारा) से सम्पादित कर प्रकाशित किया है। ये सस्करण बड़े ही उपयोगी, विशुद्ध तथा प्रामाणिक हैं। काठक संहिता, मैत्रायणीय संहिता तथा साम की गान सहिता (प्रथम भाग) तथा दैवत सहिता (विभिन्न देवताओं से सम्बद्ध मन्त्रों का एकत्र संग्रह) इसी प्रकार उपयोगी तथा उपादेय है। तिलक विद्यापीठ (पूना) से ५ जिल्दों में प्रकाशित ऋग्वेद का सायणभाष्य प्राचीनतम हस्तलेखों पर आधारित होने से अत्यन्त विशुद्ध, प्रामाणिक तथा वैज्ञानिक संस्करण है तथा मैक्समूलर के प्रख्यात संस्करण से भी विशुद्धतर है। इसके लिए इसके सम्पादकगण हमारे धन्यवाद के पात्र हैं। डाक्टर लक्ष्मण स्वरूप का वेंकट-माधव की व्याख्या तथा अन्य भाष्यों से आवश्यक उद्धरणों से संवलित संस्करण भी मन्त्रों के अर्थज्ञान की आवश्यक सामग्री प्रस्तुत करने के कारण विशेष उपयोगी है (४ जिल्द, लाहौर)।

वैदिक संहिताओं के भाषानुवाद भी उपलब्ध होते हैं जिनमें रमेशचन्द्र दत्त का बंगला में तथा रामगोविन्द त्रिवेदी का हिन्दी में ऋग्वेद का अनुवाद; जयदेव विद्यालंकार के साम तथा अथर्ववेद का हिन्दी अनुवाद तथा श्रीधरपाठक का मराठी में माध्यन्दिन संहिता का अनुवाद उपयोगी है, परन्तु इनमें अंग्रेजी तथा जर्मन अनुवादों के समान व्यापकता तथा वैज्ञानिकता का अभाव विशेष खटकता है।

वेद तथा वेदाङ्ग के अर्थ समझाने के लिए अनेक व्याख्या-ग्रन्थों का इधर प्रणयन हुआ है। श्री अरविन्द ने वेद के मन्त्रों की रहस्य-वादी व्याख्या की है और इस व्याख्या की रूपरेखा बतलाते हुए इन्होंने ऋग्वेदस्थ अग्नि सूक्तों का अनुवाद अंग्रेजी में किया है (कलकत्ता, १९३०) तथा इस व्याख्यापद्धति के समझाने तथा तदनुसार ऋग्वेद के आरम्भिक-सूक्तों पर हाल में कपाली शास्त्रीने संस्कृत में दो व्याख्या ग्रन्थ लिखे हैं। श्री विश्वबन्धु शास्त्री के सम्पादकत्व में प्रकाशित 'वैदिक शब्दार्थ पारिजात' में वैदिक शब्दों का ब्राह्मणों से लेकर नूतनतम भारतीय आचार्यों तथा पाश्चात्य विद्वानों द्वारा किये गए अर्थों का आलोचनात्मक संग्रह है। डा० लक्ष्मण स्वरूप कृत निरुक्त का संस्करण तथा अनुवाद, डा० मगलदेव शास्त्री रचित ऋक् प्रातिशाख्य का संस्करण तथा अनुवाद और डा० सूर्यकान्त शास्त्री द्वारा सम्पादित 'अथर्व प्राति शाख्य' अपने विषय के उपादेय ग्रन्थ हैं। श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य द्वारा अंग्रेजी में लिखित 'हिस्ट्री आफ वैदिक लिटरेचर' (पूना, १९३०) तथा श्री भगवद्दत्त द्वारा रचित 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' (लाहौर; तीन खण्ड) भी उपयोगी इतिहास ग्रन्थ हैं।

चतुर्थ परिच्छेद

वेद की व्याख्यापद्धति

कालक्रम से अत्यन्त अतीत काल में निर्मित किसी ग्रन्थ का आशय पिछली पीढ़ियों के लिये समझना एक अतीव दुरूह व्यापार है। यदि प्राचीनता के साथ भावों की गहराई तथा भाषा की कठिनाई आ जाती है, तो यह समस्या और भी विषम बन जाती है। वेदों के अर्थानुशीलन के विषय में यह कथन अतीव उपयुक्त ठहरता है। एक तो ये स्वयं किसी धुँधले अतीत काल की कृति ठहरे, तिस पर भाषा की विषमता तथा विचारधारा की गभीरता ने अपना सिक्का जमा रखा है। फल यह हुआ कि उनके अर्थ का उचित मात्रा में पर्यालोचन करना, उनके अन्तस्तल तक पहुँचकर उनके मर्म की गवेषणा करना, एक दुर्बोध पहेली बन गई है। परन्तु इस पहेली के समझाने का प्रशंसनीय उद्योग प्राचीनकाल से ही चला आ रहा है। यास्क ने निरुक्त (१।२०।२) में इस उद्योग का तनिक आभास भी दिया है। उनके कथनानुसार ऋषि लोगों ने विशिष्ट तपस्या के बल पर धर्म का साक्षात्कार किया था। उन्होंने जब अर्वाचीन काल में धर्म को साक्षात्कार न करने वाले ऋषिजनों को देखा, तो उनके हृदय में नैसर्गिक करुणा जाग पड़ी और इन्हें मन्त्रों का उपदेश ग्रन्थतः तथा अर्थतः दोनों प्रकार से किया। प्राचीन ऋषियों ने श्रवण के बिना ही धर्मों का साक्षात् दर्शन किया था। अतः द्रष्टा होने के कारण उनका 'ऋषित्व' स्वतः सिद्ध था। परन्तु पिछले ऋषियों ने पहले मन्त्रों का ग्रन्थ तथा अर्थरूप से श्रवण किया और इसके पश्चात् वे धर्मों के दर्शन में कृतकार्य हुए। अत. श्रवणान्तर

दर्शन की योग्यता सम्पादित करने के कारण इनका उपयुक्त अभिधान 'श्रुतर्षि' रखा गया।[1] इन्हीं श्रुतर्षियों ने मानवों के कल्याणार्थ वेदार्थ समझने के उपयोगी शिक्षा निरुक्तादि वेदाङ्गो की रचना की। इस प्रकार अर्वाचीन काल के मनुष्य दुरूहता का दोषारोपण कर वेदार्थ को भूल न जाँय और न वे वेदमूलक आचार तथा धर्म से मुँह मोड बैठें, इस उन्नत भावना से प्रेरित होकर प्राचीन ऋषिगण वेदार्थ के उपदेश करने में सन्तत जागरूक थे। यास्क के शब्द ये है—

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो वभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृत-धर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् संप्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे विल्म-ग्रहणाय इमं ग्रन्थं समाम्नासिपुः वेदं च वेदाङ्गानि च॥

वेदों के गम्भीर अर्थ समझाने का प्रथम उद्योग कौन-सा है? यह कहना जरा कठिन है। आज कल उपलब्ध यास्क-विरचित निरुक्त मे भी प्राचीन 'निघण्टु' है जिसकी विस्तृत व्याख्या 'निरुक्त' में की गई है। निघण्टु शब्द का अर्थ है शब्दो की सूची। निघण्टु में संहिताओं के कठिन अथच सन्दिग्धार्थ शब्दों को एकत्र कर उनके अर्थ की सूचना दी गई है। उपलब्ध ग्रन्थों में 'निघण्टु' वेदार्थ के स्फुटीकरण का प्रथम प्रयास-सा लक्षित होता है। प्रातिशाख्यों की रचना इसी समय या इनसे भी पहले की मानी जा सकती है। इन ग्रन्थो ने वैदिक भाषा के विविध पदों, स्वरों तथा सन्धियों के विवेचन की ओर ही ध्यान दिया गया है, साक्षात्‌रूप से पदों के अर्थ की पर्यालोचना का नितान्त अभाव है। किसी समय में विभिन्न निरुक्त ग्रन्थों की सत्ता थी जिनकी सूचना

[1] अवरेभ्य. अवरकालीनेभ्य. शक्तिहीनेभ्य. श्रुतर्षिभ्य। तेषां हि श्रुत्वा तत. पश्चात् ऋषित्वमुपजायते, न यथा पूर्वेषां साक्षात्कृतधर्माणां श्रवणमन्तरेणैव।

—दुर्गाचार्य।

अवान्तर ग्रन्थों में उद्धरणरूप से यत्र-तत्र उपलब्ध भी होती है तथापि वेदार्थ की विस्तृत योजना का अधिक गौरवशाली ग्रन्थ यास्क-रचित निरुक्त ही है। इस ग्रन्थ-रत्न की परीक्षा से अनेक ज्ञातव्य विषयों का पर्याप्त पता चलता है। यास्क ने स्थल-स्थल पर आग्रायण, औपमन्यव, कात्थक्य, शाकटायन, शाकपूणि, शाकल्य आदि अनेक निरुक्ताचार्यों की तथा ऐतिहासिक, याज्ञिक, नैदान आदि अनेक व्याख्याताओं की क्रमशः वैयक्तिक तथा सामूहिक सम्मति का उल्लेख बड़े आदर के साथ किया है। इससे प्रतीत होता है कि वेदार्थ की अनुशीलन-परम्परा अत्यन्त प्राचीन है।

यास्क ने (निरुक्त १।१५) कौत्स नामक किसी आचार्य के मत का उल्लेख किया है। कहा नहीं जा सकता कि ये कौत्स वस्तुत. कोई ऐतिहासिक व्यक्ति थे या केवल पूर्वपक्ष के निमित्त स्थापित कोई काल्पनिक व्यक्ति। कौत्स की सम्मति है कि मन्त्र अनर्थक है (अनर्थका हि मन्त्राः) इसकी पुष्टि में उन्होने अनेक युक्तियाँ प्रदर्शित की हैं, जिन्हे चार्वाक, बौद्ध, जैन आदि वेद-निन्दकों ने भी अवान्तर काल में ग्रहण किया है।

कौत्सका पूर्वपक्ष

(१) मन्त्रों के पद नियत है तथा शब्दक्रम भी नियत हैं। सामवेद का प्रथम मन्त्र है—अग्न आयाहि वीतये। इनमें पदों को समानार्थक शब्दों से परिवर्तन कर 'वह्ने आगच्छ पानाय' नहीं कह सकते। आनुपूर्वी (आगे-पीछे का क्रम) भी नियत है। मन्त्र में 'अग्न आयाहि' को बदल कर 'आयाह्यग्ने' नहीं कर सकते। इस नियतवाचोयुक्ति तथा नियतानुपूर्वी का क्या मतलब है? यदि मन्त्र सार्थक होते, तो सार्थक वाक्यों की शैली पर पदों का तथा पदक्रम का परिवर्तन सर्वथा न्याय्य होता।

(२) ब्राह्मण-वाक्यों के द्वारा मन्त्रों का विनियोग विशेष अनुष्ठानों में किया जाता है। यथा उरु प्रथस्व (शु० य० १।२२) इस मन्त्र को प्रथन कर्म—विस्तार कार्य में शतपथ ब्राह्मण (१।३।६।८) विनियोग करता है। यदि मन्त्रों में अर्थद्योतन की शक्ति रहती, तो स्वतः सिद्ध अर्थ को ब्राह्मण के द्वारा विनियोग दिखलाने की क्या आवश्यकता होती ?

(३) मन्त्रों का अर्थ अनुपपन्न है अर्थात् उपपत्ति या युक्ति के द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। यजमान कह रहा है—ओषधे ! त्रायस्व एनम् (ऐ ओषधि, तू वृक्ष की रक्षा कर) भला निर्जीव ओषधि जो अपनी रक्षा में भी समर्थ नहीं है वृक्ष की रक्षा क्योंकर कर सकती है ? यजमान स्वयं परशु का प्रहार वृक्ष पर कर रहा है कि—परशु, तू इसे न मार (स्वधिते मैनं हिंसीः)। वह मतवाला ही होगा जो मार तो स्वयं रहा है और न मारने की प्रार्थना कर रहा है ! (अनुपपन्नार्था मन्त्रा भवन्ति)।

(४) वैदिक मन्त्रों में परस्पर विरोध भी दृष्टिगोचर होता है। रुद्र के विषय में एक मन्त्र पुकार कर कह रहा है—एक एव रुद्रोऽवतस्थे, न द्वितीयः [तैत्ति० सं० १।८।६।१] (रुद्र एक ही हैं, दूसरे नहीं), उधर दूसरा मन्त्र उनकी अनेकता का वर्णन डंके की चोट कर रहा है—असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम् (तै० सं० ४।५।११।५) अर्थात् पृथ्वी पर रुद्र असंख्य हजारों की संख्या में है। इस प्रकार एकता और अनेकता के झमेले में किसी तथ्य का निर्णय नहीं हो सकता (विप्रतिपिद्धार्था मन्त्राः)।

(५) वैदिक मन्त्रों में अर्थज्ञ पुरुष को कार्यविशेष के अनुष्ठान के वास्ते सम्प्रेषण (आज्ञा) दिया जाता है। जैसे होता से कहा जाता है—अग्नये समिध्यमानाय अनुब्रूहि (श० ब्रा० १।३।२।३) अर्थात्

जलनेवाली अग्नि के लिए बोलो। होता अपने कर्तव्य कर्म से स्वतः परिचित होता है कि अमुक यज्ञ में अमुक कार्य का विधान उसे करना है। ऐसी दशा में सम्प्रेषण की उक्ति अनर्थक है।

(६) मन्त्रों में एक ही पदार्थ को अनेक रूपों में बतलाया गया है। यथा अदिति ही समस्त जगत् है। अदिति ही आकाश है। अदिति ही अन्तरिक्ष है (अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षं .... ऋ० स० १।८९।१०)। छोटा बच्चा भी जानता है कि आकाश और अन्तरिक्ष भिन्न देशवाची होने से आपस में अलग-अलग हैं। ऐसी दशा में अदिति के साथ इन दोनों की समानता बतलाना कहाँ तक उपयुक्त है?

(७) मन्त्रों के पदों का अर्थ स्पष्टरूपेण प्रतीत नहीं होता (अविस्पष्टार्था मन्त्राः) जैसे अम्यक् (ऋ० १।१६९।३), यादृश्मिन् (ऋ० ५।४४।८), जारयायि, (ऋ० ६।१२।४) काणुका (ऋ० ८।७७।४), जर्भरी तुर्फरी (ऋ० १०।१०६।६) आदि शब्दों का अर्थ साफ तौर से मालूम नहीं होता। कौत्स का यही समारोहपूर्ण पूर्वपक्ष है। इस पक्ष का खण्डन यास्क ने बड़ी प्रबल युक्तियों के सहारे किया है। यास्क का मुख्य सिद्धान्त है कि जितने शब्द हैं वे अर्थवान् होते हैं। लोकभाषा में यही नियम सर्वत्र काम करता है। वैदिक मन्त्रों के शब्द भी लोकभाषा के शब्द से भिन्न नहीं हैं। सुतरां लौकिक शब्दों के समान वैदिक शब्दों का भी अर्थ होना ही चाहिए (अर्थवन्तः शब्द-सामान्यात्)। अनन्तर कौत्स के पूर्वपक्ष का क्रमशः खण्डन इस प्रकार है —

यास्क का सिद्धान्त पक्ष

(१) लौकिक भाषा में भी पदों का नियत प्रयोग तथा पद-क्रम का नियत रूप दृष्टिगोचर होता है। जैसे इन्द्राग्नी और पितापुत्रौ। इन प्रयोगों में न तो शब्द ही बदले जाते हैं और न इनका क्रम ही छिन्न-

भिन्न किया जा सकता है। ऐसा नियम न होने पर भी इनकी सार्थकता बनी ही रहती है।

(२) ब्राह्मणों में मन्त्रों का विनियोग-विधान उदितानुवादमात्र है, अर्थात् मन्त्रों में जिस अर्थ का प्रतिपादन अभीष्ट है उसी का केवल अनुवाद ब्राह्मण-वाक्यों के द्वारा किया जाता है।

(३) वैदिकमन्त्रों का अर्थ अनुपपन्न नहीं है। परशु प्रहार करते समय भी जो अहिंसा कही गई है वह वेद के द्वारा सिद्ध है। परशु के द्वारा वृक्ष का छेदन आपाततः हिंसा का सूचक अवश्य है, परन्तु वेद से ज्ञात होता है कि परशु-छेदन वस्तुतः हिंसा नहीं है। हिंसा तथा अहिंसा के सूक्ष्म विवेचन का परिचय हमें वेद से ही लगता है। वेद जिस कर्म में पुरुष को लगाता है वह कर्म होता है अहिंसात्मक और जिस कर्म से पुरुष का निषेध करता है वह होता है हिंसात्मक। ओषधि, पशु, मृग, वनस्पति आदि का यज्ञ में सम्यक् विधिपूर्वक उपयोग होने से वे परम उत्कर्ष को प्राप्त होते हैं। अतः यज्ञ में इनका विधान अभ्युदरूप होता है, हिंसारूप नहीं। इस प्रकार किसी शाखा का यज्ञ के लिए विधि-पूर्वक छेदन करना अनुग्रह है, हिंसा नहीं:—

इयमहिंसा इयं हिंसा इत्यागमादेतत् प्रतीयते। प्रतिविशिष्टश्चायमेव वैदिक आम्नाय आगमः। एतत्पूर्वकत्वाद् अन्येषामागमानाम्। × × × अनुगृह्णाति यज्ञ विनियोगार्थं विधानतः छिन्दन्॥

—दुर्गाचार्यः निरुक्त टीका (१।१६।६)

(४) रुद्र की एकता तथा अनेकता के उल्लेख करनेवाले मन्त्रों में पारस्परिक विरोध नहीं है, क्योंकि महाभाग्यशाली देवता की यही महिमा है कि वह एक होते हुए भी अनेक विभूतियों में वर्तमान रहता है। इन्द्र को अशत्रु तथा शत्रुविजेता मानने में भी कोई विरोध नहीं है। यह वर्णन रूपक कल्पना पर अवलम्बित है। लोक में भी शत्रुसम्पन्न होने पर भी राजा शत्रुहीन बतलाया जाता है।

(५) अनुष्ठान से परिचित व्यक्ति को भी दी गई आज्ञा (सम्प्रेषणा) व्यर्थ नहीं मानी जा सकती, क्योंकि विशिष्ट अतिथि के आगमन पर मधुपर्क का देना सबको विदित है, परन्तु फिर भी लोक व्यवहार में विधिज्ञ पुरुष से तीन बार मधुपर्क मांगने की चाल है। ऐसी दशा में ब्राह्मणग्रन्थों का सम्प्रेषण निरर्थक नहीं है।

(६) अदिति को सर्वरूपात्मक बतलाने का अभिप्राय उसकी महत्ता दिखलाने में है। भक्तिभाव से प्रेरित होकर भक्त अदिति से कह रहा है कि जगत् के समस्त पदार्थ तुम ही हो।

(७) मन्त्रों का अर्थ यदि स्पष्टरूपेण ज्ञात नहीं होता, तो उसके जानने का उद्योग करना चाहिए। निरुक्तग्रन्थ में शब्दों का धातुओं के साथ सम्बन्ध स्थापित कर अर्थ विधान की सुचारु व्यवस्था की गई है। अपना दोष दूसरों के मत्थे मढ़ना कहाँ तक ठीक है ? यदि सामने खडे वृक्ष को अन्धा नहीं देखता, तो इसमें बेचारे गरीब पेड़ का कौन-सा अपराध है ? यह तो पुरुष का अपराध है (नैष स्थाणोरपराधो यदेन-मन्धो न पश्यति। पुरुषापराधः स भवति)। इसी प्रकार अर्थ-विवेचक शास्त्रों का अभ्यास करना चाहिए, उपयोगी ग्रन्थों के अभ्यास बिना किए मन्त्रों पर अनर्थक होने का दोषारोप करना कहाँ तक औचित्यपूर्ण है ? 'अम्यक्' का अर्थ है प्राप्नोति (पहुँचता है), 'यादृस्मिन्' का यादृशः (जिस प्रकार का), 'जर्भरी' का अर्थ है भर्तारौ (भरण करनेवाले) तुर्फरी का अर्थ है हन्तारौ (मारनेवाला)[1]

(२)

वेदार्थानुसन्धान के विषय में आजकल प्रधानतया तीन मत मिलते हैं जिनमें से पहिला मत पाश्चात्य वैदिक अनुशीलनकारियों का है

[1] जैमिनि ने मीमांसा सूत्रों में (१।२।३१—५३) बड़े ऊहापोह के साथ इस विषय का प्रतिपादन किया है।

और अन्य दो मत इसी भारत के वैदिक विद्वानों का। पाश्चात्यों के अनुसार वेदार्थानुशीलन के लिए तुलनात्मक भाषा–शास्त्र तथा इतिहास की आवश्यकता तो है ही, साथ ही साथ भारतेतर देशों के धर्म तथा रीति-रिवाज का भी अध्ययन अपेक्षित है। क्योंकि इन दोनों की पारस्परिक तुलना ही हमें वैदिक धर्म के मूल स्वरूप का परिचय दे सकती है। इसी कारण इसे 'हिस्टारिकल मेथड्' (ऐतिहासिक पद्धति) के नाम से पुकारते हैं। और भारतीय परम्परा ? इसके विषय में ये लोग अत्यन्त उदासीन हैं। इनका तो यहाँ तक कहना है कि भारतीय व्याख्याता परम्परा का पक्षपाती होने से मूल अर्थ तक पहुँच ही नहीं सकता। अतः ब्राह्मण टीकाकार के ऊपर ये लोग अन्ध श्रद्धा का आक्षेप लगाते हैं और राथ आदि प्राचीन वेदानुशीली पाश्चात्य पण्डित उसे वेदों के अर्थ करने के लिए सर्वथा अयोग्य ठहराते हैं। और योग्य किसे बतलाते हैं ? उस यूरोपियन को, जो भारतीय परम्परा से अनभिज्ञ होकर भी भाषाशास्त्र, मानवशास्त्र आदि आदि विषयों की जानकारी रखता है।

पाश्चात्य पद्धति के गुण–दोष

इस पद्धति में कुछ गुणों के रहते हुए भी अवगुणों और दोषों की भरमार कम नहीं है। वेदों का आविर्भाव इस आर्यावर्त में हुआ। वेदों में निहित बीजों को लेकर ही कालान्तर में प्रणीत इस आर्यावर्त ने अनेक स्मृतियों की रचना देखी, अनेक दर्शनों का प्रादुर्भाव देखा और अनेक धर्मों के उत्थान तथा पतन का अवलोकन किया, अतः वेद हमारी वस्तु है। हमारे ऋषियों ने—आत्मज्ञानी विद्वानों ने, तत्त्वों के साक्षात्कर्ता महर्षियों ने—उनका जिस रूप में दर्शन किया, जिस प्रकार उनके गूढ़ रहस्यों को समझा और समझाया, उसी रूप में उन्हें देखना तथा उसी तरह उनको समझना दुरूह श्रुतियों का वास्तविक अनुशीलन

सर्वत्र छन्द की विषमता को बचाने के हेतु 'पावक' पाठ होना चाहिए और कभी होता भी था। परन्तु अश्रान्त परिश्रम से प्राचीन मन्त्रोच्चारण को यथातथ्य रूप से बनाये रखनेवाले हमारे वैदिक इस शब्द के इस काल्पनिक परिवर्तन मे सर्वथा अपरिचित हैं। इस दशा में यह साहसी पाठभेद कहाँ तक मान्य हो सकता है? किसी काल्पनिक अर्थ की सिद्धि के लिये मन्त्रों के पदों में मनमानी परिवर्तन करना कहाँ तक न्यायसंगत हो सकता है? इसे संस्कृतज्ञ पाठक स्वय विचार कर देखें और समझें। परन्तु सौभाग्यवश वहाँ अब हवा बदली है, उनका रुख पलटा है। अब ये लोग भी भारतीय अर्थ को उपेक्षा की सीमा के भीतर ले जाना नहीं चाहते। फिर भी हमें बाध्य होकर यही कहना पडता है कि पाश्चात्य विद्वानों के बहिरंग परीक्षा के ढग की सराहना करते हुये भी हम लोग न तो उनकी अर्थानुसन्धान-पद्धति को निर्दोष मानते हैं और न इसे सर्वांश रूप में ग्रहण करने के ही पक्षपाती हैं।

आध्यात्मिक पद्धति

स्वामी दयानद सरस्वती ने अपने भाष्य में अनेक विशिष्ट बातों का उल्लेख किया है। इस भाष्य में वेदों के अनादि होने का सिद्धान्त प्रतिपादित है। आपकी दृष्टि में वेद में लौकिक इतिहास का सर्वथा अभाव है। वेदों के सब शब्द यौगिक तथा योगरूढ हैं, रूढ नहीं—यह सिद्धान्त स्वामी जी की अर्थनिरूपण-पद्धति की आधारशिला है। इन्द्र, अग्नि, वरुण आदि जितने देवता-वाचक शब्द हैं वे यौगिक होने से एक ही परमात्मा के वाचक हैं। स्वामी जी इस प्रकार आध्यात्मिक शैली के माननेवाले हैं। अशतः यह सिद्धान्त ठीक है। निरुक्तकार ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि जितने देवता है वे सब एक ही महान् देवता—परमेश्वर—की विशिष्ट शक्ति के प्रतीक-मात्र हैं—"महाभाग्यात् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते। एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि

भवन्ति" (निरुक्त ७।४) ऋग्वेद का स्पष्ट प्रतिपादन है—"एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः" (ऋ० सं० १।१६४ ४६)। अतः अग्नि को ऐश्वर्यशाली परमेश्वर का रूप मानना सर्वथा उचित है। यहाँ तक किसी भी विद्वान् को आपत्ति नहीं हो सकती। परंतु जब इस शैली के अनुसार अग्नि आदि देवताओं की सत्ता ही बिलकुल नहीं मानी जाती, तब आपत्ति का उदय होता है। यास्क के मतानुसार वैदिक मन्त्रों के तीन प्रकार के अर्थ हैं—आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक। तीनों अर्थ तीन जगत् से सम्बन्ध रखते हैं और तीनों यथार्थ हैं। प्रत्येक मन्त्र भौतिक अर्थ को बतलाता है; किसी देवता विशेष को भी सूचित करता है और साथ ही साथ परमेश्वर के अर्थ का भी बोधक है। अतः अग्नि, इन्द्र आदि शब्दों को केवल परमेश्वर वाचक मानना तथा विशिष्ट देवता का सूचक न मानना उचित नहीं है। 'अग्नि' शब्द भौतिक अग्नि का बोधक है जिसकी कृपा से इस जगत् का समस्त व्यवहार सिद्ध होता है। यह शब्द उस देवता का भी सूचक है जो इस भौतिक अग्नि का अधिष्ठाता है। साथ ही साथ वह इस जगत् के नियामक परमेश्वर के अर्थ को भी प्रकट करता है। अग्नि के ये तीनों रूप ठीक हैं और सूक्ष्म विवेचना करने पर अग्निमन्त्र तीनों रूपों को समभावेन लक्षित करते हैं। अतः प्रथम दो रूपों की उपेक्षा कर अग्नि को केवल परमात्मा का ही बोधक मानना प्राचीन परम्परा से सर्वथा विरुद्ध प्रतीत होता है। यही कारण है कि इस शैली का सर्वथा अनुसरण हमें मान्य नहीं है।

स्वामी जी ने ब्राह्मण-ग्रंथों को संहिता के समान अनादि तथा प्रामाणिक नहीं माना है। श्रुति के अन्तर्गत ब्राह्मणों की गणना उन्हें मान्य नहीं है। तब संहिता के स्वरूप देखने से यह सिद्धान्त हृदयंगम नहीं प्रतीत होता। तैत्तिरीय संहिता में मन्त्रों के साथ साथ गद्यात्मक ब्राह्मण अंश भी उपलब्ध होता है। तब तैत्तिरीय संहिता के एक अंश

को श्रुति मानना और तदन्तर्गत ब्राह्मण भाग को श्रुति न मानना कहाँ तक न्याय्य होगा ? स्वामी जी के अनुयायी वैदिक पण्डितों की सम्मति में वेदों में विज्ञान के द्वारा आविष्कृत समस्त पदार्थ (रेल, तार, वायुयान आदि) की सत्ता बतलाई जाती है। तब क्या वेद की महिमा इसी में है कि विज्ञान की समग्र वस्तुओं का वर्णन उसमें उपलब्ध होता है? वेद आध्यात्मिक ज्ञान के निधि हैं। भौतिक विज्ञान की वस्तुओं का वर्णन करना उनका वास्तव उद्देश्य नहीं है। ऐसी दशा में यौगिक प्रक्रिया के अनुसार इन चीजों को वेदों के भीतर बतलाना उचित नहीं जान पड़ता। इस प्रकार स्वामी जी की पद्धति को हम सर्वांश में स्वीकार नहीं कर सकते।

वैदिक मन्त्रों का अर्थ नितान्त गूढ है। उनके समझने के लिए चाहिए आर्षदृष्टि या ऋषि-प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण। मन्त्रों के शब्दों में व्याकरण-सम्बन्धी सरलता होने पर भी उनके द्वारा अभिधेय अर्थ का पता लगाना नितान्त दुरूह है। गूढार्थता के लिए इस मन्त्र के रहस्यवाद की ओर दृष्टिपात किया जाय।

चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महादेवो मर्त्यां आ विवेश॥
[ऋ० ४।५८।३]

इस मन्त्र का सीधा अर्थ है—"चार इसकी सींगें है, तीन पैर है, दो सिर, सात हाथ। तीन प्रकार से बाँधा गया यह वृषभ (बैल अथवा अभीष्ट वस्तुओं की वर्षा करनेवाला) जोर से चिल्ला रहा है। मह देव ने मरणशील वस्तुओं में प्रवेश किया।" परन्तु प्रश्न है कि विचित्र वेषधारी महादेव वृषभ है कौन ? यास्क के इस रहस्योद्घाटन की कुंजी हमारे लिये तैयार कर दी है। किसी के मत से यह महादेव यज्ञ है। चारों वेद इसकी चार सींगें है, तीनों पैर तीन सवन (सोमरस निकालने के प्रात', मध्याह्न तथा सायं तीन काल) है, दो शिर हैं

प्रायणीय तथा उदयनीय नामक हवन; सातों हाथ हैं सातों छन्द। यह यज्ञ मन्त्र, ब्राह्मण तथा कल्प के द्वारा त्रिधा बद्ध है। इस प्रकार यज्ञरूपी महादेव ने यजन के लिये मनुष्यों में प्रवेश किया है। (निरुक्त १३।७)। दूसरों का मत है कि यह महादेव सूर्य है जिसकी चारों दिशाएँ चार सींगें हैं, तीनों पैर तीन वेद हैं, दो सिर हैं रात और दिन; सात हाथ हैं सात प्रकार की किरणें। सूर्य पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश से सम्बद्ध है अथवा ग्रीष्म, वर्षा, शीत इन तीन ऋतुओं का उत्पादक है। अतः वह 'त्रिधा बद्ध' मन्त्र में कहा गया है। पतञ्जलि ने पस्पशाह्निक में इस मन्त्र की शब्दपरक व्याख्या की है। उनकी सम्मति में यह महादेव शब्द है, क्योंकि उसकी चार सींगें चार प्रकार के शब्द हैं (नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात) भूत वर्तमान, भविष्य ये तीनों काल तीन पैर हैं। दो सिर हैं दो प्रकार की भाषाएँ नित्य तथा कार्य। सातों हाथ हैं, प्रथमादि सातों विभक्तियाँ। शब्द का उच्चारण तीन स्थानों—हृदय, गला और मुख-से होता है। अतः यह तीन प्रकार से बद्ध भी है। अर्थ की दृष्टि करने से शब्द वृषभ पदवाच्य है। राजशेखर ने काव्य-मीमांसा में इस मन्त्र की व्याख्या काव्यपुरुष की स्तुति के विषय में किया है। सायण भाष्य में इनसे अतिरिक्त अर्थों का वर्णन किया गया। इनमें से प्रत्येक अर्थ परम्परा पर अवलम्बित होने के कारण माननीय तथा आदरणीय है। मन्त्रों के गूढार्थ की यही विशेषता है कि उनका अर्थ भिन्न-भिन्न प्रकार से किया जा सकता है। यास्क ने इस प्रसंग में आये दर्जन मतों की चर्चा की है जिनमें वैयाकरण, परिव्राजक, ऐतिहासिक तथा याज्ञिक आदि मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त विभिन्न पन्थों के समर्थक आचार्यों के मतों का भी यथास्थान उल्लेख किया है। परम्परामूलक होने के कारण इन आचार्यों के कथनों पर हम अप्रामाणिकता का लांछन लगाकर उन्हें हँसी-खेल में उड़ा नहीं सकते।

परम्परा का महत्त्व

यास्क ने स्वय परम्परा की प्रशंसा की है और उसके जाननेवाले को 'पारोवर्यवित्' कहा है। निरुक्त (१३।१२) का कहना है:—

"अयं मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहोऽभ्यूढोऽपि श्रुतितोऽपि तर्कतः"

अर्थात्—मन्त्र का विचार परम्परागत अर्थ के श्रवण और तर्क से निरूपित किया है। क्योंकि—

"न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः प्रकरणश एव निर्वक्तव्याः"

मन्त्रों की व्याख्या पृथक्-पृथक् करके न होनी चाहिए, वल्कि प्रकरण के अनुसार ही होनी चाहिए।

"न ह्येपु प्रत्यक्षमस्ति अनृपेरतपसो वा"

वेदों का अर्थ कौन कर सकता है ? इसके विपय में यास्क का कहना है कि जो मनुष्य न तो ऋपि है न तपस्वी, वह मन्त्रों के अर्थों का साक्षात्कार नहीं कर सकता।

"पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृपु भूयोविद्यः-
प्रशस्यो भवति इत्युक्तं पुरस्तात्।"

यह पहले ही कहा जा चुका है (निरुक्त १।१६) कि परम्परागत ज्ञान प्राप्त करनेवालों में वह श्रेष्ठ है जिसने अधिक अध्ययन किया है।

अतः परम्परा तथा मीमांसा, निरुक्त, व्याकरण आदि शास्त्रों की जानकारी वेदार्थ जानने के लिए नितान्त आवश्यक है।

यास्क ने कम से कम आठ नौ मतों की चर्चा की है। वैयाकरण नैदान, परिव्राजक, ऐतिहासिक आदि मतों का उल्लेख स्थान-स्थान पर मन्त्रों की व्याख्या में किया है। कोई कारण नहीं दीख पड़ता कि इन विभिन्न आचार्यों के मतों को हम अप्रामाणिक मानें क्योंकि इनका उल्लेख ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी प्रचुरता से मिलता है। उदाहरण के लिए 'आश्विनौ' को ले लीजिये जिनके विपय में यास्क ने अनेक मतों का

निर्देश किया है। कुछ लोगों के मत में दोनों अश्विन् स्वर्ग और पृथिवी हैं। इस मत का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण (४।१।५) में पाया जाता है और यास्क का अपना मत भी उसी स्थान पर निर्दिष्ट है। अतः इन विभिन्न आचार्यों के मतों की प्रामाणिकता स्पष्ट है। इतना ही क्यों ? यास्क की अधिकांश व्यख्याएं और व्युत्पत्तियां ब्राह्मणों के ही आधार पर हैं। इसलिए उन्हें परम्परागत होने में सन्देह करने के लिए स्थान नहीं है।

स्मृति का महत्त्व

कालान्तर में जब वेद की भाषा का समझना नितान्त दुरूह हो गया, तब सीधी-सादी बोलचाल की भाषा में वेद के रहस्यों का प्रतिपादन हमारे परम कारुणिक ऋषियों ने स्मृतियों तथा पुराणों में संसार के उपकार के लिए किया। अतः स्मृति तथा पुराणप्रतिपादित सिद्धान्त वेदों के ही माननीय सिद्धान्त हैं, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। वेदों में आस्था रखनेवाले सज्जनों को पुराणों के विषय में श्रद्धाहीन होना उचित नहीं है, क्योंकि केवल भाषा तथा शैली के विभेद को छोड़ देने पर हमारे इन धर्मग्रन्थों में किसी प्रकार का भी भेद-भाव नहीं है। वेदों में प्रतिपादित सिद्धान्त ही कालान्तर में पुराणों में सन्निविष्ट किये गये हैं। शैली का भेद अवश्य ही दोनों में वर्तमान रहनेवाली एकता को आपाततः खण्डन करनेवाला प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव में वेद और पुराण में किसी प्रकार का सैद्धान्तिक विरोध परिलक्षित नहीं होता। वेदों में रूपक का प्रचुर उपयोग देखते हैं, तो पुराणों में अतिशयोक्ति का। वेदों में जो बातें रूपकमयी भाषा की लपेट में कही गई हैं, वे ही बातें पुराणों में अतिशयोक्तिमयी वाणी के द्वारा प्रकट की गई हैं। एक ही उदाहरण इस शैली-भेद को प्रकट करने के लिए पर्याप्त होगा। ऋग्वेद के अनेक मण्डलों में इन्द्र की स्तुति में वृत्र के साथ

उनके भयंकर संग्राम का उल्लेख किया गया है। ये वृत्र कौन हैं? जिनके साथ इन्द्र का युद्ध हुआ। यास्क ने निरुक्त में (२।१६) वृत्र के विषय में अनेक प्राचीन मतों का निर्देश किया है[1]। इनमें नैरुक्तों का ही मत मान्य माना जाता है। इस व्याख्या के द्वारा हम ऋग्वेद के इन्द्र-वृत्र-युद्ध के भौतिक आधार को अच्छी तरह से समझ सकते हैं। आकाश को चारों ओर से घेरनेवाला मेघ ही वृत्र है और उसको अपने वज्र से मारकर ससार के जीव जन्तुओं को वृष्टि से तृप्त कर देने वाले 'सप्तरश्मिः वृषभः' इन्द्र वर्षा के देवता हैं और प्रति-वर्षाऋतु में गगन मण्डल में होनेवाला यह भौतिक सग्राम ही इन्द्र-वृत्र-युद्ध का परिदृश्यमान भौतिक दृश्य है। इसी का वर्णन 'रूपक' के द्वारा ऋग्वेद में किया गया है। और पुराणों में क्या है? वहाँ इन्द्र महाराज देवताओं के अधिपति बतलाये गये हैं और वृत्र असुरों या दानवों का राजा। दोनों प्रबल प्रतापी हैं। दोनों अपने अपने वाहनों पर चढ़कर आते हैं, देवताओं को भी रोमाञ्च कर देनेवाला सग्रामहोता है और अन्त में वृत्र के ऊपर इन्द्र की विजय होती है। इस सग्राम का वर्णन बड़े विस्तार के साथ पुराणों में पाया जाता है, विशेष कर श्रीमद्भागवत के षष्ठ स्कन्ध में (अ० ११—१२)। परन्तु क्या यह वर्णन अतिशयोक्तिमयी भाषा में रहने पर भी वेदवाले वर्णन से किसी प्रकार सिद्धान्त में भिन्न है? नहीं, वह तो एक ही घटना है जो इन भिन्न ग्रन्थों में भाषा और शैली के भेद के साथ प्रतिपादित की गई है। यह कैसे कहा जा सकता है कि जिसने पुराणों में इस घटना का इतना रोचक सूक्ष्म वर्णन कर रखा है वह वेद के रूपक के भीतर छिपे हुये सिद्धान्त से अपरिचित है? पुराण तो वेद

---

१ तत् को वृत्र? मेघ इति नैरुक्ता। त्वाष्ट्रोऽसुर इति ऐतिहासिका। अपां च ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म जायते। तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति। —निरुक्त २।१६

के ही अर्थों और सिद्धान्तों को बोधगम्य भाषा में रोचक शैली का आश्रय लेकर प्रतिपादित करने वाले हैं। अतः वेद में आस्था रखना और पुराणों से विमुख रहना दोनों में गृहीत शैली-भेद के ठीक-ठीक न पहचानने के ही कारण है। इस संक्षिप्त विवरण से वेद के अर्थों को समझने के लिए स्मृतियों और पुराणों का प्रकृष्ट महत्त्व भली भाँति ध्यान में आ सकता है। इसी कारण प्राचीन ग्रन्थकारों ने वेद के समझने के लिए इतिहास पुराण की आवश्यकता बतलाई है :—

> इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
> बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रतरेदिति ॥

इतिहास पुराणों से अनभिज्ञ अल्पशास्त्रवाले पुरुषों से वेद सदा डरा करता है कि कहीं ये मुझे ठग न दे। मेरा सच्चा अर्थ न बतलाकर लोगों को उन्मार्ग में न ले जायँ। इसी हेतु इतिहास और पुराणों की अभिज्ञता वेदार्थानुशीलन के लिए परमावश्यक है।

इस कथन की पुष्टि के लिए एक-दो उदाहरणों का देना अतिप्रसङ्ग न समझा जायगा। शुक्ल यजुर्वेद के ईशावास्योपनिषद् में कर्म-सिद्धान्त का प्रतिपादन करनेवाला यह रहस्यमय मंत्र है :—

> कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
> एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

जिसका भाव है कि इस संसार में कर्म को करता हुआ ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करे। ऐसा करने से ही तुम्हारी सिद्धि होगी, दूसरी तरह से नहीं। कर्म मनुष्य में लिप्त नहीं होता।

क्या इसकी व्याख्या गीता के इस श्लोक (४।१४) में नहीं पाई जाती ?

> न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
> इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥

कामनाओं के परित्याग के विषय में बृहदारण्यक (४।४।७) और कठ उपनिषद् (४।१४) का निम्नलिखित मन्त्र लीजिए—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यथ ब्रह्म समश्नुते ॥

इसका अर्थ है कि जब मनुष्य के हृदय में रहनेवाली कामनायें छूट जाती है, तब मरणशील मनुष्य अमर बन जाता है और ब्रह्म को प्राप्तकर लेता है । इसकी व्याख्या के लिए—इसके अर्थ को आसानी से समझने के लिए, गीता के इस श्लोक (२।७१) का जानना जरूरी है :—

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ॥

इस प्रकार अनेक उदाहरण दिये जा सकते है । कहा जा सकता है कि भगवद्गीता तो सब उपनिषदों का सार है, अतः उसमें उपनिषदों के मन्त्रों की व्याख्या का मिलना कोई आश्चर्यजनक व्यापार नहीं है, परन्तु अन्यत्र ऐसा दुर्लभ होगा । परन्तु यह बात भी ठीक नहीं । ऊपर स्मृति रचना और पुराणनिर्माण के हेतु का निदर्शन किया जा चुका है । अतः इन ग्रन्थों में या तो वेदों के मन्त्रों का अर्थ विकसित रूप में मिलता है या उनके सिद्धान्त मिलते हैं । परम्परागत अर्थ की सर्वथा उपलब्धि इन ग्रन्थों से हो सकती है । अतः इनका वेदार्थ के लिए उपयोग न करना तथा उपेक्षा करना नितान्त निन्दनीय कार्य है ।

सायण का महत्त्व

सायणाचार्य ने इन सब ऊपर उल्लिखित साधनों की सहायता अपने वेदभाष्यों में ली है । उन्होंने परम्परागत अर्थ को ही अपनाया है और उसकी पुष्टि में पुराण, इतिहास, स्मृति, महाभारत आदि ग्रन्थों से आवश्यकतानुसार प्रमाणों को उद्धृत किया है । वेद के अर्थ के लिए षडङ्गों की भी आवश्यकता होती है । सायण इनसे सविशेष परिचित थे । ऋग्वेद के प्रथम अष्टक की व्याख्या में उन्होंने शब्दों के

व्याकरण की खूब ही छानवीन की है। प्रायः प्रत्येक महत्त्वपूर्ण शब्द की व्युत्पत्ति, सिद्धि तथा स्वराघात का वर्णन पाणिनीय सूत्रों तथा कहीं कहीं प्रातिशाख्य की सहायता से इतने सुव्यवस्थित ढङ्ग से किया गया है कि इन्हे ध्यान से पढ़ जाने पर समस्त ज्ञातव्य विषयों की जानकारी सहज में हो जाती है। निरुक्त का भी उपयोग खूब ही किया गया है। यास्क द्वारा व्याख्यात मन्त्रों की व्याख्या को सायण ने तत्तत् मन्त्रों के भाष्य लिखते समय अविकल रूप से लिख दिया है। इसके अतिरिक्त सायण ने ऋग्वेद के प्राचीन स्कन्दस्वामी, माधव जैसे भाष्यकारों के अर्थ को भी यथावकाश ग्रहण किया है। कल्पसूत्रों का उपयोग विस्तार के साथ किया गया है। सायण यज्ञ-विधान से नितान्त परिचय रखते थे। अतः कल्पसूत्र विषयक आवश्यक बातों का वर्णन बड़ी ही खूबी के साथ उन्होंने सर्वत्र किया है। सूक्त-व्याख्या के आरम्भ में ही उन्होंने उसके विनियोग, ऋषि, देवता आदि ज्ञातव्य बातों का वर्णन प्रामाणिक ग्रन्थों के उद्धरण के साथ-साथ सर्वत्र किया है। सूक्तविषयक उपलभ्यमान आख्यायिका को भी सप्रमाण दे दिया है। मीमांसा के विषय का भी निवेश भाष्य के आरम्भवाले उपोद्घात में बड़े ही सुन्दर और बोधगम्य भाषा में सायण ने कर दिया है। वेद-विषयक समग्र सिद्धान्तों का प्रतिपादन और रहस्यों का उद्घाटन इन उपोद्घातों में बड़े अच्छे ढंग से किया गया है जिसके कारण ये भूमिकायें वैदिक सिद्धान्तों के भाण्डागार के समान प्रतीत होती हैं। इन्हीं सब कारणों से सायण के वेदभाष्य का गौरव है। सायण ने याज्ञिक-पद्धति को अपने भाष्य में महत्त्व दिया है। उस समय इसी की आवश्यकता थी। कर्मकाण्ड का उस समय बोलबाला था। इसी कारण इसके महत्त्व को दृष्टि में रखकर सायण ने अपने भाष्यों का प्रणयन किया है। आजकल इसमें कुछ परिवर्तन करने की आवश्यकता होगी। परन्तु मार्ग यही है।

इस महत्त्व के कारण प्रत्येक वेदानुशीली को सायणाचार्य के सामने अपना शिर झुकाना चाहिए। यदि सायणभाष्य न होते तो वेदार्थ के अनुशीलन की कैसी दयनीय दशा हो जाती, ऐतिहासिक पद्धति के माननेवाले यूरोपियन स्कालर लोग भाषाशास्त्र की मनमानी व्युत्पत्ति के आधार पर एक ही शब्द के विरुद्ध अनेक अर्थ करने पर तुले हुए हैं, तब परम्परागत अर्थ को ही अपने भाष्य में स्थान देनेवाले सायणाचार्य के अतिरिक्त हम किसे अपना आश्रय मानें ? वास्तव में वैदिक भाषा और धर्म के सुदृढ़ गढ़ में प्रवेश पाने के लिए हमारे पास एक ही विश्वासार्ह साधन है और वह है सायण का चारों वेदों की संहिताओं का भाष्य। प्रत्येक वैदिक विद्वान् के ऊपर सायण का ऋण यथेष्ट मात्रा में है। पाश्चात्य विद्वानों ने वेदों के समझने का जो विपुल प्रयत्न किया है और किसी अंश में उन्हे जो सफलता मिली है वह सायण की ही अनुकम्पा का फल है। सायण भाष्य की सहायता से वे लोग वैदिक मन्त्रों के अर्थ समझने में कृतकार्य हुए हैं। छिट-फुट शब्दो के अर्थों में यत्किंचित् विरोधाभास दिखला कर सायण की हँसी उड़ाना दूसरी बात है, परन्तु वास्तव में सहितापंचक के ऊपर इतना सुव्यवस्थित, पूर्वापर विरोधहीन, उपादेय तथा पाण्डित्यपूर्ण भाष्य लिख डालना जरा टेढ़ी खीर है। इस कार्य के महत्त्व को पण्डित जन ही यथार्थ में समझ सकते हैं। इसके लिए वैदिक धर्म तथा सस्कृत भाषा की जितनी अभिज्ञता प्राप्त करनी चाहिए, इसका सर्वसाधारण अनुमान भी नहीं लगा सकता। सायण की कृपा से वेद में प्रवेश करने वाले यूरोपीय विद्वान् यदि आधुनिक विद्या के दर्प से उन्मत्त होकर Los von Sayana (सायण का बहिष्कार करो) का झंडा ऊँचा करें, तो इसे सम्प्रदायविद् सायण के सामने सत्य के प्रति द्रोह भले न समझा जाय, परन्तु वस्तुस्थिति की अनभिज्ञता तो अवश्य प्रकट होती है। यूरोपीय विद्वान् सम्प्रदाय के महत्त्व से भली भाँति परिचित न होने से

इस विषय में उपेक्षणीय भले मान लिये जायँ, परन्तु अधिक दुःख तो उन भारतीयो के लिए है जो आँख मूँद कर इन पाश्चात्य गुरुओं के चेला होने में ही पाण्डित्य का चरम उत्कर्ष देखते हैं और भारतीय सम्प्रदाय के महत्त्व को जानकर उसकी उपेक्षा करने में जी जान से तुले हैं। मेरे कहने का यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि सायणभाष्य में दोष नहीं है। किसी भी मानवी कृति में हमें दोषहीनता के सर्वथा अभाव की कल्पना नहीं करनी चाहिए, परन्तु पूरे भाष्य के ऊहापोह तथा आलोचना करनेपर हमारा यही निश्चित सिद्धान्त है कि सम्प्रदाय के सच्चे ज्ञाता होने के कारण सायणाचार्य का वेदभाष्य वास्तव में वेदार्थ की कुंजी है—वेद के दुर्गम दुर्ग में प्रवेश कराने के लिए विशाल सिंह-द्वार है।

परम हर्ष का विषय है कि पाश्चात्य अनुसन्धानकर्ता भी सायण के परम महत्त्व से अपरिचित नहीं हैं। ऋग्वेद के प्रथम अनुवादक प्रसिद्ध अंग्रेजी विद्वान् विल्सन की यह उक्ति भुलाई नहीं जा सकती[1] कि निश्चय रूप से सायणाचार्य का वेदज्ञान इतना अधिक था जितना कोई भी यूरोपियन विद्वान् रखने का दावा नहीं कर सकता चाहे वे स्वय अपनी जानकारी से या अपने सहायकों के द्वारा वेद के परम्परागत अर्थों से नितान्त परिचित थे। सायण भाष्य के प्रथम यूरोपियन सम्पादक डाक्टर मैक्सम्यूलर (मोक्षमूलर भट) का यह कथन भी यथार्थ ही है कि यदि सायण के द्वारा की गई अर्थ की रस्सी हमें नहीं

---

1 Sayana undoubtedly had a knowledge of his text far beyond the pretensions of any European scholar, and must have been in possession either through his own learning or that of his assistants, of all the interpretations which have been perpetuated by traditional teaching from the early times,
—Translation of Rigveda.

मिलती, तो हम इस दुर्भेद्य किले के भीतर प्रवेश ही नहीं पा सकते थे ।[1] वास्तव में सायण 'अन्धे की लकड़ी' (Blind man's Stick) हैं । सौभाग्य से सायण के प्रति पाश्चात्यों के भाव इधर बदलने लगे हैं, उपेक्षा के स्थान पर आदर ने अपना पैर जमाया है । और भाषा-शास्त्र आदिक आवश्यक साधनों की गहरी छान बीन के साथ-साथ सायण के अर्थ की सचाई का पता अब विद्वानों को लगने लगा है । इस विषय में जर्मन विद्वान् पिशल और गेल्डनर ने बड़ा काम किया है । इन लोगों ने 'वेदिशे स्तुदियन' (वैदिक अनुशीलन) के तीनों भागों में अनेक गूढ़ वैदिक शब्दों के अर्थ का अनुसन्धान किया है जिसके फलस्वरूप सायण के अर्थ अधिक प्रामाणिक तथा उपादेय प्रतीत होने लगे हैं ।

सायण के अर्थ से ही परन्तु हमें आज सन्तोष नहीं हो रहा है । वेद की गम्भीरता तथा रहस्यता के हेतु भिन्न-भिन्न युगों में नवीन व्याख्या सम्प्रदायों का उदय होता आया है । याज्ञिक अर्थ के ऊपर आध्यात्मिक अर्थों की उपेक्षा नहीं की जा सकती । तुलनात्मक भाषाशास्त्र से भी सहायता ली जा सकती है । वेदों का अर्थ मुख्यतः अध्यात्मपरक तथा रहस्यवादी है । इस दृष्टि से अरविंद की व्याख्या-पद्धति की ओर विद्वानों का आज झुकाव तथा रुझान होना स्वाभाविक है ।

---

1 We ought to bear in mind that five and twenty years ago, we could not have made even our first steps, we could never at least have gained a firm footing without his leading strings —Introduction to Rigveda Edn.

पञ्चम परिच्छेद

वेदों का काल-निरूपण

वेदों के गौरव तथा महत्त्व के विषय में वैदिक विद्वानों में एक-वाक्यता होनेपर भी उनके आविर्भाव-कालके विषयको लेकर उनमें गहरा मतभेद है। भारतीय सभ्यता के पुरातीन रूप जानने के लिए वैदिक ग्रन्थों की उपयोगिता नितान्त माननीय है, इस सिद्धान्त के मानने में किसी भी विद्वान् को आपत्ति नहीं है, परन्तु इस वैदिक सभ्यता की ज्योति किस काल में इस पवित्र आर्यावर्त की भूमि को आलोकित कर उठी? किस समय पावन-चरित ऋषियों के हृदय में आध्यात्मिक ज्ञान से ओतप्रोत, दिव्य सन्देश देने की कामना पहले पहल जाग उठी? जिसे कार्यान्वित करने के लिए उन्होंने इन अलोकसामान्य गूढ़ार्थ-विजृम्भित मन्त्रों की रचना कर डाली? इन प्रश्नों का यथार्थ उत्तर न अभी दिया गया है और न भविष्य में दिये जाने की आशा है। इस समस्या का हल करना कोई बायें हाथ का खेल नहीं है कि दो चार मन्त्रों के आधार पर इसका अन्तिम निर्णय उपस्थित कर दिया जाय। सच्ची बात तो यही है कि इन समस्याओं को सदा के लिए सुलझा देना, इन प्रश्नों का अन्तिम निर्णय कर देना एक प्रकार से असम्भव ही है, तथापि अब तक अनुसन्धानानुरागी विद्वानों ने जिन महत्त्वशाली सिद्धान्तों को अपनी तर्कबुद्धि के बल पर खोज निकाला है उनका एक संक्षिप्त परिचय देने का उद्योग यहाँ किया जा रहा है।

भारतीय दृष्टि में श्रद्धा रखनेवाले विद्वानों के सामने तो वेदों के कालनिर्णय का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि जैसा हम पहले दिखला

सर पर उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि इस भूतल पर कोई भी शक्ति ऐसी नहीं है जो कभी निश्चय कर सके कि वैदिक मन्त्रों की रचना १००० या १५०० या २००० या ३००० वि० पू० में की गई हो। इसकी पुष्टि में इतना ही कहा कि ऋग्वेद की यही पिछली सीमा है जिसके पीछे ऋग्वेद का काल कथमपि नहीं लाया जा सकता। परन्तु इसकी ओर किसी ने कान नहीं दिया। भाषा तथा विचारों के विकाश के लिए दो सौ वर्षों का काल नितान्त काल्पनिक, अपर्याप्त तथा अनुचित है। वेदों की संहिता तथा ब्राह्मणों में निर्दिष्ट ज्यौतिष-सम्बन्धी सूचनाओं का अनुशीलन कर लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक तथा जर्मनी के विख्यात विद्वान् डा० याकोबी ने वेदों का काल विक्रमपूर्व चार सहस्र वर्ष निश्चित किया है। उनके प्रमाणों को समझने के लिए ज्योतिष-सम्बन्धी सामान्य तथ्यों से परिचय पाना नितान्त आवश्यक है।

प्राचीन वर्षारम्भ—

पाठक जानते हैं कि एक वर्ष के अन्दर ६ ऋतुयें होती है—वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त तथा शिशिर। इन ऋतुओं का आविर्भाव सूर्य के संक्रमण पर निर्भर रहता है। यह बात सुविख्यात है कि प्राचीन काल से लेकर आजतक ऋतुयें पीछे हटती चली जा रही हैं अर्थात् प्राचीनकाल में जिस नक्षत्र के साथ जिस ऋतु का उदय होता था, आज वही ऋतु उस नक्षत्र से पूर्ववर्ती नक्षत्र के समय आकर उपस्थित होती है। प्राचीनकाल में वसन्त से वर्ष का प्रारम्भ माना जाता था। 'ऋतूनां कुसुमाकरः'—गीता। आजकल 'वसन्त सम्पात' (वर्नल इक्विनाक्स) मीन की सक्रान्ति से आरम्भ होता है और यह सक्रान्ति पूर्वाभाद्रपद नक्षत्र के चतुर्थ चरण से आरम्भ होती है, परन्तु यह स्थिति धीरे धीरे नक्षत्रों के एक के बाद एक के पीछे हटने से हुई

है। किसी समय वसन्त-सम्पात उत्तरा भाद्रपद, रेवती, अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा आदि नक्षत्रों में था जहाँ से वह क्रमशः पीछे हटता हुआ आज वर्तमान स्थिति पर पहुँच पाया है। नक्षत्रों के पीछे हटने से ऋतुपरिवर्तन तब लक्ष्य में भली भाँति आने लगता है जब वह एक मास पीछे हट जाता है। सूर्य के संक्रमण-वृत्त को २७ नक्षत्रों में भारतीय ज्योतिषियों ने विभक्त कर रखा है। पूरा संक्रमण वृत्त ३६० अंशों का है। अतः प्रत्येक नक्षत्र (३६० ÷ २७) = १३$\frac{१}{३}$ अंशों का एक चाप बनाता है। संक्रमण-बिन्दु को एक अंश पीछे हटने में ७२ वर्ष लगते हैं। अतः पूरे एक नक्षत्र पीछे हटने के वास्ते उसे (७२ × १३$\frac{१}{३}$) ९७२ वर्षों का महान् काल लगता है। आजकल वसन्त-सम्पात पूर्वा भाद्रपद के चतुर्थ चरण में पड़ता है अर्थात् जब वह कृत्तिका नक्षत्र में पड़ता था, तब से लेकर आजतक वह लगभग साढ़े चार नक्षत्र पीछे हट आया है। अतः ज्योतिष-गणना के आधार पर कृत्तिका नक्षत्र में वसन्त-सम्पात का काल आज से लगभग (९७२ × ४$\frac{१}{२}$ = ४३७४) साढ़े चार हजार वर्ष पहले था अर्थात् २५०० वि० पू० के समय यह ज्योतिष की घटना मोटे तौर पर सम्भवतः घटी होगी।

वैदिक संहिताओं तथा ब्राह्मणों में अनेक स्थलों पर ऋतु-सूचक तथा नक्षत्र-निर्देशक वर्णनों का प्राचुर्य पाया जाता है। महाराष्ट्र के विख्यात ज्योतिर्विद् पण्डित शङ्कर बालकृष्ण दीक्षित ने शतपथ ब्राह्मण मे एक महत्त्वपूर्ण वर्णन खोज निकाला है जिससे उस ग्रन्थ के रचनाकाल के विषय पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इस वाक्य में कृत्तिकाओं के ठीक पूर्वीय बिन्दु पर उदय लेने का वर्णन है जहाँ से वे तनिक भी च्युत नहीं होतीं:—

एकं द्वे त्रीणि चत्वारीति वा अन्यानि नक्षत्राणि, अथैता एव भूयिष्ठा यत् कृत्तिकास्तद् भूमानमेव एतदुपैति तस्मात् कृत्तिकास्वादधीत। एता ह वै

प्राच्यै दिशो न च्यवन्ते, सर्वाणि ह वा अन्यानि नक्षत्राणि प्राच्यै दिशश्च्यवन्ते (शतपथ २।१।२)

आजकल वे पूर्वीय विन्दु से कुछ उत्तर ओर हटकर उदय लेती हैं। अत दीक्षित जी की गणना के अनुसार ऐसी ग्रहस्थिति ३००० वि० पू० में हुई होगी जो शतपथ का निर्माणकाल माना जा सकता है। तैत्तिरीय संहिता जिसमें कृत्तिका तथा अन्य नक्षत्रों का वर्णन है निश्चय ही शतपथ से प्राचीन है। ऋग्वेद तैत्तिरीय से भी पुराना है। अब यदि प्रत्येक के लिए २५० वर्ष का अन्तर मान लें तो ऋग्वेद का समय ३५०० वि० पू० से इधर का कभी नहीं हो सकता। अतः दीक्षित जी के मत में ऋग्वेद आज से लगभग ५५०० (साढे पाच हजार) वर्ष नियमतः पुराना सिद्ध हो जाता है।[1]

लोकमान्य तिलक का मत

लोकमान्य की विवेचना के अनुसार यह समय और भी पूर्ववर्ती होना चाहिए। ऋग्वेद का गाढ़ अनुशीलन कर उन्होंने मृगशिरा नक्षत्र में वसन्त-सम्पात होने के अनेक निर्देश को एकत्र किया है। तैत्तिरीय संहिता का कहना है कि 'फाल्गुनी पूर्णिमा वर्ष का मुख है'। तिलक जी ने इस कथन का स्वारस्य दिखलाया है। यदि पूर्ण चन्द्रमा फाल्गुनी नक्षत्र में था, तो सूर्य अवश्यमेव मृगशिरा में रहेगा जब वसन्त-सम्पात भी होगा। ऋग्वेद के भीतर ही अनेक आख्यायिकायें इस ग्रहस्थिति की सूचना देने वाली हैं। मृगशिरा की आकाश-स्थिति का निर्देश अनेक मन्त्रों तथा आख्यानों में पूर्णतया अभिव्यक्त किया गया है जिसकी एक झलक कालिदास ने अभिज्ञानशकुन्तल के आरम्भ में ही 'मृगानुसारिणं साक्षात् पश्यामीव पिनाकिनम्' में उपमा के द्वारा दे

---

[1] द्रष्टव्य शंकर बालकृष्ण दीक्षित-भारतीय ज्योतिःशास्त्र (पूना, १८९६ ई०) पृष्ठ १३६—१४०।

दिया है। मृगशिरा में वसन्त-सपात का समय कृत्तिकावाले समय से लगभग २००० वर्ष पूर्व अवश्य होगा, क्योंकि मृगशिरा से कृत्तिका तक पीछे हटने में उसे दो नक्षत्रों को पार करना होगा (९७२ × २ = १९४४)। अतः जिन मन्त्रों में मृगशिरा के वसन्त-सपात का उल्लेख किया गया है, उनका समय मोटे तौर से (२५०० + १९४४) ४५०० वि० पू० होना न्याय्य है। तिलक जी के अनुसार 'वसन्त-संपात' के मृगशीर्ष से भी आगे पुनर्वसु नक्षत्र में होने का भी यथेष्ट संकेत ऋग्वेद में मिलते हैं।[1]

अदिति के देवमाता कहे जाने का भी यही रहस्य है। पुनर्वसु नक्षत्र की देवता अदिति हैं। अतः अदिति को देवजननी कहने का स्वारस्य यही है कि पुनर्वसु नक्षत्र में वसन्त-सपात होने से वर्ष तथा देवयान का आरम्भ इसी काल से माना जाता था। पुनर्वसु ही उस समय नक्षत्रमाला में आदि नक्षत्र था। पुनर्वसु में सूर्य के संक्रमण होते ही देवताओं के पवित्र काल (उत्तरायण—देवयान) का आरम्भ होता था। यह काल दो नक्षत्र आगे हटकर होने के कारण मृगशिरावाले समय से लगभग २००० वर्ष अवश्य पहले होगा अर्थात् तिलकजी के अनुसार यही अदिति-युग भारतीय संस्कृति का सबसे प्राचीन युग है। यह युग ६०००–४००० वि० पू० तक माना जा सकता है। इस काल की स्मृति किसी भी अन्य आर्य-संस्कृति में उपलब्ध नहीं होती। न तो ग्रीक लोगों की ही सभ्यता में, न पारसियों के धर्म ग्रन्थों में इस सुदूर-अतीत की झलक दीख पड़ती है। डाक्टर याकोबी इतना दूर जाना

---

१ द्रष्टव्य-तिलकजी का 'ओरायन' नामक ग्रन्थ।

२ दस्रो यमोऽनलो ब्रह्मा चन्द्रोरुद्रोऽदितिर्गुरु ।......
समानिदग्धदेवता. ॥

—लघुनग्रह श्लोक ६१–६३

उचित नहीं मानते। उन्होंने ग्रह्यसूत्रों में उल्लिखित ध्रुवदर्शन के आधार पर स्वतन्त्र रूप से वेदों का समय विक्रमपूर्व चतुर्थ सहस्राब्दी माना है।[१]

इस प्रकार लोकमान्य ने समग्र वैदिककाल को चार युगों में विभक्त किया है:—

(१) अदिति-काल (६०००–४००० वि० पू०)—इस सुदूर प्राचीनकाल में उपास्य देवताओं के नाम, गुण तथा मुख्य चरित के वर्णन करनेवाले निविदों (याग-सम्बन्धी विधिवाक्यों) की रचना कुछ गद्य में और कुछ पद्य में की गई तथा अनुष्ठान के अवसर पर उनका प्रयोग किया जाता था।

(२) मृगशिरा काल (लगभग ४०००–२५०० वि० पू०) आर्य-सभ्यता के इतिहास में नितान्त महत्त्वशाली युग यही था जब ऋग्वेद के अधिकाश मन्त्रों का निर्माण किया गया। रचना की दृष्टि से यह युग विशेषतः क्रियाशील था।

(३) कृत्तिकाकाल (लगभग २५००–१४०० वि० पू०) इस काल में तैत्तिरीय सहिता तथा शतपथ आदि अनेक प्राचीन ब्राह्मणों का निर्माण सम्पन्न हुआ। 'वेदाङ्ग ज्योतिष' की रचना इस युग के अन्तिम भाग में की गई क्योंकि इसमें सूर्य और चन्द्रमा के श्रविष्ठा के आदि में उत्तर ओर घूम जाने जा वर्णन मिलता है[२] और यह घटना १४०० के आसपास गणित के आधार पर अगीकृत की गई है।

---

१ इनके मत के लिए द्रष्टव्य डा० विन्टरनित्स—हिस्टरी आफ इंडियन लिटरेचर, प्रथम भाग, पृष्ठ २९६—२९७।

२ प्रपद्येते श्रविष्ठादौ सूर्याचन्द्रमसावुदक्।
सार्पार्धे दक्षिणार्कस्तु माघ-श्रावणयो सदा ।६।
—ऋग्वेद ज्यो०

इसकी मीमासा के लिए द्रष्टव्य गीतारहस्य पृ० ५८६, वैद्य-'हिस्ट्री आफ वैदिक लिटरेचर' भाग १ पृ० ३५—३७

(४) अन्तिमकाल (१४००—५०० वि० पू०) एक हजार वर्षों के अन्दर श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, दर्शन सूत्रों की रचना हुई और बुद्धधर्म का उदय वैदिक धर्म की प्रतिक्रिया के रूप में इसके अन्तिम भाग में हुआ।

शिलालेख से पुष्टि

नवीन अन्वेषणों से इस काल की पुष्टि भी हो रही है। सन् १९०७ ई० में डाक्टर ह्यूगो विन्कलर ने एशिया माइनर (वर्तमान टर्की) के 'बोघाज-कोइ' नामक स्थान में खुदाई कर एक प्राचीन शिलालेख की प्राप्ति की। यह हमारे विषय के समर्थन में एक नितान्त महत्त्वपूर्ण प्रमाण माना जाता है। पश्चिमी एशिया के इस खण्ड में कभी दो प्राचीन जातियों का निवास था——एक का नाम था 'हित्तिति' और दूसरे का 'मितानि'। ईंटों पर खुदे इन लेखों से पता चलता है कि इन दोनों जातियों के राजाओं ने अपने पारस्परिक कलह के निवारण के लिए आपस में सन्धि की जिसमें सन्धि के संरक्षक रूप में दोनों जातियों के देवताओं की अभ्यर्थना की गई है। इन सरक्षक देवों की सूची में अनेक बाबुल देशीय तथा हित्तिति जाति के देवताओं के अतिरिक्त मितावि जाति के देवों में मित्र, वरुण, इन्द्र तथा नासत्यौ (आश्विन्) का नाम उपलब्ध होता है। मितानि नरेश का नाम 'मत्तिउज़ा' था और हित्तिति राजा की विलक्षण सञ्ज्ञा थी 'सुब्बि-लुलिउमा'। दोनों में कभी घनघोर युद्ध हुआ था जिसके विराम के अवसर पर मितानि नरेश ने अपने शत्रु राजा की पुत्री के साथ विवाह कर अपनी नवीन मैत्री के ऊपर मानो मुहर लगा दी। इसी समय की पूर्वोक्त सन्धि है जिसमें चार वैदिक देवताओं के नाम मिलते हैं। ये लेख १४०० वि० पू० के हैं। अब प्रश्न है कि मितानि जाति के देवताओं में वरुण इन्द्र आदि देवों का नाम क्यों कर सम्मिलित किया गया है? उत्तर में यूरोपीय विद्वानों ने विलक्षण

कल्पनाओं की लड़ी लगा दी हैं। इन प्रश्नों का न्याय्य उत्तर यही है कि मितानि जाति भारतीय वैदिक आर्यों की एक शाखा थी जो भारत से पश्चिमी एशिया में आकर बस गई थी या वैदिक धर्म को मानने-वाली एक आर्य जाति थी। पश्चिमी एशिया तथा भारत का परस्पर सम्बन्ध उस प्राचीन काल में अवश्यमेव ऐतिहासिक प्रमाणों पर सिद्ध किया जा सकता है। वरुण, मित्र आदि चारों देवताओं का जिस प्रकार एक साथ निर्देश किया गया है उससे इनके 'वैदिक देवता' होने में तनिक भी सन्देह नहीं है। 'इन्द्र' को तो पाश्चात्य विद्वान् भी आर्यावर्त में उद्भावित, आर्यों का प्रधान सहायक, देवता मानते हैं।

इस शिलालेख का समय १४०० विक्रमी पूर्व है। इसका अर्थ यह है कि इस समय से बहुत पहिले आर्यों ने आर्यावर्त में अपने वैदिक धर्म तथा वैदिक देवताओं की कल्पना पूर्ण कर रखी थी। आर्यों की कोई शाखा पश्चिमी एशिया में भारतवर्ष से आकर बस गई और वहीं पर उन्होंने अपने देवता तथा धर्म का प्रचुर प्रचार किया। बहुत सम्भव है कि वैदिक देवताओं को मान्य तथा पूज्य मानने वाली यह मितानी जाति भी वैदिक आर्यों की किसी शाखा के अन्तर्भुक्त हो। इस प्रकार आज कल पाश्चात्य विद्वान् वेदों का प्राचीनतम काल विक्रमपूर्व २०००–२५०० तक मानने लगे हैं, परन्तु वेदों में उल्लिखित ज्योतिष सम्बन्धी तथ्यों की युक्तियुक्तता तथा उसके आधार पर निर्णीत काल गणना में अब विद्वानों को भी विश्वास होने लगा है। अतः तिलक जी के द्वारा निर्दिष्ट सिद्धान्त को ही हम इस विषय में मान्य तथा प्रामाणिक मानते हैं।

भूगर्भ-सम्बन्धी वैदिक तथ्य—

ऋग्वेद में भूगोल तथा भूगर्भ सम्बन्धी अनेक ऐसी घटनाओं का वर्णन है जिसके आधार पर ऋग्वेद के समय का निरूपण किया जा

सकता है। तत्कालीन युग में सिन्धु नदी के किनारे आर्यों के यज्ञ-विधान विशेष रूप से होते थे। इस नदी के विषय में ऋग्वेद का कथन है कि नदियों में पवित्र सरस्वती नदी ऊचे गिरि-शृङ्गों से निकल कर समुद्र में गिरती है—

एकाचेतत् सरस्वती नदीनाम्,
शुचिर्यती गिरिभ्य आ समुद्रात्।

ऋग्वेद ७।९५।२

एक दूसरे मंत्र में (३।३३।२) सरस्वती और शुतुद्रि नदियों के गरजते हुए समुद्र में गिरने का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि आजकल जहाँ राजपूताना की मरुभूमि है वहाँ प्राचीन काल में एक विशाल समुद्र था और इसी समुद्र में सरस्वती तथा शुतुद्रि नदियाँ हिमालय से बहकर गिरती थी। जान पड़ता है कि राजपूताना समुद्र के गर्भ में कोई भयंकर भूकम्प-सम्बन्धी विप्लव हुआ तथा इसी के फलस्वरूप एक विस्तृत भूखण्ड ऊपर निकल आया जिससे जो सरस्वती वस्तुतः समुद्र (राजपूताना सागर) में ही गिरती थी वह अब मरुभूमि के सैकत राशि में विलीन हो गई। ताण्ड्य ब्राह्मण (२५।१०।६) से स्पष्ट है कि सरस्वती विनशन में लुप्त होकर प्लक्ष-प्रस्रवण में पुनः आविर्भूत होती थी। इसका तात्पर्य यह है कि सरस्वती समुद्र तक पहुँचने के लिये भरसक प्रयत्न करती थी परन्तु राजपूताना के बढ़ते हुए मरुस्थल में उसे अपनी जीवन-लीला समाप्त करनी पड़ी।

ऋग्वेद के अनुशीलन से आर्यों के निवास-स्थान सप्तसिन्धु प्रदेश के चारों ओर चार समुद्रों के अस्तित्व का पता चलता है। ऋग्वेद के एक मन्त्र (१०।१२६।५) में सप्तसिन्धु के पूर्व तथा पश्चिम में दो समुद्रों के वर्तमान होने का उल्लेख है जिनमें पश्चिम समुद्र तो आज

भी वर्तमान है, परन्तु पूर्वी समुद्र का पता नहीं है। ऋग्वेद के दो मन्त्रों में चतुः समुद्रों का निःसन्दिग्ध निर्देश है। प्रथम मन्त्र में—

राय: समुद्राँश्चतुरोऽस्मभ्यं सोम विश्वतः।
आ पवस्व सहस्रिणः॥ (ऋ० ९।३३।६)

सोम से प्रार्थना है कि वह धन-सम्बन्धी चारों समुद्रों (अर्थात् चारों समुद्रों से युक्त भूखण्ड के आधिपत्य) को चारो दिशाओ से हमारे पास लावे तथा असीम अभिलाषाओं को भी साथ लावे। दूसरे मन्त्र (१०।४७।२) 'स्वायुधं स्ववस सुनीथ चतु' समुद्र धरुण रयीणाम्' में भी स्पष्ट ही 'चतु'समुद्र' का उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि ऋग्वेदीय युग में आर्यप्रदेश के चारों ओर चार समुद्र लहरा रहे थे। इनमें पूरबी समुद्र आज के उत्तर प्रदेश तथा विहार में था, दक्षिण समुद्र राजपुताना की मरुभूमि में था। पश्चिम समुद्र आज भी वर्तमान है। उत्तरी समुद्र की स्थिति उत्तर दिशा में थी, क्योंकि भूगर्भ-वेत्ताओं के अनुसार एशिया के उत्तर में बल्ख और फारस से उत्तर में वर्तमान विशाल सागर की सत्ता थी जिसे वे 'एशिआई भूमध्यसागर' के नाम से पुकारते है। यह उत्तर में आर्कटिक महासागर से सम्बद्ध था और आजकल के 'कृष्ण सागर', काश्यप सागर, अराल सागर तथा बल्काश ह्रद इसी के अवशिष्ट रूप माने जाते है।

उन दिनों समस्त गंगा-प्रदेश, हिमालय की पाद-भूमि तथा आसाम का विस्तृत पर्वतीय प्रदेश समुद्र के गर्भ में थे। कालान्तर में गंगा नदी हिमालय की गगनचुम्बी पर्वत श्रेणी से निकलकर सामान्य नदी के रूप में बहती हुई हरद्वार के समीप ही 'पूर्व समुद्र' में गिरने लगी। यही कारण है कि ऋग्वेद के प्रसिद्ध नदी सूक्त (१०।७५) में गंगा का बहुत ही संक्षिप्त परिचय मिलता है। उस समय पजाब के दक्षिण तथा पूर्व में समुद्र था जिसके कारण दक्षिण भारत एक पृथक् पृथ्वी-खण्ड-सा दीखता था। पजाब में उन दिनों शीत का प्रावल्य

था। इसलिये ऋग्वेद में वर्ष का नाम 'हिम' मिलता है (ऋग्वेद १।६४।१४; २।१।११,[1] ६।१०।७[2])। भूतत्वज्ञों ने सिद्ध किया है कि भूमि और जल के ये विभिन्न भाग तथा पंजाब में शीतकाल का प्राबल्य प्लीस्टोसिन काल अथवा पूर्व-प्लीस्टोसिन काल की बात है। यह काल ईसा से पचास हजार वर्ष से लेकर पचीस हजार वर्ष तक निर्धारित किया गया है। भूतत्त्वज्ञो ने यह भी स्वीकार किया है कि इस काल के अनन्तर राजपूताने के समुद्र गर्भ के ऊपर निकल आने के साथ ही हिमालय की नदियों के द्वारा आहृत मृत्तिका से गंगा प्रदेश की समतल भूमि बन गई। पंजाब के जलवायु में उष्णता आ गई। पंजाब के आसपास से राजपूताना समुद्र तथा हिमसंहितिओं (ग्लेशियर) के तिरोहित होने से तथा वृष्टि के अभाव के कारण ही सरस्वती का पुण्य प्रवाह सूक्ष्म रूप धारण करता हुआ राजपूताने की बालुका-राशि में विलीन हो गया।

ऊपर निर्दिष्ट भौगोलिक तथा भूगर्भ-सम्बन्धी घटनाओं के आधार पर ऋग्वेद की रचना तथा तत्कालीन सभ्यता के आविर्भाव का समय कम से कम ईसा से पचीस हजार वर्ष पूर्व माना जाना चाहिये।[3] पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में ऋग्वेद के ऊपर दिये गये उल्लेख वैज्ञानिक न होकर भावुक ऋषियों की कल्पनामात्र से प्रसूत है। उन्हे आधार मानकर वैज्ञानिक अनुसन्धान की बात उन्हे उचित प्रतीत नहीं होती।

ऋग्वेद के निर्माणकाल के विषय में ये ही प्रधान मत है। इतना तो अब निश्चित-प्राय है कि वेदों का समय अब उतना अर्वाचीन नहीं है जितना पहिले माना जाता था और पश्चिमी विद्वान लोग भी

१—त्वमिडा 'शतहिमासि' दक्षसे त्वं वृत्रहा वसुपते सरस्वती।

२—वि द्वेषांसीनुहि वर्धयेळां मदेम 'शतहिमाः' सुवीराः।

३—डा० अविनाशचन्द्र दास का 'ऋग्वेदिक इण्डिया' नामक अंग्रेजी ग्रन्थ, कलकत्ता, १९२२।

अब उनका समय आज से पांच हजार वर्ष पूर्व मानने लगे हैं। परन्तु वेदों का काल आज से दस सहस्र वर्ष पूर्व मानने में दोनों पक्षों का सामञ्जस्य पर्याप्तरूपेण किया जा सकता है। और वस्तुतः यही वेद के निर्माण का काल है।

वैदिक साहित्य

[२]

इतिहास खण्ड

(१) संहिता

(२) ब्राह्मण

(३) आरण्यक

(४) उपनिषत्

(५) वेदाङ्ग

(१)

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दो ह जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥

—पुरुषसूक्त १०।६०।६

(२)

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन् ।
सामानि यस्य लोमानि अथर्वाङ्गिरसो मुखम् ।
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥

—अथर्व १०।७।२०

षष्ठ परिच्छेद

संहिता-साहित्य

वेद का परिचय

वेदों के स्वरूप-निर्देश के अनन्तर उनके विस्तृत वाङ्मय का सक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है। वेद शब्द का प्रयोग मन्त्र तथा ब्राह्मण के लिए प्रयुक्त किया जाता है। आपस्तम्ब ने अपने 'यज्ञ परिभाषा' में वेद का लक्षण दिया है—मन्त्र ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् (आप० परिभाषा ३१)। मननात् मन्त्राः। जिनके द्वारा यज्ञ यागों का अनुष्ठान निष्पन्न होता हैं तथा उनमें उल्लिखित देवताओं का स्तुति-विधान किया जाता है उन्हें 'मन्त्र' नाम से पुकारते हैं। ब्राह्मण का अभिप्राय ग्रन्थ-विशेष है। 'ब्रह्मन्' के विविध अर्थों में से एक अर्थ है यज्ञ। बृह् वर्धने धातु से निष्पन्न इस शब्द का अर्थ है वर्धन, विस्तार वितान या यज्ञ। अतः यज्ञ की विविध क्रियाओं के बतलाने वाले ग्रन्थों की सामान्य संज्ञा 'ब्राह्मण' है। ब्राह्मण के भी तीन भाग होते हैं—(१) ब्राह्मण (२) आरण्यक तथा (३) उपनिषद्। अतः वैदिक वाङ्मय से परिचय पाने के लिए श्रुति के इन विभिन्न भागों से सम्बद्ध ग्रन्थावली का क्रमशः वर्णन नितान्त उपयुक्त है।

वेद तो वस्तुतः एक ही प्रकार का है, परन्तु स्वरूप-भेद के कारण तीन प्रकार का बतलाया जाता है—ऋक्, यजुः और साम। जिन मन्त्रों में अर्थवशात् पादों की व्यवस्था है उन छन्दोबद्ध मन्त्रों का नाम है ऋचा या ऋक् (तेषामृग् यत्रार्थ-वशेन पाद-व्यवस्था—जै०

सू० २।१।३५)। जिन ऋचाओं पर जो गायन गाये जाते हैं, उन गीतिरूप मन्त्रों को साम कहते हैं (गीतिषु सामाख्या—जै० सू० २।१।३६)। जो मन्त्र ऋचाओं तथा सामों से व्यतिरिक्त हैं उन्हें यजुष् के नाम से पुकारते हैं (शेषे यजुः शब्द—जै० सू० २।१।३७)। इनमें विशेषतः यागानुष्ठान के लिए विनियोग वाक्यों का समावेश किया जाता है। इस प्रकार मन्त्रों के त्रिविध होने के कारण वेदों को 'त्रयी' के नाम से अभिहित करते हैं।

वेद चार प्रकार का भी है। मन्त्रों के समूह का नाम है 'संहिता' यज्ञ के अनुष्ठान को ध्यान में रखकर भिन्न-भिन्न ऋत्विजों के उपयोग के लिए इन मन्त्र-संहिताओं का संकलन किया गया है। इस संकलन का कार्य स्वयं वेदव्यास जी ने किया है[1]। कृष्ण द्वैपायन को वेदों के इसी व्यास—पृथक् करण—करने के कारण 'वेद व्यास' की संज्ञा प्राप्त हुई है[2]। मन्त्र संहितायें चार हैं—ऋक् संहिता, यजु. संहिता, सामसंहिता तथा अथर्वसंहिता।

ऋग्वेद तथा अथर्ववेद की रचना का सम्बन्ध याज्ञिक अनुष्ठानों के साथ साक्षात् रूप से नहीं था, परन्तु अन्य दो संहिताओं—सामसंहिता तथा यजुः संहिता का निर्माण यज्ञ-याग के विधानों को ही लक्ष्य में रखकर किया गया था। यज्ञ-कर्म के लिए उपयुक्त चार ऋत्विजों की आवश्यकता होती है। होत्र कर्म के सम्पादन का श्रेय 'होता' नामक ऋत्विज् को है जो ऋग्वेद की ऋचाओं का पाठ कर उपयुक्त देवताओं को यज्ञ में आह्वान करने का कार्य करता है। वह 'याज्या' तथा 'अनुवाक्या' ऋचाओं का पाठ करता है जिसका पारि-

---

१ वेदं तावदेकं सन्तम् अतिमहत्त्वात् दुरध्येयमनेकशाखा-भेदेन समाम्नासिषुः। सुखग्रहणाय व्यासेन समाम्नातवन्त —दुर्गाचार्य निरुक्तवृत्ति १।२०

२ वेदान् विव्यास यस्मात् स वेदव्यास इति स्मृत।

—महाभारत

भाषिक नाम है—शस्त्र (अप्रगीत-मन्त्र-साध्या स्तुतिः शस्त्रम्)। (२) औद्गात्र कर्म का सम्पादन 'उद्गाता' नामक ऋत्विज् का विशिष्ट कार्य है जो तत्तत् देवताओं की स्तुति में साम का गायन करता है जिसका पारिभाषिक नाम स्तोत्र है। उद्गाता का सम्बन्ध सामवेद से है। उद्गाता के लिए आवश्यक ऋचाओं का ही संग्रह सामवेद की संहिता में है। जिन ऋचाओं के ऊपर साम का गायन होता है उनका पारिभाषिक नाम 'योनि' है और उद्गाता के ही विशिष्ट कार्य की सिद्धि के लिए साम-संहिता का संकलन किया गया था। (३) अध्वर्यु ही यज्ञ के मुख्य कर्मों का निष्पादक प्रधान ऋत्विज् होता है और उसी के विशिष्ट (आध्वर्यव) कर्म के लिए ही यजुर्वेद की संहिताएं भिन्न भिन्न शाखाओं में संकलित की गई हैं। अध्वर्यु गद्यात्मक मन्त्रों अर्थात् यजुषों का उपांशु रूप से उच्चारण करता हुआ अपने विशिष्ट कार्यों का सम्पादन करता है। (४) 'ब्रह्मा' नामक ऋत्विज् का कार्य यज्ञ की बाहरी विघ्नों से रक्षा, स्वरों में सम्भाव्य त्रुटियों का मार्जन तथा यज्ञीय सूक्ष्म अनुष्ठानों में उत्पन्न होनेवाले नाना प्रकार के दोषों का दूरीकरण होता है। इसीलिए ब्रह्मा यज्ञ का अध्यक्ष होता है जिसका कार्य यागीय अनुष्ठानों का पूर्ण निरीक्षण तथा त्रुटि-मार्जन होता है। इसीलिए सर्वत्र ब्रह्मा का गौरव डके की चोट उद्घोषित किया गया है। छान्दोग्य में ब्रह्मा यज्ञ के लिए भिषज की पदवी से विभूषित किया गया है। (भेषज-कृतो ह वा एष यज्ञो यत्रैवंविद् ब्रह्मा भवति; छान्दोग्य ४।१७।८) यज्ञ-निरीक्षण का प्रधान उत्तरदायित्व सँभालने वाला ब्रह्मा वेदत्रयी का ज्ञाता होता था; उसका अपना निजी कोई वेद नहीं था और सम्भवतः अवान्तर युग में ब्रह्मा का सम्बन्ध अथर्ववेद के साथ स्थापित किया गया; ऐसी सम्मति पाश्चात्य विद्वानों की है। जिस किसी युग में इस सम्बन्ध-विभाग का उदय हुआ हो, परन्तु आज पूर्वनिर्दिष्ट

निश्चित सी नहीं है। औसत दर्जे से पाँच मन्त्रों का एक वर्ग होता है, परन्तु एक मन्त्र से लेकर नव मन्त्रों तक के वर्ग मिलते हैं। इस विषमता के कारण का पता नहीं चलता। समस्त वर्गों की संख्या दो सहस्र छः है—२००६ वर्ग।

(२) मंडल क्रम—दूसरा विभाग अधिक महत्त्वशाली, ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक माना जाता है। ऋग्वेद १० मण्डलों में विभक्त है। इसी कारण ऋग्वेद 'दशतयी' के नाम से निरुक्तादि ग्रन्थों में प्रसिद्ध है। प्रत्येक मण्डल में हैं अनेक अनुवाक, अनुवाक के भीतर हैं सूक्त और सूक्तों के अन्तर्गत हैं मन्त्र या ऋचायें। कात्यायन ने अपने 'सर्वानुक्रमणी' में इन समस्त अंशों की सख्याओं को गिनकर बड़े परिश्रम के साथ एकत्र प्रस्तुत किया है। वेदों की विशुद्धता बनाये रखने के लिए प्राचीन ऋषिओं ने ऋचाओं को कौन कहे? अक्षरों तक को गिन रखा है। किस की शक्ति है कि कोई नया, मन्त्र इस सहिता में रखने का साहस करे। ऋग्वेद के दसों मण्डल के अनुवाक हैं पचासी, ८५। सूक्त हैं एक हजार सत्तरह १०१७ जिनकी मण्डलानुसार क्रमश. व्यवस्था यों हैं = १९१ + ४३ + ६२ + ५८ + ८७ + ७५ + १०४ + ९२ + ११४ + १९१। इन सूक्तों के अतिरिक्त ११ सूक्त 'वालखिल्य' के नाम से विख्यात हैं। न तो इनका पदपाठ मिलता है और न इनके अक्षरों की गणना ही की जाती है। अष्टम के मुख्य सूक्त ९२ ही हैं, परन्तु इन खिलों को जोड़कर उनकी संख्या १०३ होती है। खिलों को पढ़ने का नियम है, परन्तु न तो इनका पदपाठ ही उपलब्ध होता है और न अक्षरगणना में ही इनका समावेश होता है। इनके ठीक ठीक स्वरूप का पता नहीं चलता। इनका स्थान अष्टम मण्डल के बीच में सूक्त ४९ से लेकर सूक्त ५९ तक है तथा मन्त्रों की संख्या ठीक ८० है। 'खिल' का शब्दार्थ है परिशिष्ट या पीछे जोड़े गए मन्त्र। इन सूक्तों की ऋचाओं की सख्या है—१०५८०½ अर्थात् प्रत्येक सूक्त में १० मन्त्रों का

औसत है।[1] ऋचाओं के शब्दों की संख्या १ लाख, ५३ हजार, ८ सौ २६ (१५३८२६ शब्द)[2] तथा शब्दों के अक्षरों की संख्या चार लाख बत्तीस हजार है (४३२०००)[3] । अर्थात् मोटे तौर पर प्रत्येक मन्त्र में पन्द्रह शब्द हैं तथा प्रत्येक शब्द में तीन अक्षर पाये जाते हैं। यह गणना सर्वानुक्रमणी के आधार पर है।

ऋग्वेदीय ऋचाओं की गणना—

ऋग्वेद में ऋड् मन्त्रों की गणना भी एक विषम समस्या है जिसका समाधान प्राचीन तथा अर्वाचीन विद्वानों ने भिन्न भिन्न रूप से किया है। प्राचीन आचार्यों की गणना का वैषम्य शाखा-भेद के कारण ही प्रतीत होता है, परन्तु अनेक अर्वाचीन विद्वानों की गणना भ्रम-जनित है। इस भ्रम के उदय का प्रधान कारण यह है कि ऋग्वेद में कुछ ऐसी ऋचायें है जो अध्ययन-काल में चतुष्पदा मानी जाती हैं, परन्तु प्रयोगकाल में वे द्विपदा ही गिनी जाती है। ऋक्सर्वानुक्रमणी में इनका उल्लेख इस प्रकार है—द्विद्विपदास्त्वृचः समामनन्ति। इस सूत्र की व्याख्या में षड्गुरुशिष्य का स्पष्ट कथन है—ऋचोऽध्ययने तु अध्येतारो द्वे द्वे द्विपदे एकैकामृचं कृत्वा समामनन्ति अधीयीरन्। समामनन्तीति वचनात् शंसनादौ न भवन्ति। तेन 'पश्वा न तायुम्' (ऋ० १।६५) इति शसने दशर्चत्वम्। आसामध्ययने तु पञ्चत्वं

---

१ ऋचां दश सहस्राणि ऋचां पञ्च शतानि च
ऋचामशीतिः पादश्च पारणं संप्रकीर्तितम् ॥ —अनुवाकानुक्रमणी १ श्लोक ४३

२ शाकल्यदृष्टे पदलक्षमेकं सार्धं च वेदे त्रिसहस्रयुक्तम्
शतानि चाष्टौ दशकद्वयं च पदानि षट् चेति हि चर्चितानि। अनु० ४५

३ स ऋचो व्यौहत्। द्वादश बृहतीसहस्राणि। एतावत्यो ऋचो या प्रजापतिसृष्टाः। शत० ब्रा० १०।४।२।२३

बृहती छन्द ३६ अक्षरों का होता है। अतः १२०००×३६=४३२०००।
चत्वारि शतसहस्राणि द्वात्रिंशच्चाक्षर-सहस्राणि ॥ —अनु० का अन्त।

भवति ॥ आशय है कि ये ऋचायें प्रयोगकाल में तो द्विपदा ही व्यवहृत होती हैं, परन्तु अध्ययन-काल में अध्येता लोग दो द्विपदाओं को एक (चतुष्पदा) ऋचा बनाकर पढ़ते हैं। सायण भाष्य (११६५) तथा चरण-व्यूह के टीकाकार महिदास ने पूर्वोक्त कथन की पुष्टि की है। ऐसी ऋचायें 'नैमित्तिक द्विपदा' कही जाती हैं तथा वे सख्या में १४० हैं। ऋग्वेद में 'नित्य द्विपदा' ऋचायें भी हैं जो संख्या में केवल १७ (सत्रह) ही हैं तथा कभी भी अपने द्विपदा रूप से वञ्चित नहीं होती। इन्हीं नित्य-नैमित्तिक द्विपदाओं के ठीक रूप न जानने के कारण मैक्समूलर, मैक्डानल्ड आदि अनेक वेदज्ञों की गणनायें भ्रान्त हो गई हैं। सारांश यह है कि ये नैमित्तिक द्विपदायें प्रयोगकाल में तो १४० रहतीं हैं, परन्तु अध्ययन-काल में चतुष्पदा हो जाने के कारण सख्या में ठीक आधा हो जाती हैं। उक्त गड़बड़ी का यही कारण है। कहीं कहीं वालखिल्य मन्त्रों (८० मन्त्र) को ऋग्वेद के मन्त्रों में एक साथ नहीं गिनते। इससे भी पार्थक्य पड़ता है। निष्कर्ष यह है कात्यायन-कृत 'ऋक्सर्वानुक्रमणी' के अनुसार वालखिल्य तथा नैमित्तिक द्विपदाओं के साथ ऋग्वेद की पूर्ण ऋक्सख्या १०५५२ (दस सहस्र पाँच सौ बावन) है। यदि अध्ययन-काल में १४० नैमित्तिक द्विपदाओं को चतुष्पदा बना कर गिना जायगा तो उक्त सख्या में सत्तर मन्त्रों की कमी होगी अर्थात् ऋक्संख्या १०४८२ (दस सहस्र चार सौ बयासी) होगी। भिन्न २ दशाओं में सत्तर का अन्तर होने पर भी पद, अक्षर, मात्रा आदि की गणना में कोई भी अन्तर नहीं है। ऊपर ऋचाओं की जो सख्या १०५८०¼ बताई गई है वह लौगाक्षिस्मृति के मन्तव्यानुसार समस्त शाखाओं में उपलब्ध ऋचाओं को लक्ष्य कर हैं।[1]

१—इस विषय के मार्मिक विवेचन के लिए देखिए युधिष्ठिर मीमांसक—ऋग्वेद की ऋक् संख्या (काशी, स० २००६) पृ० १६–१७।

वंशमण्डल

पाश्चात्य विद्वानों का कहना है कि ऋग्वेद के मण्डलों में प्राचीन तथा अर्वाचीन मन्त्रों का समुदाय संगृहीत किया गया है। द्वितीय से लेकर सप्तम मण्डल तक का भाग ऋग्वेद का केन्द्रीय अतएव अत्यन्त प्राचीन अंश है। इसमें प्रत्येक मण्डल का सम्बन्ध किसी विशिष्ट ऋषि या उसके वंशजों के साथ निश्चय रूप से उपलब्ध होता है। द्वितीय के ऋषि हैं गृत्समद, तृतीय के विश्वामित्र, चतुर्थ के वामदेव, पंचम के अत्रि, षष्ठ के भरद्वाज, सप्तम के वसिष्ठ। वंशविशेष के सम्बन्ध के कारण इन मण्डलों को अंग्रेजी में 'फ़ेमिली बुक' (वंशमण्डल) कहने की चाल है। अष्टम मण्डल के मन्त्रों के ऋषि कण्व तथा अङ्गिरा वंश के हैं। नवम मण्डल की एकता प्रतिपाद्य देवता की अभिन्नता के कारण है। इस मण्डल में समग्र मन्त्र 'सोम' देवता के विषय में हैं। वैदिक आर्यजन हिमालय प्रदेश में उत्पन्न होनेवाली सोमलता के रस को चुलाकर इष्ट देवताओं को भी समर्पण करते थे तथा प्रसाद रूप से स्वयं भी ग्रहण करते थे। सोमरस के पान से उत्पन्न आनन्दोल्लास का ललित वर्णन अनेक वैदिक सूक्तों का विषय है। सोम को ही 'पवमान' भी कहते हैं। अतः सोम-विषयक मन्त्रों के समुच्चय होने के कारण नवम मण्डल 'पवमान मण्डल' के नाम से अभिहित किया जाता है। अनुमान किया जाता है द्वितीय से लेकर अष्टम मण्डल के तैयार हो जाने पर तत्तत् ऋषियों के द्वारा दृष्ट सोमविषयक मन्त्रों का सग्रह अलग करके ग्रथ के अन्त में जोड़ दिया गया था। अनन्तर ग्रन्थ के आदि में तथा अन्त में एक एक मण्डल जोड़ दिये गए। इस प्रकार प्रथम मण्डल तथा दशम मण्डल अन्य मण्डलों की अपेक्षा अर्वाचीन है। दोनों मण्डलों के सूक्तों की समान संख्या (१९१ सू०) कुछ महत्त्व अवश्य रखती है। भाषा, छन्द तथा नवीन देवताओं तथा नवीन दार्शनिक तथ्यों की कल्पना के

कारण दशम मण्डल सब मण्डलों से पिछला और नवीन माना जाता है।

भारतीय दृष्टि से इन मण्डलों का संकलन तथा विभाजन एक ही व्यक्ति के द्वारा सम्पन्न माना जाता है। दशों मण्डलों के ऋषियों के विषय में कात्यायन ने अपनी 'सर्वानुक्रमणी' में लिखा है—

शतर्चिन आद्ये मण्डलेऽन्त्ये क्षुद्रसूक्तमहासूक्ता मध्यमेषु माध्यमाः।

प्रथम मण्डल के ऋषि 'शतर्चिन' (सौ ऋचा वाले) कहे जाते हैं, जिसका कारण षड्गुरुशिष्य की सम्मति में यह है कि इस मण्डल के प्रथम ऋषि विश्वामित्र-पुत्र मधुच्छन्दा के द्वारा दृष्ट ऋचायें संख्या में सौ से कुछ ही अधिक हैं। अतः छत्रिन्याय के अनुसार समस्त ऋषियों का समान अभिधान 'शतर्चिन' पड़ गया है।[1] दशम मण्डल के ऋषि 'क्षुद्रसूक्त' तथा 'महासूक्त' कहे जाते हैं। षड्गुरुशिष्य की विवेचना के अनुसार नासदासीय सूक्त (१०।१२९) से पहले के सूक्त महासूक्त तथा पीछे के क्षुद्रसूक्त माने जाते हैं। सूक्तदर्शी होने के कारण ऋषियों का भी नामकरण इन्हीं सूक्तों के कारण पड़ा है। द्वितीय से लेकर नवम मण्डल को मध्यस्थित होने के कारण तत्रत्य ऋषिगण माध्यम नाम से पुकारे जाते हैं।

ऋग्वेदीय शाखायें

यज्ञ की आवश्यकता को लक्ष्य में रखकर संकलित संहिताओं का पठन-पाठन अक्षुण्ण बनाये रखने की उदात्त अभिलाषा से व्यास जी ने अपने चार शिष्यों को इन्हें पढ़ाया। 'पैल' को ऋग्वेद, कवि 'जैमिनि' को साम, 'वैशम्पायन' को यजुः तथा दारुण 'सुमन्तु' मुनि को अथर्व

१—आद्यस्य ऋषे ऋक्शतदर्शनेन छत्रिन्यायेन शतर्चिन सर्वे। द्व्यधिकेऽपि शतोक्तिर्बाहुल्यात्।

—वेदार्थदीपिका पृ० ५९

का अध्ययन कराया[1]। इन मुनियों ने अपने गुरुमुख से अधीत संहिताओं का अपने शिष्य-प्रशिष्यों में खूब प्रचार किया जिससे यह वेद-कल्पतरु विविध शाखासम्पन्न बनकर विपुल विस्तार को धारण कर रहा है। इन शाखाओं में कहीं-कहीं उच्चारण के विषय में मतभेद था और कहीं-कहीं किन्हीं मन्त्रों को संहिता में ग्रहण करने के विषय में। शाखा के साथ 'चरण' शब्द भी सम्बद्ध है। आज कल दोनों का प्रयोग प्रायः समान अर्थ में ही किया जाता है। मालतीमाधव के टीकाकार जगद्धर के कथनानुसार 'चरण' का अर्थ है विशेष शाखा के अध्ययन करने वाले एकतापन्न मनुष्यों का समुदाय (चरण शब्दः शाखाविशेषाध्ययन-परैकतापन्न-जनसंघवाची)। इन शाखाओं का विस्तृत विवरण पुराणों तथा चरणव्यूह में किया गया है। शाखाओं की संख्या में भिन्न ग्रन्थों में महान् विपर्यय दृष्टिगोचर होता है। भाष्यकार पतञ्जलि ने ऋक् की २१ शाखाओं का, यजुर्वेद की १०० शाखाओं का, साम की १ हजार शाखाओं का तथा अथर्व की ९ शाखाओं का उल्लेख पस्पशाह्निक में किया है[2]। चरणव्यूह की गणना इससे भिन्न है। इस प्रकार ११३० शाखाओं में से अधिकांश शाखायें अध्ययन के अभाव से विस्मृति-गर्त में लीन हो गई हैं। केवल कतिपय इनी गिनी शाखायें ही आजकल उपलब्ध होती हैं।

सिद्धान्त तो यह है कि जितनी शाखायें होंगी उतनी ही होंगी संहितायें, उतने होंगे ब्राह्मण आरण्यक और उपनिषद्। श्रौत तथा

---

[1] तत्रर्ग्वेदधरः पैलः सामगो जैमिनिः कविः।
वैशम्पायन एवैको निष्णातो यजुषामुत।
अथर्वाङ्गिरसामासीत् सुमन्तुर्दारुणो मुनिः॥

—भागवत १।४।२१

[2] चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या बहुधा भिन्नाः। एकशतमध्वर्युशाखाः। सहस्रवर्त्मा सामवेदः। एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्। नवधाथर्वणो वेदः।

—पस्पशाह्निक

गृह्य सूत्र भी उतने ही होंगे। शाखा के अध्येतृगण अपने सब वैदिक ग्रन्थ पृथक् पृथक् रखते थे और अपना श्रौत कार्य अपने विशिष्ट श्रौतसूत्रों से सम्पादन किया करते थे तथा इस समय भी करते हैं। गृह्य सस्कारके विधान के लिये भी विशिष्ट गृह्यसूत्र की आवश्यकता थी और आज भी है। इस प्रकार प्रत्येक शाखा में सहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद, श्रौत तथा गृह्यसूत्र अपने विशिष्ट होने चाहिये। परन्तु दुःख का विषय है कि बहुतेरी शाखाओं के कुछ ही ग्रन्थ आज उपलब्ध हो रहे हैं। किसी शाखा की अपनी संहिता है, तो दूसरे का ब्राह्मण। किसी का अपना ब्राह्मण है तो दूसरे के सूत्र। तात्पर्य यह है कि ऐसी शाखायें नितान्त स्वल्प है जिनका समग्र अंश क्रमवद्ध रूप से उपलब्ध होता है। इस प्रकार आजकल अनेक शाखाओं के उच्छिन्न हो जाने से तथा वैदिक ग्रन्थों के लुप्त हो जाने से ऐसी दुरवस्था दीख पड़ रही है।

महाभाष्य के अनुसार ऋग्वेद की समस्त शाखायें २१ हैं जिनमें 'चरण व्यूह' के कथनानुसार ये ५ शाखायें मुख्य है।—(१) शाकल (२) वाष्कल (३) आश्वलायन (४) शाखायन (५) माण्डूकायन। ये सब सहितायें विन्ध्य के दक्षिण महाराष्ट्र देश में ही आजकल उपलब्ध होती है।

(१) शाकल—ऋग्वेद की आजकल प्रचलित सहिता शाकल शाखा की है। इसी का विशेष वर्णन इन पृष्ठों में किया गया है।

(२) वाष्कल शाखा की यद्यपि संहिता उपलब्ध नहीं होती तथापि इसकी विशिष्टताओं का वर्णन अनेक स्थलों पर मिलता है। शाकल शाखानुसार ऋग्वेद का अन्तिम मन्त्र है—"समानी व आकूति'" (१०।१९१।४) परन्तु वाष्कल संहिता के अनुसार "तच्छं-योरावृणीमहे" अन्तिम ऋचा है। मन्त्रों की सख्या भी कहीं अधिक है। शाकल में केवल १०१७ सूक्त है परन्तु वाष्कल में १०२५ हैं। इन

अधिक आठ सूक्तों में से एक तो 'संज्ञान सूक्त' है जो इस संहिता के अन्त में है तथा शेष सात सूक्त ११ वालखिल्य सूक्तों में से प्रथम सात हैं। फलतः वाष्कल संहिता के अष्टम मण्डल में शाकल की अपेक्षा ७ सूक्त अधिक हैं। अतः इस मण्डल के समस्त सूक्तों की संख्या ९९ है।[1] अनुवाकानुक्रमणी (श्लोक २१) से पता चलता है कि प्रथम मण्डल के मन्त्रों में शाकल्य क्रम से वाष्कल क्रम कुछ भिन्न है। इसीलिये वैदिकों में प्रवाद है कि जो मनुष्य किसी कार्य को अस्त-व्यस्त रूप से सम्पादित करता है उसे वाष्कल की संज्ञा दी जाती है।

(३) आश्वलायन—आश्वलायनों की संहिता तथा ब्राह्मणों का अस्तित्व किसी समय में अवश्य था क्योंकि कवीन्द्राचार्य (१७ वीं शताब्दी) की सूची में इन ग्रन्थों नामोल्लेख स्पष्टतः पाया जाता है। आज तो इस शाखा के केवल गृह्य तथा श्रौत-सूत्र ही उपलब्ध होते हैं।

(४) शांखायन—इसकी संहिता तो उपलब्ध नहीं होती परन्तु ब्राह्मण तथा आरण्यक प्रकाशित हैं। बहुतों की सम्मति में शांखायन तथा कौषीतकि शाखा एक ही हैं, परन्तु वस्तुतः दोनों भिन्न प्रतीत होती हैं।

(५) माण्डूकायन—इस शाखा की भी बहुत कुछ पुस्तकें पहिले उपलब्ध होती थीं परन्तु आजकल कोई भी नहीं मिलती।[2]

भाष्य-रचना

ऋग्वेद के ऊपर भाष्य लिखने की प्रवृत्ति प्राचीन काल में ही पाई

---

१. एतत् सहस्रं दशसप्त चैवाष्टावतो वाष्कलकेऽधिकानि।
तान् पारणे शाकले शैशिरीये वदन्ति शिष्टा न खिलेषु विप्राः॥
अनुवाकानुक्रमणी श्लोक ३६।

२. भगवद्दत्त—वैदिक वाङ्मय का इतिहास, प्रथम भाग पृ० ७७–१३०.

जाती है। यास्क ने निरुक्त में अनेक ऋग्वेदीय मन्त्रों के ऊपर विस्तृत व्याख्या लिखी है, परन्तु समग्र ग्रन्थ के ऊपर एक व्यवस्थित तथा क्रमबद्ध व्याख्या लिखने का प्रथम उपक्रम हमें मिलता है सप्तम शतक के आरम्भ में जब वलभी-निवासी भर्तृध्रुव के पुत्र (१) स्कन्द स्वामी ने अपनी लध्वक्षर व्याख्या लिखी। ये स्कन्दस्वामी शतपथ ब्राह्मण के व्याख्याकार हरिस्वामी के गुरु थे। यह शतपथ की व्याख्या वि० स० ६९५ (=६३८ ईस्वी) में लिखी गई और इसीलिए स्कन्दस्वामी का समय ६२० ईस्वी के आसपास माना जा सकता है। मिताक्षर स्कन्द-भाष्य केवल चार ही अष्टक तक लिखा गया था। अन्तिम चारों अष्टक का भाष्य (२) नारायण तथा (३) उद्गीथ (वनवासी, कर्णाटक प्रान्त के निवासी) ने लिखा[1]। माधवभट्ट तथा वेंकट माधव नामक दो अन्य भाष्यकारों ने ऋग्वेद के ऊपर अपने भाष्य लिखे। (४) माधव भट्ट का भाष्य बहुत दिनों तक विस्मृति के गर्भ में लीन था और इसीलिए निघण्टु भाष्य में देवराज यज्वा ने दोनों के व्यक्तित्व को मिश्रित कर डाला है। माधवभट्ट ने भाष्य लिखने से पहिले ११ अनुक्रमणियों की रचना की थी जिनमें नामानुक्रमणी और आख्यातानुक्रमणी मद्रास से प्रकाशित हो चुकी है।[2] (५) वेङ्कट माधव का भाष्य बहुत ही थोड़ा है। केवल टिप्पणमात्र को भाष्य की महनीय पदवी से विभूषित करना शब्द का दुरुपयोगमात्र है। सायणाचार्य ने तथा देवराज यज्वा ने इनके विशिष्ट अर्थों का उल्लेख अपने व्याख्या-ग्रन्थों में किया है। फलतः वेंकट का समय १०५० ई० से लेकर

१—यह भाष्य मद्रास विश्वविद्यालय तथा अनन्त शयन ग्रन्थमाला में केवल प्रथम अष्टक तक प्रकाशित हुआ है।

२—माधवभाष्य का प्रकाशन अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास से कुछ भाग का ही दो जिल्दों में हुआ है।

११५० ई० के भीतर अर्थात् १२ शतक के आरम्भ में माना जा सकता है।[1]

(६) आचार्य सायण चारों वेदों की संहितायें, ब्राह्मणों तथा आरण्यकों के ऊपर विशद, अर्थ-प्रतिपादक, भाष्य लिख कर वेद-मीमांसकों के ऊपर जो उपकार कियाहै उसका वर्णन करना असम्भव है। यदि सायण-भाष्य का आलोक हमें उपलब्ध नहीं होता, तो पूरा वैदिक वाङ्मय अन्धतमस में निमग्न रहता और उसका निगूढ़ रहस्य समझना एक दुःसम्भव व्यापार होता। सायणाचार्य विजय-नगर के महाराज बुक्क तथा हरिहर के अमात्य तथा सेनानी थे। बुक्क के प्रधानामात्य का कार्य इन्होंने १३६४ ई०—१३७८ ई० तक सोलह वर्षों तक निभाया। तदनन्तर हरिहर द्वितीय का मन्त्रिकार्य १३७९ ई०-१३८७ ई० (मृत्यु वर्ष) तक आठ वर्षों तक किया। वेद-भाष्यों के निर्माण का भी यही काल है चतुर्दश शतक का उत्तरार्ध। विजय-नगर के संस्थापक ज्येष्ठ भ्राता माधवाचार्य की प्रेरणा से ही यह महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हुआ था।[2] इसीलिए ये भाष्य 'माधवीय' के नाम से प्रख्यात[3] है। इनके भाष्य में दोषों का सद्भाव रहने पर भी हम बलपूर्वक कह सकते हैं कि "वैदिक भाषा तथा धर्म के सुदृढ़ गढ़ में प्रवेश करने के

१—प्रकाशक मोतीलाल बनारसी दास, काशी तथा सम्पादक डा० लक्ष्मण स्वरूप। यह संस्करण भाष्यों की तुलना के लिए बड़ा ही उपादेय है, क्योंकि इसमें समस्त ज्ञात भाष्यों का रुचिर संकलन है।

२—सायण के जीवन-चरित तथा ग्रन्थों के विशद अनुशीलन के निमित्त देखिए मेरा ग्रन्थ 'आचार्य सायण और माधव' (प्र० हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग)।

३—ऋग्वेद का सायण भाष्य सर्वप्रथम लण्डन से डा० मैक्समूलर (मोक्षमूलर भट्ट) ने सम्पादित कर निकाला था (१८४९–७५) तथा परिवर्धित द्वितीय सं० भी उन्हीं ने प्रकाशित किया (१८९०–९२)। आजकल सबसे सुन्दर, प्रामाणिक सर्वोत्तम संस्करण तिलक विद्यापीठ पूना का चार जिल्दों में है।

लिए हमारे पास एक ही विश्वासार्ह साधन है और वह है सायण के ये भाष्यग्रन्थ। हमारा तो निश्चित मत है कि वैदिक सम्प्रदाय के सच्चे ज्ञाता होने के कारण सायणाचार्य का वेद-भाष्य वास्तव में वेदार्थ की कुंजी है और वेद के दुर्गम दुर्ग में प्रवेश कराने के लिए यह विशाल सिंहद्वार है।

विषयविवेचन

ऋग्वेद धार्मिक स्तोत्रों की एक अत्यन्त विशाल राशि है जिसमें नाना देवताओं की भिन्न भिन्न ऋषियों ने बड़े ही सुन्दर तथा भावाभिव्यजक शब्दों में स्तुतियाँ की हैं तथा अपने अभीष्ट की सिद्धि के निमित्त प्रार्थनायें की है। पहिले बतलाया गया है कि द्वितीय मण्डल से लेकर सप्तम मण्डल तक एक ही विशिष्ट कुल के ऋषियों की प्रार्थनायें संगृहीत हैं। अष्टममण्डल में अधिकतर मन्त्र कण्व ऋषि से सम्बद्ध हैं तथा नवम मण्डल में (पवमान) सोम के विषय में भिन्न भिन्न ऋषिकुलों के द्वारा दृष्ट अर्पण-मन्त्रों का संग्रह है। ऋग्वेदीय देवताओं में तीन देवता अपने वैशिष्ट्य के कारण नितान्त प्रसिद्ध है। अग्नि के लिए सबसे अधिक ऋचायें कही गई हैं। इन्द्र विजयप्रदाता देवता होने के कारण सबसे अधिक ओजस्वी तथा वीर-रसमण्डित मन्त्रों के द्वारा सस्तुत है। प्राणिमात्र की हार्दिक भावनाओ को जानने वाला तथा तदनुसार प्राणियो को दण्ड तथा पारितोपिक देनेवाला वरुण कर्मफलदाता परमेश्वर के रूप में चित्रित किया गया है और सर्वोच्च नैतिक भावनाओं से स्निग्ध तथा उदात्तता मे मण्डित ऋचायें वरुण के विषय में उपलब्ध होती है। देवियों में उषा का स्थान अग्रगण्य है और सबसे अधिक कवित्वमण्डित प्रतिभाशाली सौन्दर्याभिव्यञ्जक ऋचायें उषा देवी के विषय में मिलती है। इनके अतिरिक्त जिन देवताओं की सस्तुति में ऋचायें दृष्ट हुई है उनमें प्रधान देवता है—सविता, पूषा, मित्र, विष्णु,

रुद्र, मरुत्, पर्जन्य, आदि। ऋग्वेदीय ऋचाओं का प्रयोग यज्ञ के अवसर पर होता था और सोमरस की आहुति के समय प्रयुक्त मन्त्रों का एकत्र संग्रह नवम मण्डल में किया गया मिलता है।

दशम मण्डल भाषा तथा विषय की दृष्टि से अन्य मण्डलों की अपेक्षा नूतन तथा अर्वाचीन माना जाता है। इस मण्डल के भाषागत वैशिष्ट्य—जैसे रेफ के स्थान में लकार का प्रयोग, पुल्लिंग द्विवचन प्रत्यय 'आ' की अपेक्षा 'औ' का अधिक प्रयोग, तुमर्थक प्रत्ययों में से अनेकों का निराकरण तथा अधिकतर 'तुम्' का प्रयोग—इसे ब्राह्मणग्रन्थों के समकालीन सिद्ध करने में समर्थ माने जाते हैं। विषय की नूतनता इसके अन्यमण्डल में भौतिक विषय से सम्बद्ध तथा आध्यात्मिक विचारधारा से संवलित अनेक सूक्त उपलब्ध होते हैं। भौतिक विषयों में श्राद्ध तथा विवाह का नाम अग्रगण्य है। ऋ० १०।८५ सूक्त में सूर्या के पाणिग्रहण के लिए अनेक देवों के रथपर चढ़कर अपनी योग्यता सिद्ध करने के लिए दौड़ लगाने का प्रसंग बड़ा ही कौतूहल-वर्धक है। 'सूर्या' से अभिप्राय उषा से ही है जिसका विवाह सोम के साथ होता है तथा आश्विन इस कार्य में घटक का कार्य करते हैं। यह सूक्त साहित्यिक दृष्टि से बड़ा ही सुन्दर तथा तत्कालीन सामाजिक दशा के ज्ञान के लिए अत्यन्त रोचक है। गृह्यसूत्र में इसी सूक्त के मन्त्रों का विनियोग तथा प्रयोग के विवा के समय किया जाता है। विवाह के भौतिक रूप की सिद्धि के साथ साथ उसके आध्यात्मिक रूप का सुन्दर निरूपण है। यह समग्र सूक्त मृदुल भावना से ओत-प्रोत। पत्नी को पति के साथ रहने तथा प्रजासमृद्धि के लिए उपदेश दिया गया है—

इह प्रियं प्रजया ते समृध्यतामस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि।
एना पत्या तन्वं सं सृजस्वाऽधा जिव्री विदथमा वदाथः॥
(ऋ० १०।८५।२७)

पतिगृह में आने पर पत्नी को मांगलिक, सौख्यदात्री तथा वीरप्रसविनी होने की प्रार्थना बड़ी ही भव्य तथा प्रभावोत्पादक है (१०।८५।४३)—

अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः ।
वीरसूर्देवकामा स्योना शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ॥

दशममण्डल में अनेक सूक्तों में शवसंस्कार से सम्बन्ध रखनेवाले मन्त्र मिलते हैं । प्रतीत होता है कि उस युग में शव को मिट्टी में गाड़ने की भी प्रथा कभी प्रचलित थी, यद्यपि सामान्य रीति से शवों के दाहसस्कार का ही प्रचलित वर्णन मिलता है । इन मन्त्रों के भाव कविता की दृष्टि से सरल, रोचक तथा आवर्जक हैं । शव के पृथ्वी में गाड़ने के अनेक मन्त्र १०।१८ सूक्त की १०।१३ ऋचाओं में मिलते हैं । शव के लिए पृथ्वी से फट जाने तथा शव की रक्षा करने की प्रार्थना कितनी सुन्दर है । इस प्रसग की उपमा भी बड़ी ही मनोहारिणी है—

माता पुत्रं यथा सिचाऽभ्येनं भूम ऊर्णुहि

[जिस प्रकार माता अपने पुत्र को वस्त्र से ढक देती है, उसी प्रकार हे भूमि, तुम भी इस शव को अपने से आच्छादित कर लो]

१०।१६ में अग्निदाह के अवसर पर प्रयुक्त मन्त्रों का वर्णन है (१ से लेकर ६ मन्त्र तक)। इस अवसर पर आर्यों के परलोक-सम्बन्धिनी धारणाओं के ज्ञान के लिए सूक्त १४ तथा १५ का अनु-शीलन नितान्त उपादेय सिद्ध होगा । इन सूक्तों में यम के स्वरूप, उनके लोक तथा उसके मार्ग का वर्णन बड़े विस्तार से किया गया है । नाना प्रकार के पितरों का सकेत भी बड़ा मार्मिक है । शव से यह कहा गया है कि यमलोक में वह जाकर पितरों तथा यम से संगति प्राप्त करे । अपने पुण्यों के बलपर सुन्दर शरीर तथा भव्य निकेतन को प्राप्त करे:—

सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन्
हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि संगच्छस्व तन्वा सुवर्चाः ॥
(१०।१४।८)

इस प्रसंग में सबसे विलक्षण सूक्त है १०।३४ जिसमें कोई जूआ में हारने वाला जुआड़ी अपने भावों का वर्णन बड़ी ही कोमलता तथा यथार्थता के साथ करता है। यह सूक्त 'द्यूतकर का विषाद' नाम से सुप्रख्यात है। तत्कालीन समाज की झाँकी देने के कारण भी यह सूक्त विशेष महत्त्व रखता है। ऋग्वेद काल में जूआ खेलने की बुरी प्रथा थी। समाज में बहुधा प्रचलित होने पर भी यह निन्दनीय प्रथा थी, ग्राह्य नहीं। इस सूक्त में द्यूतकर के मुख से द्यूत की निन्दा बड़े मार्मिक ढंग से की गई है। पहिले वह अपने प्रलोभनों का वर्णन करता हुआ कह रहा है कि किस प्रकार द्यूत की गोटियों (अक्ष) का अक्ष-पटल पर गिरने का शब्द उसके हृदय को अपनी ओर खींच रहा है। द्यूतकर का अपना कोई भी मित्र साथ देने के लिए तैयार नहीं है। यहाँ तक कि उसकी प्रियतमा भी उससे घृणा करती है तथा घर से बाहर खदेड़ देती है। वह बड़े ही सरल शब्दों में अपनी दयनीय स्थिति का परिचय देते हुए कह रहा है कि दूसरे लोग मेरी स्त्री का स्पर्श कर रहे हैं तथा माता, पिता और भाई लोग कह रहे हैं कि हम लोग इसे नहीं जानते। इसे बाँधकर तुम लोग ले जाओ (मन्त्र ४)

पिता माता भ्रातर एनमाहुर्न जानीमो नयता बद्धमेतम्

अन्त में उपदेश दिया गया है—(मन्त्र १३):—

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व
वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः ॥

जूआ कभी मत खेलो; खेती करो—ये शब्द द्यूत के प्रति ऋग्वेदीय भावना के पूर्ण परिचायक माने जा सकते हैं। इस सूक्त की भावना

अर्वाचीन भावना से सुसम्बद्ध होने के कारण पर्याप्त रूपेण आकर्षक तथा आवर्जक है।

दानस्तुति—

ऋग्वेद के सूक्तों में कतिपय मन्त्र ऐसे अवश्य मिलते हैं जिन्हें 'दानस्तुति' के नाम से पुकारते हैं। इन दानस्तुतियों के स्वरूप तथा तात्पर्य समझने में विद्वानों में गहरी विप्रतिपत्ति है। आजकल का ऐतिहासिक विद्वान् इन्हें किसी प्राचीन राजा के विपुल दान से आप्यायित होनेवाले ऋषि द्वारा दाता की स्तुति मानता है, परन्तु भारतीय वेदज्ञों की दृष्टि में अपौरुषेय वेद में किसी भी ऐतिहासिक घटना का उल्लेख असम्भाव्य होने के ये दानस्तुतियाँ किसी व्यक्ति-विशेष के दान की स्तुति नहीं हैं, प्रत्युत प्ररोचना के निमित्त ही आख्यानों की कल्पना मन्त्रों के आधार पर पीछे से कर ली गई है। कात्यायन ने अपनी 'ऋक् सर्वानुक्रमणी' में केवल २२ सूक्तों में दानस्तुतियों का उल्लेख किया है, परन्तु आधुनिक शोधक की दृष्टि में ६८ सूक्तों में दानस्तुतियों का उल्लेख है।[1]

परन्तु प्राचीन ग्रन्थों की मन्त्रव्याख्याओं का तुलनात्मक अध्ययन करने पर स्पष्ट होता है कि अनेक स्थलों पर दानस्तुति का आभासमात्र है, वास्तव दानस्तुति है नहीं। एक दृष्टान्त पर्याप्त होगा। ऋ० ८।३।२१-२४ का देवता सर्वानुक्रमणी में पाकस्थामा कौरयाण की दानस्तुति बतलाया गया है। परन्तु निघण्टु, निरुक्त आदि ग्रन्थों के अनुशीलन से इस घटना की पुष्टि नहीं होती। निघण्टु ४।२ में पठित 'कौरयाण' पद का अर्थ यास्क ने 'कृतयानः' (अर्थात् शत्रुओं के प्रति यान या चढ़ाई करनेवाला व्यक्ति) किया है। दुर्गाचार्य की सम्मति में इन

---

१ डा० मणिलाल पटेल का एतद्विषयक लेख 'भारतीय अनुशीलन' नामक ओझा अभिनन्दन ग्रन्थ में देखिए।

मण्त्रों में 'यान की स्तुति' है, दान की नहीं। शौनक के मत से 'पाकस्थामा' शब्द भी व्यक्तिवाचक न होकर विशेषण है (बृहद्देवता ६।४५)। स्कन्द महेश्वर की व्याख्या के अनुसार 'पाकस्थामा' शब्द का अर्थ है 'महाप्राण', महाबलवान्[1] और ये दोनों शब्द मन्त्रों में आए हुए 'भोज' शब्द के विशेषण हैं। परन्तु 'भोज' शब्द भी सामान्य राजा के अर्थ में व्यवहृत हुआ है किसी विशिष्ट राजा के संकेत के लिए नहीं। 'कौरयाण' के व्यक्तिवाचकत्व का निषेध इस बात से भी होता है कि यह शब्द निघण्टु के चतुर्थ अध्याय में पठित है जहाँ 'अनवगत संस्कार' या अनेकार्थ शब्दों की गणना की गई है। 'कुरयाणस्य अपत्यम् कौरयाणः' में संस्कार इतना स्पष्ट है कि उसकी इस अध्याय में गणना करना नितान्त अनुचित है। निष्कर्ष यह है कि इस दानस्तुति में किसी भी ऐतिहासिक राजा का उल्लेख नहीं है, केवल शत्रु के ऊपर आक्रमण करनेवाले (कौरयाण) तथा महान् बलशाली (पाकस्थामा) किसी नृपति-सामान्य (भोज) का ही संकेत है।[2]

इसी प्रकार अभ्यावर्ती चायमान की दानस्तुति (६।२७।८), सावर्णि की दानस्तुति (ऋ० १०।६२।८-११), प्रकण्व की दानस्तुति (ऋ० ८।५५ तथा ८।५६) भी विचार करने पर किसी विशिष्ट राजा की दानस्तुति प्रतीत नहीं होती। इस प्रकार ऋग्वेद के मन्त्रों को ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययनशील विद्वान् को अगत्या मानना पड़ेगा कि अनेक राजाओं के नाम ऐतिहासिक तथा व्यक्तिवाचक केवल आभासमान हैं, वस्तुतः हैं नहीं।

१—पाकस्थामा—लोके स्थामशब्दः प्राणे प्रसिद्धः। पाकः परिपक्वो महान् स्थामो यस्य स पाकस्थामा महाप्राणश्चेत्यर्थः।

—स्कन्द महेश्वर की निरुक्त-व्याख्या।

२—द्रष्टव्य युधिष्ठिर मीमांसक—'ऋग्वेद की कतिपय दानस्तुतियों पर विचार' पृ० ३-७।

अपौरुषेयवादी मीमांसकों की ऐसे प्रसगों की मीमांसा बड़ी ही विशद तथा स्पष्ट है। उनका उत्तर है कि समस्त वैदिक आख्यान प्ररोचना के लिए कल्पित हैं। आख्यानों की कल्पना मन्त्रार्थ ज्ञान के अनन्तर की गयी है, आख्यान-प्रदर्शन के लिए मन्त्रों की रचना नहीं है। जैमिनि सूत्र 'गुणवादस्तु' (मीमांसा सूत्र १।२।१०) का शवर-भाष्य भारतीय सिद्धान्तों की कुंजी है। उसका स्पष्ट कथन है कि समस्त आख्यान असत्य हैं। आख्यानों में दो बातें हैं—वृत्तान्तज्ञान तथा प्ररोचना। वृत्तान्त-ज्ञान विधि में न तो प्रवर्तक है, न निवर्तक। फलतः वह प्रयोजनाभावात् अनपेक्षित है। प्रीति से कार्य में प्रवृत्ति होती है तथा द्वेष से निवृत्ति। आख्यानों में इतने ही अंश की विवक्षा है।[1]

ऋग्वेद में सामान्य दान की स्तुति का प्रतिपादक एक बड़ा ही भव्य सूक्त दशममण्डल में है (सू० १०।११७) जिसमें दान की महिमा का ओजस्वी वर्णन है। जो मनुष्य दान न देकर अपने अर्थ को केवल अपने ही स्वार्थ के लिए खर्च करता है वह पाप को ही खाता है (मन्त्र ६):—

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी[2] ॥

१—असद् वृत्तान्तान्वाख्यान स्तुत्यर्थेन। तत्र वृत्तान्तान्वाख्यान न प्रवर्तकं न निवर्तकं चेति प्रयोजनाभावात्। अनर्थकमित्यविवक्षितम्। प्ररोचनया तु प्रवर्तते इति, द्वेषान्निवर्तते इति तयोर्विवक्षा।

—शावर भाष्य।

२—यह मन्त्र तैत्तिरीय ब्राह्मण (२।८।८।३) तथा निरुक्त (७।३) में भी उद्धृत मिलता है।

वस्तुतः वह मित्र नहीं है जो अत्यन्त स्नेह रखनेवाले सखा अथवा परिचित व्यक्ति को दान नहीं देता। उस आदमी से दूर हट जाना ही श्रेयस्कर होता है। वह उसके लिए घर नहीं होता। पोषण करने वाले किसी अपरिचित के शरण में जाना ही उस व्यक्ति के लिए उचित होता है (मंत्र ४) :—

न स सखा यो न ददाति सख्ये
सचाभुवे सचमानाय पित्वः।
अपास्मात् प्रेयान् न तदोको अस्ति
पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत् ॥

"केवलाघो भवति केवलादी"—त्यागमूलक वैदिक संस्कृति का महामन्त्र है। इसी तत्व का वर्णन स्मृतिग्रन्थों में भरा पड़ा है। गीता का यह श्लोक पूर्व मन्त्र की लोकप्रिय व्याख्या तथा अक्षरशः अनुवाद है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्व किल्विषैः
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्
—गीता ३।१३

संवाद सूक्त

ऋग्वेद में जिस प्रकार दार्शनिक सूक्त उसे उपनिषदों के तात्त्विक विवेचनों के साथ सम्बद्ध करते हैं, उसी प्रकार कतिपय सूक्त उसे प्रबन्ध काव्य तथा नाटकों के साथ भी सम्बन्ध जोड़नेवाले हैं। ऐसे सूक्तों में कथनोपकथन का प्राधान्य है और इसीलिए इन्हें संवादसूक्तों की संज्ञा प्रदान की गई है। ऐसे सूक्त समग्र ऋग्वेद में लगभग बीस हैं। इनके स्वरूप के विषय में पश्चिमी विद्वानों में गहरा मतभेद है। डाक्टर ओल्डेनबर्ग की दृष्टि में ये प्राचीन आख्यानों के अवशिष्ट रूप हैं। इनकी सम्मति में ऋग्वेदकालीन "आख्यान" गद्य-

पद्यात्मक थे। पद्यभाग अधिक रोचक तथा मञ्जुल होने से अवशिष्ट रह गया है, परन्तु गद्यभाग केवल कथात्मक होने से धीरे धीरे लुप्त हो गया है। संस्कृत के पिछले युग में वर्तमान चम्पूशैली के आधार पर डा० ओल्डनवर्ग ने ऋग्वेदीय सवादसूक्तों को 'आख्यान' के नाम से अभिहित किया है। इसके विपरीत डा० सिल्वाँ लेवी, डा० श्रोदर, और डा० हर्टल आदि विद्वानों की दृष्टि में ये वस्तुतः नाटक के अवशिष्ट अश हैं जिनका सगीत तथा पात्र के उचित सन्निवेश कर देने पर यज्ञ के अवसरों पर वस्तुतः अभिनय होता था। तीसरा मत डा० विन्टरनित्स का है जो इन्हे प्राचीन लोकगीत काव्य (वैलेड) का नमूना मानते हैं। ये अर्धकथात्मक तथा अर्ध-रूपकात्मक होने से कथानक तथा नाटक के संमिश्रण हैं। इन्हीं से अवान्तरकाल में एक ओर महाकाव्य का उदय सम्पन्न हुआ और दूसरी ओर नाटक की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार भारतीय साहित्य में इन सम्वाद-सूक्तों का पर्याप्त महत्त्व है[1]।

इन सवादसूक्तों में तीन विशेष महत्त्वपूर्ण हैं—(१) पुरुरवा-उर्वशी सवाद (ऋ० १०।८५), (२) यमयमी सवाद (ऋ० १०।१०) तथा (३) सरमापणि सवाद (ऋ० १०।१३०)। पुरुरवा तथा उर्वशी की कथा रोमाञ्चक प्रेम का प्राचीन भव्य निदर्शन है जिसमें स्वर्ग-लोककी सुन्दरी उर्वशी पृथ्वीतल के मानव राजा की पत्नी बनना स्वीकार करती है, परन्तु प्रतिज्ञाभग के कारण वह उसका सग छोड़कर निर्मम की भाँति चल देती है।[1] इस सूक्त में केवल १८ मन्त्र हैं जिनमें से कुछ उर्वशी के कथन हैं, कुछ पुरुरवा के। शतपथ ब्राह्मण

१—द्रष्टव्य बलदेव उपाध्याय—संस्कृत साहित्य का इतिहास (तृतीय सं०) ० ३६८-६५।

२—द्रष्टव्य लेखक का ग्रन्थ—वैदिक कहानियाँ (कहानी ६, पृष्ठ ११५-१२४)

(११।५।१) ने इस प्रेमकथा को कुछ विस्तार के साथ निबद्ध करने का उद्योग किया है। विष्णुपुराण, महाभारत आदि अनेक ग्रन्थों में इस कथानक का उल्लेख है, परन्तु इसका सुन्दरतम रूपकरूप हमें महाकवि कालिदास की प्रतिभा से उनके 'विक्रमोर्वशीय' नामक सुप्रसिद्ध त्रोटक में मिलता है। १०म मण्डल के दशम सूक्त में यमयमी का परस्पर विलक्षण संवाद है जिसमें यमी यम को अपने प्रलोभनों से लुभाना चाहती है, परन्तु यम अपने उदात्त चरित्र का परिचय देते हुए इस अनैसर्गिक सम्पर्क से अपने को दूर रखते हैं। साहित्यिक सौन्दर्य की दृष्टि से ये दोनों संवाद बड़े ही रोचक, हृदयावर्जक तथा कलात्मक हैं। तीसरा संवादसूक्त ऋग्वेदीय युग के समाज की एक झाँकी प्रस्तुत करता है। पणि लोगों ने आर्य लोगों के गायों को चुराकर कहीं अँधेरी गुफा में डाल रखा है। इन्द्र ने अपनी शुनी सरमा को पणियों को समझाने के लिए दौत्यकार्य सौंपा है। सरमा आर्य लोगों के प्रबल पराक्रम की गाथा गाती है तथा पणियों को धमका कर सचेत करती है। ये समग्र संवादसूक्त नाटकीय ओजस्विता से ओतप्रोत हैं तथा कलात्मक दृष्टि से नितान्त सुन्दर, सरस तथा भावोत्पादक हैं।

दार्शनिक सूक्त

नासदीय सूक्त (१०।१२९), पुरुष सूक्त (१०।९०) हिरण्यगर्भ सूक्त (१०।१२१) तथा वाक्सूक्त (१०।१२५) अपनी दार्शनिक गम्भीरता, प्रातिभ अनुभूति तथा नवीन कल्पना के कारण नितान्त प्रसिद्ध हैं। नासदीय सूक्त विज्ञ आलोचकों की दृष्टि में ऋग्वेदीय ऋषियों की अलौकिक दार्शनिक चिन्ताधारा का मौलिक परिचायक है। इस सूक्त का ऋषि जगत् की प्रारम्भिक स्थिति का वर्णन करते हुए कह रहा है कि सृष्टि के आरम्भ में न तो असद् था, और न

सत् था, न दिन था और न रात थी। सृष्टि का अभिव्यंजक कोई भी चिह्न उस समय न था। सबसे पहिले काम उत्पन्न हुआ—सकल्प था और इसी काम की अभिव्यक्ति सृष्टि के नानास्तरों में प्रतिफलित होती है। उस समय एक ही तत्त्व था जो हवा के बिना भी साँस लेता था तथा अपनी स्वाभाविक शक्ति से जीवित था—

आनीदवातं स्वधया तदेकम्।
तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास (मन्त्र २)

प्रातिभ अनुभूति के ऊपर अद्वैत तत्त्व की प्रतिष्ठा ही इस गम्भीर मन्त्र का गूढ़ रहस्य है।

ऋग्वेद के दशम मण्डल में अनेक सूक्तों के अनुशीलन से पता चलता है कि मुख्य देव या देवाधिदेव की कल्पना दृढ़ मूल हो गई थी और यह प्रधान देव कहीं हिरण्यगर्भ, कहीं पुरुष और कहीं प्रजापति के नाम से प्रख्यात था। हिरण्यगर्भ के विषय में दशम मण्डल का वह प्रसिद्ध सूक्त है (१०।१२१) जिसका अन्तिम चरण है—कस्मै देवाय हविषा विधेम। इस चरण की व्याख्या में वेदज्ञों की विभिन्न सम्मतियाँ हैं। पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में इस सूक्त का द्रष्टा ऋषि सचमुच सशयालु चित्त से पूछता है कि वह किस देवता के लिए हविष् का दान तथा विधान कर रहा है। आरम्भिक युग के मानव के कौतुकाक्रान्त चित्त की दशा का द्योतक यह सूक्त प्रकट करता है कि किस प्रकार आदिम मानव उस देवता के रूप को जानना चाहता है जिसके लिए वह हविष्य का होम करता है। ब्राह्मण ग्रन्थों तथा तदनुसारी भाष्य कर्ताओं—निरुक्त, सायण आदि—की दृष्टि में 'क' शब्द प्रजापति का सूचक है। 'किम्' शब्द अनिर्वचनीयता अथवा अत्यन्त सौख्य का सूचक माना गया है। फलत नाम तथा रूप से निर्वचनीय न होने के अथवा सुखरूप

होने के कारण प्रजापति के लिए किम् शब्द का व्यवहार नितान्त युक्ति-युक्त है। उपनिषदों में भी इसी अनिर्वचनीयता के ही कारण वह परम तत्त्व 'नेति नेति' शब्दों के द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है। हिरण्यगर्भ अग्रे, सृष्टि के आदि में, विद्यमान था। वह उत्पन्न होने वाले प्राणिजात का पति (रक्षक) था। वह पृथ्वी तथा आकाश तथा अन्तरिक्ष लोक—समस्त विश्व को धारण करता है, अपने महत्त्व के कारण वह जाग्रत तथा स्वप्नशील समग्र भूतों का अकेले ही राजा (शासक) है। इतना ही नहीं, वह मृत्यु के ऊपर भी शासन करता है। अमृतत्व उसकी छाया है (यस्य छायाऽमृतं यस्य मृत्युः) अर्थात् जैसे छाया पुरुष के पीछे दौड़ा करती है, उसी प्रकार अमृतत्व उस हिरण्यगर्भ के पीछे अनुसरण किया करता है। उसी की अध्यक्षता में सृष्टि का व्यापार चलता है, उसके पालन तथा रक्षण का काम हिरण्यगर्भ के हाथों में है। वह देवों में एक अद्वितीय देव है (देवेष्वधि देव आसीत्)। उसी के रक्षण से द्यावापृथिवी (क्रन्दसी) अपने अपने स्थानों पर प्रतिष्ठित हैं तथा उसी के इस विलक्षण प्रभाव का चिन्तन किया करते हैं (मन्त्र ६)। निष्कर्ष यह है कि हिरण्यगर्भ देवाधिदेव है। इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता।

दशम मण्डल में पुरुष-सूक्त (१०।९०) अपनी दार्शनिकता, महनीयता, गम्भीरता तथा अन्तर्दृष्टि के लिए नितान्त विख्यातों में अन्यतम है। इसमें पुरुष की आध्यात्मिक कल्पना का भव्य निदर्शन है। पुरुष के सहस्र (असंख्य) सिर हैं, सहस्र नेत्र तथा सहस्र पाद हैं अर्थात् उसके सिर, नेत्र तथा पैरों की संख्या की इयत्ता नहीं है। वह इस विश्व के परिमाण से अधिक है। वह विश्व को चारों ओर से घेर कर दश अंगुल अधिक बढ़कर है। 'अत्यतिष्ठत् दशाङ्गुलम्' में दशाङ्गुल केवल परिमाणाधिक्य का उपलक्षणमात्र है। विश्व के समस्त मरणशील प्राणी उसके केवल एक चतुर्थ अंशमात्र हैं। उसका अमृत

त्रिपाद् आकाश में है। यह इस बात का सूचक है कि वह इस विश्व को चारों ओरों से घेर कर भी इससे अत्यधिक बड़ा है। वह अमरणधर्मा प्राणियों का शासक है तथा उन मरण-धर्मों का भी जो अन्न भोजन करने से बढ़ते हैं। पुरुष के विषय विलक्षण तथ्य यह है—

पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम्। (मन्त्र २)

अकेला पुरुष ही यह समस्त विश्व है जो प्राचीन काल में उत्पन्न हुआ तथा जो आगे भविष्य में उत्पन्न होने वाला है। यह सर्वेश्वरवाद (पैनथीजम) का सिद्धान्त पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि में आर्यों के प्रौढ़ धार्मिक विकास का सूचक है तथा ऋग्वेदीय युग की अन्तिम प्रौढ़ दार्शनिक विचारधारा का परिचायक है। सृष्टि के उत्पादन में यज्ञ की कल्पना कितनी जागरूक तथा क्रियाशील होती थी, इसका परिचय इस सूक्त में उपलब्ध होता है। देवताओं ने इस पुरुष की बलि यज्ञमें की तथा उससे जगत् के नाना प्राणियों की उत्पत्ति हुई। इसी सूक्त में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र की उत्पत्ति पुरुष के मुख से, बाहुसे, ऊरुसे तथा पैरों से क्रमश बतलाई गई है (मन्त्र १२)। ऋग्वेद के अन्य किसी भी मन्त्र में इन चारों वर्णों का नाम नहीं आया है जिससे प्रतीत होता है समाज में चतुर्विध वर्ण की कल्पना अवान्तर युग में उत्पन्न हुई। इस प्रकार यह सूक्त वैदिक आर्यों की सामाजिक तथा आध्यात्मिक धारणाओं के परिचायक होने से नितान्त महत्त्वशाली है।

दशम मण्डल में 'सर्वेश्वरवाद' का प्रतिपादक यही पुरुषसूक्त है। पश्चिमी विद्वानों की आलोचना में 'पुरुष एवेदं सर्वम्' की भावना बहुदेवतावाद (पालीथीजम) तथा एक-देवतावाद (मोनोथीज़म) के अनन्तर जायमान धार्मिक विकास की सूचना देती है जो निश्चय ही इस मण्डल को अन्य मण्डलों की अपेक्षा अर्वाचीन सिद्ध कर रही है।

(२)

यजुर्वेद

'आध्वर्यव' कर्म के लिए उपादेय यजुर्वेद में यजुषों का संग्रह है। 'यजुष्' शब्द की व्याख्यायें आपाततः भिन्न भले ही प्रतीत हों, परन्तु उनमें एक ही लक्षण की ओर संकेत है। 'अनियताक्षरावसानो यजुः' (अक्षरों की सख्या जिसमें नियत या निश्चित न हो), 'गद्यात्मको यजुः' तथा 'शेषे यजुः शब्दः' का तात्पर्य यही है कि ऋक् तथा साम से भिन्न गद्यात्मक मन्त्रों का ही अभिधान 'यजुः' है।

वेद के दो सम्प्रदाय है—(१) ब्रह्म सम्प्रदाय तथा (२) आदित्य सम्प्रदाय। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार आदित्य-यजुः शुक्ल-यजु के नाम से प्रसिद्ध है तथा याज्ञवल्क्य के द्वारा आख्यात है (आदित्यानीमानि शुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते—शत० ब्रा० १४।९।५।३३)। अतः आदित्य-सम्प्रदाय का प्रतिनिधि शुक्ल यजुर्वेद है तथा ब्रह्म-सम्प्रदाय का प्रतिनिधि कृष्ण यजुर्वेद हैं। यजुर्वेद के शुक्ल-कृष्णत्व का भेद उसके स्वरूप के ऊपर आश्रित है। शुक्ल यजुर्वेद में दर्शपौर्णमासादि अनुष्ठानो के लिए आवश्यक मन्त्रों का ही केवल संकलन है। उधर कृष्ण यजुर्वेद में मन्त्रों के साथ ही साथ तन्नियोजक ब्राह्मणों का भी संमिश्रण है। मन्त्र तथा ब्राह्मण भाग का एकत्र मिश्रण ही कृष्णयजुः के कृष्णत्व का कारण है तथा मन्त्रों का विशुद्ध तथा अमिश्रित रूप ही शुक्लयजुः के शुक्लत्व का मुख्य हेतु है। कृष्णयजुः की प्रधान शाखा तैत्तिरीय नाम से प्रख्यात है जिसके विषय में एक प्राचीन आख्यान अनेकत्र निर्दिष्ट किया गया है। गुरु वैशम्पायन के शाप से भीत योगी याज्ञवल्क्य ने स्वाधीत यजुषो का वमन कर दिया और गुरु के आदेश से अन्य शिष्यों ने तित्तिर का

रूप धारण कर उस वान्त यजुप् का भक्षण किया। सूर्य को प्रसन्न कर उनके ही अनुग्रह से याज्ञवल्क्य ने शुक्ल यजुप् की उपलब्धि की[1]।

पुराणों तथा वैदिक साहित्य के अध्ययन से 'याज्ञवल्क्य वाजसनेय' एक अत्यन्त प्रौढ़ तत्वज्ञ प्रतीत होते हैं जिनकी अनुकूल सम्मति का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण तथा बृहदारण्यक उपनिषद् में किया गया है (अ० ३ और ४)। ये मिथिला के निवासी थे तथा उस देश के अधीश्वर महाराज जनक की सभा में इनका विशेष आदर और सत्कार था। इनके पिता का नाम देवरात था जो दीनों को अन्न दान देने के कारण 'वाजसेनि' के अपर नाम से विख्यात थे। इन्होंने व्यासदेव के चारों शिष्यों से वेदचतुष्टय का अध्ययन किया था, अपने मातुल वैशम्पायन ऋषि से इन्होंने यजुर्वेद का अध्ययन सम्पन्न किया था। शतपथ के प्रामाण्य पर इन्होंने उद्दालक आरुणि नामक तत्कालीन प्रौढ़ दार्शनिक से वेदान्त का परिशीलन किया था। आरुणि ने एक बार इनसे वेदान्त की प्रशंसा में कहा था कि यदि वेदान्त की शक्ति से अभिमन्त्रित जल से स्थाणु (पेड़ का केवल तना) को सींचा जाय तो उसमें भी पत्तियाँ निकल आती हैं। पुराणों से प्रतीत होता है कि योग्य शिष्य ने गुरु के पूर्वोक्त कथन को अक्षरशः सत्य सिद्ध कर दिखलाया। इनकी दो पत्नियाँ थीं—मैत्रेयी तथा कात्यायनी। मैत्रेयी बड़ी ही विदुषी तथा ब्रह्मवादिनी थी और घर छोड़ कर वन में जाते समय याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को ही ब्रह्मविद्या की शिक्षा दी। प्रगाढ़ पाण्डित्य, अपूर्व योग बल तथा गाढ़ दार्शनिकता के कारण ही योगी याज्ञवल्क्य कर्मयोगी राजा जनक की विशेष अभ्यर्थना तथा सत्कार के भाजन थे[2]।

---

[1] द्रष्टव्य काण्व संहिता का सायण भाष्य की भूमिका, श्लोक ६–१० ।

[2] द्रष्टव्य बृहदारण्यक उपनिषद्, अध्याय ३ और ४ ।

विषय विवेचन

शुक्ल यजुर्वेद की मन्त्र संहिता 'वाजसनेयी संहिता' के नाम से विख्यात है जिसके ४० अध्यायों में से अन्तिम १५ अध्याय खिलरूप से प्रसिद्ध होने के कारण अवान्तर-युगीय माने जाते हैं। इस संहिता के विषय का अनुशीलन यजुर्वेद के सामान्य विषयों से परिचय कराने के लिए पर्याप्त होगा।

आरम्भ के दोनों अध्यायों में दर्श तथा पौर्णमास इष्टियों से सम्बद्ध मन्त्रों का वर्णन है। तृतीय अध्याय में अग्निहोत्र तथा चातुर्मास्य (चार महीनों पर होने वाले यज्ञ) के लिए उपयोगी मन्त्रों का विवरण है। चतुर्थ से लेकर अष्टम अध्याय तक सोमयागों का वर्णन है जिसमें अग्निष्टोम का प्रकृति-याग होने के कारण नितान्त विस्तृत विवरण है। अग्निष्टोम में सोम को पत्थरों से कूटकर उसका रस चुलाते हैं तथा दूध मिलाकर उसे प्रातः, मध्याह्न तथा सायंकाल अग्नि में हवन करते हैं। इसका नाम है—सवन, जो तीनों समयों के अनुसार भिन्न भिन्न नामों से विख्यात है। एक दिन में समाप्य 'एकाह' सोमयागों में 'वाजपेय' याग अन्यतम है तथा राजा के अभिषेक के अवसर पर होने वाला 'राजसूय' यज्ञ है जिसमें द्यूत क्रीडा, अस्त्र क्रीडा आदि नाना राजन्योचित क्रियाकलापों का विधान होता है। इन दोनों यज्ञों से सम्बद्ध मन्त्र संहिता के नवम तथा दशम अध्यायों से निर्दिष्ट किये गये हैं। इसके अनन्तर आठ अध्यायों (११-१८ अ०) तक 'अग्निचयन' अर्थात् यज्ञीय होमाग्नि के लिए वेदि-निर्माण का वर्णन बडे ही विस्तार से साथ किया गया है। वेदि की रचना १०८०० ईंटों से होती है जो विशिष्ट स्थान से लाये जाते हैं तथा विशिष्ट आकार के बनाये जाते हैं। वेदि की आकृति पख फैलाये हुए पक्षी के समान होती है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में वेदि और उसके विविध ईंटों के आध्यात्मिक रूप का

अन्तिम अध्याय (४०वाँ अ०) ईशावास्य उपनिषद् है जो अपने प्रारम्भिक दो शब्दों के कारण यह नाम धारण करता है। उपनिषदों में यह लघुकाय उपनिषद् आदिम माना जाता है, क्योंकि इसे छोड़ कर कोई भी अन्य उपनिषद् संहिता का भाग नहीं है। उपनिषद्-ग्रन्थों में प्राथम्य धारण करने का यही मुख्य हेतु है। इस संहिता का आदित्य के साथ घनिष्ठता का परिचय इसका अन्तिम मन्त्र भी देता है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्॥ (४०।१७)

काण्वसंहिता

शुक्ल यजुर्वेद की प्रधान शाखायें माध्यन्दिन तथा काण्व हैं। काण्व शाखा का प्रचार आजकल महाराष्ट्र प्रान्त में ही है और माध्यन्दिन शाखा का उत्तर भारत में, परन्तु प्राचीन काल में काण्व शाखा का अपना प्रदेश उत्तर भारत था, क्योंकि एक मन्त्र में (११।११)कुरु तथा पञ्चाल-देशीय राजा का निर्देश संहिता में मिलता है (एष वः कुरवो राजा, एष पञ्चाला राजा) महाभारत के आदि पर्व (६४।१८) के अनुसार शकुन्तला को पोष्यपुत्री बनाने वाले कण्व मुनि का आश्रम 'मालिनी' नदी के तीर पर था जो आज भी उत्तर प्रदेश के बिजनौर जिले में 'मालन' के नाम से विख्यात एक छोटी सी नदी है। अतः काण्वों के प्राचीन सम्बन्ध को उत्तर प्रदेश से होने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं दृष्टिगत होती।

काण्वसंहिता का एक सुन्दर संस्करण मद्रास के अन्तर्गत किसी 'आनन्दवन' नगर से तथा औंध से प्रकाशित हुआ है जिसमें अध्यायों की संख्या ४०, अनुवाकों की ३२८ तथा मन्त्रों की २०८६ है अर्थात् माध्यन्दिन संहिता के मन्त्रों (१९७५) से यहाँ १११ मन्त्र अधिक हैं। काण्व शाखा का सम्बन्ध पाञ्चरात्र आगम के साथ विशेष रूप से पाञ्चरात्र

संहिताओं में सर्वत्र माना गया है[1]। इसी के पूर्वार्द्ध पर सायण का भाष्य प्रकाशित है।

भाष्यकार

माध्यन्दिन संहिता के दो प्रमुख भाष्यकार हैं—(१) उवट तथा (२) महीधर। उवट आनन्दपुर के निवासी वज्रट के पुत्र थे तथा अवन्ती में निवास करते हुए राजा भोज के शासनकाल में इस मन्त्र-भाष्य का निर्माण किया था[2]। 'भोजे महीं प्रशासति' से इनका भोज (१०१८ ई०—१०६० ई०) का समकालीन होना सिद्ध होता है। पिता तथा पुत्र के विशिष्ट नामकरण से ये दोनों कश्मीरी ब्राह्मण प्रतीत होते हैं। काव्यप्रकाश के टीकाकार भीमसेन दीक्षित के कथनानुसार ये मम्मट के भाई थे। मम्मट भोजराज के किञ्चित् पश्चाद्वर्ती थे। अतः इनके मम्मट के अनुज होने मे निश्चय ही सन्देह है। इनका भाष्य लघ्वक्षर होने पर भी बड़ा ही प्राञ्जल, प्रामाणिक तथा सरल है। थोड़े में ही विशेष लिखने की कला में वे दक्ष हैं। अनेक मन्त्रों के आध्यात्मिक अर्थ का भी पूर्ण संकेत है। ऋक् प्रातिशाख्य, यजुः प्रातिशाख्य तथा ऋक् सर्वानुक्रमणी पर भाष्य लिखना इनकी प्रौढ़ वैदिकता का विजयघोष है। ईशावास्य पर भी इनका एक भाष्य है जो आनन्दाश्रम से छपा है।

(२) महीधर का भाष्य 'वेददीप' मौलिकता की दृष्टि से

---

१ द्रष्टव्य बलदेव उपाध्याय . भागवत सम्प्रदाय पृ०

२ आनन्दपुरवास्तव्य वज्रटाख्यस्य सूनुना
उवटेन कृतं भाष्यं पदवाक्यैः सुनिश्चितैः ।
ऋष्यादींश्च पुरस्कृत्य अवन्त्यामुवटो वसन् ।
मन्त्राणां कृतवान् भाष्यं महीं भोजे प्रशासति ॥
—शुक्ल यजुर्वेद भाष्य के अन्तिम श्लोक ।

महत्त्वपूर्ण न होने पर भी अर्थ की विशदता प्रकट करने में नितान्त उपादेय है। महीधर काशी के ही निवासी थे। इनका यजुर्भाष्य उवटभाष्य की ही छाया है, परन्तु इन्होंने श्रौतसूत्र निरुक्त आदि आवश्यक ग्रन्थों का उद्धरण और यागविधान का पूर्ण परिचय दिया है तथा उवट के भाष्य को स्पष्टतर तथा विशद बनाया है। इनके प्रसिद्ध तान्त्रिक ग्रन्थ 'मन्त्रमहोदधि' का रचनाकाल १६४५ वि० संवत् (= १५८८ ई०) है[1]। अत. 'वेददीप' का भी रचनाकाल इसी समय के आसपास समझना चाहिए[2]।

(२) सायण ने काण्वसहिता के केवल प्रथमार्ध का (आदिम २० अध्यायों का) भाष्य लिखा है जो चौखम्भा सस्कृत सीरीज में काशी से प्रकाशित हो चुका है। इनके अतिरिक्त आनन्द बोध (१६ शतक), अनन्ताचार्य (१६ शतक का अन्तिम भाग), तथा देवपाल का कण्वमन्त्रभाष्य भी हस्त-लिखित रूप में उपलब्ध होते हैं।

कृष्ण यजुर्वेद

ऊपरि निर्दिष्ट विषयविवेचन से कृष्ण यजुर्वेद की सहिताओं के भी विषय का पर्याप्त परिचय मिल सकता है, क्योंकि दोनों में वर्णित अनुष्ठान-विधियाँ प्राय एक-समान ही हैं। शुक्लयजुः में जहाँ केवल मन्त्रों का ही निर्देश किया गया है, वहाँ कृष्णयजुः में मन्त्रों के साथ तद्विधायक ब्राह्मण भी सम्मिश्रित है। चरणव्यूह के अनुसार केवल कृष्णयजुर्वेद की ८५ शाखायें है जिनमें आज केवल ४ ही शाखायें तथा तत्सम्बद्ध पुस्तकें उपलब्ध होती है.—(१) तैत्तिरीय, (२) मैत्रायणी, (३) कठ, (४) कपिष्ठल-कठ शाखा।

---

१ अब्दे विक्रमतो जाते बाणवेदनृपैर्मिते।
ज्येष्ठाष्टम्यां शिवस्याग्रे पूर्णो मन्त्रमहोदधिः॥

२ इन दोनों भाष्यों के साथ शुक्लयजु संहिता निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित हुआ है।

तैत्तिरीय संहिता

तैत्तिरीय संहिता का प्रसारदेश दक्षिण भारत है। कुछ महाराष्ट्र प्रान्त तथा समग्र आन्ध्र-द्रविड देश इसी शाखा का अनुयायी है। समग्र वैदिक ग्रन्थों—संहिता, ब्राह्मण, सूत्र आदि की उपलब्धि से इसका वैशिष्ट्य स्वीकार किया जा सकता है अर्थात् इस शाखा ने अपनी संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, श्रौतसूत्र तथा गृह्यसूत्र को बड़ी तत्परता से अक्षुण्ण बनाये रखा है। तैत्तिरीय संहिता का परिमाण कम नहीं है। यह काण्ड, प्रपाठक तथा अनुवाकों में विभक्त है। पूरी संहिता में ७ काण्ड, तदन्तर्गत ४४ प्रपाठक तथा ६३१ अनुवाक हैं। विषय वही शुक्ल यजुर्वेद में वर्णित विषयों के समान ही पौरोडाश, याजमान, वाजपेय, राजसूय आदि नाना यागानुष्ठानों का विशद वर्णन है। आचार्य सायण की यही अपनी शाखा थी। इसीलिए तथा यज्ञ के मुख्य स्वरूप के निष्पादक होने के कारण उन्होंने इस संहिता का विद्वत्तापूर्ण भाष्य सर्व-प्रथम निबद्ध किया। परन्तु उनसे प्राचीन भाष्यकार भट्ट भास्कर मिश्र (११ वीं शताब्दी) हैं[1] जिनका 'ज्ञान यज्ञ' नामक भाष्य प्रामाणिकता तथा विद्वत्ता में किसी प्रकार न्यून नहीं है। अधियज्ञ अर्थ के अतिरिक्त अध्यात्म तथा अधिदैव पक्षों में भी मन्त्रों का अर्थ स्थान स्थान पर किया गया है[2]।

---

१ इनका समयनिरूपण देखिए बलदेव उपाध्याय, आचार्य सायण और माधव पृ० सं० २०८।

२ सायण भाष्य के साथ तैत्तिरीय का सं० आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थमाला में तथा भट्ट भास्कर के भाष्य के साथ मैसूर संस्कृत ग्रन्थमाला में कई जिल्दों में प्रकाशित हुआ है। इसका प्रामाणिक अंग्रेजी अनुवाद डा० कीथ ने किया है—हारवर्ड ओरियन्टल सीरीज नं० १७ तथा १८, प्रकाशनकाल १९१४–१५।

मैत्रायणी संहिता

कृष्ण यजुर्वेद की अन्यतम शाखा मैत्रायणी शाखा की यह संहिता गद्य पद्यात्मक है[1] अर्थात् कृष्ण यजुर्वेदीय संहिता के समान यहाँ भी मन्त्र तथा ब्राह्मणों का संमिश्रण है। इस संहिता में चार काण्ड हैं—(१) प्रथम (आदिम) काण्ड—११ प्रपाठकों में विभक्त है जिनमें क्रमश दर्शपूर्णमास, अध्वर, आधान, पुनराधान, चातुर्मास्य तथा वाजपेय का वर्णन है। (२) द्वितीय (मध्यम) काण्ड के १३ प्रपाठकों में काम्य इष्टि, राजसूय तथा अग्निचिति का विस्तृत विवरण है। (३) तृतीय (उपरि) काण्ड के १६ प्रपाठकों में अग्नि–चिति, अध्वर विधि, सौत्रामणी के अनन्तर अश्वमेध का विस्तृत वर्णन अन्तिम पाँच प्रपाठकों में (१२-१६) किया गया है। (४) चतुर्थ काण्ड खिल काण्ड के नाम से विख्यात है जिसके १४ प्रपाठकों में पूर्वनिर्दिष्ट राजसूय आदि यज्ञों के विषय में अन्य आवश्यक सामग्री संकलित की गई है। समग्र संहिता में ३१४४ मन्त्र हैं जिनमें १७०१ ऋचायें ऋग्वेद से उद्धृत की गई हैं। प्रत्येक काण्ड में ऋग्वेद से मन्त्र उद्धृत हैं और ये मन्त्र ऋग्वेद के भिन्न भिन्न मण्डलों में पाये जाते हैं। यहाँ उद्धृत मन्त्र ऋग्वेद के प्रथम मण्डल (४१९ मन्त्र), दशम (३२३ मन्त्र) तथा षष्ठ मण्डल (१५७ मन्त्र) से विशेष सम्बन्ध रखते हैं। मैत्रायणी कृष्ण यजुर्वेद से सम्बन्ध रखती है। इसलिए इस शाखा के मन्त्रों तथा ब्राह्मणों का तैत्तिरीय तथा काठक संहिता में उपलब्ध होना आश्चर्य की घटना नहीं है। अनेक मन्त्र माध्यन्दिन तथा काण्व यजु. संहिता में भी यजुष् होने के नाते मिलते हैं।

---

[1] मैत्रायणी संहिता को सर्व प्रथम डा० श्रोडर ने जर्मनी से निकाला था। इधर श्री सातवलेकर ने स्वाध्याय मण्डल के द्वारा प्रकाशित किया है, औन्ध (सतारा) वि० सं० १९९८।

कठसंहिता

यजुर्वेद की २७ मुख्य शाखाओं के कठ शाखा अन्यतम है। पुराणों में काठक लोग मध्यप्रदेशीय या माध्यम के नाम से विख्यात हैं जिससे प्रतीत होता है कि वे प्राचीन काल में मध्य-देश में निवास करते थे। पतञ्जलि के कथनानुसार कठसंहिता का प्रचार तथा पठन पाठन प्रत्येक ग्राम में था (ग्रामे ग्रामे काठकं कालापकं च प्रोच्यते–महाभाष्य ४।३।१०१) जिससे प्राचीनकाल में इस सहिता के विपुल प्रसार का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है, परन्तु आज कल इस संहिता के अध्येताओं की सख्या नगण्य है। इसके प्रचार वाले प्रान्त का भी पता नहीं चलता[1]।

कठसंहिता में पाँच खण्ड हैं जो क्रमशः इठिमिका, मध्यमिका, ओरमिका, याज्यानुवाक्या काण्ड तथा अश्वमेधाद्यनुवचन के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन खण्डों के टुकडों का नाम 'स्थानक' है जो वैदिक साहित्य में अन्यत्र नहीं मिलता। इस सहिता में स्थानक की संख्या ४०, अनुवचनों की १३, अनुवाकों की ८४३, मंत्रों की ३०९१ तथा मन्त्र-ब्राह्मणों की सम्मिलित संख्या १८ हजार हैं।

इठिमिका के १८ स्थानकोंमें पुरोडाश, अध्वर, पशु-बन्ध, वाजपेय, राजसूय आदि का विस्तृत वर्णन है। मध्यमिका(१२ स्थानक)में सावित्री, पञ्चचूड, स्वर्ग, दीक्षित, आयुष्य आदि का विवेचन है। ओरमिका काण्ड (१० स्थानक) में पुरोडाश ब्राह्मण, यजमान ब्रा० सत्र, प्रायश्चित्ति, चातुर्मास्य, सव, सौत्रामणी, आदि का वर्णन है और इसी के भीतर चतुर्थ काण्ड को भी गतार्थ समझना चाहिए। अन्तिम काण्ड में १३ अनुवचन हैं।

---

१ संहिता का प्रथम संस्करण जर्मनी में डा० श्रोडर ने १९१० ई० में सम्पादित कर प्रकाशित किया। अन्य सं० स्वाध्याय मण्डल औंध, १९४३।

कृष्ण यजुर्वेदीय संहिताओं की सामान्य प्रकृति के अनुसार इस संहिता में मन्त्र तथा ब्राह्मणों का एकत्र मिश्रण है। इस निर्दिष्ट मुख्य भागों तथा इष्टियों में कतिपय प्रमुख याग ये हैं—दर्श पौर्णमास, अग्नि-ष्टोम, अग्निहोत्र, आधान, काम्य इष्टि, निरूढ पशुबन्ध, वाजपेय, राजरूप, अग्निचयन, चातुर्मास्य, सौत्रामणी और अश्वमेध।

कृष्ण यजुर्वेद की चारों मंत्र संहिताओं में केवल स्वरूप ही की एकता नहीं है, प्रत्युत उनमें वर्णित अनुष्ठानों तथा तन्निष्पादक मन्त्रों में भी बहुत ही अधिक साम्य है[1] और यह होना स्वाभाविक भी है। क्योंकि ये भिन्न भिन्न शाखा की मन्त्र-संहितायें एक ही मूलभूत वेद की अवान्तर शाखायें हैं जो अध्येतृगणों की विशिष्टता तथा विभिन्नता के कारण ही भिन्न सी हो गई हैं।

कपिष्ठल कठ-संहिता—

चरण व्यूह के अनुसार चरकशाखा के ही अन्तर्गत कठाः, प्राच्य-कठा तथा कपिष्ठलकठा का उल्लेख मिलता है जिससे इसके शाखा-सम्बन्ध का पूरा परिचय मिलता है। कपिष्ठल एक ऋषि विशेष का नाम है जिसका उल्लेख पाणिनि ने 'कपिष्ठलो गोत्रे' (८।३।९१) सूत्र में किया है। दुर्गाचार्य ने भी अपने को 'कापिष्ठल वासिष्ठ' कहा है (अहं च कापिष्ठलो वासिष्ठः'—निरुक्त टीका ४।४)। सम्भवतः यह किसी स्थान विशेष का अभिधान था। इस संहिता के सम्पादक का अनु-मान है कि कपिष्ठल ग्राम का वर्तमान प्रतिनिधि कोई 'कैथल' नामक ग्राम

---

[1] इसके लिए स्वाध्याय मण्डल का संस्करण देखिए जिसकी पाद टिप्पणियों में तुलनात्मक सूची दी गई है। डाक्टर कीथ ने यजुर्वेदीय समस्त संहिताओं में वर्णित यागानुष्ठानों की एक लम्बी सूची दी है जिससे इनका परस्पर सम्बन्ध भलीभाँति समझा जा सकता है। देखिए कीथ तैत्तिरीय संहिता का अंग्रेजी अनुवाद, भूमिका पृ० ८५-१०३।

है जो कुरुक्षेत्र में सरस्वती नदी से थोडी ही दूर पूरब की ओर था। इस ग्राम का उल्लेख काशिका (ऊपर सूत्र की व्याख्या) तथा वराह-मिहिर ने बृहत्-सहिता (१४।४) में किया है।

इस शाखा की संहिता की एक ही प्रति, और सो भी अधूरी ही, उपलब्ध होती है काशी राजकीय सस्कृत कालेज के 'सरस्वती भवन' पुस्तकालय में और यहीं से इसकी प्रतिलिपि यूरोप के वैदिक विद्वानों के अनुशीलन के लिए समय समय पर भेजी गई थी।[1] काठकसहिता से इस संहिता में अनेक बातों में पार्थक्य तथा वैभिन्य है। इसका मूल ग्रन्थ काठक संहिता के समान होने पर भी उसकी स्वरांकन पद्धति ऋग्वेद से मिलती है। ऋग्वेद के समान ही यह अष्टक तथा अध्यायों में विभक्त है। इस प्रकार कापिष्ठल कठसंहिता पर ऋग्वेद का ही सातिशय प्रभाव लक्षित होता है। ग्रन्थ अधूरा ही है। इसमें निम्नलिखित अष्टक तथा तदन्तर्गत अध्याय उपलब्ध हैं:—

प्रथम अष्टक— पूर्ण; आठों अध्याय के साथ।

द्वितीय ,, — त्रुटित } ९ से लेकर २४ अध्याय तक बिल्कुल
तृतीय ,, — त्रुटित } त्रुटित।

चतुर्थ ,, — ३२ वें अध्याय को छोड़कर समस्त (२५–३१तक) अध्याय उपलब्ध जिनमें २७ वाँ अध्याय रुद्राध्याय है।

पञ्चम ,, — आदिम अध्याय (३३ अ०) को छोड़कर अन्य सातों अध्याय उपलब्ध

षष्ठ ,, — ४३ वें अध्याय को छोड़ कर अन्य अध्याय उपलब्ध। ४८ वें अध्याय पर समाप्ति।

---

१ इसी प्रति के आधार पर डा० रघुवीर ने इसे एक सुन्दर स० लाहौर में प्रकाशित किया है मेहरचन्द स० ग्रन्थमाला में, लाहर, १९३२।

पाठकों को जान रखना चाहिए कि उपलब्ध अध्याय भी समग्र रूप से नहीं मिलते, प्रत्युत वे भी बीच बीच में खण्डित तथा त्रुटित हैं। अन्य संहिताओं के साथ तुलना के निमित्त यह अधूरा भी ग्रन्थ बड़ा ही उपादेय तथा उपयोगी है। विषय तथा शैली कठसंहिता के समान ही है।

(३)

सा म वे द

वैदिक संहिताओं में साम का महत्व नितान्त गौरवमय माना जाता है। बृहद्देवता का कहना है कि जो पुरुष साम को जानता है वही वेद के रहस्य को जानता है—"सामानि यो वेत्ति स वेद तत्त्वम्"। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं सामवेद को अपना ही स्वरूप बतलाया है—"वेदानां सामवेदोऽस्मि[1]"। गीता में "प्रणवः सर्ववेदेषु" तथा अनुगीता में "ओङ्कारः सर्ववेदानाम्" कह कर जो ओङ्कार के सर्व वेदों में श्रेष्ठ होने की बात कही गई है, उससे पूर्ण वाक्य में किसी प्रकार का विरोध नहीं घटित होता क्योंकि छान्दोग्य के कथनानुसार '(साम्न उद्गीथो रस)' उद्गीथ सम्पूर्ण सामवेद का सार बतलाया गया है। यह सुप्रसिद्ध है कि उद्गीथ ओङ्कार का ही दूसरा नाम है। अतः ओङ्कार को सब वेदों में भगवद्रूप होने का तात्पर्य सामवेद के महत्व प्रतिपादन में ही है। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में भी सामवेद की प्रशस्त प्रशंसा की गई मिलती है। एक मन्त्र की स्पष्ट उक्ति है कि जो विद्वान् मनुष्य जागरणशील है उसी को साम प्राप्त होते हैं परन्तु जो निद्रालु है वह साम-गायन में कभी प्रवीण नहीं हो सकता[2]। एक दूसरे मन्त्र में

---

१ भगवद्गीता १०।२२

२ यो जागार तमृचः कामयन्ते, यो जागार तमु सामानि यन्ति ।
—ऋ. वे. ५।४४।१४

पक्षियों का गायन साम-गायन के समान मधुर बतलाया गया है[1]। अंगिरा ऋषि के साम का उल्लेख अनेक बार मिलता है[2]।

अथर्ववेद के अनेक स्थलों पर साम की विशिष्ट स्तुति ही नहीं की गई है, किन्तु परमात्मभूत 'उच्छिष्ट' (परब्रह्म) तथा स्कम्भ से इसके आविर्भाव का भी उल्लेख किया गया मिलता है। एक ऋषि पूछ रहा है कि जिस स्कम्भ के साम लोम हैं वह स्कम्भ कौन सा है ?[3] दूसरे मन्त्र में ऋक् के साथ साम का भी अविर्भाव 'उच्छिष्ट' से बतलाया गया है।[4] एक तीसरे मन्त्र में कर्म के साधनभूत ऋक् और साम की स्तुति का विधान किया गया है।[5] इस प्रशंसा के अतिरिक्त विशिष्ट सामों के अभिधान प्राचीन वैदिक साहित्य में उपलब्ध होते हैं जिससे इन सामों की प्राचीनता निःसंदिग्ध रूप से सिद्ध होती है। ऋग्वेद में वैरूप, बृहत्, रैवत, अर्क, गायत्र, भद्र आदि सामों के नाम मिलते हैं। यजुर्वेद में रथन्तर, वैराज, वैखानस, वामदेव्य, शाक्वर, रैवत, अभीवर्त तथा ऐतरेय ब्राह्मण में नौधस, रौरव यौधाजय, अग्निष्टोमीय आदि विशिष्ट सामों के नाम निर्दिष्ट किये गये मिलते हैं। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि साम-गायन अर्वाचीन न होकर अत्यन्त प्राचीनकाल से चला आ रहा है। यहाँ तक कि ऋग्वेद के समय में भी इन विशिष्ट गायनों का अस्तित्व स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है।

---

१ उद्गातेव शकुने साम गायसि।
ब्रह्म-पुत्र इव सवनेषु शंससि॥ ऋ. वे. २।४३।२

२ देवा. अंगिरसा सामभि स्तूयमानाः। ऋ. वे. १।१०७।२

३ सामानि यस्य लोमानि . स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः। अथर्व वेद १०।७।२०

४ ऋच. सामानि छन्दांसि.. ...उच्छिष्टात् जज्ञिरे सर्वे। अ० वे० ११।७।२४

५ ऋचं साम यजामहे याभ्यां कर्माणि कुर्वते। अ० वे० ७।५४।१

साम का अर्थ

साम शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया गया मिलता है। ऋक् मन्त्रों के ऊपर गाये जाने वाले गान ही वस्तुतः 'साम' शब्द के वाच्य हैं परन्तु ऋक् मन्त्रों के लिये भी साम शब्द का प्रयोग किया जाता है। पहिले कहा जा चुका है कि साम संहिता का संकलन उद्गाता नामक ऋत्विज् के लिये किया गया है तथा यह उद्गाता देवता के स्तुतिपरक मन्त्रों को ही आवश्यकतानुसार विविध स्वरों में गाता है। अतः साम का आधार ऋक् मन्त्र ही होता है यह निश्चित ही है—(ऋचि अध्यूढ साम—छा० उ० १।६।१) ऋक् और साम के इस पारस्परिक गाढ़-संबध को सूचित करने के लिये इन दोनों में दाम्पत्य-भाव की कल्पना भी की गई है। पति पत्नी को संतानोत्पादन के लिये आह्वान करते हुये कह रहा है कि मै सामरूप पति हूँ, तुम ऋक-रूपा पत्नी हो, मैं आकाश हूँ और तुम पृथ्वी हो। अतः आवो, हम दोनों मिलकर प्रजा उत्पादन करें।[1] 'गीतिषु सामाख्या' इस जैमिनीय सूत्र के अनुसार गीति को ही साम संज्ञा प्रदान की गई है। छान्दोग्य उपनिषद् में स्वर साम का स्वरूप बतलाया गया है।[2] अत. निश्चित है कि साम शब्द से हमें उन गानों को समझना चाहिये जो भिन्न भिन्न स्वरों में ऋचाओं पर गाये जाते हैं।

साम शब्द की एक बड़ी सुन्दर निरुक्ति बृहदारण्यक उपनिषद् में दी गई है।—सा च अमश्चेति तत्साम्न सामत्वम्-बृह० उ० १।३।२२

---

[1] अमोऽहमस्मि सा त्व, सामाहमस्मि ऋक् त्व, द्यौरहं पृथिवी त्व, ताविह संभवाव, प्रजामाजनयावहै। बृह० उ० ६।४।२०, अ० वे० १४।२।७१, ऐ० ब्रा० ८।२७।

[2] का साम्नो गतिरिति। स्वर इति होवाच। छा० उ० १।८।४

तस्य हैतस्य साम्नो यः स्वं वेद, भवति हास्य स्वं, तस्य स्वर एव स्वम्। बृहदा० उ० १।३।२५

'सा' शब्द का अर्थ है ऋक् और 'अम' शब्द का अर्थ है गान्धार आदि स्वर। अतः साम शब्द का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ हुआ ऋक् के साथ संबद्ध स्वर-प्रधान गायन—तया सह संवद्धः अमो नाम स्वरः यत्र वर्तते तत्साम। जिन ऋचाओं के ऊपर ये साम गाये जाते हैं उनको वैदिक लोग 'साम योनि' नाम से पुकारते है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि जिस साम संहिता का वर्णन यहाँ किया जा रहा है वह इन्हीं सामयोनि ऋचाओं का संग्रहमात्र है अर्थात् साम-सहिता में केवल सामोपयोगी ऋचाओं का ही संकलन है, उन गायनों का नहीं जो साम के मुख्य वाच्य हैं। ये साम 'गान संहिता' में सकलित किये गये हैं।

सामवेद का परिचय—

सामवेद के दो प्रधान भाग होते है आर्चिक तथा गान। आर्चिक का शाब्दिक अर्थ है ऋक्समूह जिसके दो भाग है पूर्वाचिक तथा उत्तरार्चिक। पूर्वार्चिक में ६ प्रपाठक या अध्याय है। प्रत्येक प्रपाठक में दो अर्ध या खण्ड हैं और प्रत्येक खण्ड में एक 'दशति' और हर एक 'दशति' में ऋचायें है। 'दशति' शब्द से प्रतीत होता है कि इनमें ऋचाओ की संख्या दश होनी चाहिए, परन्तु किसी खण्ड में यह दससे कम है और कहीं दस से अधिक। दशतियों में मन्त्रो का संकलन छन्द तथा देवता की एकता पर निर्भर है। ऋग्वेद के भिन्न भिन्न मण्डलों के भिन्न भिन्न ऋषिओं के द्वारा दृष्ट भी ऋचायें एक-देवता-वाचक होने से एकत्र सकलित की गई है। प्रथम प्रपाठक को आग्नेय काण्ड (या पर्व) कहते हैं, क्योंकि इसमें अग्नि-विषयक ऋङ्मन्त्रों का समवाय उपस्थित किया गया है। द्वितीय से लेकर चतुर्थ अध्याय तक इन्द्र की स्तुति होने से 'ऐन्द्र पर्व' कहलाता है। पञ्चम अध्याय को पवमान पर्व कहते हैं, क्योंकि यहाँ सोम-विषयक ऋचायें सगृहीत हैं जो पूरी की पूरी ऋग्वेद के नवम (पवमान) मण्डल से उद्धृत की गई है। षष्ठ प्रपाठक को

आरण्यक पर्व की सञ्ज्ञा दी गई है, क्योंकि देवताओं तथा छन्दों की भिन्नता होने पर भी इनमें गान-विषयक एकता विद्यमान है। प्रथम से लेकर पञ्चमाध्याय तक की ऋचायें तो 'ग्राम-गान' कही जाती है, परन्तु षष्ठ अध्याय की ऋचायें अरण्य में ही गाई जाती हैं। इसीलिए इन सब का यहाँ एकत्र सग्रह कर दिया गया है। इसके अन्त में परिशिष्ट रूप से 'महानाम्नी' नामक ऋचायें (१०) दी गई हैं। इस प्रकार पूर्वार्चिक के मन्त्रों की सख्या छ सौ पचास (६५०) है।

उत्तरार्चिक में ९ प्रपाठक है। पहले पाँच प्रपाठकों में दो दो भाग हैं जो 'प्रपाठकार्ध' कहे जाते है, परन्तु अन्तिम चार प्रपाठकों में तीन तीन अर्ध हैं। यह राणायनीय शाखा के अनुसार है। कौथुम शाखा में इन अर्धों को अध्याय तथा दशतियों को खण्ड कहने की चाल है। उत्तरार्चिक के समग्र मन्त्रों की संख्या बारह सौ पचीस (१२२५) है। अतः दोनों आर्चिकों की सम्मिलित मन्त्र-सख्या अठारह सौ पचहत्तर (१८७५) है। ऊपर कहा गया है कि साम की ऋचायें ऋग्वेद से सकलित की गई है, परन्तु कुछ ऋचायें नितान्त नवीन है अर्थात् उपलब्ध शाकल्य सहिता में ये ऋचायें बिल्कुल नहीं मिलतीं। यह भी ध्यान देने बात है कि पूर्वार्चिक के २६७ मन्त्र (लगभग तृतीयाश से कुछ ऊपर ऋचायें) उत्तरार्चिक में पुनरुल्लिखित की गई है। अत. ऋग्वेद की वस्तुत पन्द्रह सौ चार (१५०४) ऋचायें ही सामवेद में उद्धृत की है। ९९ ऋचायें एकदम नवीन है, इनका सकलन सम्भवत. ऋग्वेद की अन्य शाखाओं की सहिताओं से किया गया होगा। यह प्रश्न पेचीदा है। इसका निपटारा अभी नहीं हो सकता।

ऋग्वेद की ऋचायें १५०४ + पुनरुक्त २६७ = १७७१
नवीन „ ९९ + „ ५ = १०४
सामसंहिता की सम्पूर्ण ऋचायें = १८७५

सामवेद की शाखायें—

भागवत, विष्णुपुराण तथा वायुपुराण के अनुसार वेदव्यास जी ने अपने शिष्य जैमिनि को साम की शिक्षा दी। कवि जैमिनि ही साम के आद्य आचार्य के रूप में सर्वत्र प्रतिष्ठित हैं। जैमिनि ने अपने पुत्र सुमन्तु को, सुमन्तु ने अपने पुत्र सुन्वान् को और सुन्वान् ने स्वकीय सूनु सुकर्मा को सामवेद की संहिता का अध्यापन कराया। इस संहिता के विपुल विस्तार का श्रेय इन्हीं सामवेदाचार्य सुकर्मा को प्राप्त है। इनके दो पट्ट-शिष्य हुए—(१) हिरण्यनाभ कौशल्य तथा (२) पौष्यञ्जि जिनसे सामगायन की द्विविध धारा—प्राच्य तथा उदीच्य—का आविर्भाव सम्पन्न हुआ। प्रश्न उपनिषद् (६।१) में हिरण्यनाभ कौशल-देशीय राजपुत्र के रूप में निर्दिष्ट किये गये हैं। पूर्वीय प्रान्त के निवासी होने से ये 'प्राच्य सामग' कहे गये हैं। हिरण्यनाभ के शिष्य का नाम था—राजकुमार कृत। उधर पौष्यञ्जि (या पौष्पिञ्जी) 'उदीच्य सामग' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्होंने पाँच सौ संहिताओं का निर्माण किया जिसके पढ़नेवाले सामगायक उत्तर भारत से सम्बद्ध रहने के कारण उत्तरीय सामग के नाम से पुराणों में विख्यात हैं। इनके लौगाक्षि, माङ्गलि, कुल्य, कुसीद तथा कुक्षि नामक पाँच शिष्यों के नाम श्रीमद्-भागवत (१२।६।७९) में दिये गये हैं जिन्होंने सौ सौ सामसंहिताओं का अध्यापन प्रचलित कराया। वायु तथा ब्रह्माण्ड के अनुसार इन शिष्यों के नाम तथा संख्या में पर्याप्त भिन्नता दीख पड़ती है। इनका कहना है कि पौष्पिञ्जि के चार शिष्य थे—लौगाक्षि, कुथुमि, कुसीदी तथा लाङ्गलि जिनकी विस्तृत शिष्य परम्परा का विवरण इन पुराणों में विशेष रूप से दिया गया है। नाम धाम में जो कुछ भी भिन्नता हो, इतना तो निश्चित सा प्रतीत होता है कि सामवेद के सहस्र शाखाओं से मण्डित होने में सुकर्मा के ही दोनों शिष्य—हिरण्यनाभ तथा पौष्पिञ्जि—प्रधानतया कारण थे। पुराणोपलब्ध सामप्रचार का यही संक्षिप्त वर्णन है।

किया है कि सात्यमुग्रि लोग एकार तथा ओकार का ह्रस्व उच्चारण किया करते थे। आधुनिक भाषाओं के जानकारों को याद दिलाने की आवश्यकता नहीं है कि प्राकृत भाषा तथा आधुनिक प्रान्तीय अनेक भाषाओं में 'ए' तथा 'ओ' का उच्चारण ह्रस्व भी किया जाता है। इस विशेषता की इतनी प्राचीन और लम्बी परम्परा है; भाषाविदों के लिए यह ध्यान देने की वस्तु है।

(३) जैमिनीय शाखा—हर्ष का विषय है कि इस मुख्य शाखा के समग्र अंश—संहिता, ब्राह्मण, श्रौत तथा गृह्यसूत्र—आजकल उपलब्ध हो गये हैं। जैमिनीय संहिता नागराक्षर में भी लाहौरसे प्रकाशित हुई है। इसके मन्त्रों की संख्या १६८७ है अर्थात् कौथुम शाखा से एक सौ बेयासी (१८२) मन्त्र कम हैं। दोनों में पाठभेद भी नाना प्रकार के हैं। उत्तरार्चिक में ऐसे अनेक नवीन मन्त्र हैं जो कौथुमीय संहिता में उपलब्ध नहीं होते[1]। परन्तु जैमिनीयों के सामगान कौथुमों से लगभग एक हजार अधिक हैं। कौथुमगान केवल २७२२ हैं, परन्तु इनके स्थान पर जैमिनीय गान छत्तीस सौ इक्यासी (३६८१) हैं। इन गानों के प्रकाशन होने पर दोनों की तुलनात्मक आलोचना से भाषाशास्त्र के अनेक सिद्धान्तों का परिचय मिलेगा। तवलकार शाखा इसकी अवान्तर शाखा है जिससे लघुकाय, परन्तु महत्वशाली, केनोपनिषद् सम्बद्ध है। ये तवलकार जैमिनि के शिष्य बतलाये जाते हैं।

ब्राह्मण तथा पुराण के अध्ययन से पता चलता है कि साममन्त्रों, उनके पदों तथा सामगानों की संख्या अद्यावधि उपलब्ध अंशों से कहीं बहुत ही अधिक थी। शतपथ में साममन्त्रों के पदों की गणना ४

१—द्रष्टव्य श्रीपाद सातवलेकर सम्पादित सामवेद का परिशिष्ट भाग पृ० २८६–२९७।

सहस्र बृहती बतलाई गई है[1]। अर्थात् ४ हजार × ३६ = १४४००० अर्थात् साममन्त्रों के पद एक लाख ४४ हजार थे। पूरे सामों की संख्या थी आठ हजार तथा गायनो की संख्या थी चौदह हजार आठ सौ बीस १४८२०[2]। अनेक स्थलों पर बार बार उल्लेख से यह संख्या अप्रामाणिक नहीं प्रतीत होती। इस गणना में अन्य शाखाओं के सामों की संख्या अवश्य ही सम्मिलित की गई है।

सामभाष्य—

सामवेद की समग्रसंहिता के ऊपर तीन भाष्यकारों के भाष्य उपलब्ध हैं जिनमें से केवल सायण का भाष्य ही प्रकाशित है। चतुर्थ ग्रन्थकार ने साम के गृह्य कर्मोपयोगी मन्त्रों के ऊपर ही व्याख्या लिखी थी। माधव साम के प्रथम भाष्कार हैं जिनका 'विवरण' नामक भाष्य सामों के दोनों भागों के ऊपर है। ग्रन्थ अप्रकाशित हैं। बाणभट्ट की कादम्बरी का मगलाचरण 'रजोजुषे जन्मनि सत्त्ववृत्तये' माधव के साम-विवरण का भी मंगलश्लोक है। 'त्रयीमयाय' शब्द इसे किसी वैदिक ग्रन्थ से सम्बन्ध को औचित्यपूर्ण सिद्ध कर रहा है। यदि यह अनुमान शक्य हो, तो माधव बाणभट्ट के पूर्ववर्ती तथा उत्तरभारत के निवासी सिद्ध होते हैं। भरतस्वामी का भाष्य भी अभी तक प्रकाश में नहीं आया है। दक्षिण के वारगल के होयसलवंशी राजा वीर रामनाथ

१—अथेतरौ वेदौ व्यौहद। द्वादशैव बृहती सहस्राणि अष्टौ यजुषा, चत्वारि साम्नाम ॥

—बृह० १०।४।२।२३

२—अष्टौ साम सहस्राणि छन्दोगार्चिक-संहितां।
गानानि तस्य वक्ष्यामि सहस्राणि चतुर्दश ॥
अष्टौ शतानि ज्ञेयानि दशोत्तर दशैव च।
ब्राह्मणं चोपनिषदं सहस्रं त्रितयं तथा ॥

—चरणव्यूह

(मृत्युकाल १२९५) के सभापण्डित होने से इनका समय १३ शतक का अन्तिम काल है। यह भाष्य अत्यन्त संक्षिप्त है। गुणविष्णु का 'छान्दोग्य मन्त्रभाष्य' केवल नित्य-नैमित्तिक कर्मों के लिए उपयोगी साम मन्त्रों के ऊपर है[1]। गौड देश के राजा वल्लाल सेन या तदात्मज लक्ष्मण सेन के समकालीन होने से इनका काल १२ शतक का अन्त तथा १३ श० का आरम्भ माना जाता है। इस भाष्य का प्रचलन मिथिला और वगाल में विशेषरूप से है। सायण का सामभाष्य स्वल्पाक्षर तथा सक्षिप्त है। ऋक्‌भाष्य के समान इसमें न विशेष विस्तार है, न प्रमाण ग्रन्थों का विपुल उद्धरण।

सामगान पद्धति

इन्हीं सामयोनि मन्त्रों का आश्रय लेकर ऋषियों ने गान ग्रन्थों की रचना की है। ये चार प्रकार के होते हैं,—(१) (ग्राम) गेय गान (जिसे 'प्रकृतिगान' तथा 'वेय गान' भी कहते हैं), (२) आरण्यक गान, (३) ऊहगान, (४) ऊह्य गान (या रहस्य गान)। इन गानों में वेय-गान पूर्वार्चिक के प्रथम पाँच अध्याय के मन्त्रों के ऊपर होता है। अरण्य-गान आरण्यक पर्व में निर्दिष्ट मन्त्रों का, ऊह और ऊह्य गान उत्तरार्चिक में उल्लिखित मन्त्रों का मुख्यतया होता है। भिन्न भिन्न शाखाओं में इन गानों की सख्या भिन्न २ है। सबसे अधिक गान जैमिनीय शाखा में उपलब्ध होते है। यथा—

	कौथुमीय गान	जैमिनीय गान
वेयगान	१२९७	१२३२
अरण्यगान	२९४	२९१
ऊहगान	१०२६	१८०२
ऊह्यगान	२०५	३५६
कुलयोग—	२७२२	३६८१

१—इसका सुन्दर संस्करण संस्कृत परिषद् (कलकत्ता) ने प्रकाशित किया है।

भारतीय संगीतशास्त्र का मूल इन्हीं साम-गायनों पर अवलम्बित है। भारतीय संगीत जितनी सूक्ष्म, बारीक तथा वैज्ञानिक है वह संगीत के समझदारों से अपिरिचित नहीं है। परन्तु विद्वज्जनों की अवहेलना के कारण उसकी इतनी बड़ी दुरवस्था आजकल उपस्थित है कि उसके मौलिक सिद्धान्तों को समझना एक बड़ी विषम समस्या है। साम-गायन की पद्धति के रहस्य का ज्ञान उसी प्रकार दुरूह है। एक तो यों ही साम के जानने वाले कम है तिस पर सामगानों को ठीक स्वरों में गानेवालों की संख्या तो उंगुलियों पर गिनने लायक है। परन्तु फिर भी जाननेवालों का नितान्त अभाव नहीं है। यदि गायक के गले में लोच हो और वह उचित मूर्छना, आरोह और अवरोह, का विचार कर साम-गायन करे, तो विचित्र आनन्द आता है। वह साम मन्त्रार्थ न जानने पर भी हृदय को बरबस खींच लेता है। इसके लिए सामवेदीय शिक्षाओं की शिक्षा परमावश्यक है।

नारद शिक्षा के अनुसार साम के स्वरमण्डल इतने है—७ स्वर, ३ ग्राम, २१ मूर्छना तथा ४९ तान। इन सात स्वरों की तुलना वेणु-स्वर से इस प्रकार है:—

साम	वेणु
१ प्रथम	मध्यम । म
२ द्वितीय	गान्धार । ग
३ तृतीय	ऋषभ । रे
४ चतुर्थ	षड्ज । सा
५ पञ्चम	निषाद । नि
६ षष्ट	धैवत । ध
७ सप्तम	पञ्चम । प

सामगानों में ये ही ७ तक के अंक तत्तत् स्वरो के स्वरूप को सूचित करने के लिए लिखे जाते हैं। साम-योनि मन्त्रों के ऊपर दिये गये

अङ्को की व्यवस्था दूसरे प्रकार की होती है। सामयोनि मन्त्रो के सामगानों के रूप में ढालने पर अनेक सगीतानुकूल शाब्दिक परिवर्तन किये जाते हैं। इन्हें 'सामविकार' कहते है जो सख्या में ६ प्रकार के होते है.—

(१) विकार = शब्द का परिवर्तन। 'अग्ने' के स्थान पर ओग्नायि।

(२) विश्लेषण = एक पद का पृथक्करण। यथा वीतये के स्थान पर 'वोयि तोया २ यि'।

(३) विकर्षण = एक स्वर का दीर्घकाल तक विभिन्न उच्चारण, ये = या २३ यि

(४) अभ्यास = किसी पद का वार वार उच्चारण। यथा 'तोयायि' का दो वार उच्चारण

(५) विराम = सुभीते के लिए किसी पद के बीच में ठहर जाना यथा 'गृणानो हव्यदातये' में ह पर विराम लेना

(६) स्तोभ = औ होवा, हाउआ आदि गानानुकूल पद।

ये विकार भाषाशास्त्र की दृष्टि मे भी नितान्त मननीय हैं।

साम का परिचय—

साम रूढ शब्द है, जिसका अर्थ गान अथवा गीति है, जैसा कि जैमिनि ने 'गीतिषु सामाख्या' (जै० सू० २।१।३६) में वतलाया है। गान विशेष का रथन्तर, वृहत आदि नामकरण है। सामान्यवाची 'साम' शब्द है और रथन्तर, वृहत् आदि शब्द गान-विशेषके वाचक है। रथन्तर, वृहत् आदि नामकरण का प्रयोजक अध्येतृ-प्रसिद्धि ही है। गायत्र्यादि सभी छन्दों में सामगान है। उदाहरणार्थ—'अग्न आयाहि वीतये' (छन्द आर्चिक १।१।१) इस गायत्री-छन्दस्क ऋचा पर वेयगान १।१।१ में साम है। 'पुरुत्वादाशिव' (छ० आ०

२।१।१) इस उष्णिक्-छन्दस्क ऋचा पर वेयगान ३।१।९ में साम है। 'अग्न ओजिष्ठमाभर' (छ० आ० १।२।२७) इस अनुष्टुप् छंदवाली ऋचा पर वेयगान के २।२।१९ में साम है। 'यज्ञायज्ञा वो' (छ० आ० १।१।३५) इस बृहती छद की ऋचा पर वेयगान १।२।२२ में साम है। 'स्वादोरित्था विषूवतो' (छ० आ० ५।१।१९) इस पङ्क्तिछन्दस्क ऋचा पर वेयगान ११।१।६ में, 'आ जुहोता हविषा' (छ० आ० १।२।९) इस त्रिष्टुप् छन्दकी ऋचा पर वेयगान २।१।२४ में, 'चित्र इच्छिषो०' (छ० आ० १।२।१०) इस जगती छन्द की ऋचा पर वेयगान २।१।३५ में साम है। इसी प्रकार अति जगती, शक्वरी, अतिशक्वरी, अष्टि तथा अत्यष्टि नामक अतिछन्दक ऋचाओं पर भी साम है।

सामवेदीय शाखाओं का संहिता भाग में पार्थक्य कौथुमी एव जैमिनीय शाखा के संहिता-ग्रन्थों को देखने से प्रतीत होता है। इसी प्रकार गान-भाग में भी पार्थक्य है किंवा नहीं ? यह अनुभवराहित्य के कारण निश्चित रूप से कहना कठिन है। सभव है कि संहिता भाग में पार्थक्य की तरह गान-भाग में भी कुछ वैशिष्ट्य हो। कौथुमी शाखा से भिन्न जैमिनीय शाखा के कुछ मन्त्र ऋग्वेद संहिता में मिलते है। सामों का परस्पर वैशिष्ट्य विकार, विश्लेषण, विकर्षण, अभ्यास, विराम तथा स्तोभ के कारण होता है।

यज्ञों में औद्गातृगण के चारों ऋत्विजों के कर्मकलापों में कहीं कहीं भिन्नता और कहीं कहीं सहकारित्व है। इसका विधान श्रौतसूत्रों द्वारा अवगत हो सकता है। सामों का यज्ञों में कहीं कहीं केवल प्रस्तोता के लिए तो कहीं उद्गाता के लिए गान करने का विधान है और कहीं कहीं प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव तथा निधनरूप से ५ भाग करके विभिन्न अश विभिन्न ऋत्विक् को उच्चारण करने की विधि है।

पूर्वार्चिक का उत्तरार्चिक से यही सम्बन्ध है कि उत्तरार्चिक में जो प्रगाथ किंवा तीन-चार ऋचाओं के सूक्त है, उनमें अधिकतर की पहली

ऋचाएं पूर्वार्चिक में पठित हैं। पूर्वार्चिक में नानाविध सामों की योनि-भूत ऋचाएं पठित हैं और उत्तरार्चिक में प्रगाथ तथा तृचादि सूक्त पठित हैं। एक प्रगाथात्मक या तृचात्मक सूक्त में पूर्वार्चिकान्तर्गत योनिभूत ऋक् पहली है और अन्य दो उत्तर ऋचाएं हैं। पूर्वार्चिक तथा उत्तरार्चिक के सम्बन्ध को लेकर पाश्चात्य विद्वानों ने पर्याप्तरूपेण मीमांसा की है। डाक्टर कैलेण्ड तो कभी उत्तरार्चिक को ही दोनों में उपेक्षाकृत प्राचीनतर मानते थे, परन्तु अब उन्होंने अपने ही पूर्व मतको भ्रान्त मानकर छोड़ दिया है। पूर्वार्चिक के प्राचीनतर होने का यही कारण नहीं है कि यह ऋचाओं का संग्रह 'पूर्व' शब्द के द्वारा सूचित होने से कालक्रम में प्राचीन है, परन्तु इसके लिए अन्य कारण भी हैं। सामविधान ब्रा० में उत्तरार्चिक के मन्त्रों का उद्धरण कहीं भी नहीं है। अथर्व-परिशिष्ट (४६।३।६) के अनुसार सामवेद की अन्तिम ऋचा वही है जो पूर्वार्चिक की उपान्त्य ऋचा है (सा० स० ५८४)। इन्हीं प्रमाणों के आधार पर डा० ओल्डनबर्ग ने जो पूर्वार्चिक को अपेक्षाकृत पूर्वतर माना है यह उचित ही है। डाक्टर कैलेण्ड का कहना है कि उद्गातागण यज्ञमें प्रयुज्यमान ऋचाओं को ऋग्वेद से ही साक्षात् रूप से प्रथमतः ग्रहण किया करते थे। अनन्तर ये मन्त्र कालान्तर में उत्तरार्चिक में संगृहीत कर लिये गये हैं। अतः उत्तरार्चिक निश्चितरूपेण यज्ञोपयोगी ऋचाओं का अवान्तरकालीन उपयोगी संग्रह है। इतना ही नहीं, इनके ऊपर आश्रित ऊह गान तथा ऊह्य गान को वे सामवेदीय ग्रन्थों में सबसे पीछे विरचित मानते हैं[1]। वे इन गान ग्रन्थों को ताण्ड्य ब्राह्मण से पीछे, लाट्यायन श्रौतसूत्र से पीछे, आर्षेय कल्प तथा पुष्पसूत्र से भी पीछे

१—द्रष्टव्य ताण्ड्य ब्राह्मण का अंग्रेज़ी अनुवाद, भूमिका पृष्ठ १०-१५ (कलकत्ता, १९३१)

मानने का इसीलिए आग्रह करते हैं कि द्राह्यायण श्रौतसूत्र के टीकाकार धन्वी ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि ऊहगान तो सूत्रकार के पीछे निर्मित हुआ है। निष्कर्ष यह है कि आधुनिक अनुशीलन से भी पूर्वार्चिक उत्तरार्चिक की अपेक्षा प्राचीनतर सिद्ध होता है।

गानों के प्रकार—

गान चार प्रकार के हैं जिनके निर्देशक भिन्न भिन्न ग्रन्थ हैं। इन चारों के नाम हैं—(१) वेयगान (या ग्रामे गेय गान), (२) आरण्य गान, (३) ऊहगान तथा (४) ऊह्य गान। प्रथम दो गान—वेय तथा अरण्य—योनिगान हैं तथा ऊह और ऊह्य विकृति-गान कहे जाते हैं। ऊहकी प्रकृति वेय-गान है तथा ऊह्यकी प्रकृति (या योनि) अरण्य गान है। इसका तात्पर्य यह है कि वेयगान में प्रयुक्त स्वर रागादि का आश्रय लेकर ही ऊह गान का निर्माण होता है और आरण्य गान के स्वररागादि के आधार पर ही ऊह्य गान की रचना की गई है। इन चारो गानों के स्वरूप का पार्थक्य उनके नामकरण से भलीभाँति चलता है। वेयगान का दूसरा नाम है—ग्रामे गान अर्थात् वह ग्राममें, समाज में गाने योग्य होता है, परन्तु 'आरण्य गान' के अन्तर्गत साम अरण्य मे ही गाने योग्य होते हैं। सामवेदियों की मान्यता है कि आरण्य गान के स्तोभ इतने विलक्षण तथा विचित्र हैं कि ग्राम में गाने पर उनसे अनर्थ होने की सम्भावना रहती है। वे इतने पवित्र होते हैं कि अरण्य के पूत वातावरण में ही उनका उचित गायन किया जा सकता है तथा उचित प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है। 'ऊह' का अर्थ है ऊहन, किसी अवसर विशेष पर मन्त्रों का सामयिक परिवर्तन। इसी व्याख्या के अनुसार 'ऊह गान' सोमयाग के अवसर पर प्रयोजनीय सामों का नाम है। 'ऊह्य गान' का पूरा नाम ऊह्य रहस्य गान है तथा रहस्यात्मक होने के कारण ही ये 'आरण्य गान' के विकृति

गान माने जाते हैं। आरण्य के समान ये गान भी रहस्यात्मक होते हैं तथा इसीलिए सर्व साधारण के सामने समाज के भीतर इनका गायन निषिद्ध माना जाता है।[1]

मन्त्रों पर साम निश्चित ही है। किस ऋचा पर कौन से तथा कितने साम होंगे? इसका निश्चय वैदिकों की परम्परा से होता आया है। साम अनियत नहीं किन्तु नियत हैं। नियमन का बीज वैदिक प्रसिद्धि ही मानना उचित है। सामवेद में पठित समग्र ऋचाओं पर साम हों, ऐसा कोई नियम नहीं है। कतिपय ऋचाओं पर साम का सर्वथा अभाव है। ये ऋचायें उत्तरार्चिक में ही पाई जाती हैं। उदाहरणार्थ 'यत्र बाणा संपतन्ति कुमारा विशिखा इव' (सामवेद सं० १८६६), 'भद्रं कर्णेभि: शृणुयाम देवा' (सामवेद सं० १८७४), आशु: शिशानो वृषभो न भीम (साम० सं० १८४९) ऋचाओं पर कोई भी गान गानग्रन्थों में नहीं दिये गये हैं। ऋचा-विशेष पर सामों की संख्या भी वैदिक प्रसिद्धि से नियत की है। ऐसी अनेक ऋचायें मिलती हैं जिनके ऊपर चारों प्रकार के गान होते हैं और वे भी अनेक प्रकार के मिलते हैं। उदाहरणार्थ 'अया रुचा हरिण्या' (सा० सं० ४६३) तथा 'अयं पूषा रयिर्भग' (सा० सं० ५४६ तथा ८१८) के ऊपर पूर्वोक्त चारों प्रकार के गान मिलते हैं। द्वितीय ऋचा पर तो समग्र सामों की संख्या २५ है। इतना ही नहीं, एक ऋचा के ऊपर प्रयुक्त सामों की सबसे बड़ी संख्या ६१ है जो 'पुनान सोम धारया' (ऋ० ९।१०७।४, सा० सं० ५११) के ऊपर गाये जाते हैं। इससे उतर कर सामों की दूसरी बड़ी संख्या ५९ है जो 'पुरोजिती वो अधस' (सा० सं० ५४५) ऋचा के

---

[1] इन गानग्रन्थों का संग्रह पण्डित सत्यव्रत सामश्रमी ने अपने सामवेद के प्रकाण्ड संस्करण (५ जिल्दों में) में किया है। हाल में सातवलेकर ने गेय तथा अरण्यगान को एक साथ प्रकाशित किया है (औंध, १९४२)

ऊपर अधिष्ठित होते हैं। तीसरी संख्या ४८ सामों की है जो 'यो धारया पावकया' (सा० सं० ६९८) के ऊपर गाये जाते हैं। २५ सामों को रखनेवाली ऋचायें तो संख्या में अनेक हैं।[1] इन विशिष्ट सामों की स्थिति तथा संख्या का नियम प्राचीन वैदिक परम्परा के ऊपर आश्रित है।

स्तोम तथा विष्टुति

शस्त्र तथा स्तोत्र में अन्तर होता है। शस्त्र का लक्षण है अप्रगीत-मन्त्रसाध्या स्तुतिः शस्त्रम् अर्थात् बिना गाये गए मन्त्रों के द्वारा सम्पादित स्तुति। 'शस्त्र' ऋग्वेद में होता है और स्तोत्र सामवेद में। स्तोत्र का स्पष्ट अर्थ है प्रगीत-मन्त्र-साध्या स्तुतिः स्तोत्रम्। स्तोम भी स्तुति का ही एक प्रकारान्तर है। स्तोमो का प्रयोग भी यज्ञ यागों में होता था और इनका विशेष वर्णन ताण्ड्यब्राह्मण में किया गया है। स्तोम की संख्या नौ है—(१) त्रिवृत्, (२) पञ्चदश, (३) सप्तदश, (४) एकविंश, (५) त्रिणव, (६) त्रयस्त्रिंश, (७) चतुर्विंश, (८) चतुश्चत्वारिंश तथा (९) अष्टाचत्वारिंश। ये स्तोम प्रायः तृच पर हुआ करते हैं। इन तृचों को तीन पर्याय में गाने का नियम है और प्रत्येक पर्याय में तृचो पर साम के गान की आवृत्ति का नियम है। इस प्रकार तृतीय पर्याय में स्तोम का स्वरूप निष्पन्न हो जाता है। इस आवृत्ति-जन्य गान के प्रकार की सञ्ज्ञा 'विष्टुति' (= विशेष स्तुति) है। इन नवो स्तोमों की समग्र विष्टुतियाँ संख्या में २८ हैं जिनका विशेष वर्णन ताण्ड्य ब्राह्मण के द्वितीय तथा तृतीय अध्याय में किया गया है।

उदाहरणार्थ 'पञ्चदशस्तोम' को लीजिए। इसकी तीन विष्टुतियाँ होती हैं। प्रत्येक विष्टुति में तृच की प्रत्येक ऋचा का गायन तीन

---

१ द्रष्टव्य सातवलेकर द्वारा सम्पादित 'सामवेद' पृष्ठ २२४ (औंध, १९४२)

पर्याय में सिद्ध होता है। प्रतिपर्याय में ५ बार गायन होता है जिससे मिलाकर पूरा गायन १५ बार सम्पन्न होता है। प्रथम पर्याय में पहिली ऋचा को तीन बार तथा दूसरी तीसरी को एक बार गाना पड़ता है। द्वितीय पर्याय में प्रथम तथा तृतीय ऋचाको एक बार तथा द्वितीय ऋचा को तीन बार गाना चाहिए। तृतीय पर्याय में प्रथम द्वितीय ऋचा एक एक बार तथा तृतीय ऋचा को तीन बार गाना होता है। इस प्रकार पूरे पर्यायों की समाप्ति पर पन्द्रह बार गायन होने से इसे 'पञ्चदश स्तोम' का अन्वर्थक नाम दिया गया है। इसी प्रकार अन्य स्तोमों की भी दशा है।

साम के विभाग

सामगायन की पद्धति बहुत ही कठिन है, उसकी ठीक २ जानकारी के लिये सूक्ष्म अध्ययन की आवश्यकता है। साधारण ज्ञान के लिये यह जानना पर्याप्त है कि सामगान के पाँच भाग होते हैं—

(१) प्रस्ताव—यह मन्त्र का आरम्भिक भाग है जो हुं से प्रारम्भ होता है। इसे प्रस्तोता नामक ऋत्विज् गाता है। (२) उद्गीथ—इसे साम का प्रधान ऋत्विज् उद्गाता गाता है। इसके आरम्भ में ओम् लगाया जाता है (३) प्रतिहार—इसका अर्थ है दो को जोड़ने वाला। इसे प्रतिहर्ता नामक ऋत्विज् गाता है। इसी के कभी २ दो टुकड़े कर दिये जाते हैं। (४) उपद्रव—जिसे उद्गाता गाता है तथा (५) निधन—जिसमें मन्त्र के अन्तिम दो पदांश या ओम् रहता है। इसका गायन तीनों ऋत्विज्—प्रस्तोता, उद्गाता, प्रतिहर्ता—एक साथ मिलकर करते हैं। उदाहरण के लिये सामवेद का प्रथम मन्त्र लीजिये—

अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये।
नि होता सत्सि बर्हिषि ॥

इसके ऊपर जिस साम का गायन किया जायेगा उसके पाँचों अङ्ग इस प्रकार है—

(१) हुँ ओग्नाइ (प्रस्ताव)

(२) ओम् आयाहि वीतये गुणानो हव्यदातये (उद्गीथ)

(३) नि होता सत्सि वर्हिपि ओम् (प्रतिहार)

इसी प्रतिहार के दो भेद होंगे जो दो प्रकार से गाये जायँगे :—

(४) नि होता सत्सि व । (उपद्रव)

(५) हिंपि ओम् (निधन)

इसी साम को जब तीन बार गाया जाता है तब उसे स्तोम' कहते है। साम गायन के लिये स्वर को कभी ह्रस्व और कभी विकृत या परिवर्तित करना पड़ता है। जैसे पूर्व मंत्र के अग्न का गायन में परिवर्तित रूप 'ओग्नाइ' हो जाता है। गायन में पूर्ति के लिये कभी कभी निरर्थक पद भी जोड दिये जाते हैं—जैसे औ, हौ, वा, हा आदि। इन्हे 'स्तोभ' कहते हैं।

छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार साम सप्तविध या सात प्रकार का होता है—(१) हिंकार (२) प्रस्ताव (३) आदि (४) उद्गीथ (५) प्रतिहार (६) उपद्रव (७) निधन। ऊपर निर्दिष्ट पचविध साम के ही अवान्तर भेद करने से इन सप्तविध सामों की उत्पत्ति होती है। उदाहरण के लिये साम के प्रथम मत्र के ऊपर तीन साम विहित हैं जिनमें से प्रथम साम नीचे दिया जाता है। अन्य दो साम गानग्रन्थ में देखे जा सकते है.—

गान—

(१) गौतमस्य पर्कम्—

ओग्नाई। आया हीऽ२। वोइ तो याऽ२इ। तोयाऽ२ इ। गृणानो इ। व्यदा तो याऽ२३। तो याऽ२ इ। नाइ होता साऽ२३। त्साऽ२ इ। वाऽ२३४ औ हो वा। र्हीऽ२३४ पी॥ १॥

(४)

अथर्ववेद

वेदों में अन्यतम अथर्ववेद एक भूयसी विशिष्टता से सवलित है। ऋग्वेद आदि तीनों वेद आमुष्मिक फल देने वाले हैं। अर्थात् इन वेदों में दिये गये मन्त्रों के द्वारा स्वर्गलोक की प्राप्ति आदि परलोक-सम्बन्धी विषयों का प्रतिपादन किया गया है। परन्तु अथर्ववेद ऐहिक फल देने वाला भी है। इस जीवन को सुखमय तथा दुःख-विरहित बनाने के लिये जिन साधनों की आवश्यकता होती है उनकी सिद्धि के लिये नाना अनुष्ठानों का विधान इस वेद में किया गया है। यज्ञ के पूर्ण निष्पादन के निमित्त जिन चार ऋत्विजों की आवश्यकता होती है उनमें से अन्यतम ऋत्विज्—ब्रह्मा का साक्षात् सम्बन्ध इसी वेद से है। ब्रह्मा नामक ऋत्विज् यज्ञ का अध्यक्ष होता है। इसका प्रधान कार्य नाना विधानों का निरीक्षण तथा सम्भावित त्रुटियों का मार्जन होता है। वह इतर तीनों वेदों का ज्ञाता होता है, परन्तु उसका प्रधान वेद अथर्ववेद ही होता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में ब्रह्मा का महनीय गौरव अनेकत्र वर्णित है। गोपथ ब्राह्मण (३।२) का कथन है कि तीनों वेदों के द्वारा यज्ञ के केवल एक पक्ष का ही संस्कार होता है। ब्रह्मा मन के द्वारा यज्ञ के दूसरे पक्ष का संस्कार करता है। ऐतरेय ब्राह्मण (५।३३) के अनुसार यज्ञ के दो मार्ग हैं—वाक् तथा मन। वचन के द्वारा वेदत्रयी यज्ञ के एक पक्ष को संस्कृत बनाती है। दूसरे पक्ष का संस्कार ब्रह्मा करता है और वह मन के द्वारा करता है। इन कथनों से स्पष्ट है कि यज्ञ के पूर्ण संस्कार के लिये अथर्ववेद की नितान्त आवश्यकता होती है।

---

१ स वा एष त्रिभिर्वेदैर्यज्ञस्यान्यतरः पक्षः संस्क्रियते।
मनसैव ब्रह्मा यज्ञस्यान्यतरं पक्षं संस्करोति॥ गो० ब्रा० ३।२

पुरोहित के लिए अथर्ववेद का ज्ञान इसलिये आवश्यक होता है कि वह राजा के शान्ति और पौष्टिक कार्यों का सम्पादन अथर्ववेद के द्वारा ही करता है[1]। अथर्व-परिशिष्ट का तो यहाँ तक कहना है कि जिस राजा के जनपद में अथर्ववेद का ज्ञाता निवास करता है वह राष्ट्र उपद्रवहीन होकर वृद्धि को प्राप्त होता है।[2] इस प्रकार ऐहिक तथा आमुष्मिक, लौकिक तथा पारलौकिक, विषयों के प्रतिपादक होने के कारण अथर्ववेद वैदिक संहिताओं में अपना वैशिष्ट्य रखता है।

नामकरण

अथर्ववेद के उपलब्ध अनेक अभिधानों में अथर्ववेद, ब्रह्मवेद अंगिरोवेद, अथर्वाङ्गिरस वेद आदि नाम मुख्य हैं। 'अथर्व' शब्द की व्याख्या तथा निर्वचन निरुक्त (११।२।१७) तथा गोपथ ब्राह्मण (१।४) में मिलता है। 'थर्व्' धातु कौटिल्य तथा हिंसावाची है। अतएव अथर्व शब्द का अर्थ है अकुटिलता तथा अहिंसा वृत्ति से मन की स्थिरता प्राप्त करनेवाला व्यक्ति। इस व्युत्पत्ति की पुष्टि में योग के प्रतिपादक अनेक प्रसंग स्वयं इस वेद में मिलते हैं।[3] ब्रह्मवेद शब्द का प्रयोग इसीलिये है कि इस वेद में परमब्रह्म की प्राप्ति स्पष्टतः मंत्रों द्वारा निर्दिष्ट की गई है। आथर्वण तथा आङ्गिरस ऋषियों के द्वारा वेद के अनेक मंत्र दृष्ट हुए हैं। इसीलिये इस वेद का एक नाम अथर्वाङ्गिरस वेद भी है। अवेस्ता का 'अथ्रवन्' शब्द अथर्वन् का ही

१—पौरोहित्य शान्तिक पौष्टिकादि राज्ञाम् अथर्ववेदेन कारयेद् ब्रह्मत्वञ्च।
—विष्णुपुराणे।

२—यस्य राज्ञो जनपदे अथर्वा शान्तिपारग।
निवसत्यपि तद् राष्ट्रं वर्धते निरुपद्रवम्॥
—अथर्व परिशिष्टे

३—अथर्ववेद—९।१, १०।२।२६-२८।

प्रतिनिधि है और बहुत सम्भव है कि इन दोनों का सामान्य अर्थ ऋत्विज् ही है जो अग्नि की उपासना तथा पूजा किया करता था। पश्चिमी विद्वानों के कथनानुसार अथर्वन् उन मन्त्रों के लिये प्रयुक्त होता है जो सुख उत्पन्न करनेवाले अच्छे जादू टोनों के लिये प्रयुक्त होते हैं। आङ्गिरस का अर्थ वह अभिचार मन्त्र है जिसका प्रयोग मारण तथा मोहन के लिये किया जाता था। इस अथर्ववेद में रोगों को दूर करनेवाले मन्त्रों के साथ शत्रुओं तथा प्रतिपक्षियों के विरुद्ध अभिशापों का भी पर्याप्त वर्णन है।

अथर्ववेद की शाखायें—

पुराण के अनुसार वेदव्यासजी ने जिस शिष्यको अथर्व का अध्ययन कराया उनका नाम था—समन्तु[1]। भागवत में अभिचार-प्रधान वेद के मुख्य प्रचारक होने के कारण सुमन्तु 'दारुण मुनि' की उपाधि से विभूषित किये गये हैं। सुमन्तु ने दो संहितायें अपने शिष्य कबन्ध को दीं जिनके दो पट्टशिष्य थे—पथ्य और देवदर्श। पथ्य और देवदर्श। पथ्य के तीन शिष्य थे—(१) जाजलि, (२) कुमुद, (३) शौनक और देवदर्श के चार शिष्य हुए—(१) मोद, (२) ब्रह्मबलि, (३) पिप्पलाद, (४) शौष्कायनि (या शौक्रायनि)। इनमें शौनक के शिष्य बभ्रु तथा सैन्धवायन बतलाये जाते हैं। इन्हीं मुनियों द्वारा अथर्ववेद का विशेष प्रचार सम्पन्न हुआ।

पतञ्जलि ने पस्पशाह्निक में 'नवधाऽऽथर्वणो वेद' लिखकर इस वेद की ९ शाखाओं का उल्लेख किया है। प्रपञ्चहृदय, चरणव्यूह तथा सायणभाष्य के उपोद्घात में शाखाओं की संख्या में अभिन्नता

१—द्रष्टव्य—श्रीमद्भागवत (१२।७।१-३), वायुपुराण ६१।४९-५३, विष्णुपुराण ३।६।९-१३।

होने पर भी इनके नामों में महती भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। इनकी तुलना करने पर इनके अभिधान इस प्रकार ठीक जमते हैं:—

(१) पिप्पलाद, (२) स्तौद (या तौद), (३) मौद (४) शौनकीय, (५) जाजल, (६) जलद, (७) ब्रह्मवद (८) देवदर्श तथा (९) चारण वैद्य

इन शाखाओं में पिप्पलाद तथा शौनक के अनुसार कतिपय ग्रन्थ उपलब्ध होते है। अन्य शाखायों का तो नाममात्र शेष हैं।

(१) पिप्पलाद—पिप्पलाद मुनि एक बहुत बड़े अध्यात्मवेत्ता प्रतीत होते हैं। अपनी अध्यात्मविषयक शंकाओं के निवारण करने के अभिप्राय से सुकेशा भारद्वाज आदि छ मुनियों के इन के पास जाने का उल्लेख मिलता है और इन्होंने जो उत्तर दिये वे प्रश्नोपनिषद् में सुरक्षित हैं। प्राचीनकाल में इनकी संहिता की विशेष ख्याति का पता चलता है। इनके दो ग्रन्थ थे[1]—(१) बीस काण्ड वाली मन्त्र-संहिता तथा (२) आठ अध्याय वाला ब्राह्मण। इनमें से संहिता एक अभूतपूर्व शारदा लिपि में निबद्ध हस्तलिखित प्रति के आधार पर रोमन लिपि में छप चुकी है। पिप्पलाद संहिता की एकमात्र प्रति शारदा लिपि में कश्मीर में उपलब्ध हुई जिसे कश्मीर-नरेश ने जर्मन डा० राथ को १८७५ में उपहार में भेज दी। उसी प्रति से १९०१ ई० अमेरिका में इसका फोटोमात्र तीन बड़ी बड़ी जिल्दों में छपा था।

महाभाष्य के अनुसार 'शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शं योरभि स्रवन्तु नः' अथर्व का प्रथम मन्त्र है, परन्तु आजकल प्रच-

---

१ तथाऽऽथर्वणिके पैप्पलादशाखाया मन्त्रो विंशति काण्ड.। तद्ब्राह्मण अष्टाध्यायकम्।—प्रपञ्चहृदय

लित (शौनक) संहिता में यह षष्ठ सूक्त का आदि मन्त्र है। उक्त प्रति के आरम्भ में त्रुटित होने से उपलब्ध न होने पर भी गुणविष्णु से पता चलता है कि यह मन्त्र पिप्पलाद शाखा का आदि मन्त्र था[1]। इस बात से भी महाभाष्यकाल में इस संहिता की प्रसिद्धि का पता भली भाँति चल सकता है।

(२) मौद—महाभाष्य (४।१।८६) तथा शाबरभाष्य (१।१।३०) में इनका उल्लेख मिलता है। अथर्व-परिशिष्ट (२।६) ने मौद तथा जलद शाखावाले पुरोहित के रखने से राष्ट्र के नाश की आशंका प्रकट की है जिससे इन शाखाओं के कम से कम अस्तित्व या प्रचलन का पता चलता है—

पुरोधा जलदो यस्य मौदो वा स्यात् कदाचन।
अब्दाद् दशभ्यो मासेभ्यो राष्ट्रभ्रंशं स गच्छति॥

(३) शौनक—आजकल प्रचलित संहिता तथा गोपथ ब्राह्मण इसी शाखा के हैं। इसी संहिता का पूरा विवरण आगे दिया जावेगा। तौद, जाजल, ब्रह्मवद तथा देवदर्श नाममात्र प्रसिद्ध हैं। अथर्व की अन्तिम शाखा चारणवैद्यों के विषय में कौशिक सूत्र की व्याख्या (६।३७) तथा अथर्व परिशिष्ट (२२।२) से कुछ पता चलता है। वायुपुराण से ज्ञात होता है कि इस शाखा की संहिता में छ हजार छब्बीस (६०२६) मन्त्र थे[2]। परन्तु यह संहिता अभी तक उपलब्ध नहीं हुई है।[3]

---

१ शं नो देवी अथर्ववेदादिमन्त्रोऽयं पिप्पलाददृष्टः —छान्दोग्यमन्त्र भाष्ये ।

२ तथा चारणवैद्यानां प्रमाणं संहिता शृणु ।
षट्सहस्रमृचामुक्तं ऋचः षड्विंशतिः पुनः ॥
—वायु पुराण ६१।६६

३ विशेष के लिए द्रष्टव्य भगवद्दत्त—वैदिक वाङ्मय का इतिहास, प्रथम भाग पृ० २२०-२३२

अथर्व का विस्तार

अथर्ववेद में २० काण्ड, ७३१ सूक्त तथा ५९८७ (पाच हजार नव सौ सतासी) मंत्रो का सग्रह है। मीमासा करने से प्रतीत होता है कि अथर्ववेद में मंत्रों का संकलन एक विशिष्ट उद्देश्य को ध्यान में रख कर किया गया है। आरम्भ के सात काण्डों में छोटे २ सूक्त सम्मिलित है। प्रथम काण्ड के प्रत्येक सूक्तों में नियम से ४ मन्त्र, द्वितीय काण्ड में ५ मंत्र, तृतीय काण्ड में ६ मंत्र, चतुर्थ काण्ड में ७ मत्र, तथा पञ्चम काण्ड में ८ मत्र है। षष्ठ काण्ड में १४२ सूक्त है तथा प्रतिसूक्त कम से कम तीन मत्र हैं। सप्तम काण्ड में ११८ सूक्त है जिनमें अधिकतर सूक्त एक या दो ही मत्र के है। आठ से लेकर बारह काण्डों में बड़े बडे सूक्त है परन्तु विषयों की एकता न होकर विभिन्नता ही दृष्टिगोचर होती है। १३ से लेकर १८ काण्ड तक विषय की एकता विशेष रूप से दृष्टिगोचर होती है। १२ वें काण्ड के आरम्भ में पृथ्वी सूक्त (६३ मत्र) है जिसमें अनेक राजनीतिक तथा भौगोलिक सिद्धान्तों की भव्य भावना आलोचक की दृष्टि को आकर्पित करती है। १३ वाँ काण्ड अध्यात्म-विषयक है। चौदहे काण्ड में केवल दो लम्बे सूक्त है। (१३९ मत्र) जिनमें विवाह का ही प्रधानतया वर्णन है। १५ वाँ काण्ड व्रात्य काण्ड है जिसमें व्रात्यों के यज्ञ-संपादन का आध्यात्मिक वर्णन है। १६ काण्ड दुःस्वप्ननाशक मंत्रों का (१०३) का एक सुन्दर सग्रह है। १७ वें काण्ड में केवल एक ही सूक्त ३० मंत्रो का है जिसमें अभ्युदय के लिये भव्य प्रार्थना की गई है। १८ वाँ काण्ड श्राद्ध-काण्ड है जिसमें पितृमेध-सम्बन्धी मंत्र सकलित है। अन्तिम दोनों कांड 'खिल कांट' के नाम से प्रसिद्ध हैं तथा वे मूल ग्रन्थ की रचना के पीछे जोडे गये माने जाते है। १९ वें काड में ७२ सूक्त तथा ४५३ मंत्र हैं जिनमें भैपज्य, राष्ट्रवृद्धि तथा अध्यात्म-विषयक मत्र संकलित है। अन्तिम कांड

विशेष जागरूक रहती है। अथर्ववेद में इन दोनों प्रकार के जादू टोने का उत्कृष्ट साम्राज्य मानव-संस्कृति के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक घटना है।

अथर्ववेद के भीतर आयुर्वेद के सिद्धान्त तथा व्यवहार की अनेक महनीय जिज्ञास्य बातें भरी हुई हैं जिनके अनुशीलन से आयुर्वेद की प्राचीनता, प्रामाणिकता तथा व्यापकता का पूरा परिचय हमें मिलता है। रोग, शारीरक, प्रतीकार तथा औषध के विषय में अनेक उपयोगी तथा वैज्ञानिक तथ्यों की उपलब्धि अथर्व-वेद की आयुर्वैदिक विशिष्टता बतलाने के लिए पर्याप्त मानी जा सकती है[1]। तक्म रोग (ज्वर) का सामान्य वर्णन (६।२१।१-३), सतत-शारद-ग्रैष्म-शीत-वार्षिक-तृतीयक आदि ज्वर के प्रभेदों का निर्देश (१।२५।४-५), बलास रोग का अस्थि तथा हृदय की पीड़ा करना (६।१४।१-३), अपचित (गण्डमाला) के एनी-श्येनी-कृष्णा आदि भेदों का निदर्शन (६।८३।१-३) यक्ष्मा, विद्रध, वातीकार आदि नाना रोगों का वर्णन (९।१३।१-२२) इस संहिता में स्थान-स्थान पर किया गया है। प्रतीकार विषय में आधुनिक प्रणाली की शल्यचिकित्सा का निर्देश अतीव विस्मयकारी प्रतीत होता है जैसे मूत्राघात होने पर शरशलाका आदि के द्वारा मूत्र का निःसारण (१।३।१-९), सुख-प्रसव के लिए योनिभेदन (१।११।१-६), जल-धावन के द्वारा व्रण का उपचार (५।५७।१-३) आदि। नाना कृमियों के द्वारा नाना प्रकार के रोगों की उत्पत्ति का सिद्धान्त प्राचीन आयुर्वेद को आधुनिक वैद्यकशास्त्र के साथ सम्बद्ध कर रहा है। रोगकारक नाना कृमियों का वर्णन (७।३१।१-७), नेत्र, नासिका तथा दाँतों में प्रवेश करने वाले कृमियों के नाम तथा निरसन उपाय (५।२३।१-१२) तथा सूर्य-किरणों के

---

[1] द्रष्टव्य राजगुरु पं० हेमराज शर्मा द्वारा लिखित 'काश्यप संहिता' का उपोद्घात, पृ० ६-१२ (बम्बई, १९३८ ई०)

द्वारा इनका नाश (४।३७।१-१२) आदि अनेक विषय वैज्ञानिक आधार पर निर्मित प्रतीत होते हैं। रोगों के निवारणार्थ तथा सर्पविष के दूरीकरणार्थ नाना ओषधियों, औषधों तथा मणियों का निर्देश यहाँ मिलता है। आश्चर्य की बात है 'विषस्य विषमौषधम्' का सिद्धान्त भी अथर्व के एक मन्त्र में (७।८८।१) पाया जाता है। इस प्रकार आयुर्वेद की दृष्टि से अथर्ववेद एक नितान्त वैज्ञानिक शास्त्र है।

अनेक भौतिक विज्ञानों के तथ्य भी यहाँ यत्रतत्र बिखरे मिलते हैं। उन्हें पहचानने तथा मूल्य अंकन करने के लिए वेदज्ञ होने के अतिरिक्त विज्ञानवेत्ता होना भी नितान्त आवश्यक है। एक दो पदों या मन्त्रों में निगूढ़ वैज्ञानिक रहस्यों का उद्घाटन किया गया है जिसे वैज्ञानिक की शिक्षित तथा अभ्यस्त दृष्टि ही देख सकती है। एक विशिष्ट उदाहरण ही इस विषय-संकेत के लिए पर्याप्त होगा। अथर्ववेद के पञ्चम काण्ड के पंचम सूक्त में लाक्षा (लाख) का वर्णन है जो वैज्ञानिकों की दृष्टि में नितान्त प्रामाणिक, तथ्यपूर्ण तथा उपादेय है। आज कल रांची (बिहार) में भारत सरकार की ओर से 'लाख' के उत्पादन तथा व्यावहारिक उपयोग के विषय में एक अन्वेषण-संस्था कार्य कर रही है। उसकी नवीन वैज्ञानिक खोजों के साथ इस सूक्त में उल्लिखित तथ्यों की तुलना करने पर किसी भी निष्पक्ष वैज्ञानिक को आश्चर्य हुए बिना नहीं रह सकता। आधुनिक विज्ञान के द्वारा समर्थित और पुष्ट की गई सूक्त-निर्दिष्ट बातें संक्षेप में ये हैं:—

(१) लाह (लाख, लाक्षा) किसी वृक्ष का निस्यन्द नहीं है, प्रत्युत उसे उत्पन्न करने का श्रेय कीट विशेष को (मुख्यतया स्त्री कीट को) है। वह कीट यहाँ 'शिलाची' नाम से व्यवहृत किया गया है। उसका पेट लाल रंग का होता है और इसीसे वह स्त्री (कीट) मक्खिया खाने वाली मानी गयी है। यह कीट अश्वत्थ, न्यग्रोध, धव, खदिर आदि वृक्षों पर विशेषतः रह कर लाक्षा को प्रस्तुत करता है (५।५।५)

(२) स्त्री कीट के वड़े होने पर अडा देने से पहिले उसका शरीर क्षीण हो जाता है। तव उनके कोप में पीलापन विशेपतः आ जाता है। इसीलिए यह कीट यहाँ 'हिरण्यवर्णा' तथा 'सूर्यवर्णा' कही गई है (५।५।६) इसके शरीर के ऊपर रोयें अधिक होते हैं। इसी लिए यह 'लोमश वक्षणा' कही गई है। लाह की उत्पत्ति विशेपरूप से वर्षा काल की अँधेरी रातों में होती है और इसी लिए इस सूक्त में रात्रि माता तथा आकाश पिता वतलाया गया है (५।५।१)

(३) कीड़े दो प्रकार के होते हैं—(क) सरा = रेंगनेवाले, (ख) पतत्रिर्णा = पखयुक्त, उड़ने वाले (पुरुप कीट)। सरा नामक (स्त्री) कीडे वृक्षों तथा पौधों पर रेंगते हैं और इससे वे स्परणी कहलाते हैं[1]।

विपय-विवेचन—

अथर्ववेद का विपय-विवेचन अन्य वेदों की अपेक्षा नितान्त विलक्षण है। इसमें वर्णित विपयों का तीन प्रकार का विभाजन किया जा सकता है—(१) अध्यात्म (२) अधिभूत (३) अधिदैवत। अध्यात्म प्रकरण में ब्रह्म, परमात्मा, के वर्णन के अनन्तर चारों आश्रमों का भी पर्याप्त निर्देश है। अधिभूत प्रकरण में राजा, राज्यशासन, सग्राम, शत्रुवाहन आदि विपयों का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। अधिदैवत प्रकरण में नाना देवता, यज्ञ तथा काल के विपय में पर्याप्त ज्ञातव्य सामग्री है। इस स्थूल विवेचन के वाद विस्तृत विवरण नीचे दिया गया है—

---

[1] इन लाक्षासूक्त के वैज्ञानिक तथ्यों की जानकारी के लिए देखिए दो लेख.—

(क) Dave International Academy of Indian Culture, Nagpur, [Sept 1950]

(ख) Dr Hora Journal of Asiatic Society of Bengal [Vol, XVIII 1952, No I pp 13-15]

१—भैषज्यानि सूक्तानि—इस प्रकरण के अन्तर्गत रोगों की चिकित्सा से सम्बन्ध रखने वाले मंत्र तथा विधि-विशेषों का अन्तर्भाव होता है। रोगों की उत्पत्ति नाना प्रकार के पीड़ा पहुँचाने वाले राक्षसों तथा भूत-प्रेतों के कारण होती है। इस लिये अनेक मंत्रों में इन्हें दूर करने का उपाय वर्णित है। कौशिक-सूत्र में इन मंत्रों की सहायता से किये जाने वाले जादू टोनों का भी विशेष वर्णन है। रोगों के लक्षण तथा उनके कारण उत्पन्न शारीरिक विकारों का विशद वर्णन आयुर्वेद की दृष्टि से विशेष महत्त्वशाली है। अथर्ववेद में तक्मन् ज्वर का ही नाम है, इसके विषय में अथर्ववेद का कथन है कि ज्वर मनुष्यों को पीला बना देता है तथा आग के समान तीव्र गर्मी से लोगों का जला डालता है। इसीलिये उससे प्रार्थना की जाती है[1] कि या तो वह गायब हो जाय अथवा वह मूजवत्, बह्लिक, तथा महावृष नामक सुदूर प्रान्तों में भाग जाय (५।२५।७।८)। बलास रोग (क्षय) (६।१४), गण्ड-माला (६।८३), यक्ष्मा (६।८५ जिसे दूर करने के लिये वरुण नामक ओषधि के सेवन का उपयोग), खाँसी (६।१०५), दन्त-पीड़ा (६।१४०),—आदि रोगों तथा उनकी ओषधि का वर्णन बड़ी ही सुन्दरता से अथर्ववेद में किया गया है। सर्प-विष के दूर करने के भी अनेक उपाय वर्णित है। सूक्त ५।१३ में असित तैमात, आलिगी, विलिगी, उरूगूला आदि साँपों के नाम उल्लिखित हैं जिन्हें लोकमान्य तिलक ने विदेशी प्रभावों का सूचक बतलाया है। अनेक ओषधियों तथा वृक्षों की प्रशंसा में भी अनेक मंत्र मिलते हैं। डाक्टर विन्टरनित्स ने अथर्ववेद में उल्लिखित अप्सरा तथा गर्धव-विषय भावनाओं को जर्मन देशीय भावनाओं से तुलना की है।[2]

१—अय यः विश्वान् हरितान् कृणोष्युच्छोचयन्नग्निरिवाभिदुन्वन्।
अथर्व ५।२२।२

२ द्रष्टव्य हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर भाग १ पृष्ठ १३२।

२ आयुष्याणि—इस प्रकरण में दीर्घ आयुष्य प्रदान करनेवाले सूक्तों का विवरण है जिनमें सौ शरद् अथवा सौ हेमन्तों तक जीवित रहने की, सौ प्रकार की मृत्यु से बचाने की विशेष प्रार्थना की गई है। सतरहवें काण्ड का एकमात्र सूक्त इसी विभाग के अन्तर्गत आता है।

३ पौष्टिकानि—इस विभाग के अन्तर्गत घर बनाने के लिये, हल जोतने के लिये, बीज बोने के लिये, अनाज उत्पन्न करने के लिये, पुष्टि के लिये, विदेश में व्यापार करने के लिये जानेवाले वणिक् के लिये, नाना प्रकार के आशीर्वाद की प्रार्थना की गई है। इस विषय में सबसे सुन्दर वृष्टि-सूक्त (अथर्व ४।१५) है जिसमें वृष्टि का बड़ा ही रमणीय, साहित्यिक तथा उज्ज्वल वर्णन उपलब्ध होता है।

४ प्रायश्चितानि—इस विभाग के अन्तर्गत ज्ञात तथा अज्ञात पापों के आचरण करने से उत्पन्न होनेवाले अपराध को दूर करने के लिये प्रार्थना की गई है। वेदकालीन पाप-भावना के ज्ञान के लिये इन सूक्तों का अनुशीलन नितान्त आवश्यक है।

५ स्त्रीकर्माणि—विवाह तथा प्रेम से सम्बन्ध रखनेवाले बहुत से सूक्त तत्कालीन समाज का चित्र प्रस्तुत करने के लिये विशेष सहायक हैं। इन सूक्तों में पुत्रोत्पत्ति के लिये तथा सद्योजात शिशु की रक्षा करने के लिये भव्य प्रार्थना की गई है। १४ काण्ड विशेषतः इसी प्रसंग से सम्बद्ध है। दूसरे प्रकार के मंत्रों में अपने सपत्नी को वश में करने के लिये तथा अपने पति के स्नेह का सम्पादन करने के लिये अनेक जादू-टोनों का वर्णन है। कौशिक सूत्र से पता लगता है कि किसी स्त्री के प्रेम सम्पादन के लिये किस प्रकार उसकी मिट्टी की मूर्ति बनाई जाती है तथा बाण के द्वारा उसके हृदय को विद्ध किया जाता है तथा उस समय अथर्व (३।२५) के मंत्रों का पाठ भी किया जाता है। इसी प्रकार पति के वशीकरण के निमित्त स्त्री उसकी मूर्ति बनाकर

गरम वाणों के सिरे से उसके मस्तक को वेधती है। साथ ही साथ अथर्व वेद के ६।१३०, ६।१३८ सूक्त के मन्त्रों का पाठ भी करती है। इन सूक्तों में देवताओं से पति को पागल बनाने की प्रार्थना है जिससे वह दिन-रात उसी के ध्यान में आसक्त रहे[1] और यदि वह भागकर तीन या पाँच योजन भी अन्यत्र चला गया हो तो वह लौट आवे (अ० ६।१३१४)। सबसे भयानक तथा घृणापूर्ण तो वह प्रार्थना है जिसमें एक स्त्री अपनी प्रतिस्पर्धिनी स्त्री को ध्वस्त तथा परास्त करने के लिए आग्रह करती है (अ० १।१४) इन मन्त्रों तथा क्रियाओं को 'आभिचारिक' नाम से पुकारते हैं क्योंकि विशेषतः मारण, मोहन (वशीकरण) तथा उच्चाटन आदि फलों की सिद्धि के निमित्त इनका बहुल प्रयोग होता है।

६ राजकर्माणि—राजाओं से सम्बद्ध बहुत से सूक्त अथर्व वेद में पाये जाते हैं जिनके अध्ययन से तत्कालीन राजनैतिक दशा का विशद चित्र उपलब्ध होता है। शत्रुओं को परास्त करने की प्रार्थना के साथ साथ संग्राम तथा तदुपयोगी साधनों—जैसे रथ, दुन्दुभि, शख आदि का विशेष विवरण साङ्ग्रामिक दृष्टि से भी अथर्व की महत्ता घोषित कर रहा है। 'क्षत्रवेद' नाम का यही कारण प्रतीत होता है।

उस युगमें प्रजा ही राजा का संवरण (चुनाव) करता था। अथर्व ३।४ सूक्त में मनुष्यों के साथ ही साथ अश्विन्, मित्रावरुण, मरुत् तथा वरुण के द्वारा भी राजा के संवरण करने का वर्णन किया गया है। अन्य सूक्त (अथर्व० ३।३) से पता चलता है कि देश से निष्कासित राजा पुनः राज्य में बुलाया जाता था तथा सम्मानपूर्वक

---

१ उन्मादयत मरुत उदन्तरिक्ष मादय
अग्न उन्मादया त्वमसौ मामनु शोचतु ॥

अथर्व ६।१३०।४

प्रतिष्ठा पाता था। सग्राम के लिए वीरों के हृदय में उत्साह फूँकनेवाले नगाडे (दुन्दुभि) का वर्णन नितान्त साहित्यिक तथा वीर रस से पूर्ण है। पाँचवे काण्ड का दशमसूक्त कवित्व तथा मनोहर भावों के प्रदर्शन के कारण बड़ा ही रोचक, सरस तथा अभिव्यञ्जनात्मक है। दुन्दुभि की गड़गड़ाहट सुनकर शत्रु की नारी को भयानक अस्त्रों के संघर्ष के बीच में अपने पुत्र को छाती से चिपका कर भाग जाने की यह प्रार्थना सग्राम के प्रागण में कितना करुणाजनक दृश्य उपस्थित करती है :—

दुन्दुभेर्वाचं प्रयतां वदन्तीमाशृण्वती नाथिता घोषबुद्धा
नारी पुत्रं धावतु हस्तगृह्यामित्री भीता समरे वधानाम्।
(अथर्व ५।२०।५)

दुन्दुभिसूक्त (५।२१) में सुन्दर उपमा तथा भाव-सौष्ठव का योग उसे वीररस के आदिकाव्य होने की स्पष्ट घोषणा कर रहा है। दुन्दुभि से शत्रुओं के त्रासन तथा मोहन की प्रार्थना करते समय मालोपमा का यह सौन्दर्य नितान्त अभिराम तथा श्लाघनीय है—

यथा श्येनात् पतत्रिणः संविजन्ते अहर्दिवि सिंहस्य स्तनथोर्यथा
एवा त्वं दुन्दुभेऽमित्रानभि क्रन्द प्र त्रासयाथो चित्तानि मोहय।
(अथर्व० ५।२१।६)

भूमिसूक्त (१२ वें काण्ड का प्रथम सूक्त) आथर्वण संहिता के ऐहिक-विषयक सूक्तों में भी विशिष्टता रखता है। भाषा तथा भाव की दृष्टि से यह नितान्त उदात्त, भावप्रवण तथा सरस है। पृथ्वी की महिमा का यह वर्णन स्वातंत्र्य के प्रेमी तथा स्वच्छन्दता के रसिक आथर्वण ऋषि का हृदयोद्गार है। इस शैली का प्रौढ़ काव्य, उच्च कल्पना तथा भव्य भावुकता वैदिक साहित्य में भी अन्यत्र दुर्लभ है, इस सूक्त में आथर्वण ऋषि ने ६३ मन्त्रों में मातृरूपिणी भूमि की समग्र पार्थिव पदार्थों की जननी तथा पोषिका के रूप में महिमा उद्घोषित

की है तथा प्रजा को समस्त बुराइयों, क्लेशों तथा अनर्थों से बचाने तथा सुख-सम्पत्ति की वृष्टि के लिए प्रार्थना की है। एक दो दृष्टान्त पर्याप्त होंगे।

यामश्विनावमिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे
इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपतिः
सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः (१०)

भावार्थ—जिसे अश्विन् ने मापा, विष्णु ने जिसपर अपने पद-प्रक्षेपों को रखा, जिसे सामर्थ्य के स्वामी इन्द्र ने अपने लिए शत्रुओं से रहित बनाया वह भूमि मुझे उसी प्रकार दूध दे जिस प्रकार माँ अपने बेटे को दूध पिलाती है।

पृथ्वी के ऊपर मानवों के नाचने गाने कूदने फाँदने तथा लड़ने भिड़ने का यह वर्णन कितना स्वाभाविक है—

यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलबाः
युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभिः
सा नो भूमिः प्र णुदतां सपत्नान्
असपत्नं मा पृथिवी कृणोति॥ (मन्त्र ४१)

७ ब्रह्मण्यानि—अब तक वर्णित सूक्त ऐहिक-विषयक हैं—संसार में सुखसमृद्धि तथा शत्रु-विनाशन के निमित्त निर्मित तथा विहित हैं, परन्तु इनसे भिन्न एक सूक्त-समुदाय है जिसमें जगत् के परमतत्त्वभूत परमात्मा तथा परब्रह्म के स्वरूप तथा कार्य का विवेचन है। इन आमुष्मिक ब्रह्मण्य सूक्तों के कारण ही अथर्व-वेद 'ब्रह्मवेद' के महनीय अभिधान से पुकारा जाता है। इन सूक्तों में दर्शन के गम्भीरतम तथ्यों की विशद समीक्षा प्रस्तुत की गई है। इन दार्शनिक सूक्तों को आथर्वण ऋषियों की केवल मनमानी कल्पना मानना नितान्त अनुचित है। इन सूक्तों में अन्तर्दृष्टि से संवलित प्रातिभचक्षु ऋषियों के

स्वानुभूत तत्त्वों का विशद विवेचन इन्हें बहुमूल्य तथा दार्शनिक दृष्टि से विशेष उपादेय सिद्ध कर रहा है।

परमतत्त्व नाना अभिधानों तथा संज्ञाओं के द्वारा अभिहित किया गया है। वही 'काल' नाम से जगत्, पृथ्वी तथा दिव् का उत्पादक तथा नियन्ता है। काल समस्त प्रपञ्च का अधिष्ठान है। उसमें मन, प्राण तथा नाम ही समाहित नहीं है, प्रत्युत वह सबका ईश्वर है तथा प्रजापति का भी पिता है। उन्ही के संकल्प करने पर यह जगत् उत्पन्न हुआ तथा उसी में प्रतिष्ठित है। इस प्रकार काल ही जगत् का परमतत्त्व स्वीकृत किया गया है (१९।५३, ५४):—

काले तपः काले ज्येष्ठं काले ब्रह्म समाहितम्।
कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत् प्रजापतेः॥
(१९।५३।८)

त्रयोदश काण्ड के अनेक सूक्तों में जिस 'रोहित' का वर्णन है वह भी सूर्य या सूर्यस्थ वीर्य का प्रतीक होने से जगत् के सृष्टि आदि समस्त व्यापारों का निर्वाहक है। सूर्य के घोड़े उसी रोहित को रथ पर चढ़ाकर चारों ओर ले जाते हैं। वही यज्ञ का जनयिता है तथा समग्र विश्व का निर्माता है। उसी के अधिष्ठान के ऊपर यह विश्व खड़ा है तथा अपना जीवन यापन करता है। इस वर्णन से स्पष्टतः प्रतीत होता है कि रोहित ब्रह्म का ही प्रतीक है।

अन्य सूक्तों में गौ का वर्णन बड़ी मार्मिकता के साथ किया गया है (१०।१०) तथा वशा गौ जगत् के समस्त पदार्थों की जननी के रूप में चित्रित की गई है। ब्राह्मणों के लिए दक्षिणास्वरूप होने से ही गौ का महत्त्व वैदिक युग में नहीं था, प्रत्युत कृषक-समाज के लिए सर्वस्व होने के कारण गौ का गौरव अतीव महान् था। इस सूक्त में वशा गौ जगत् में सर्वश्रेष्ठ तत्त्व के रूप में चित्रित की गई

है। वशा की अमृत रूप से कोई और कोई मृत्युरूप से उपासना करते हैं। संसार में देव, मनुष्य, असुर, पितर तथा ऋषिगण सब कुछ वशा ही है—

> वशामेवामृतमाहुर्वशां मृत्युमुपासते।
> वशेदं सर्वमभवद् देवा मनुष्या असुराः पितर ऋषयः॥
> (अथर्व १०।१०।२६)

गौ के इस महत्त्ववेत्ता व्यक्ति को ही यज्ञ में दान देने से वह सफल होता है तथा कल्याण-प्रद होता है (मं० २७)

'स्कम्भ' (१०।७, ८) तथा 'उच्छिष्ट' (११।९) प्रकारान्तर से परब्रह्म के ही नवीन अभिधान तथा स्वरूप प्रतीत होते हैं। जगत् के समस्त पदार्थों का आश्रय तथा अधिष्ठाता होने के हेतु ही वह परमतत्त्व स्कम्भ (आधार) की संज्ञा से मण्डित है। वह केवल विश्व का ही कारण नहीं है प्रत्युत ब्रह्म का भी कारण है और इसीलिए वह 'ज्येष्ठ ब्रह्म' कहलाता है। जिसमें भूमि, अन्तरिक्ष तथा आकाश समाहित हैं—अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य तथा वायु जिसमें अर्पित होकर रहते हैं वही स्कम्भ है (१०।७।१२) तथा आत्मा के साथ ऐक्य धारण करने वाला तत्त्व है[1]। उच्छिष्ट सूक्त (११।७) में भी वही ब्रह्म 'उच्छिष्ट' नाम से अभिहित किया गया है 'उच्छिष्ट' शब्द का अर्थ होता है बचा हुआ, शेष पदार्थ। दृश्य प्रपञ्च के निषेध करने पर जो वस्तु अवशिष्ट रहती है वही 'उच्छिष्ट' है अर्थात् 'नेति नेति' ब्रह्म। जगत् के समस्त पदार्थों की उत्पत्ति—वेद तथा पुराण की उत्पत्ति (मन्त्र २४), प्राण अपान चक्षु श्रोत्र आदि की उत्पत्ति (मन्त्र २५) उच्छिष्ट से ही हुई है—

---

[1] अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।
तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्॥
(१०।८।४४)

ब्राह्मणों का मुख्य विषय है। इस प्रकार ब्राह्मणों में मन्त्रों, कर्मों की तथा विनियोगों की व्याख्या है। ब्राह्मणों की अन्तरंग परीक्षा करने पर यह स्पष्ट है कि ब्राह्मण ग्रन्थ यज्ञों की वैज्ञानिक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक मीमांसा प्रस्तुत करने वाला एक महनीय विश्वकोश है[1]। संसार की किसी भी धार्मिक साहित्य में ब्राह्मण जैसे ग्रन्थों का नितान्त अभाव है जिसमें कर्मकाण्ड का, विशेषकर यज्ञ यागादि के विधान का, इतना सांगोपाङ्ग तथा पूर्ण परिचय दिया गया हो। सच तो यह है कि यज्ञ भी एक विज्ञान है। बाह्य दृष्टि रखने वालों के लिये इसका धार्मिक मूल्य भले ही नगण्य हो, परन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से मण्डित आलोचक की दृष्टि में यज्ञ एक स्वतन्त्र विज्ञान है जिसके प्रत्येक क्रिया कलाप का अपना मूल्य है और जिसका पूर्ण निर्वाह तथा समग्र फल इन विधानों के उचित अनुष्ठान पर ही आश्रित रहता है। यज्ञ के पूर्ण रूप का परिचायक यही ब्राह्मण ग्रन्थ है।

निरुक्त आदि ग्रन्थों में 'इति विज्ञायते' कहकर ब्राह्मण ग्रन्थों का ही निर्देश किया गया गया है। इस शब्द की व्याख्या में दुर्गाचार्य ने यही लिखा है—एष ब्राह्मणेऽपि विचार्यमाणे ज्ञायते। (निरुक्त टीका ३।११, २।१८)। पाणिनि[2] की अष्टाध्यायी में 'अनुब्राह्मण शब्द का प्रयोग मिलता है जिसका अर्थ ब्राह्मण तो नहीं परन्तु ब्राह्मणों से मिलता जुलता ग्रन्थ किया गया है। इस शब्द का प्रयोग भट्ट भास्कर ने तै०

---

१ ब्राह्मणं नाम कर्मणस्तन्मन्त्राणां च व्याख्यानग्रन्थः

—भट्ट भास्कर—तै० सं० १।५।१ भाष्य

नैरुक्त्यं यस्य मन्त्रस्य विनियोगः प्रयोजनम्।
प्रतिष्ठानं विधिश्चैव ब्राह्मणं तदिहोच्यते।

—वाचस्पति मिश्र

२ अनुब्राह्मणादिनिः ४।२।६२—तदधीते तद्वेद इत्यर्थः।
ब्राह्मणसदृशो ग्रन्थोऽनुब्राह्मणं तदधीते अनुब्राह्मणी॥

सं० की भाष्यभूमिका में किया है। प्रतीत होता है कि ब्राह्मण के ही अवान्तर भाग को अनुब्राह्मण सज्ञा दी गई थी।

ब्राह्मण ग्रन्थों का विस्तार बहुत ही विशाल तथा व्यापक था। आजकल उपलब्ध ब्राह्मणों की सख्या जितनी मिलती है उससे यह संख्या कितनी गुनी अधिक थी। आश्वलायन गृहसूत्र (३ अ० ३ ख०) में ऋषि-तर्पण के साथ आचार्य-तर्पण भी उपलब्ध होता है। आश्वलायन ने ऋषियों और आचार्यों में भेद किया है। ऋषि तो वे है जो मन्त्रो के द्रष्टा है परन्तु आचार्य वे हैं जो ब्राह्मणो के द्रष्टा हैं। ऐसे आचार्यों के यहाँ तीन गण उपलब्ध होते है—(१) माण्डूकेय गण (२) शांखायन गण (३) आश्वलायन गण। इन आचार्यों के नाम ये हैं—कहोल, कौपीतक, महाकौपीतक, भरद्वाज, पैङ्ग्य, महापैङ्ग्य, सुयज्ञ, शंखायन, ऐतरेय, बाष्कल, शाकल, गार्ग्य, सुजातवक्र, औदवाहि, सौजामि, शौनक, आश्वलायन। इन नामो की परीक्षा करने से बहुत से नाम नवीन तथा अन्यत्र अज्ञात है। पैङ्ग्य तथा महापैङ्ग्य नामो से प्रतीत होता है कि भारत तथा महाभारत के समान दो भिन्न २ ग्रन्थ थे एक छोटा तथा दूसरा बडा। सामान्यतः शांखायन ब्राह्मण ही कौपीतक ब्राह्मण माना जाता है। परन्तु इस आचार्य सूची में पृथक् तर्पण होने के कारण ये दोनों भिन्न २ आचार्य है। हम निश्चय-पूर्वक नही कह सकते कि इन समस्त आचार्यो ने ब्राह्मण ग्रन्थों का निर्माण किया था परन्तु ऐतरेय तथा शांखायन तो निश्चय ही ब्राह्मणों के द्रष्टा ऋषि है जिनके ब्राह्मण-ग्रन्थ आज भी उपलब्ध हो रहे हैं।

विधि ही ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रधान विषय है और जितने भी अन्य विषय उपलब्ध होते हैं वे सब अवान्तर होने से उसी के पोषक तथा निर्वाहक-मात्र हैं। ऐसे विषयो का मीमांसक अभिधान 'अर्थवाद' है। अर्थवाद में निन्दा तथा प्रशंसा का निवेश रहता है जिसमें यागनिषिद्ध वस्तुओं की निन्दा रहती है तथा यागोपयोगी द्रव्यों की प्रशंसा रहती है।

वाला व्यक्ति यज्ञ करने के लिए उपयुक्त नहीं होता। अत: जल के स्पर्श करने से वह पापों को दूर कर मेध्य बनता है। या जल पवित्र होता है। अत. जल के स्पर्श करने से व्यक्ति पवित्र होकर दीक्षित होता है। इसीलिए जल को स्पर्श करता है[1]।

विनियोग

ब्राह्मण-ग्रन्थो में मन्त्रों के विनियोग का प्रथम अवतार होता है। किस मन्त्र का प्रयोग किस उद्देश्य की सिद्धि के लिए किया जाता है? इसकी सयुक्तिक व्यवस्था ब्राह्मणों में सर्वत्र उपलब्ध होती है। मन्त्र के अन्तरंग अर्थ से अपरिचित पाठक मन्त्र के विनियोग को अप्रामाणिक तथा कल्पना-प्रसूत मानने का दु.साहस कर बैठता है, परन्तु वस्तुस्थिति कुछ दूसरी बात की ओर सकेत करती है। ब्राह्मण-ग्रन्थों ने मन्त्र के पदों से ही विनियोग की युक्तिमत्ता सिद्ध की है। आपातत. मन्त्रों का जो तात्पर्य जान पड़ता है, ब्राह्मणों की अन्तरंग तथा आध्यात्मिक व्याख्या के अनन्तर ही उससे सच्चे अर्थ का बोध हमें होता है। ताण्ड्य ब्राह्मण के एक दो दृष्टान्त विषय की विशदता के लिए पर्याप्त होंगे।

'स न पवस्व श गवे' (ऋ० ९।११।३) ऋचा का गायन पशुओं की रोगनिवृत्ति के निमित्त किया जाता है। इस विनियोग के विशेष विवेचन की आवश्यकता नहीं, क्योंकि यह बात तो मन्त्र के पदों मे सिद्ध होती है (ताण्ड्य ६।९।६–९) परन्तु 'आ नो मित्रावरुणा' (ऋ० ३।६२।१६) मन्त्र के गायन का विनियोग दीर्घ-रोगी की रोगनिवृत्ति के लिए है, यह कुछ आश्चर्यजनक जरूर प्रतीत होता है।

---

१ अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति, तेन पूतिरन्तरत । मेध्या वा आप । मेध्यो भूत्वा व्रतमुपायानीति । पवित्रं वा आप । पवित्रपूतो व्रतमुपायानीति तस्माद्वा अप उपस्पृशति । शत० ब्रा० १।१।१।१

इस विषय में ब्राह्मण का कथन है मित्रावरुण का सम्बन्ध प्राण और अपान से है। दिन के देवता होने से ही मित्र प्राण के प्रतिनिधि है तथा रात्रि के देवता होने के कारण वरुण अपान के प्रतीक हैं। अतः दीर्घरोगी के शरीर में मित्रावरुण के रहने की प्रार्थना अन्ततः प्राण तथा अपान के धारण करने का एक प्रकारान्तर संकेत है। फलतः इस मत्र का पूर्वोक्त विनियोग नितान्त सयुक्तिक है[1]। कहीं विनियोग के प्रसंग में कल्पना का ही विशेष प्रभाव दीख पड़ता है, परन्तु ब्राह्मण की व्याख्या-शैली का अनुगमन करने पर ऐसे स्थलों पर भी युक्तिमत्ता स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती है[2]।

हेतु

हेतु से अभिप्राय उन कारणों के निर्देश से है जिसे कर्मकाण्ड को विशेष विधि के लिये उपयुक्त वतलाया गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ के विधि-विधान के निमित्त उचित तथा योग्य कारण का भी निर्देश विस्तार के साथ किया गया है। अग्निष्टोम याग में उद्गाता सदस् नामक मण्डप में औदुम्बर वृक्ष की शाखा का उच्छ्रयण करता है। इस विधान के कारण का निर्देश करते हुए ताण्ड्य ब्राह्मण (६।४।१) का कथन है कि प्रजापति ने देवताओं के लिये ऊर्ज का विभाग किया। उसी से उदुम्बर वृक्ष की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार उदुम्बर वृक्ष का देवता प्रजापति है। उद्गाता का भी सम्बन्ध प्रजापति से है। इसीलिये उद्गाता उदुम्बर शाखा के उच्छ्रयण का कार्य अपने प्रथम कर्म से करता है (६।४।१)। इसके अतिरिक्त इस अवसर पर प्रयुक्त होने वाले उच्छ्रयण मंत्र की भी व्याख्या विस्तार के साथ यहाँ की गई है। इसी

---

१ ताण्ड्य ६।१०।४-५

२ ताण्ड्य ब्रा० ६।६।२४-२५ = उविधूनत्या रचा (ऋ० ६।६८।२८) का अर्थ तथा विनियोग की युक्ति दर्शनीय है।

प्रकार द्रोण कलश में सोम-रस चुलाकर 'अग्निष्टोम' में रखने की व्यवस्था है। यह द्रोण-कलश रथ के नीचे रक्खा जाता है। इस विधान के कारण का पूर्ण निर्देश हम ताण्ड्य ब्राह्मण (६।५) में पाते है[1]। "प्रजापति ने कामना की कि मै नाना प्रजाओ की सृष्टि करूँ। इस प्रकार विचार करते ही उनके मस्तक से आदित्य की सृष्टि हुई। उन्होंने प्रजापति के सिर को काट डाला। उसी से द्रोण कलश की सृष्टि हुई। उसी द्रोण-कलश में चमकने वाले सोम-रस को देवताओं ने ग्रहण किया तथा दीर्घ आयु को प्राप्त किया।" इसी प्रकार पत्थर के ऊपर द्रोण कलश के स्थापन (अध्यूहन) के विषय में भी विधि विधानों के कारणों का निर्देश किया गया है। (ता० ब्रा० ६।६।१–३)। 'वहिष्पवमान' स्तोत्र में पाचों ऋत्विजों के आगे चलने वाला अध्वर्यु अपने हाथ में दर्भ की मुष्टि (प्रस्तर) लेकर चलता है। क्यों? इसका कारण निर्देश करते समय ताण्ड्य में (६।७।१६–२०) अश्वरूप धारण कर यज्ञ के भागने तथा दर्भ की मुष्टि दिखला कर उसे लौटा लाने का आख्यान हेतुरूप से उपस्थित किया गया है। इस प्रकार 'हेतुवचन' प्रस्तुत करने से पाठकों को अनुष्ठानों के कारण का स्वय परिचय मिलता है तथा समधिक श्रद्धा का उदय होता है।

अर्थवाद

यज्ञ में निषिद्ध पदार्थों की निन्दा ब्राह्मण ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर पाई जाती हैं। यज्ञ में माष (उडद) का विधान निषिद्ध है। इसलिये इनकी निन्दा इस वाक्य में की गई—'अमेध्या वै माषा' (तै० सं० ५।१।८।१)। अनुष्ठानों, होमनीय द्रव्यों तथा देवताओं की भूयसी प्रशंसा से ब्राह्मणों का कलेवर वृद्धिगत हुआ है। अग्निष्टोम याग की विशेष प्रशंसा ताण्ड्य (६।३) में पाई जाती है। सब कामों

---

[1] ता० ब्रा० ६।५।१

(कामनाओं) के लिये उपादेय होने के कारण यही वास्तविक यज्ञ कहा गया है। यज्ञों में समधिक महत्वशाली होने से ही यह ज्येष्ठ यज्ञ की सज्ञा से मण्डित किया जाता है (ता० ब्रा० ६।३।८-९)। इसी प्रकार वहिष्-पवमान स्तोत्र की स्तुति यहाँ उपलब्ध होती है—(ता०—६।८।५)। अर्थवाद का उपयोग विधि की आस्थापूर्वक पुष्टि के लिए ही होता है और इन अर्थवाद—प्रशसा वचनों-से ब्राह्मण ग्रन्थ आदि से अन्त तक भरे पड़े हुए हैं।

निरुक्ति

ब्राह्मण ग्रन्थो में शब्दों के निर्वचन (व्युत्पत्ति) का भी स्थान स्थान पर निर्देश किया गया है। यह निर्देश इतना मार्मिक और वैज्ञानिक है कि इनका भाषाशास्त्र की दृष्टि से बहुत ही अधिक महत्त्व है। निरुक्त में जो शब्दो की व्युत्पत्तियाँ दी गई हैं उनका मूल इन्हीं ब्राह्मण-ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। ये निर्वचन काल्पनिक नहीं हैं, प्रत्युत भाषाविज्ञान की दृष्टि से इनकी वैज्ञानिकता अक्षुण्ण है। ऐसी निरुक्ति स्वय सहिता भाग में भी उपलब्ध होती है जिनका आश्रय लेकर ब्राह्मण ग्रन्थो की व्युत्पत्तियाँ निर्मित हुईं। दधि तथा उदक शब्द की व्याख्या संहिता ग्रन्थों में इस प्रकार है—तद्दध्नो दधित्वम् (तै० सं० २।५।३।३)। उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते (अथर्व ३।१३।४)। शतपथ ब्राह्मण तथा ताण्ड्य महाब्राह्मण ऐसी महत्वपूर्ण तथा उपादेय निरुक्तियों का भण्डार है। नाना प्रकार के स्तोत्र तथा साम के नामों की बड़ी ही सुन्दर निरुक्ति ताण्ड्य ब्राह्मण में उपलब्ध होती है। आज्य स्तोत्र की व्याख्या 'आजि' शब्द से बतला कर एक सुन्दर आख्यान का भी उपक्रम किया गया मिलता है—

यदाजिमायन् तदाऽऽज्यानाम् आज्यत्वम्। ताण्ड्य ७।२।१।

अन्तर की निरुक्ति इस प्रकार है:—

रथं मर्या क्षेप्लाऽतारीत् इति तद्रथन्तरस्य रथन्तरत्वम्।

(ताण्ड्य ७।६।४)

इसी प्रकार बृहत् साम की निरुक्ति का प्रकार यह है—

ततो बृहदनु प्राजायत। बृहन् मर्या इदं स ज्योगन्तरभूदिति तद् बृहतो बृहत्त्वम्। ताण्ड्य ७।६।५।

इसका आशय है कि रथन्तर साम के अनन्तर 'बृहत्' नामक साम की उत्पत्ति हुई। प्रजापति के मन में यह साम बृहत्काल तक निवास करता था। इसीलिए इस साम का यह विशिष्ट नामकरण है।[1]

आख्यान

ब्राह्मण ग्रन्थों को विधि–अर्थवाद का वर्णन इतने विस्तार के साथ किया गया है कि साधारण पाठकों को उद्वेग हुए बिना नहीं रहता, परन्तु इन उद्वेजक विषयव्यूहों में से कभी-कभी अत्यन्त रोचक आख्यान नितान्त आकर्षक तथा महत्त्वपूर्ण निकल आते हैं। तमिस्रा में प्रकाश की किरणों के समान तथा दीर्घ मरुभूमि में हरी भूमि की तरह ये आख्यान पाठकों के उद्विग्न हृदय को शान्त तथा शीतल बनाते हैं। विधिविधानों के स्वरूप की व्याख्या ही इन आख्यानों की जननी है, परन्तु कभी-कभी ये यज्ञ के संकीर्ण प्रान्त से पृथक् होकर साहित्य के सार्वभौम क्षेत्र में विचरने लगते हैं तो कर्मकाण्ड की कर्कशता उन्हें रोक नहीं सकती। आख्यान दो प्रकार के हैं—स्वल्पकाय तथा दीर्घकाय। स्वल्पकाय आख्यानों में उन कथाओं की गणना है जो सद्यः विधि की सयुक्तिकता प्रदर्शित करने के लिए उल्लिखित हैं। ये आख्यान किञ्चित् भेद से अनेक ब्राह्मणों में उपलब्ध होते हैं। ऐसे छोटे आख्यानों में कतिपय प्रधान ये हैं—वाक् का देवों का परित्याग कर जल और अनन्तर वन-

---

[1] विशेष उदाहरणों के लिए द्रष्टव्य डा० फतहसिंह—'वैदिक इटेमालोजी' (अंग्रेजी)

स्पति में प्रवेश (तांड्य ६।५।१०-१२); स्वर्भानु असुर का आदित्य का आक्रमण तथा अग्निद्वारा उस अन्धकार का विघटन (ताण्ड्य ६।६।८), यज्ञ का अश्वरूप में देवताओं से अपाक्रमण तथा दर्भमुष्टि के द्वारा उसका प्रत्यावर्तन (ता० ६।७।१८), अग्निमन्थन के समय घोड़े को आगे रखने का प्राचीन इतिहास (शत० १।६।४।१५); असुरों तथा देवों के बीच नाना संग्राम (शत० २।१।६।८-१८, ऐत० १।४।२३; ६।२।१)।

इन छोटे आख्यानों में कभी-कभी बड़ी गम्भीर तात्त्विक बातों का भी सकेत मिलता है जो ब्राह्मणों के कर्मकाण्डात्मक वर्णन से नितान्त पृथक् होता है तथा गूढ़ गंभीरार्थ प्रतिपादक होता है। प्रजापति की प्रार्थना उपांशुरूप से करने के निमित्त शतपथ ने जिस कथानक का उपक्रम किया है वह नितान्त रहस्यमय है। श्रेष्ठता पाने के लिए मन और वाक् में कलह उत्पन्न हुआ। मन का कहना था कि मेरे द्वारा अनभिगत बात वाणी नहीं बोलती। मेरा अनुकरण करती हुई मेरे पीछे चलती है (कृतानुकरा अनुगन्त्री)। वाणी का कथन था कि जो तुम जानते हो उसकी विज्ञापना में ही करती हूँ। मन के द्वारा ज्ञात या चिन्तित तथ्यों का प्रकटीकरण वाणी करती है। अतः मैं ही श्रेष्ठ हूँ। दोनों प्रजापति के पास गए। उन्होंने अपना निर्णय मन के ही पक्ष में दिया। फलतः वाणी की अपेक्षा मन श्रेष्ठ माना जाता है। इस कथानक के भीतर मनोवैज्ञानिक तथ्य का विशद संकेत है (शत० १।४।५। ८-१२)। वाक् से सम्बद्ध अनेक आख्यायिकायें बड़ी ही रोचक तथा शिक्षाप्रद हैं। गायत्री छन्द सोम को देवताओं के निमित्त ले जा रहा था कि गन्धर्वों ने उसका हरण किया। देवता लोगों ने वाक् को भेजा। वाक् अपने साथ सोम को लेकर लौटी। अब वाक् के लौटाने का उद्योग होने लगा। गन्धर्वों ने स्तुति तथा प्रशंसा से उसे अपनी ओर आकृष्ट करना चाहा। उधर देवों ने गायन तथा वादन के द्वारा आवर्जन करना

चाहा। वाक् देवों के कार्य पर रीझकर उन्हीं के पास चली गई। इस कथा के प्रतीयमान उपदेश पर ब्राह्मण आग्रह दिखला रहा है कि यही कारण है कि स्त्रियां आज भी स्तुति की अपेक्षा संगीत से अधिक आकृष्ट होती हैं। यह उनका स्वभाव ही ठहरा (शत० ३।२।४।२–६)।

सृष्टि के विषय में भी अनेक आख्यान ब्राह्मण ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। पुरुष के द्वारा चारों वर्णों की उत्पत्ति का उल्लेख तो पुरुषसूक्त में ही उपलब्ध है। ब्राह्मणों में भी इस प्रसग का सुन्दर वर्णन मिलता है। ताण्ड्य ब्राह्मण (६।१।) प्रजापति के अंग विशेष से वर्णों की तथा तत्तत् देवताओं की उत्पत्ति बतलाता है जिसमें शूद्रवर्ण को यज्ञाधिकार से वंचित होने की भी सुन्दर उपपत्ति प्रस्तुत की गई है। प्रजापति के मुख से ब्राह्मण तथा अग्नि की, बाहु से क्षत्रिय तथा इन्द्र की, मध्यदेश से वैश्य तथा विश्वेदेवा की, तथा पैरों से केवल शूद्र की ही (देवता की नहीं) उत्पत्ति बतलाकर शूद्र के कर्तव्य का निर्देश मिलता है कि वर्णत्रय के पादावनेजन से ही शूद्र का कल्याण होता है, यज्ञ करने से नहीं। क्योंकि उसके साथ किसी देवता की उत्पत्ति ही नहीं हुई थी—

तस्मात् शूद्र उत बहुपशुरयज्ञियो विदेवो हि। न हि तं काचन देवतान्वसृज्यत। तस्मात् पादावनेज्यं नातिवर्धते। पत्तो हि सृष्टः॥ (ताण्ड्य ६।१।११)

किन्हीं आख्यानों में साहित्यिक सौन्दर्य तथा कल्पना की सुन्दर अभिव्यञ्जना मिलती है। रजनी के उदय के विषय में एक सुन्दर आख्यान मैत्रायणी संहिता (१।५।१२) में मिलता है जिससे प्रतीत होता है कि रात्रि की उत्पत्ति यमी के विषाद को भुला देने के लिए की गई है। यम के परलोक चले जाने पर यमी उसके दुःख से इतनी दुःखित हुई कि वह सर्वदा विषाद तथा विलाप करती थी। यम को किसी प्रकार भूलती ही न थी। उस समय दिन का ही राज्य था।

दिन में उसकी स्मृति भूलती न थी। प्रजापति ने दयावश रात्रि को जन्म दिया। अन्धकार से जगत् व्याप्त हो गया। तभी यमी यम को भुला सकी। पर्वतों के पक्ष सम्पन्न होने तथा इन्द्र के द्वारा उनके पक्षच्छेदन की कथा भी इसी संहिता (१।१०।१३) में उपलब्ध होती है। ये आख्यायिकायें सचमुच सुन्दर रोचक तथा कमनीय प्रतीत होती हैं।

बृहत्काय आख्यानों में पुरुरवा तथा उर्वशी का आख्यान (शत० ११।५।१), प्राचीन जलौघ का इतिहास (शत० १।८।१) तथा शुनःशेप का आख्यान (ऐत० ७।२) मुख्य हैं। इनमें से अनेक आख्यानों का बीज संहिताओं में ही अन्तर्निविष्ट है जिन्हें ग्रहण कर ब्राह्मणों ने तथा पुराणों ने अपनी पद्धति के अनुरूप उनका पल्लवन किया है। पुरुरवा तथा उर्वशी का वर्णन तो ऋग्वेद के एक विख्यात संवाद सूक्त (ऋ० १०।९५) में है जिसमें दोनों में परस्परोपकथन-विषयक मन्त्र दिये गये हैं। शतपथ में यही आख्यान विस्तार के साथ दिया गया है तथा पुरुरवा तथा उर्वशी का प्रेम आदर्शकोटि तक पहुँचा हुआ प्रदर्शित किया गया है। प्राचीन ओघ या जलप्लावन की कथा भारतेतर साहित्य में भी उपलब्ध होती है। विषम जलप्लावन से एक वर्धिष्णु मत्स्य ने मनु को कैसे बचाया तथा किस प्रकार मनु ने प्लावन के अनन्तर मानवी सृष्टि का पुनः आरम्भ किया— यह कथा मत्स्यावतार से सम्बन्ध रखती है तथा पुराणों में विस्तार से वर्णित है (द्रष्टव्य भागवत स्कन्ध ८।२४)। शुनःशेप की कथा का संकेत ऋग्वेदीय सूक्तों में (१।२४ सू०–३० सू०) उपलब्ध होता है और इसीका सुन्दर विन्यास ऐतरेय ब्राह्मण का वैशिष्ट्य है। इस प्रकार आख्यानों के विकास में ब्राह्मण भी एक आवश्यक शृंखला है। ब्राह्मण ग्रन्थों को सरस रोचक तथा आकर्षक बनाने का बहुत कुछ श्रेय इन्हीं आख्यानों को मिलना चाहिए।

ब्राह्मणों का महत्त्व

ब्राह्मणों के यागानुष्ठानों के विशाल सूक्ष्मतम वर्णन को आजकल का आलोचक नगण्य दृष्टि से देखने का दुःसाहस भले ही करे, परन्तु वे एक अतीत युग के सुरक्षित निधि हैं जिन्होंने वैदिक युग के क्रिया कलापों का एक भव्य चित्र धर्म-मीमांसक के लिए प्रस्तुत कर रखा है। यह परिस्थिति के परिवर्तन होने से अवश्य ही धूमिल सा हो गया है, परन्तु फिर भी वह है धार्मिक दृष्टि से उपादेय, संग्रहणीय और मननीय। भारतीय धर्म के इतिहास में श्रौत विधानों का एक विचित्र युग ही था। उस युग को अपने पूर्ण सौन्दर्य तथा सौष्ठव के साथ आज भी उपस्थित करने का श्रेय इन्हीं ब्राह्मण-ग्रन्थों को है। समय ने पलटा खाया है। युगों ने करवटें बदली हैं। भक्ति-आन्दोलन की व्यापकता के कारण वैदिक कर्मकाण्ड का सर्वत्र ह्रास हो गया। श्रौत यज्ञ विधान आज अतीत की एक स्मृतिमात्र है। वैदिक धर्म के कर्मकाण्ड से लोगों की आस्था उठती गई। फलतः न कहीं श्रौत याग होते हैं और न कहीं उन अनुष्ठानों को साक्षात् करने का अवसर ही कभी प्राप्त होता है। यही कारण है कि आज ब्राह्मणों के क्रियाकलापों को ठीक-ठीक हृदयंगम करना एक विषम समस्या है, परन्तु इतना तो निश्चित है कि वे यज्ञ सम्बन्धी बकवाद नहीं है (जैसा अधिकांश पश्चिमी व्याख्याता मानते आये हैं)। उनके भीतर भी एक तथ्य है और उस तथ्य को खोलने की कुंजी है श्रद्धामय अनुशीलन तथा अन्तरंग दृष्टि। बहिरंग दृष्टि वालों के लिए तो 'ब्राह्मण' ऊटपटांग अंडबंड के सिवाय और क्या हो सकता है?

ब्राह्मणों के अनुशीलन से स्पष्ट है कि उस समय यज्ञ-याग के अनुष्ठानों के विषय को लेकर विद्वानों में बड़ा शास्त्रार्थ होता था तथा 'मीमांसा' जैसे शास्त्र की उत्पत्ति उस युग में हो गई थी जिसमें तर्क पद्धति के अनुसार यज्ञीय विषयों का विमर्शन होता था। मीमांसक ही

हमारे प्रथम दार्शनिक हैं और मीमांसा हैं प्रथम दर्शन। 'मीमांसा' के लिए 'न्याय' का प्रयोग इसीलिए उपयुक्त प्रतीत होता है। ब्राह्मणों में यज्ञीय विषयों के मीमांसक विद्वानों की 'ब्रह्मवादी' संज्ञा दी गई है। ब्रह्मवादी विद्वानों के सामने यज्ञयाग की समुचित व्यवस्था के लिए उनके अनुष्ठानों में आपाततः प्रतीयमान विरोधों का निराकरण करना नितान्त आवश्यक समस्या थी जिसकी उन लोगों ने तार्किक बुद्धि का उपयोग कर विधिवत् मीमांसा प्रस्तुत की। ताण्ड्य महाब्राह्मण में 'एवं ब्रह्मवादिनो वदन्ति' के द्वारा अनेक यज्ञीय गुत्थियों के सुलझाने का प्रशस्त प्रयत्न किया गया है[1]। शतपथ में ऐसे ब्रह्मवादियों के नाम भी निर्दिष्ट मिलते हैं तथा उनके मतों की पर्याप्त समीक्षा भी की गई है। उदाहरण के लिए दीक्षा से पूर्व दिन भोजन करने अथवा न करने के प्रश्न को लेकर सावयस अषाढ़ नामक आचार्य तथा याज्ञवल्क्य के बीच गहरी मीमांसा उपलब्ध होती है[2]। अषाढ़ आचार्य का मत अनशन को ही व्रत मानने के पक्ष में था, परन्तु इस मत की धज्जियाँ उड़ाकर याज्ञवल्क्य ने सिद्ध किया है कि भोजन करना चाहिए परन्तु अरण्य में उत्पन्न होने वाले व्रीहि, यव, शमीधान्य आदि पदार्थ का ही। 'मीमांसन्ते' इस क्रियापद का तथा 'मीमांसा' जैसे संज्ञापद का प्रयोग ब्राह्मण ग्रन्थो में बहुलता से उपलब्ध होता है—उत्सृज्यॉं नोत्सृज्यामिति मीमांसन्ते ब्रह्मवादिन इत्याहुः उत्सृज्यामेवेति (तै० सं० ७।५।७।१), ब्राह्मणं पात्रे न मीमांसेत (ताण्ड्य० ६।५।९), उदिते होतव्यमनुदिते होतव्यमिति मीमांसन्ते (कौषी० ब्रा० २।९)

इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों का गाढ़ अनुशीलन अनेक सिद्धान्तों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है। (क) यज्ञों के नानारूपों तथा

---

१ ताण्ड्य ब्रा० ६।४।१५,

२ शत० ब्रा० १।१।१।७–१०

भाषा तथा शैली

समस्त ब्राह्मण ग्रन्थ गद्य में ही निबद्ध किये गए हैं। ब्राह्मणों का गद्य बड़ा ही परिमार्जित, प्रसन्न तथा उदात्त है। दीर्घ समास का न तो दर्शन कहीं होता है और न अर्थ समझने में कहीं दुरूहता। भगवती भागीरथी के भव्य प्रवाह के समान यह गद्य अपने प्रवाह को लिए प्रवाहित होता है। भाषा मन्त्रों की भाषा के समान ही है, परन्तु वह प्राचीन शब्दों तथा धातुओं से वंचित होकर नये शब्द तथा नये शब्द-रूपों को ग्रहण करने में पराङ्मुख नहीं होती। ब्राह्मणों की भाषा संहिताओं की भाषा तथा पाणिनि के द्वारा नियमित संस्कृत भाषा को मिलने वाली बीच की कड़ी है। वाक्यों का विन्यास सरल, सीधा तथा सरस है। यज्ञीय विधानों की वर्णन से नीरसता आने की सम्भावना कम नहीं है, तथापि यह गद्य लघुवाक्यों में विन्यस्त होने के कारण पर्याप्त रूपेण रोचक, आकर्षक तथा हृदयावर्जक है। आख्यायिका वाले अंश तो विशेपरूप से हृदयंगम है। एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा।

सत्यं वै चक्षुः। सत्यं हि वै चक्षु स्तस्मात् यदिदानीं द्वौ विवद्मानावेयाताम्—'अहमदर्शम्' 'अहमश्रौपम्'इति। य एव ब्रूयात् अहमदर्शमिति तस्मा एव श्रद्दध्याम। तत् सत्येनैवैतत् समर्धयति॥
शत० १।३।२।२७

ब्राह्मणकालीन धर्म तथा समाज

ब्राह्मण-युग में यज्ञ का सम्पादन ही धर्म का मुख्य उद्देश्य था। सच तो यह है कि यज्ञ के सूक्ष्म से सूक्ष्म अनुष्ठानों के लिए ब्राह्मण ग्रन्थों में बड़े विस्तार से वर्णन मिलता है तथा इन विधियों के पूर्ण निर्वाह के लिए विशेष आग्रह दीख पड़ता है। अग्नि की स्थापना कब करनी चाहिए? कैसे करनी चाहिए? घी की आहुति वेदि में कहाँ गिरे? वेदि पर बिछाने के लिए दर्भ का अग्रभाग पूरब की ओर रहता है या

उत्तर की ओर—आदि का वर्णन इतनी सूक्ष्मता तथा विस्तार के साथ किया गया है कि इसे पढ़कर आश्चर्य हुए विना नहीं रहता। समस्त कर्मों में यज्ञ ही श्रेष्ठतम माना जाता था (यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म[1])। ब्राह्मणों में यज्ञ की इतनी महिमा तथा आदर है कि विश्व का सब से श्रेष्ठ देवता प्रजापति भी यज्ञ का ही रूप है—

एष वै प्रत्यक्षं यज्ञो यत् प्रजापतिः[2]।

विष्णु का भी प्रतीक यही यज्ञ है—यज्ञो वै विष्णुः। आकाश में दीप्यमान आदित्य भी यज्ञ रूप है—

स यः यज्ञोऽसौ आदित्यः। (शत० ब्रा० १४।१।१।६)

समस्त कर्मों में श्रेष्ठतम होने के कारण इस विश्व में यज्ञ ही परम आराध्य वस्तु है। जगत् के जितने पदार्थ हैं, यहाँ तक कि देवों का जनकरूप प्रजापति भी यज्ञ के ही आध्यात्मिक प्रतीक है। यज्ञ से ही सृष्टि हुई, इस वैदिक तत्त्व का परिचय हमें पुरुष-सूक्त में ही मिल जाता है। परन्तु ब्राह्मणयुग में यज्ञ की महनीयता तथा परम साधन-रूपा होने में किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। अग्निहोत्र अनुष्ठान से प्राणी अपने सब पापों से छूट जाता है[3]। अश्वमेध से यज्ञ करने वाला यजमान अपने समग्र पाप कर्मों को, समस्त ब्रह्म-हत्या को दूर भगा देता है[4]। गोपथ ब्राह्मण में एक बड़ी सुन्दर उपमा के द्वारा इस पाप-निर्मोचन का तत्त्व समझाया गया है। जिस प्रकार साँप अपनी पुरानी केंचुल से छूट जाता है तथा 'इषीका' मूँज से छूट जाती है, उसी प्रकार शाकला का हवन करने वाला समस्त पापों से छूट जाता है:—

---

१ शत० ब्रा० १।७।३।५

२ शत० ब्रा० ४।३।४।३

३ सर्वस्माद् पाप्मनो निर्मुच्यते य एवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति

—शत० ब्रा० २।३।१।६

४ शत० ब्रा० १३।५।४।१

तद् यथाहिर्जीर्णायास्त्वचो निर्मुच्येत, इषीका वा मुञ्जात्।
एवं है वै ते सर्वस्मात् पाप्मनः संप्रमुच्यन्ते ये शाकलां जुह्वति ॥
गो० ब्रा० उत्तर ४।६

इतना उपादेय होने के कारण ही यज्ञ के पूर्ण अनुष्ठान करने के लिए ब्राह्मणों का इतना आग्रहपूर्वक आदेश है।

संहिता काल के मुख्य देवता इस युग में कुछ गौण हो गए हैं अथवा गौण देवताओं को यहाँ मुख्यता प्राप्त हो गई है। कहीं नवीन देवता की भी कल्पना की गई मिलती है। ऋग्वेद के गौण देवताओं में मुख्यता पाने वाले देवता विष्णु तथा रुद्र हैं तथा नवीन देवता में प्रजापति अग्रगण्य हैं। ऐतरेय ब्रा० के आरम्भ में ही विष्णु के परम देव होने की सूचना है—

अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमः (ऐत० १।१)[१]

रुद्र के लिए 'महादेव' शब्द का प्रयोग ब्राह्मणों में स्पष्टतः उल्लिखित है। 'प्रजापति' का पद तो देवों में अग्रस्थानीय है। जगत् के स्रष्टा प्रजापति ही हैं। प्रजापति देवताओं के भी सृष्टिकर्ता हैं। प्रजापति ही इस भूतल के पदार्थों के स्रष्टा हैं। वे ही देवताओं को उत्पन्न कर उनमें ऊर्ज का विभाग करते हैं और इसी ऊर्ज विभाग से उदुम्बर वृक्ष का जन्म हुआ, इसीलिये 'प्रजापति' की महिमा ब्राह्मणों में सर्वतो महीयान् है[२]।

चतुर्वर्ण

ब्राह्मण युगीय समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इन चारों वर्णों तथा उनके कार्यों की पूरी व्यवस्था तथा प्रतिष्ठा उपलब्ध होती है। वैदिक यज्ञ का सम्पादक तथा निर्वाहक होने के कारण ब्राह्मण का

---

१ [illegible], अध्याय २, खण्ड ६, कण्डिका ७, ६।

२ वही ६।१।१ ६।४।१ आदि

स्थान चारों वर्णों में अग्रतम था। ब्राह्मणों में वेदशास्त्र को पढ़ने वाला ब्राह्मण 'मनुष्यदेव' के महनीय अभिधान से मण्डित किया जाता था—

ये ब्राह्मणाः शुश्रावांसोऽनूचानास्ते मनुष्यदेवाः।
—शत० ब्रा० २।२।२।६

विद्वांसो हि देवाः — ,, ,, ३।७।३।१०

तैत्तिरीय संहिता (१।७।३।१) में ब्राह्मण 'प्रत्यक्ष देव' कहा गया है— एते देवाः प्रत्यक्षं यद् ब्राह्मणाः। शतपथ में दो प्रकार के देवता माने गये हैं—अग्नि आदि हविर्भोजी देव तथा मनुष्य-देव, ब्राह्मण। दोनों के लिए यज्ञ का दो विभाग किया गया है। आहुति देवों के लिए और दक्षिणा मनुष्य-देवों के लिए होती है जिनके द्वारा वे प्रसन्न होकर यजमान का कल्याण करते हैं।[1] राजा अपने समग्र राज्य को दक्षिणा रूप में दे सकता है, परन्तु ब्राह्मण की सम्पति को छोड कर ही। अभिषेक के अवसर पर ब्राह्मण कहता है—हे मनुष्यो, यह मनुष्य तुम्हारा राजा है। ब्राह्मणों का राजा सोम है (सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा)। शतपथ की व्याख्या के अनुसार इसका तात्पर्य यह है कि राजा के लिए समस्त प्रजा अन्न-स्थानीय है परन्तु ब्राह्मण नहीं, क्योंकि वह तो भौतिक राजा की प्रजा ही नहीं होता। वह सोम राजा की ही प्रजा होता है (शत० ब्रा० १३।३।५।३)। ब्राह्मण के लिए आदर्श है ब्रह्मवर्चसी होना अर्थात् वेद के अध्ययन से तेजस्वी बनना और इसीलिए ब्राह्मणों में वही सर्वश्रेष्ठ वीर्यवान् माना जाता है जो वेद का ज्ञाता होता है:—

तद्वप्येव ब्राह्मणेनैष्टव्यं यद् ब्रह्मवर्चसी स्यादिति॥
(शत० ब्रा० १।९।३।१६)

---

१ शत० ब्रा० २।२।२।६

योो वै ब्राह्मणानामनूचानतमः स एषां वीर्यवत्तमः ॥
(शत० ४।६।६।५

ब्राह्मण का वल उसके मुख में---भाषण में, वाक् शक्ति में ही होत
है, क्योंकि उसकी सृष्टि मुख से ही हुई है--

तस्माद् ब्राह्मणो मुखेन वीर्यं करोति। मुखतो हि सृष्टः।
(ताण्ड्य० ब्रा० ६।१।६

ऐसे अनूचान ब्राह्मण के वश में क्षत्रिय के रहने पर ही राष्ट्र क
मंगल होता है और राष्ट्र में वीर पैदा होते हैं--

तद् यत्र ब्रह्मणः क्षत्रं वशमेति तद् राष्ट्रं समृद्धं तद्वीर-
वदाहास्मिन् वीरो जायते। —ऐत० ब्रा० ८।९

क्षत्रिय राष्ट्र का रक्षक तथा वैश्य उसका वर्धक माना जाता था।
पैर से उत्पन्न होने के कारण शूद्र का सेवा धर्म ही प्रधान धर्म था। इस
प्रकार यज्ञ-प्रधान वैदिक समाज में वेदज्ञ ब्राह्मणों की महती प्रतिष्ठा
होना स्वाभाविक ही है।

नैतिकता

यज्ञ का सम्पादन बाह्य आचार के ऊपर होने पर भी वह आन्तर
आचरण के ऊपर पूर्णतया अवलम्बित था। जिन पाश्चात्य आलोचकों ने
ब्राह्मण ग्रन्थों में नैतिकता के अभाव की बात कही है उनका कथन कथमपि
मान्य तथा प्रामाणिक नहीं है।[1] उस काल का समाज पूर्णरूपेण नैतिक
था, आचारवान् था तथा कल्याण के लिए सत्य के अनुष्ठान पर आग्रही
था। दीक्षित व्यक्ति को ही नहीं, प्रत्युत प्रत्येक व्यक्ति को सत्यभाषी
होना चाहिए। झूठ बोलने वाला व्यक्ति यज्ञ के लिए उपयुक्त नहीं

---

1 Winternitz History of Indian Litrature, vol
pp, 207—208

होता।[1] झूठ का बोलना जल से अग्नि का सेचन करना है तथा सत्य बोलना अग्नि को घी से सेचन करना है। झूठ बोलने वाले का तेज धीरे धीरे कम हो जाता है वह नित्य-प्रति पापी होता है। अतएव सत्य ही बोलना चाहिए—इस प्रकार सत्य पर आग्रह करनेवाले ब्राह्मण पर नैतिक-हीनता का आरोप क्या कथमपि समुचित है?

ब्राह्मण कालीन समाज पाप के आवर्तनशील स्वभाव से भलीभाँति परिचित था। वह जानता था कि जो मनुष्य एक बार पाप करता है वह अभ्यासवश उसके अनन्तर अन्य पाप का भी आचरण करता है, रुकता नहीं—

यः सकृत् पापकं कुर्यात् कुर्यादेनस्ततोऽपरम् (ऐत० ब्रा० ७।१७)
इसीलिए पाप को रोककर पुण्य करने की आवश्यकता है। सत्य तथा श्रद्धा के आचरण से ही मनुष्य स्वर्गलोक को प्राप्त कर लेता है। वाग्देवी के दो स्तन हैं—सत्य और अनृत। सत्य वाग्देवी के पुत्रों की उपासकों की रक्षा करता है, परन्तु उन्हें अनृत मार डालता है—

वाचो वाव तौ स्तनौ सत्यानृते वाव ते। अवत्येनं सत्यं नैतमनृतं हिनस्ति य एवं वेद। (ऐत० ब्रा० ४।१)

ताण्ड्य ब्राह्मण में असत्य बोलना वाणी का छिद्र कहा गया है (एतद्वाचश्छिद्रं यदनृतम् ताण्ड्य ८।६।१२) इसका तात्पर्य है कि जिस प्रकार छेद के भीतर से सब वस्तुएँ गिर जाती हैं, उसी प्रकार अनृतभाषी की वाणी में से उसका सार गिर जाता है अर्थात् वह सारहीन वाणी किसी पर अपना प्रभाव नहीं जमा सकती। शतपथ ब्राह्मण (२।२।२।१९) में सत्य तथा अनृत के रूप निर्देश के लिए एक सुन्दर उपमा का प्रयोग किया गया है। सत्य बोलना क्या है?

---

१ अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति—शत० ३।१।३।१८

अग्नि का घृत से अभिषेक है अर्थात् उद्दीप्त करना है। अनृत क्या है? जलते हुए अग्नि पर जल का अभिषेक है। अनृतभाषी का तेज धीरे धीरे कम होता जाता है और अन्त में वह पापी बन जाता है। इसीलिए सत्य ही बोलना चाहिए[1]। ऐतरेय ब्राह्मण में श्रद्धा तथा सत्य की मिथुन कल्पना बड़ी ही सुन्दर तथा रोचक है। "श्रद्धा पत्नी है। सत्य यजमान है। श्रद्धा तथा सत्य की जोड़ी बहुत ही उत्तम है। यजमान अपनी पत्नी के साथ मिलकर यज्ञ के द्वारा स्वर्ग पाने में समर्थ होता है। उसी प्रकार सत्य श्रद्धा के साथ सयुक्त होकर स्वर्ग लोकों को जीत लेता है।"

श्रद्धा पत्नी सत्य यजमानः। श्रद्धा सत्यं तदित्युत्तमं मिथुनम्।
श्रद्धया सत्येन मिथुनेन स्वर्गाँल्लोकान् जयतीति॥

—ऐत० ब्रा० ७।१०

समाज में दान तथा आतिथ्य की प्रतिष्ठा थी। जो मनुष्य न देवों को, न पितरों को, न अतिथियों को दान से तर्पण करता था, वह पुरुष 'अनद्धा' अनृत कहलाता है।[2] सायंकाल में आये हुए अतिथि का किसी प्रकार निराकरण नहीं करना चाहिए।[3] जो पुरुष अतिथि की सेवा करता है वह मानो मोटा हो जाता है—प्रसन्न हो जाता है।[4] उस

---

[1] स य सत्यं वदति, यथा अग्निं समिद्धं तं घृतेनाभिषिञ्चेत्, एवं हैनं स उद्दीपयति। तस्य भूयो भूय एव तेजो भवति। श्वः श्वः श्रेयान् भवति। अथ योऽनृतं वदति यथा अग्निं समिद्धं तमुदकेनाभिषिञ्चेत्, एवं हैनं स जासयति तस्य कनीयः कनीय एव तेजो भवति श्वः श्वः पापीयान् भवति। तस्मात् सत्यमेव वदेत्॥

—शतपथ २।२।२।१६

[2] योऽनद्धा पुरुष इति? न देवान् न पितॄन् न मनुष्यानिति।

(ऐत० ब्रा० ७।६)

[3] तस्मादाहुर्न सायमतिथिरपरुध्य। ,, ५।३०

[4] यदा वा अतिथिं परिवेविषत्यापीन इव वै स तर्हि भवति॥ ,, २।२७

समाज में आतिथ्य की बड़ी महिमा का पता इसी घटना से लग सकता है कि आतिथ्य यज्ञ का शिर माना जाता था। अतिथि की पूजा यज्ञ के मस्तक की पूजा मानी जाती थी:—

शिरो वा एतद् यज्ञस्य यद् आतिथ्यम् ॥

(ऐत० ब्रा० १।२५)

नारी की महिमा

समाज में स्त्री का महत्त्वपूर्ण स्थान था। उचित भी ऐसा ही है। यज्ञ में पत्नी यजमान की सहधर्मचारिणी होती है। 'पत्नी' शब्द की व्युत्पत्ति भी तो इसी विशिष्टता की ओर संकेत कर रही है। पत्नी से विहीन पुरुष यज्ञ करने का कथमपि अधिकारी नहीं होता था (अयज्ञो वा एषः योऽपत्नीकः, तै० ब्रा० २।२।२।६)। पत्नी शरीर का आधा भाग मानी जाती थी। (अथा अर्धो वा एष आत्मनः यत् पत्नी, तै० ब्रा० ३।३।३।५)। वेदि की रचना के प्रसंग में शतपथ ब्राह्मण स्त्री-सौन्दर्य के लिए एक महनीय आदर्श की ओर संकेत करता है। स्थूल जघन, कन्धों के बीच छाती का भाग जघन की अपेक्षा कम स्थूल तथा हस्त-ग्राह्य मध्यभाग स्त्री की शारीरिक सुषमा के श्लाघनीय प्रतीक थे (एवमिव हि योषां प्रशंसन्ति पृथुश्रोणिर्विमृष्टान्तरांसा मध्ये संग्राह्येति। शत० १।२।५।१६) ऐसा रूप सुन्दर केशपाश तथा अन्य आभूषणों से सुसज्जित होकर चमक उठता था। ऐसी ही सुन्दर स्त्री के साथ वैदिककालीन पुरुष विवाह सम्बन्ध में दीक्षित होकर गुणवान् पुत्र की उत्पत्ति को स्वर्ग का मुख्य साधन समझता था। ऐतरेय ब्राह्मण में पुत्र की भव्य प्रशंसा समाज में वीर सन्तान के मूल्यांकन करने में पर्याप्त मानी जा सकती है। पितृलोग पुत्र के द्वारा ही अत्यन्त बहुल क्लेश को भी पार करने में समर्थ होते हैं। पुत्र आत्मा से जन्मने वाला स्वयं आत्मा ही होता है। वह अन्न से भरी नौका है जो इस संसृति-सरित्

को पार करने में नितान्त समर्थ होती है। "स वै लोकोऽवदावद" (पुत्र निन्दा के अयोग्य स्वर्गलोक का प्रतीक है), "ज्योतिर्ह पुत्रः परमे व्योमन्", 'नापुत्रस्य लोकोऽस्तीति'—आदि श्रुति-वाक्य पुत्र के सामाजिक मूल्य की कल्पना के कतिपय निदर्शन-मात्र हैं। नारी के लिए पातिव्रत धर्म का पालन परम मंगलमय माना जाता था।[1] समाज में किसी प्रकार के नैतिक स्खलन या शैथिल्य का चिन्ह नहीं पाया जाता था। ऐसे नैतिक आदर्श पर चलने वाले ब्राह्मणकालीन समाज का अवलोकन कर कोई भी विद्वान् उसके ऊपर अनैतिकता का आरोप नहीं कर सकता।

ब्राह्मण साहित्य

ब्राह्मणो का साहित्य बड़ा ही विशाल था, परन्तु आज अनेक ब्राह्मण कालकवलित हो गए हैं, केवल उनका नाम-निर्देश तथा उद्धरण ही कतिपय श्रौत ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। साहित्य में उद्धृत, परन्तु अनुपलब्ध, ब्राह्मणों में से कतिपय महत्त्वशाली ग्रन्थों का नामोल्लेख यहाँ किया जा रहा है। डाक्टर बटकृष्ण घोष ने ऐसे अनुपलब्ध ब्राह्मणों के उपलभ्यमान उद्धरणों को एकत्र प्रकाशित करने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है[2]।

ऐसे ब्राह्मणों में (१) शाट्यायन ब्राह्मण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। इसके ७० उद्धरण आज भी उपलब्ध है जिनमें अधिकांश

---

१ शतपथ (२।५।२।२०) के अनुसार जो स्त्री एक की होती हुई दूसरे के साथ सङ्गति करती है वह वरुण-सम्बन्धी (वरुण=पाप) कार्य को करती है—वरुण्यं वा एतत् स्त्री करोति यदन्यस्य सती अन्येन चरति ॥ 'वरुण्य'=पाप। वरुणो वा एनं गृह्णाति य पाप्मना गृहीतो भवति (शत० १२।७।२।१७)

२ द्रष्टव्य उनका ग्रन्थ Collection of Fragments of Lost Brahmans, Calcutta, 1935

ऋग्वेद के सायणभाष्य (१।१०५।१०; ७।३३।७, ८।९१।१, ८।९१।५ आदि) तथा ताण्ड्य ब्राह्मण के सायणभाष्य (४।२।१०, ४।३।२; ४।५।१४; ४।६।२३) में मिलते हैं। चार पाँच उद्धरण ब्रह्मसूत्र के शांकरभाष्य (३।३।२५; ३।३।२६; ४।१।१६; ४।१।१७) में मिलते हैं। इतने बहुल उद्धरण ग्रन्थ की महत्ता के पर्याप्त सूचक हैं। इसके अधिकांश उद्धरण जैमिनीय ब्राह्मण में भी अक्षरशः उपलब्ध होते हैं।

(२) भाल्लवि ब्राह्मण सामवेद की ही एक सुप्रसिद्ध शाखा का ब्राह्मण था जिसका निर्देश श्रौत ग्रन्थों के अतिरिक्त पतञ्जलि ने महा-भाष्य में (४।२।१०४) तथा काशिका ने (४।२।६६, ४।३।१०५ सूत्रों पर) किया है। (३) जैमिनीय या तवल्कार ब्राह्मण—सामवेद की जैमिनि शाखा से सम्बद्ध ब्राह्मण जो बृहत् तथा महत्त्वपूर्ण होने पर भी पिछले ग्रन्थों में उद्धृत नहीं है। शाट्यायन के साथ इसकी समानता इतनी अधिक है कि उसकी प्रसिद्धि के सामने इसका उद्धरण आवश्यक नहीं माना गया। इन महत्त्वशाली ब्राह्मणों के अतिरिक्त इस श्रेणी के ग्रन्थ ये हैं:—(४) आह्वरक ब्रा० (चरणव्यूह में निर्दिष्ट चरकशाखा से सम्बद्ध); (५) कंकति ब्रा०; (६) कालबवि ब्रा० (पुष्पसूत्र में शाट्यायन ब्रा० के संग में निर्दिष्ट, (७) चरक ब्रा० (कृष्णयजुः की प्रधान शाखा चरक से सम्बद्ध); (८) छागलेय ब्रा० (तैत्तिरीय शाखा से सम्बद्ध), (९) जाबालि ब्रा०, (१०) पैंगायनि ब्रा०, (११) माषशरावि ब्रा०, (१२) मैत्रायणीय ब्रा० (कृष्णयजुर्वेद की मैत्रायणीय शाखा से सम्बद्ध), (१३) रौरुकि ब्रा०; (१४) शैलालि ब्रा० (महाभाष्य ६।४।१४४ तथा काशिका में निर्दिष्ट), (१५) श्वेताश्वतर ब्रा०, (१६) हारिद्रविक ब्राह्मण (चरण-व्यूह में निर्दिष्ट यजुर्वेद की शाखासे सम्बद्ध)। इनके अतिरिक्त इन आठ ब्राह्मणों के नाम और भी मिलते हैं—काठक ब्रा०, खाण्डिकेय ब्रा०, औखेय ब्रा०

गालव ब्रा०, तुम्बरु ब्रा०, आरुणेय ब्रा०, सौलभ ब्रा०, पराशर ब्राह्मण[१]
उपलब्ध ब्राह्मणों की संख्या वेदानुसार इस प्रकार है—

ऋग्वेद—(१) ऐतरेय ब्रा०, (२) शांखायन ब्रा०

शुक्लयजुर्वेद—(३) शतपथ ब्रा०

कृष्णयजुर्वेद—(४) तैत्तिरीय ब्रा०

सामवेद (९ ब्राह्मण)—(५) ताण्ड्य, (६) षड्विंश, (७) सामविधान, (८) आर्षेय, (९) दैवत (१०) उपनिषद् ब्राह्मण, (११) संहितोपनिषद् (१२) वंश ब्राह्मण, (१३) जैमिनीय ब्रा०

अथर्व वेद—(१४) गोपथ ब्राह्मण।

वैदिक ग्रन्थों की सूची

वेद	शाखा	ब्राह्मण	आरण्यक	उपनिषद्
ऋग्वेद	१—शाकल*	ऐतरेय ब्राह्मण	ऐतरेय आरण्यक	ऐतरेय उपनिषद् = [आरण्यक २। ४—६]
	२—वाष्कल +	कौषितकि ब्राह्मण (सांख्यायन ब्राह्मण भी कहते हैं)	सांख्यायन आरण्यक	१—कौषितकि उपनिषद् [= आरण्यक ३—६]
				२—वाष्कल मन्त्रोपनिषद्
सामवेद	१—कौथुम*	१—पञ्चविंश=(प्रौढ = ताण्ड्य महा, ब्राह्मण		
		२—षड्विंश ब्राह्मण (अद्भुत ब्राह्मण अन्तिम प्रपाठक में है)		
		३—सामविधान ब्राह्मण		
		४—आर्षेय ब्राह्मण		

	शाखा	ब्राह्मण	आरण्यक	उपनिषद्
		५–मन्त्र (= उपनिषद्) ब्राह्मण		छान्दोग्य उपनिषद् [ब्राह्मण के अन्तिम आठ प्रपाठक]
		६–दैवताध्याय ब्राह्मण		
		७–वंश ब्राह्मण		
		८–संहितोपनिषद् ब्राह्मण		
	२–राणायणीय +	कतिपय सूत्रग्रंथों में ही रक्षित		
	३–जैमिनीय*	१–जैमिनीय ब्राह्मण		
		२–जैमिनीयोपनिषद् (= तलवकार ब्राह्मण)		केनोपनिषद् (= ब्राह्मण ४।१८–२१)
		३–आर्षेय ब्राह्मण ?		
णयजुर्वेद	१ तैत्तिरीय*	१क–तैत्तिरीय संहिता (ब्राह्मण भाग)	तैत्तिरीय आरण्यक	१–तैत्तिरीय उपनिषद् (= आरण्यक ७–९)

		१म-तैत्तिरीय ब्राह्मण (संहिता भाग को छोड़कर)		२-महानारायण उपनिषद् (= आरण्यक १०)
	२-मैत्रायणी*	मैत्रायणी संहिता (ब्राह्मण भाग)		मैत्रायणीय उपनिषद् (= मैत्री उपनिषद्)
	३-कठ*	काठक सहिता (ब्राह्मण भाग)		कठोपनिषद्
	४-कापिष्ठलकठ ×	कापिष्ठल कठ सहिता (ब्राह्मण भाग)		
	५-श्वेताश्वतर			श्वेताश्वतरोपनिषद्
शुक्लयजुर्वेद	१-काण्व*	शतपथ-ब्राह्मण	बृहदारण्यक(=ब्राह्मण काण्ड १७)	१-ईशावास्योपनिषद् = (संहिता ४०)
				२-बृहदारण्यकोपनिषद् (=आरण्यक ३-८)

वेद	शाखा	ब्राह्मण	आरण्यक	उपनिषद्
	२–माध्यन्दिन*	शतपथ–ब्राह्मण	बृहदारण्यक(=ब्राह्मण काण्ड १४)	१–ईशावास्योपनिषद् = (संहिता ४०) २–बृहदारण्यकोपनिषद् (=आरण्यक ४–९)
अथर्ववेद	१–पैप्पलाद*			प्रश्नोपनिषद्
	२–शौनक*	गोपथ ब्राह्मण		१–मुण्डकोपनिषद् २–माण्डूक्योपनिषद् ३–अनेक पिछले उपनिषद्

* पूर्णतया उपलब्ध   + अनुपलब्ध   × अंशतः उपलब्ध

ऐतरेय ब्राह्मण

ऋग्वेदीय ब्राह्मणों में सर्वप्रथम उल्लेखनीय ब्राह्मण है ऐतरेय ब्राह्मण। इसके रचयिता ऋषि महिदास ऐतरेय माने जाते है। इस नामकी व्युत्पत्ति के आधार पर सायणाचार्य ने अपने भाष्य के आरम्भ में एक कथानक दिया है जिसके अनुसार ये किसी शूद्रा इतरा के पुत्र थे। परन्तु इसमें ऐतिहासिक तथ्य थोडा भी प्रतीत नहीं होता। अवेस्तामें ऋत्विज् अर्थ में व्यवहृत 'एथ्रूय' शब्द उपलब्ध होता है। विद्वानों का अनुमान है कि 'ऐतरेय' शब्द भी इसी एथ्रूय से साम्य रखता है तथा इसका भी अर्थ ऋत्विज् ही है।[1]

ऐतरेय की लेखनशैली विशुद्ध ब्राह्मणोचित है। संहिताकाल की भाषा से वह बहुत दूर नहीं है। इसकी रचना में एक प्रकारकी एकता तथा समानता वर्तमान है जिससे इसमें किसी प्रकार के अवान्तर प्रक्षेप की कल्पना सर्वथा निराधार है। आश्वलायन के तर्पणविधि में किसी महैतरेयका भी नामोल्लेख पाया जाता है जिससे इस ग्रन्थ के किसी महान् तथा विशाल संस्करण की कल्पना की जा सकती है, परन्तु ऐसे ग्रन्थ की स्थिति आज तो नितान्त अभाव-रूप है। यदि इस नाम का कोई ब्राह्मण कभी होगा भी, तो आज वह नष्ट हो गया है।

ऐतरेय ब्राह्मण में चालीस अध्याय हैं तथा प्रत्येक पाँच अध्यायों को मिलाकर एक 'पंचिका' कहते हैं और प्रत्येक अध्याय में कण्डिका की कल्पना है। इस प्रकार पूरे ऐतरेय में ४० अध्याय, ८ पंचिका तथा २८५ कंडिकायें हैं। ऋग्वेद से सम्बद्ध यह ब्राह्मण यज्ञ में होतृ नामक ऋत्विज् के विशिष्ट कार्य-कलापो का विशेष विवरण प्रस्तुत करता है।

---

१ द्रष्टव्य डा० तारापुरवाला का लेख प्रथम ओरियण्टल कान्फ्रेन्स की लेख-माला भाग १, पूना १९१८।

प्रथम तथा द्वितीय पंचिका में 'अग्निष्टोम' याग में होतृ के विधिविधानो तथा कर्तव्यों का विस्तृत वर्णन है। यही 'अग्निष्टोम' समस्त सोमयागों की प्रकृति है। इसीलिए इसका विशेष विवरण यहाँ प्रस्तुत किया गया है। तृतीय चतुर्थ पंचिका में प्रात. सवन, माध्यन्दिन सवन तथा सायं सवन के समय प्रयुज्यमान शस्त्रों का वर्णन मिलता है। साथ ही साथ अग्निष्टोम की विकृतियो—उक्थ्य, अतिरात्र तथा षोडशी नामक यागों-का भी संक्षिप्त विवेचन है। पंचम में द्वादशाह यागों का तथा षष्ठ में कई सप्ताहों तक चलने वाले सोमयागों में होता तथा उसके सहायक ऋत्विजों के कार्यों का विवेचन पर्याप्तरूपेण किया गया है। सप्तम पंचिका का प्रधान विषय 'राजसूय' है तथा इसी प्रसंग में शुनःशेपका प्रख्यात आख्यान भी विस्तार के साथ दिया गया है। अष्टम पंचिका ऐतिहासिक दृष्टि से नितान्त महत्त्वशाली है क्योंकि प्रथमतः इसमें 'ऐन्द्र महाभिषेक' का तथा तदनन्तर उसी के आधार पर चक्रवर्ती नरेशों के महाभिषेक का बड़ा ही रोचक वर्णन प्रस्तुत किया गया है। अन्तिम अध्याय में पुरोहित के धार्मिक तथा राजनीतिक महत्त्व का प्रतिपादन नितान्त उपादेय है। इस प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण सोमयाग के नाना प्रकारों के स्वरूप तथा इतिहास बतलाने में विशेष गौरव रखता है।

महत्त्व

धार्मिक दृष्टि से ऐतरेय की आलोचना हमें अनेक नवीन तथा प्रामाणिक तथ्यों का ज्ञान कराती है। इसका अनुशीलन हमें बतलाता है कि इसके युग में किस प्रकार विष्णु की महिमा वैदिक समाज में विशेष स्थान कर रही थी। परन्तु शुनःशेप के आख्यान के कारण यह ब्राह्मण वैदिक ग्रन्थों में चिरस्मरणीय रहेगा। शुनःशेप ऋग्वेद के ऋषि है तथा प्रथम मण्डल के अनेक सूक्तों (२४–२७ तक) के द्रष्टा हैं। शुनःशेपका आख्यान बड़ा ही करुणोत्पादक होने से साहित्यिक दृष्टि से भी पठनीय

है[1]। राजा हरिश्चन्द्र वरुण की दया से प्राप्त पुत्र को उन्हें बलि देना चाहता है। समर्थ होने पर वह पुत्र 'रोहित' जंगल में चला जाता है और पिता उदर-व्याधि का शिकार बन जाता है। समाचार पाकर रोहित जंगल से घर लौटता है। इन्द्र उसे लौटने से रोकता है। अन्ततो गत्वा रोहित घर लौट आता है, परन्तु अजीगत सौयवसि नामक ब्राह्मण से उसके मध्यम पुत्र शुनःशेप को गायों की दक्षिणा देकर खरीद लाता है। वरुण के यज्ञ में पिता ही अपने पुत्र को बलि देने के लिए दक्षिणा लेकर तैयार हो जाता है, परन्तु अनेक देवताओं की अभ्यर्थना के बल पर वह प्राण बचा लेता है। विश्वामित्र उसे अपना पोष्य पुत्र बना लेते हैं। उनके जिन पचास पुत्रों को यह घटना मान्य नहीं होती उन्हें पिता के अभिशाप से आर्य देश की प्रान्तभूमि में आन्ध्र, मूतिब, पुलिन्द आदि म्लेच्छ जाति के रूप में परिणत होना पड़ता है।

ऐतरेय के ही कथनानुसार यह पूर्वोक्त आख्यान एक शत ऋचाओं के ऊपर अश्रित बतलाया गया है (ऋक्-शतगाथं शौनःशेपमाख्यानम्) परन्तु वस्तुतः ये ऋचाएं संख्या में ९७ ही हैं। तथापि तीन ऋचाओं की कमी पर ध्यान न देकर पूरी संख्या एक शत बतलाई गई है। इस आख्यान को अनेक पश्चिमी वेदज्ञ वैदिक युग में मनुष्य के बलिदान का परिचायक प्रमाण मानते हैं[2], परन्तु भारतवर्ष के आर्य धर्म में मनुष्य के बलि देने का कहीं विधान नहीं है। साख्यायन श्रौत सूत्र में पुरुषमेध की राजसूय के समय योजना का वर्णन जो मिलता है वह वास्तव नहीं, प्रत्युत काल्पनिक तथा प्रतीकात्मक है। राजा के अभिषेक के समय इस आख्यान का पुरोहित द्वारा कथन एक

---

१ द्रष्टव्य लेखक का ग्रन्थ—वैदिक कहानियाँ, पृष्ठ ३८—पृष्ठ ५८।

२ जर्मन विद्वान् हिलेब्रान्ट इसमें मनुष्य की बलिदान प्रथा को वैदिक युग में वास्तव मानते हैं, परन्तु डा० कीथ ने इसका सप्रमाण खण्डन किया है। द्रष्टव्य ऐतरेय का अंग्रेजी अनुवाद (भूमिका)

आवश्यक तथ्य का संकेत कर रहा है। राजा को मनुष्य तथा देवता किसी को भी दी गई प्रतिज्ञा का निभाना आवश्यक धर्म है। हरिश्चन्द्र ने वरुण के सामने पुत्र के बलिदान की प्रतिज्ञा को निष्कृति के दान से निभा कर अपने सत्य-सन्ध होने की बात स्पष्टत: प्रमाणित की। रोहित को घर लौटने से इन्द्र ने रोक कर चरैवेति चरैवेति की जो सुन्दर शिक्षा दी है वह आर्य जाति के अभ्युदय का सबल है। कर्म की दृढ उपासना ही आर्य संस्कृति का मेरुदण्ड है। आर्य-धर्म कर्मण्यता का पक्षपाती है, अकर्मण्यता का प्रतिद्वन्द्वी।

यह आख्यान आर्यों के दक्षिण देशों में प्रसार के इतिहास तथा समय का पूर्ण साक्षी है। ऐतरेय के ही समय आर्य लोग अपनी अभ्यस्त सीमा के बाहरी प्रान्तों में जाकर निवास करने लगे थे। पौण्ड्र, आन्ध्र, पुलिन्द, शबर तथा मूतिब आर्यों के सीमान्त प्रदेश में निवास करने वाली ऐसी ही अनार्य जातियाँ हैं जिनके साथ आर्यों का इस युग में सम्पर्क होता है। पौण्ड्र से बंगाल का संकेत है। आन्ध्र तो आज भी अपने स्थान पर है। पुलिन्द तथा शबर मध्यभारत में रहने वाली जगली जातियाँ है। मूतिब का ठीक पता नहीं चलता।

ऐतरेय का भौगोलिक सम्बन्ध मध्यदेश से ही है क्योंकि मध्यदेश का उल्लेख बड़े अभिमान के साथ किया गया है तथा वह ध्रुव तथा प्रतिष्ठा माना गया है (ध्रुवायां मध्यमायां प्रतिष्ठायां दिशि—ऐत० ८।१४) परन्तु ऋग्वेद के समान इसका प्रचार आजकल महाराष्ट्र देश में ही है। इसीलिए 'ड' के स्थान पर 'ळ' का बहुल प्रयोग इस ब्राह्मण में मिलता है।

इसके ऊपर तीन व्याख्याओं का पता चलता है—(१) सायण कृत भाष्य[1]; (२) षड्गुरु शिष्य रचित 'सुखप्रदा' नाम्नी लघुकाय

---

[1] प्र० आनन्दाश्रम सं० सीरिज में, पूना।

व्याख्या[1]; (३) गोविन्द स्वामी की व्याख्या (अप्रकाशित)। इस व्याख्या सम्पत्ति से भी इसकी महिमा का पता भली भाँति चल सकता है।

शाङ्खायन ब्राह्मण

ऋग्वेद का यह दूसरा ब्राह्मण ३० अध्यायों में विभक्त है, प्रत्येक अध्याय में खण्ड हैं जो ५ से लेकर १७ तक है। सम्पूर्ण खण्डों की संख्या २६६ है। खण्डों के भीतर लम्बे-लम्बे गद्य हैं। इसमें कौपीतकि नामक आचार्य का उल्लेख पैङ्ग्य आचार्य के विरोध में किया गया है तथा कौपीतकि का मत ही मान्य ठहराया गया है (द्रष्टव्य ८।९; २६।३)। कौपीतकि के मत का निर्देश अन्य स्थलों पर भी है (११।५; २५।१५)।

विषय की दृष्टि से यह ऐतरेय का ही अनुगामी है जिसके आरम्भिक तीस अध्यायों का विषय यहाँ प्रायः समानता के साथ दिया गया है। इसके अनुशीलन से अनेक महनीय बातों से परिचय मिलता है:—

(१) उदीच्य लोगों का संस्कृत-ज्ञान प्रशंसनीय माना गया है। उस समय के लोग भाषा सीखने के लिए उदीच्य प्रान्त में जाते थे और देश में लौटने पर वे आदर तथा सत्कार के पात्र माने जाते थे (उदञ्च एव यन्ति वाचं शिक्षितुं; यो वै तत आगच्छति तं शुश्रूषन्ते— ८।६) भाषाशास्त्र की दृष्टि से इस कथन का मूल्य बहुत ही अधिक है। पाणिनि भी उदीच्य थे क्योंकि उनका जन्मस्थान शालातुर तक्षशिला के ही पास था। इस घटना से पाणिनि का भाषाज्ञान विशेष श्लाघनीय प्रतीत होता है।

(२) रुद्र की विशेष महिमा का वर्णन है। वह देवों में श्रेष्ठ तथा ज्येष्ठ माना गया है (रुद्रो वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च देवानाम् २५।१३)। ६ अ० में शिव के भव, शिव, पशुपति, उग्र, महादेव, रुद्र, ईशान तथा

---

२ सं० अनन्त शयन ग्रन्थमाला सं० १४९; त्रिवेन्द्रम सन् १९४२

अशनि नाम दिये गये हैं तथा इन नामों की उत्पत्ति विचित्र रूप से बतलाई गई है तथा उनके विशिष्ट व्रत का भी यहाँ निर्देश किया गया है ।

(३) सप्तम अध्याय में अग्नि बिल्कुल निम्नकोटि के तथा विष्णु उच्चकोटि के देवता माने गये हैं (अग्निरवरार्ध्यः विष्णुः परार्ध्यः) यह इस युग की धार्मिक मान्यता थी जिसकी पुष्टि ऐतरेय ब्रा० से भी होती है । उस युग की उदात्त भावना का प्रतीक यज्ञ विष्णु का प्रतीक था (यज्ञो वै विष्णुः) ।

(४) यज्ञ के हिंसित पशुओं के विषय में कहा गया है कि वे दूसरे लोक में जाकर यज्ञ करने वाले को खाते हैं जिससे स्पष्ट है कि पशु-याग तथा मांसभक्षण के प्रति लोगों में घृणा की भावना जाग रही थी तथा लोग उससे पराङ्मुख होने की चेष्टा करते थे (अमुष्मिन् लोके पशवो मनुष्यानश्नन्ति ११।१३) ।

(५) अध्याय २३।२ में शक्वरी (छन्द) के नाम की ऐतिहासिक निरुक्ति है । इन छन्दों के द्वारा इन्द्र वृत्र को मारने में समर्थ हुआ, यही तो शक्वरी का शक्वरीत्व है (इन्द्रो वृत्रमशकद्धन्तुमाभिस्तस्माद् शक्वर्यः) महानाम्नी साम में शक्वरी ऋचायें है और यह मुख्यतया इन्द्र के प्रति कहा गया है ।

(६) गोत्र का प्रचलन तथा प्रभाव दृढ हो गया था क्योंकि एक स्थान पर ब्राह्मण से कहा गया है कि अपने ही गोत्र वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य के साथ निवास करें, अन्य गोत्रीय के साथ नहीं (ब्राह्मणो समानगोत्रे वसेत् यत् समाने गोत्रेऽन्नाद्यं तस्योपाप्त्यै २५।१५) ।

यजुर्वेदीय ब्राह्मण

शतपथ ब्राह्मण

ब्राह्मण ग्रन्थों में सब से अधिक महत्त्वशाली, विपुलकाय तथा यागानुष्ठान का सर्वोत्तम प्रतिपादक ग्रन्थ यही है शतपथ ब्राह्मण। शुक्लयजुर्वेद की उभय शाखाओं—माध्यन्दिन तथा काण्व शाखाओं—में यह उपलब्ध होता है। विषय की एकता होने पर भी उसके वर्णन-क्रम में तथा अध्यायों की संख्या में यहाँ अन्तर पड़ता है। माध्यन्दिन शतपथ में काण्डों की संख्या १४, अध्यायों की पूरी एक सौ, प्रपाठकों की ६८, ब्राह्मणों की ४३८ तथा कण्डिकाओं की ७६२४ है। काण्व शतपथ में प्रपाठक नामक उपखण्ड का अभाव है तथा काण्डों की संख्या १७, अध्यायों की १०४, ब्राह्मणों की ४३५ तथा कण्डिकाओं की ६८०६ है। माध्यन्दिन शतपथ में प्रथम काण्ड से आरम्भ कर नवम काण्ड तक पिण्डपितृयज्ञ को छोड़कर विषयों का क्रम माध्यन्दिन संहिता के अनुसार ही है। पिण्डपितृ यज्ञ का वर्णन संहिता में दर्शपौर्णमास के अनन्तर है परन्तु ब्राह्मण में आधान के अनन्तर है, यही अन्तर है। अवशिष्ट काण्डों में भी संहिता का ही क्रम अंगीकृत किया गया है। दोनों शतपथों के आरम्भ में ही एक अन्तर दृष्टिगोचर होता है। माध्यन्दिन शतपथ के प्रथम काण्ड का विषय (दर्शपूर्णमासेष्टि) काण्व के द्वितीय काण्ड में है और द्वितीय काण्ड का विषय (आधान, अग्निहोत्र आदि) काण्व के प्रथम काण्ड में ही समाविष्ट है। अन्यत्र विषय उतने ही हैं, परन्तु उनका क्रम दोनों में भिन्न-भिन्न है।

माध्यन्दिन शतपथ के प्रथम काण्ड में दर्शपूर्णमास इष्टियों का तथा द्वितीय काण्ड में आधान, अग्निहोत्र, पिण्डपितृयज्ञ, आग्रयण और

चातुर्मास्य का वर्णन है। सोमयाग के नाना यागों के विवरण से सम्बद्ध तृतीय तथा चतुर्थ काण्ड हैं। पंचम काण्ड में वाजपेय याग तथा राजसूय याग का विवेचन है। ६ काण्ड से लेकर १० काण्ड तक उषा-सम्भरण, विष्णुक्रम, वनीवाहनकर्म (६ काण्ड), चयन का सम्पूर्ण वर्णन (७ तथा ८ काण्ड), शतरुद्रिय होम (९ काण्ड) तथा चित्ति-सम्पत्ति तथा उपनिषद् रूप से अग्नि की उपासना आदि का वर्णन (१० काण्ड) किया गया है। प्रथम काण्ड-पञ्चक में याज्ञवल्क्य का, जो चतुर्दश काण्ड में समस्त शतपथ के कर्ता माने गये हैं, प्रामाण्य सर्वा-तिशायी है परन्तु द्वितीय काण्ड-पञ्चक (६ काण्ड—१० काण्ड) में याज्ञवल्क्य का नामनिर्देश न होकर शाण्डिल्य ऋषि का ही प्रामाण्य निर्दिष्ट है। ये ही शाण्डिल्य १०म काण्ड में वर्णित 'अग्निरहस्य' के प्रवक्ता बतलाये गए हैं। अन्तिम काण्ड-चतुष्टय (११ काण्ड—१४ काण्ड) में अनेक नवीन विषयों का विवेचन उपलब्ध होता है जो साधारण रीति से ब्राह्मणों में विवेचित तथा संकेतित नहीं होते। ऐसे विषयों में से कतिपय महत्त्वशाली विषय ये हैं—उपनयन (११।५।४), स्वाध्याय जो ब्रह्मयज्ञ के रूप में स्वीकृत किया गया है (११।५।६-८) और्ध्वदैहिक क्रियाओं का अनुष्ठान (१२।८), अश्वमेध, पुरुषमेध तथा सर्वमेध का विशद विवेचन १३ वें काण्ड में तथा प्रवर्ग्य याग का वर्णन १४ वें काण्ड में किया गया है। शतपथ के अन्त में बृहदारण्यक उपनिषद् है जिसका विषय-विवेचन अगले परिच्छेद उपनिषदों के प्रसंग में किया जावेगा।

भाष्यकार

शतपथ ब्राह्मण की भाष्यसम्पत्ति भी पर्याप्तरूपेण शोभन है। हरि-स्वामी इसके प्रथम भाष्यकार हैं जिसकी व्याख्या लघ्वक्षर होनेपर भी विशेष प्रामाणिक है। इनका पूरा भाष्य उपलब्ध नहीं है। ये पाराशर-

गोत्रोत्पन्न पुष्कर-क्षेत्र-निवासी नागस्वामी के पुत्र थे और उज्जयिनी में महाराज विक्रमार्क के धर्माध्यक्ष पद पर प्रतिष्ठित होकर इन्होंने 'श्रुत्यर्थ विवृति' नामक भाष्य का निर्माण किया। कात्यायन श्रौतसूत्र के भाष्यकार कर्काचार्य (११ वीं शताब्दी) ने अपने भाष्य में हरिस्वामी का उल्लेख किया है। अतः हरिस्वामी १०म शतक से अर्वाचीन नहीं हो सकते। आचार्य सायण का भी भाष्य पूरे ग्रन्थ पर था, परन्तु आज वह यत्रतत्र त्रुटित ही उपलब्ध होता है[1]।

शतपथ की प्राचीनता

शतपथ ब्राह्मण आजकल उपलब्ध ब्राह्मणों में प्राचीनतम माना जाता है। भट्टोजि-दीक्षित की सिद्धान्तकौमुदी में निर्दिष्ट एक उल्लेख से यह प्राचीन न होकर नवीन ब्राह्मण प्रतीत होता है। इस तथ्य का कारण क्या? अष्टाध्यायी में 'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मण-कल्पेषु' (४।३।१०५) सूत्र के द्वारा प्रोक्त अर्थ में 'णिनि' प्रत्यय का विधान किया गया है यदि वह ब्राह्मण या कल्प चिरन्तन ऋषि के द्वारा प्रोक्त हो। उदाहरण इस सूत्र का है भाल्लविनः तथा शाट्यायनिनः अर्थात् इन उदाहरणों के द्वारा भल्लु ऋषि तथा शाट्यायन ऋषि तथा उनके द्वारा प्रोक्त ब्राह्मण प्राचीन हैं। प्रत्युदाहरण 'याज्ञवल्क्यानि ब्राह्मणानि' है अर्थात् याज्ञवल्क्य के द्वारा प्रोक्त ब्राह्मण में णिनि प्रत्यय का इसीलिए निषेध है कि वे अर्वाचीन काल के ऋषि थे, भल्लु तथा शाट्यायन के समान याज्ञवल्क्य प्राचीन नहीं थे। भट्टोजिदीक्षित का यह मत प्राचीन वैयाकरणों के मत से नितान्त विरुद्ध होने के कारण उपेक्षणीय है। उन्होंने वररुचि के वार्तिक 'याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधः तुल्यकालत्वात्' को

---

१ इन टीकाओं के साथ इस महनीय ब्राह्मण का प्रकाशन खेमराज श्रीकृष्ण ने बम्बई से चार जिल्दों में किया है, बम्बई १६४०-४३। इस ग्रन्थ के आरम्भ में श्रीधर शास्त्री वारे की भूमिका बड़ी ही उपादेय तथा प्रमेयबहुल है।

बिल्कुल उपेक्षा कर दी है। यह वार्तिक स्पष्टतः याज्ञवल्क्य को पूर्व-निर्दिष्ट ऋषियों का 'तुल्य काल' अर्थात् समकालीन मानता है। पतञ्जलि ने महाभाष्य में इस वार्तिक को स्वीकार किया है[1]। इस विषय की मीमांसा हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचाती है कि वैयाकरणों की दृष्टि में भाल्लवि ब्रा० तथा शाट्यायन ब्रा० जो आज उपलब्ध नहीं है निःसन्देह प्राचीनतम थे तथा याज्ञवल्क्य के द्वारा प्रोक्त शतपथ ब्राह्मण भी इसी काल से सम्बद्ध ग्रन्थ था। भट्टोजिदीक्षित के द्वारा इसे अर्वाचीन मानना कथमपि न्याय्य नहीं है। नागोजि भट्ट ने 'लघुशब्देन्दु-शेखर' में याज्ञवल्क्य को अर्वाचीन मानना दीक्षित जी का अभिमान बतलाया है[2]। अत दीक्षित-पूर्व तथा दीक्षित-पश्चात् उभयविध वैयाकरणों के द्वारा शतपथ ब्राह्मण की प्राचीनता अक्षुण्ण ही सिद्ध होती है।

शतपथ का वैशिष्ट्य

शतपथ ब्राह्मण ब्राह्मण-ग्रन्थों में अनेक दृष्टियों से महत्त्वशाली है। इसमें यज्ञ-विद्या अपने पूर्ण वैभव के साथ आलोचकों के सामने उपस्थित होती है। यज्ञीय अनुष्ठान के छोटे से छोटे विधि-विधानों का विशद वर्णन, इन क्रियाओं के लिए हेतु का निर्देश, प्राचीन आख्यानों का सरस विवेचन—इस ब्राह्मण के उत्कर्ष बतलाने के लिए पर्याप्त कारण माने जा सकते हैं, परन्तु इतना ही नहीं, यज्ञ के आध्यात्मिक रहस्य का पूर्ण संकेत इस ब्राह्मण में पाया जाता है। मण्डल ब्राह्मण

---

[1] द्रष्टव्य ४।३।१०५ का भाष्य।

[2] याज्ञवल्क्यानीति कण्वादिभ्य इत्यण्। ते हि पाणिन्यपेक्षया आधुनिका इत्यभिमान। भाष्ये तु न एव यत्नादि तुल्यकालत्वात् याज्ञवल्क्यादिभ्य प्रतिषेधन्नद्विषयता च नेति वचननैवारब्धम्॥

—नागेश।

(दशम मण्डल) सूर्य के आध्यात्मिक रूप को दिखलाने में जितना समर्थ है, उतना ही समर्थ वह भी भाग है जिसमें यज्ञ के अवान्तर अनुष्ठान कहीं प्रजापति के और कहीं विष्णु के प्रतीक रूप में उल्लिखित किये गये हैं। प्राचीन आख्यानों में मनु की कथा बड़ी मार्मिक तथा सरस है। पुराणों में उल्लिखित मत्स्यावतार का बीज इसी कथा में है (शतपथ १।८।१) जिससे पता चलता कि किसी प्रकार जल के ओघ (बाढ़) से मनु ने उस अपूर्व मत्स्य की सहायता के बल पर मानवी सृष्टि की रक्षा की, मानवों के नष्ट हो जाने पर संचित बीजों के द्वारा यज्ञ से मानव का पुनः प्रादुर्भाव इस भूतल पर हुआ आदि। यह घटना हिमालय के ऊपर घटित हुई थी और मनु के नाव बाँधने का स्थान 'मनोरवसर्पण' के नाम से विख्यात था। इस प्रकार प्रलयकारी जलौघ की कथा पुरानी बाइबिल में हिब्रू लोगों के बीच भी पायी जाती है। यह कथा शतपथ ब्राह्मण से ली गई है अथवा स्वतन्त्र रूप से पश्चिम देश में आविर्भूत हुई है? यह निर्णय करना प्रमाणों के अभाव में नितान्त कठिन है।

आर्यावर्त में आर्यों के प्रसार के वृत्तज्ञान के निमित्त शतपथ महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना का वर्णन करता है। इसके प्रथम काण्ड (अध्याय ४, ब्रा० १, कण्डिका १०–१७) में माथव विदेघ तथा उनके पुरोहित गोतम राहूगण ऋषि की बड़ी ही रोचक आख्यायिका दी गई है जिसके अनुसार विदेघ माथव सरस्वती के तट पर थे। वहाँ से अग्नि वैश्वानर सब स्थानों को जलाता हुआ पूर्व की ओर उत्तरगिरि (हिमालय) से बहने वाली 'सदानीरा' नदी तक गया और वहीं रह गया। राजा और पुरोहित अग्नि के पीछे २ गए और अपने निवास स्थान के विषय में पूछने पर अग्नि ने 'सदानीरा' (गण्डक) के पूरब प्रदेश में उन्हें रहने की आज्ञा दी। इस कथा में वैदिक धर्म के सारस्वत मण्डल से पूरब की ओर प्रसार का संकेत है। यहाँ सदानीरा से पूरब

प्रान्त प्राचीन काल में ब्राह्मणों के निवास के लिए अयोग्य बतलाया गया है[1] तथा इस घटना के अनन्तर ही वह आर्य-प्रदेश बना तथा ब्राह्मणों के निवास योग्य बना। सदानीरा के पार्श्वस्थ भूखण्ड—मिथिला—में शतपथ के मान्य राजा जनक का उल्लेख है जिनके प्रधान उपदेष्टा याज्ञवल्क्य मुनि थे। अनेक प्राचीन राजाओं का भी उल्लेख अश्वमेध के प्रसंग में यहाँ किया गया है। दुष्यन्त तथा भरत अश्वमेध के कर्ता रूप में उल्लिखित किये गये हैं (शत० १३।५।४) महाराज जन्मेजय का भी वहाँ निर्देश है। स्मरण रखना चाहिए कि मिथिला के राजाओं की उपाधि ही 'जनक' थी। अतः शतपथ में उल्लिखित जनक को जानकी का जनक बतलाना एकदम निराधार तथा प्रमाणरहित है। शतपथ में याज्ञवल्क्य के गुरु उद्दालक आरुणि का व्यक्तित्व और पाण्डित्य बड़ा ही आकर्षक है। अनेक शिष्यों की सत्ता उनके व्यक्तित्व को स्पष्टतर बना रही है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण

तैत्तिरीय ब्राह्मण कृष्ण यजुर्वेदीय शाखा का एकमात्र उपलब्ध ब्राह्मण है। काठक ब्राह्मण का नाम ही सुना जाता है। अभी तक उसकी उपलब्धि नहीं हुई है। तैत्तिरीय ब्राह्मण का पाठ स्वरों से युक्त मिलता है जिस प्रकार शतपथ ब्राह्मण का। फलतः यह ब्राह्मण नितान्त प्राचीन प्रतीत होता है। परिमाण में भी यह न्यून नहीं है। यह तीन भागों में विभक्त है जिन्हें 'काण्ड' कहते हैं। पीछे ये ऋग्वेदीय विभाग के समान 'अष्टक' के नाम से भी प्रसिद्ध हुए। प्रथम तथा द्वितीय

---

[1] तत एतर्हि प्राचीनं बहवो ब्राह्मणाः। तद्ध अक्षेत्रतर-मिवास-स्रावितरमिव अस्वदितमग्निना वैश्वानरेणेति। शत० १।४।१।१५। 'स्रावितरम्' अतिशयेन स्रवणशील पल्वलानामस्तीति।
—सायण भाष्य।

काण्ड में आठ अध्याय (मूल नाम प्रपाठक) हैं तथा तृतीय काण्ड में १२ अध्याय जिनके अवान्तर खण्ड 'अनुवाक' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

तैत्तिरीय ब्राह्मण के प्रथम काण्ड में अग्न्याधान, गवामयन, वाजपेय, सोम, नक्षत्रेष्टि तथा राजसूय का वर्णन है। द्वितीय काण्ड में अग्निहोत्र, उपहोम, सौत्रामणि (जिसमें सोम के स्थान पर सुरा के पान का विधान है) तथा बृहस्पतिसव, वैश्यसव आदि नाना सवों का विवरण दिया गया है। प्रत्येक अनुष्ठान के उपयोगी ऋङ्मन्त्रों का भी सर्वत्र निर्देश है। इनमें से अनेक ऋचायें ऋग्वेद से उद्धृत हैं तथा अनेक नवीन प्रतीत होती हैं। नासदीय सूक्त (ऋ० १०।१२९) के मन्त्रों का विनियोग एक सामान्य उपहोम (काण्ड २, प्रपाठक ८) के निमित्त है। इस काण्ड में अनेक मन्त्रों में ऋग्वेद के प्रश्नों का भी उत्तर मिलता है। उदाहरणार्थ ऋ० १०।८१।४ में उस वन तथा वृक्ष का नाम पूछा गया है जिससे द्यावापृथिवी का निर्माण किया गया है। इस ब्राह्मण में उत्तर दिया गया है कि वह वन तथा वृक्ष 'ब्रह्म' ही है। फलतः उपनिषदों के ब्रह्मतत्त्व का संकेत यहां विशद तथा अविस्मरणीय शब्दों में किया गया है। परन्तु यज्ञ की भावना से यह सर्वत्र ओतप्रोत है। इसीलिए यज्ञ की वेद ही पृथ्वी का परम अन्त तथा मध्य मानी गई है (वेदमाहुः परमन्तं पृथिव्याः वेदिमाहुर्भुवनस्य नाभिम्—तै० ब्रा० २।७।४-१०)।

तृतीय काण्ड अवान्तरकालीन रचना माना जाता है जिसमें प्रथमतः 'नक्षत्रेष्टि' का विस्तृत वर्णन है। चतुर्थ प्रपाठक में पुरुषमेध के उपयुक्त पशुओं का वर्णन है जो कृष्णयजुर्वेद की संहिता में उपलब्ध नहीं होता, प्रत्युत माध्यन्दिन संहिता से यहाँ उद्धृत किया गया है। इस काण्ड के अन्तिम तीन (१०-१२) प्रपाठक 'काठक' नाम से यजुर्वेदियों के द्वारा अभिहित किये जाते हैं। बहुत सम्भव है कि यह अंश काठकशाखीय

ब्राह्मण का हो तथा किसी विशेष उद्देश्य से यहाँ सगृहीत हो। एकादश प्रपाठक में ब्रह्मचर्य के द्वारा भरद्वाज ऋषि ने अनन्त वेदों में से केवल तीन मुष्टियों को प्राप्त किया जो त्रयी-विद्या के नाम से प्रसिद्ध है। चतुर्थवेद के नाम न होने से कुछ विद्वान् अथर्व को तैत्तिरीय ब्राह्मण से भी अवान्तर रचना मानते हैं। नाचिकेत अग्नि की वेदि तथा उपासना का यहाँ विशेष वर्णन है जिसमें अग्निविद्या के ही द्वारा मोक्ष प्राप्ति का निर्देश है। कठोपनिषद् में इसी आख्यान का विकसित रूप हमें उपलब्ध होता है। द्वादश प्रपाठक में चातुर्होत्र तथा वैश्वसृज याग का वर्णन है। वैश्वसृज याग एक प्रतीकात्मक अनुष्टान है जिसमें समस्त पदार्थों का होम सम्पन्न किया जाता है। देवताओं ने एक सहस्र वर्षों में इसका सम्पादन किया तथा ब्रह्म के साथ सायुज्य, सलोकता, सार्ष्टिता तथा समानलोकता प्राप्त की।

इस ब्राह्मण में सामवेद समस्त वेदों का शीर्ष-स्थानीय माना गया है। मूर्ति तथा वैश्य की उत्पत्ति ऋक् से, गति तथा क्षत्रिय की उत्पत्ति यजुष् से तथा ज्योति और ब्राह्मण की उत्पत्ति सामवेद से बतला कर यह ब्राह्मण साम को सर्वश्रेष्ठ बतलाता है। नाना प्रकार के यज्ञों में गाय की दक्षिणा का ही सर्वत्र विधान है। वर्णव्यवस्था की पूर्ण प्रतिष्ठा तथा उसका सर्वत्र आदर दीख पड़ता है। अश्वमेध केवल क्षत्रिय राजाओं के लिए ही विहित था और इसका वर्णन यहाँ (काण्ड ३, प्रपाठक ८ और ९) बड़े विस्तार तथा विशदता से किया गया है[1] यह वर्णन शतपथ के विवरण से विशेष साम्य रखता है। क्षत्रियों में दो प्रकार का भेद दीखता है। जो राज्य करने के अधिकारी थे उनका नाम 'राजपुत्र' था, परन्तु राज्य करने के अनधिकारी क्षत्रिय का नाम 'उग्र' था। शूद्र यज्ञ के लिए अपवित्र माना जाता था क्योंकि उसके द्वारा दुहा

---

[1] इसकी तुलना कीजिए शतपथ के अश्वमेध वर्णन से (काण्ड १३)

गया दूध यज्ञ के लिए उपादेय नहीं माना जाता था (अहविरेव तद् इत्याहुः यच्छूद्रो दोग्धीति—तै० ब्रा० ३।२।३)। पुरुषमेध के लिए निर्दिष्ट पशुओं की आलोचना करने से प्रतीत होता है कि संकर जातियों उत्पत्ति हो गई थी। स्त्रियों का आदर समाज में विशेष था तथा उनके लिए उपयुक्त आभूषणों का भी वर्णन मिलता है जिन्हें ऋत्विज् लोग यज्ञ की दक्षिणा के रूप में विशेष महत्त्व देते थे (३।१०।४)। ब्राह्मण लोग यज्ञ के अवसर पर यज्ञ तथा दर्शन से सम्बद्ध विषयों पर शास्त्रार्थ करते थे तथा अपने प्रतिपक्षियों को परास्त करने में गौरव समझते थे। पुराणों में उल्लिखित अनेक अवतारों की कथाओं के बीज यहाँ उपलब्ध होते हैं। यहाँ (१।२) वराह अवतार का स्पष्ट संकेत मिलता है। वैदिक कालीन ज्योतिःशास्त्र के अनेक ज्ञातव्य तथ्यों का उल्लेख इस ब्राह्मण को इस दृष्टि से नितान्त उपयोगी बनाता है[१]।

---

१ द्रष्टव्य शंकर बालकृष्ण दीक्षित—भारतीय ज्योति. शास्त्र (प्रारम्भिक अध्याय) तथा देव—वैदिक साहित्य का इतिहास पृ० ४७-५४।

का तथा उनके नामकरण और उदय का विवेचन यहाँ औचित्य-प्राप्त ही है। साम का नामकरण उनके द्रष्टा ऋषियों के कारण ही पड़ता है। द्युतान ऋषि के द्वारा दृष्ट साम 'द्यौतान' (१७।१।६), वैखानस ऋषियों के द्वारा दृष्ट साम 'वैखानस' (१४।४।७), शर्कर-दृष्ट साम 'शार्कर' (१४।५।१४),—सामों के नामकरण की यही परिपाटी है। कहीं कहीं सामों की स्तुति तथा महत्ता के प्रदर्शनार्थ प्राचीन रोचक आख्यायिका भी दी गई है। यथा 'वात्स' सामके विषय में। वत्स तथा मेधातिथि दो काण्व ऋषि थे। मेधातिथि ने वत्स का शूद्रापुत्र तथा अब्राह्मण कहकर गाली दी। वत्स वात्स साम से तथा मेधातिथि मैधातिथ्य साम से अग्नि के पास ब्रह्मीयान् के निर्णय के लिए पहुँचे तथा अपने को वत्स ने अग्नि में डाल दिया, परन्तु अग्नि ने उसका रोंआ भी नहीं जलाया (तस्य लोम च नौपत्)। तभी से वात्स साम इच्छाओं के पूरक होने से 'कामसनि' के नाम से विख्यात हुआ (१४।६।६)। इसी प्रकार वीङ्क साम के द्वारा च्यवन ऋषि को यौवन प्रदान करने की आख्यायिका क उल्लेख किया गया है (१४।६।१०)।

इस ब्राह्मण में यज्ञ के प्रधान विषयों को लेकर विभिन्न ब्रह्मवादियों के मतों का उल्लेख बहुश: उपलब्ध होता है (ताण्ड्य १४।५।८; १५।१२।३), भिन्न भिन्न आचार्यों के मतों का खण्डन कर स्वाभीष्ट मत की पुष्ट स्थापना भी की गई है। १७।१।११–१२ में प्रसंग है कि व्रात्य यज्ञ में अग्निष्टोम सामका विधान किस मन्त्र पर हो। किसी की सम्मति है 'देवो वो द्रविणोदा' (साम, उत्तरार्चिक ७।१।१०) पर सामका विधान होना चाहिए। अन्य आचार्य 'अदर्शि गातु वित्तम' (उत्तरा० ७।१।११) मतो बृहती पर करने के पक्षपाती हैं। ता० १७।१।१२ में इसका खण्डन कर पूर्वमत का मण्डन किया गया है। ताण्ड्य का रचनाकाल यज्ञ के उत्कर्ष का प्रतीक है जब यज्ञ ही मनुष्य को मनुष्य बनाने के लिए पर्याप्त साधन माना जाता था। इसीलिए एकत्र उल्लेख है (ता०

१८।१।९) कि इन्द्र ने यज्ञ न करने वाले यतियों को शृगालों को भक्षण करने के लिए दे दिया था। इसी कारण अपनी लौकिकी समृद्धि पाने के लिए नागों ने भी यज्ञ किया था।

व्रात्यों को आर्यों के समकक्ष स्थान पाने के लिए अथवा आर्यों की श्रेणी के लाने हेतु ताण्ड्य में व्रात्य यज्ञ का वर्णन एक महत्त्वपूर्ण घटना है। ताण्ड्य के १७ अ० १ खण्ड में व्रात्यों की वेशभूषा, आचार-विचार के विषय में बहुमूल्य पदार्थों का निर्देश मिलता है जो धार्मिक दृष्टि से विशेष महत्त्व रखते हैं। प्रवास करने वाले आचार से हीन आर्य लोग ही 'व्रात्य' के नाम से पुकारे जाते थे। इनके चार भेदों का उल्लेख सायण भाष्य में किया गया है[1] तथा इन सब की दोषमुक्ति के लिए अलग अलग यज्ञों का विधान यहाँ मिलता है। व्रात्यों के गृहपति तथा अन्य व्यक्तियों की दक्षिणा में भी यहाँ पार्थक्य किया है। इन वस्तुओं की सूची देखने से व्रात्यों के साधनों का परिचय मिल सकता है। गृहपति की देय दक्षिणा है—(१७।१।१४) उष्णीष (पगड़ी), प्रतोद (बैलों को हाँकने के लिए लोहे की सिरा वाला डंडा), ज्याह्रोड (इषुरहित केवल धनुर्दण्ड), फलकास्तीर्ण विपथ (तख्तों से फैला हुआ कुटिल मार्ग में जाने वाला रथ), कृष्णश वास (काली धारी वाली धोती), काला और सफेद अविचर्म, रजत निष्क (चाँदी का बना हुआ कर्ण-भूषण)। अन्य व्रात्यों की दक्षिणा में इन वस्तुओं का निर्देश है—लाल किनारे की धोती या कपड़ा, दो जूता, तथा शुक्ल-कृष्ण अजिन आदि (ता० १७।१।१५)।

ब्राह्मणयुगीय भौगोलिक ज्ञान के लिए भी इस ब्राह्मण की प्रकृष्ट उपयोगिता है। ताण्ड्य का भौगोलिक क्षेत्र कुरुक्षेत्र तथा सरस्वती का

---

१ द्रष्टव्य ताण्ड्य ब्रा० १७।१।१

मण्डल है जो स्वर्ग के समान माना गया है (२५ अ०) कुरुक्षेत्र से निमिषारण्य तक का प्रदेश यज्ञभूमि के रूप में उल्लिखित है। 'रोहित-कूलीय' साम की व्याख्या (१४।३।१२) में भरतों के साथ विश्वामित्र का रोहित नदी के कूल (यमुना नदी के पास का प्रदेश) को जीतने का उल्लेख है। महाभारत के अनुसार कर्ण तथा नकुल ने रोहितक लोगों को जीता था। विनशन (२५।१०।१), प्लक्ष प्रास्रवण (= स्वरस्वती के पुनरुद्गम का स्थान, २५।१०।१६), यमुना तथा कारपचव (यमुना के प्रवाह वाला प्रान्त, २५।१०।२६) कतिपय महत्त्वपूर्ण भौगोलिक स्थान यहाँ निर्दिष्ट है।

षड्विंश ब्राह्मण

यह ब्राह्मण पाँच प्रपाठकों में विभक्त है और प्रत्येक प्रपाठक में अनेक अवान्तर खण्ड हैं। जैसा इसके नाम से प्रतीत होता है यह ब्राह्मण पञ्चविंश ब्राह्मण का ही परिशिष्ट भाग है और इसका विषय उस ब्राह्मण के विषयों का आवश्यक पूरक सा प्रतीत होता है। इसके पंचम प्रपाठक को 'अद्भुत ब्राह्मण' इसीलिए कहते हैं कि इसमें भूकम्प, अकाल में पुष्प तथा फल उत्पन्न होने, अश्वतरी के गर्भ होने, हथिनी के डूबने आदि नाना प्रकार के उत्पातों के लिए शान्ति का विधान किया गया है। यह प्रपाठक उस युग की विचित्र भावनाओं को समझने के लिए नितान्त उपयोगी है। इन्हीं विषयों को ग्रहण कर पिछले युगके धर्म ग्रन्थों में प्रायश्चित्तों का विपुल विधान पाया जाता है। दोनों की तारतम्य-परीक्षा के लिए इस प्रपाठक का मूल्य अत्यधिक है।

तत्कालीन धार्मिक धारणाओं का भी विशेष सकेत उपलब्ध होता है। प्रथम काण्ड के आरम्भ में ही 'सुब्रह्मण्या' ऋचा का विशेष व्याख्यान मिलता है। ऋत्विजों के वेष के वर्णन से पता चलता है कि

---

१ सायणभाष्य के साथ सं० जीवानन्द विद्यासागर कलकत्ता, १८८१ सन्-

वे लोग लाल पगड़ी तथा किनारी वाली धोतियों को यज्ञ के अवसर पर पहनते थे—लोहितोष्णीषा लोहितवाससो निवीता ऋत्विजः प्रचरन्ति[1] (३।८।२२)। ब्राह्मणों के लिए सन्ध्यावन्दन का काल अहोरात्र के सन्धिकाल में बतलाया गया है—तस्माद् ब्राह्मणोऽहोरात्रस्य संयोगे सन्ध्यामुपास्ते (४।५।४)। इसी प्रकार के अन्य उपादेय तथ्यों का सकलन किया जा सकता है।

सामविधान

यह सामवेद का अन्यतम ब्राह्मण है जिसका विषय ब्राह्मणों में उपलब्ध विषयों से नितान्त भिन्न है[2]। इस ब्राह्मण में जादू तथा टोना करने के लिए—जैसे किसी व्यक्ति को गाँव से भगाने के लिए, शत्रु को ध्वस्त करने के लिए, धन पाने के लिए—नाना उपद्रवों की शान्ति के लिए सामगायन के साथ कतिपय अनुष्ठानों के करने का विधान पाया जाता है। अन्य वेदों में भी तत्तत् मन्त्रो के इस प्रकार आभिचारिक प्रयोगों के लिए उपयोग का वर्णन मिलता है। 'ऋग्विधान' में ऋग्वेदीय मन्त्रों का तथा 'यजुर्विधान' में यजुर्वेदीय मन्त्रों का प्रयोग ऐसी क्रियाओं के लिए किया गया है, परन्तु ये ब्राह्मणों से भिन्न ही ग्रन्थ हैं।

ब्राह्मण की शैली न तो पुनरुक्ति-प्रधान है (जैसा ब्राह्मणों में प्रायः पाया जाता है) और न अत्यन्त संक्षिप्त है (जैसा सूत्रों में उपलब्ध होता है) यह दोनों शैलियों के बीच की रचना है। कुमारिल भट्ट ने (सप्तम शतक) ने सामवेद के आठों ब्राह्मणों का नाम निर्देश किया है जिनमें यह ब्राह्मण अन्यतम है।

---

[1] महाभाष्य (१।१।२७, ३।३।२८) तथा काव्यप्रकाश (पंचम उल्लास) में 'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति' पूर्वोक्त वाक्य का ही संक्षिप्त संकेत प्रतीत होता है।

[2] बर्नेल साहब ने सायण-भाष्य के साथ मंगलोर (१८७५ ई०) में एक लम्बी अंग्रेजी भूमिका के साथ प्रकाशित किया है।

इस ब्राह्मण में तीन प्रकरण हैं जिनमें प्रथम प्रकरण कृच्छ्र, अतिकृच्छ्र आदि स्मृतियों में बहुश वर्णित व्रतों का वर्णन उपलब्ध होता है। पुराणों में वर्णित व्रतों का मूल इस ब्राह्मण में उपलब्ध है जैसे किसी मन्त्र के जल में कमर तक खड़े होकर जपने से विशेष फल की प्राप्ति आदि। इन्हीं विषयों का ग्रहण धर्मसूत्रों तथा कालान्तर में धर्मशास्त्रा में विशेषरूप से उपलब्ध होता है। ध्यान देने की बात यह है कि अथर्ववेद के मन्त्रों का उपयोग तथा प्रयोग तान्त्रिक विधि विधानों की दृष्टि से तो किया ही जाता था, परन्तु इस विशेषता तथा आवश्यकता की पूर्ति अन्य वेदों के मन्त्रों के द्वारा भी की जाने लगी। 'सामविधान' इसी वैशिष्ट्य का परिचायक है। इसमें काम्य प्रयोग तथा प्रायश्चित्तों का विधान विशेपरूप से किया गया है।

सामविधान (१।६।१४) में किसी शत्रु को गाँव से भगाने के लिए किसी चिता से चौराहे पर भस्म को लाने तथा शत्रु के घर में या बिस्तरे पर उसे फेंकने का वर्णन है। इसी प्रकार मणिभद्र (यक्ष विशेष) की मास-बलि तथा साम-गायन के साथ पूजा का विधान सुवर्ण की प्राप्ति के लिए किया गया है (३।३।२), पुराणों के प्रसिद्ध रुद्रानुचरों की शान्ति के लिए भी यहाँ साम का विधान कम कौतूहलवर्धक नहीं है। विनायक तथा स्कन्द की शान्ति दो सामों के द्वारा तथा रुद्र और विष्णु की शान्ति अन्य दो सामों के द्वारा विहित है (१।८।६–१९) शत्रु के मारने की एक विचित्र विधिका उल्लेख यहाँ मिलता है। शत्रु की आटे की मूर्ति बनानी चाहिए जिसका गला छूरे से काटना होता है तथा अंगों को काट-काट कर आग में डालना पड़ता है (२।५।४) राज-यक्ष्मा एक भयानक रोग माना जाता था जिसे दूर करने की विधि का वर्णन यहाँ उपलब्ध होता है (२।४।९)। द्वितीय प्रकरण के आठवें खण्ड में सुन्दर तथा दीर्घायु पुत्र की प्राप्ति के लिए नाना प्रयोगों का वर्णन किया गया है।

तृतीय परिच्छेद में ऐश्वर्य, नवीन गृह में प्रवेश तथा आयुष्य की प्राप्ति के लिए नाना अनुष्ठानों का वर्णन भिन्न भिन्न साम-गायन के साथ किया गया है। अभिषेक के अवसर पर 'एकवृप' साम से अभिषेक करने पर राजा सम्राट् हो जाता था। सेना के नाना अंगों—घोड़ा, हाथी आदि के मारने के लिए आटे की मूर्ति बनाकर छूरे से गला काटने का विधान बहुशः किया गया है। भूत-प्रेत, गन्धर्व-अप्सरा, तथा देवताओं के प्रत्यक्षीकरण के लिए सामों का प्रयोग किया गया है (३।७।६)। 'श्रुतिनिगादी' ऐसे व्यक्ति को कहते हैं जो किसी मन्त्र को एकबार ही सुनकर उसका पाठ करने लगता है। इस सिद्धि की प्राप्ति के लिए भी साम गायन का विधान है।

यह ब्राह्मण ग्रन्थ धर्मसूत्रों की पूर्व-पीठिका है क्योंकि धर्मसूत्रों में विस्तार से वर्णित दोष, अपराध तथा उनके प्रायश्चित्त इस ब्राह्मण में मुख्यतया प्रतिपादित है। उस काल में समाज चार वर्णों में विभक्त था तथा शूद्रा के साथ विवाह सर्वथा निषिद्ध माना जाता था। जिन पापाचरणों के लिए प्रायश्चित्त का विधान है उन्हे देखकर तत्कालीन समाज की स्थिति से परिचय मिल सकता है और स्मृतियों में निर्दिष्ट अपराधों से ये भिन्न नही है। शूद्रों को वेद पढ़ाना तथा उन्हें यज्ञ कराना, अशोभन शब्दों को बोलना, सुरा पीना, ब्राह्मण आदि चारों वर्णों के व्यक्तियों की हत्या, गाय को मारना, जेठे भाई से पहिले ही विवाह करना, शूद्रा के साथ व्यभिचार, ब्राह्मण के लिए दूध, मधु आदि रसों तथा पशुओं का बेचना—इन पापाचरणो के दूरीकरण के लिए प्रायश्चित्त का विधान इस ब्राह्मण में किया गया है।

इस प्रकार यह ग्रन्थ एक नवीन तथा विचित्र विधिविधानों के परिचय के लिए अपना विशेष महत्त्व रखता है।

आर्षेय ब्राह्मण[1]

यह सामवेद का चौथा ब्राह्मण है। यह तीन प्रपाठक तथा ८२ खण्डों में विभक्त है। यह ब्राह्मण सामवेद के लिये आर्षानुक्रमणी का काम करता है। जैसा इसके नाम से स्पष्ट है इस ब्राह्मण में साम के उद्भावक ऋषियों का नाम तथा संकेत दिया गया है। साम-गायन के वैज्ञानिक अनुशीलन के निमित्त यह ब्राह्मण नितान्त उपादेय है। सामवेद के वर्णन के समय साम-योनि ऋचाओं तथा सामों में विभेद दिखलाया गया है। यह ब्राह्मण सामगायन के प्रथम प्रचारक ऋषियों का वर्णन करने के कारण ऐतिहासिक दृष्टि से भी विशेष महत्त्वशाली है। सामगान का विषय बड़ा ही कठिन तथा पेचीदा है। इसका सच्चा अध्ययन विशेष अध्यवसाय, मनोयोग तथा अनुशीलन का परिणाम हो सकता है। इस कार्य में नारदीय, गौतमी तथा माण्डूकी आदि सामवेदी शिक्षाओं का गभीर अध्ययन अपेक्षित है। इस कार्य में आर्षेय ब्राह्मण निःसन्देह विशेष उपकार तथा लाभ पहुँचा सकता है।

दैवत ब्राह्मण[2]

यह दैवत ब्राह्मण सामवेदीय ब्राह्मणों में बहुत ही छोटा है। इसमें केवल तीन खण्ड हैं—(१) प्रथम खण्ड में (२६ कंडिका) देवताओं का वर्णन है। प्रथम कंडिका के अनुसार साम-देवताओं का नाम-निर्देश इस प्रकार है—अग्नि, इन्द्र, प्रजापति, सोम, वरुण, त्वष्टा, अंगिरस, पूषा, सरस्वती तथा इन्द्राग्नी तथा इन देवताओं की प्रशंसा में गेय सामों के विशिष्ट नाम भी दिये गये हैं। (२) द्वितीय खण्ड (११

---

[1] बर्नल साहब द्वारा मंगलोर से रोमन अक्षरों में प्रकाशित तथा सत्यव्रत सामश्रमी के द्वारा नागराक्षरों में सायणभाष्य के द्वारा प्रकाशित, कलकत्ता।

[2] सं० सायणभाष्य के साथ जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता सन् १८८१

कंडिका) में छन्दों के देवता तथा वर्णों का विशेष वर्णन। (३) तृतीय खण्ड (२५ कंडिका) में छन्दों की निरुक्तियाँ दी गयी हैं। इन निरुक्तियों में से अनेक निरुक्तियां यास्क ने अपने निरुक्त में ग्रहण की हैं (७।१२, १३)। यह खण्ड भाषाशास्त्र की दृष्टि से बड़े महत्त्व का है, क्योंकि छन्दो के नाम का निर्वचन बड़े ही प्रामाणिक ढंग से यहाँ किया गया है। 'गायत्री' छन्द के नाम का अर्थ है—स्तुति अर्थ वाले गै धातु से निष्पन्न होने से देवताओं के प्रशंसक तथा वेद-समुदाय को गाने वाले ब्रह्मा से उत्पन्न होने वाला छन्द। इसी प्रकार अन्य छन्दों के भी निर्वचन उपलब्ध होते हैं।

उपनिषद् ब्राह्मण

यह ब्राह्मण १० प्रपाठकों में विभक्त है। जिसमें दो ग्रन्थ समिलित हैं :-

(१) मंत्र ब्राह्मण—इसके संस्करण भारत तथा विदेशों में अनेक विद्वानों में प्रकाशित किया है। सत्यव्रत सामश्रमी ने कलकत्ता से १८९० ई० में मंत्र-ब्राह्मण के नाम से टीका के साथ इसे प्रकाशित किया। योरप के दो विद्वानों ने दोनों प्रपाठकों का अलग अलग संस्करण निकाला है तथा जर्मन भाषा में इनका अनुवाद भी किया है।

इस ब्राह्मण में दो प्रपाठक है तथा प्रत्येक प्रपाठक में ८, ८, खण्ड हैं। यह ब्राह्मण गृह्य संस्कारों में प्रयुक्त होने वाले मन्त्रो का एक सुन्दर संग्रह है। ये ही मन्त्र गोभिल गृह्यसूत्र में भिन्न २ संस्कारों के अवसर पर प्रयुक्त होते हैं। शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र भाष्य में मन्त्र-ब्राह्मण तथा छांदोग्य उपनिषद् से उद्धरण देते समय इन दोनों ग्रन्थों को ताण्ड्य शाखा से सम्बद्ध बतलाया है। इससे ज्ञात होता है कि सामवेद की शाखाओं में ताण्ड्य शाखा का प्राधान्य बहुत कुछ था। शंकराचार्य के उद्धरण इस प्रकार हैः—

[1]ताण्डिनां (मन्त्र समाम्नायः)—देव सवितः (मंत्र ब्रा० १।१।१)

[2]अस्ति तांडिनां श्रुतिः—अश्व इव रोमाणि (छा० उप० ८।१३।१)

[3]ताण्डिनामुपनिषदि—स आत्मा तत्त्वमसि (छा० उप० ६।८।७)

(ख) छान्दोग्य उपनिषद्—इस ब्राह्मण के अन्तिम आठ प्रपाठक प्रसिद्ध छान्दोग्य उपनिषद् है जिसके अनेक संस्करण तथा अनेक भाषाओं में अनुवाद समय २ पर होते आये हैं। इस उपनिषद् का विशेष वर्णन अगले प्रकरण में किया जायेगा।

संहितोपनिषद् ब्राह्मण

यह बहुत ही छोटा ब्राह्मण है। इसमें केवल पांच खण्ड हैं। इस ब्राह्मण में सामगायन से उत्पन्न होने वाले प्रभाव का वर्णन है तथा साम और सामयोनि मन्त्रों तथा पदों के परस्पर सम्बन्ध का भी विवेचन है। यह ब्राह्मण कभी बहुत ही प्रसिद्ध था। निरुक्तकार ने अपने ग्रन्थ (२।४) में "विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम" आदि मन्त्रों को इसी ब्राह्मण के तृतीय खण्ड में से उद्धृत किया है। इसी मन्त्र का भावानुवाद मनुस्मृति (२।११४) में मनु ने भी किया है। इससे स्पष्ट है कि यह ब्राह्मण निरुक्त तथा मनुस्मृति से प्राचीनतम है[4]।

१—ब्रह्मसूत्र भाष्य　　३।३।२५

२—　　,,　　३।३।२६

३—　　,,　　३।३।३६

४—टीका के साथ इसका संस्करण बर्नल साहब ने मंगलोर में १८७७ ई० में प्रकाशित किया है।

वंश-ब्राह्मण[1]

यह ब्राह्मण मात्रा में बहुत ही छोटा है। इसमें केवल तीन खण्ड है। इसमें सामवेद के आचार्यों की वंशपरम्परा दी गई है। प्राचीन ऋषियों के इतिहास जानने के लिये यह ग्रन्थ बहुत ही उपयोगी सिद्ध होगा।

जैमिनीय ब्राह्मण

जैमिनि-शाखा का यह ब्राह्मण सम्पूर्ण रूप मे अब तक उपलब्ध नहीं होता था। इसके अंश ही छिन्न-भिन्न रूप मे अब तक मिलते थे। डा० ओर्टल ने इसके अंशों को अमेरिका मे निकाला था तथा डा० कैलेण्ड ने विशेष टुकड़ों को जर्मन अनुवाद के साथ सम्पादित किया था। इसी वर्ष डा० रघुवीर ने इस महत्त्वपूर्ण ब्राह्मण का सम्पूर्ण अंश एक विशुद्ध संस्करण में प्रकाशित किया है (नागपुर, १९५४)। ब्राह्मणों में शतपथ के समान यह ब्राह्मण भी विपुलकाय तथा यागानुष्ठान के रहस्य जानने के लिए नितान्त उपादेय तथा महत्त्वशाली है। 'जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण' भी इस महान् ब्राह्मणग्रन्थ का एक अंशमात्र है जो गायत्र्युपनिषद् के नाम से विख्यात है। इसका सम्पादन डा० ओर्टल ने अमेरिकन ओरियन्टल सोसायटी के जर्नल (भाग, १६, १८९४) में किया है।

१—बर्नल के मंगलोर से १८७३ ई० में तथा सत्यव्रत सामश्रमी ने कलकत्ता से उषापत्रिका १८९२ में इस ब्राह्मण को प्रकाशित किया है।

अथर्ववेदीय ब्राह्मण

गोपथ ब्राह्मण—

अथर्ववेद का केवल एक ही ब्राह्मण है जिसका नाम गोपथ ब्राह्मण है। इसके दो भाग हैं—(१) पूर्व गोपथ (२) उत्तर गोपथ। प्रथम ग्रन्थ में पाँच प्रपाठक या अध्याय हैं तथा द्वितीय में ६। प्रपाठकों का विभाजन कण्डिकाओं में हुआ है जो मिलाकर २५८ हैं।

ब्राह्मण-साहित्य में यह ग्रन्थ बहुत ही पीछे की रचना माना जाता है। इस ब्राह्मण में अथर्ववेद की स्वभावतः विशेष महिमा गाई गयी है। अथर्व ही सब ब्राह्मणों में अग्रगण्य तथा प्रथम माना गया है। अथर्व से ही तीनों वेदों तथा ओंकार की उत्पत्ति और ओम् से समस्त संसार की उत्पत्ति बतलाई गई है। इसीलिये इस ब्राह्मण का आग्रह है कि प्रत्येक वेदाभ्यासी को अन्य वेदों के पढ़ने के पूर्व अथर्व का अध्ययन करना नितान्त आवश्यक है। पूर्व गोपथ के प्रथम प्रपाठक में ओंकार तथा गायत्री की विशेष महिमा का सुन्दर वर्णन है। द्वितीय प्रपाठक में ब्रह्मचारी के नियमों का विशेष वर्णन है। प्रत्येक वेद के अध्ययन के लिये बारह वर्ष का समय नियत किया गया है परन्तु छात्र की अशक्ति को देखकर इस अवधि में कमी भी की जा सकती है। तृतीय प्रपाठक में यज्ञ के चारों ऋत्विजों के कार्यकलाप का वर्णन है। चतुर्थ प्रपाठक में ऋत्विजों की दीक्षा का विशेष वर्णन किया गया है। पञ्चम प्रपाठक में प्रथमतः सम्वत्सर सत्र का वर्णन है। अनन्तर अश्वमेध, पुरुषमेध अग्निष्टोम आदि अन्य सुप्रसिद्ध यज्ञों का भी विवरण है। उत्तर गोपथ का विषय वर्णन इतना सुव्यवस्थित नहीं है। तथापि नाना प्रकार के यज्ञों तथा तत्सम्बद्ध आख्यायिकाओं के उल्लेख से यह भाग भी पूर्व की अपेक्षा कम रोचक नहीं है।

'गोपथ ब्राह्मण[1]' के रचयिता निश्चय ही 'गोपथ' ऋषि हैं। अथर्ववेदीय ऋषियों की नामावली में 'गोपथ' का नाम आता है, परन्तु अन्य वेदों के ऋषियों की नामावली में इनका नाम नहीं मिलता। इस ब्राह्मण के देश-काल का परिचय अनुमान से ही हमें मिलता है। इसमें निर्दिष्ट देशों में कुरु-पञ्चाल, अङ्ग-मगध, काशि कोशल, साल्वमत्स्य, तथा वश-उशीनर (उदीच्यदेश) का नाम पाया जाता है (गोपथ, पूर्व २।१०) जिससे रचयिता मध्यदेश का निवासी प्रतीत होता है। अथर्ववेद के प्रथम मन्त्र का उल्लेख वह 'शन्नो देवीरभिष्टय' से करता है जिससे उसका पिप्पलाद-शाखीय होना अनुमान से सिद्ध है। यास्क ने निरुक्त में गोपथ ब्राह्मण के निश्चित अंशों को उद्धृत किया है[2] जिससे इसकी निरुक्त (लगभग एक सहस्र वर्ष विक्रम-पूर्व) से पूर्व-कालीनता स्वतः सिद्ध होती है। ब्लूमफील्ड इसे वैतान सूत्र से भी अर्वाचीन मानते हैं, परन्तु डा० कैलेण्ड तथा कीथ इसे प्राचीन ही मानते हैं। फलतः ब्राह्मण-साहित्य में पिछली रचना होने पर भी यह एक हजार वि० पू० के अर्वाचीन नहीं हो सकता।

अथर्ववेद का एकमात्र ब्राह्मण होने से यदि इसके अन्तिम खण्ड में अथर्व की विपुल प्रशंसा गाई गई हो, तो हमें आश्चर्य करने की कोई बात नहीं है। इसमें बहुत से नवीन विचार पाये जाते हैं जैसे ब्रह्म द्वारा कमल के ऊपर ब्रह्मा का उदय (पृ० १६), ब्राह्मण को न गाना चाहिए न नाचना और इस प्रकार 'आग्लागृध' नहीं कहलाना चाहिए (तस्माद् ब्राह्मणो नैव गायेन्न नृत्येन् माग्लागृधः २।२१), प्रत्येक वेदमन्त्र के

---

१ 'गोपथ ब्राह्मण' का एक सुन्दर संस्करण डा० गास्त्रा (Dr D Gaastra) ने लाइडन नगर से १९१९ में प्रकाशित किया है।

२ 'एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धम्' (निरुक्त १।१६ = गोपथ ब्रा० २।२।६, २।४।२)

उच्चारण से पूर्व ओंकार का उच्चारण, किसी अनुष्ठान से आरम्भ के पहिले तीन वार आचमन करना (जिसके लिए विशिष्ट मन्त्र का सकेत है) (१।३९)। ऋग्वेद से अनेक मन्त्र उद्धृत हैं, परन्तु मन्त्रों के ऋषियों के विषय में पार्थक्य दीखता है।

भाषाशास्त्र की दृष्टि से गोपथ के अनेक सकेत बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। 'परोक्षप्रिया हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः' का शब्दों के निर्वचन के प्रसंग में भी यहाँ अनेकत्र उल्लेख मिलता है। उदाहरणार्थ–(१) 'वरुण' शब्द की व्युत्पत्ति राजा वरण किये जाने के कारण है (तं वा एतं वरणं सन्तं वरुण इत्याचक्षते, पूर्व गोपथ १।६), (२) 'मृत्यु' शब्द की व्युत्पत्ति 'मुच्यु' शब्द से सिद्ध की गई है।, (३) 'अगिरा' की व्युत्पत्ति 'अगरस' से तथा (४) 'दीक्षित' की व्युत्पत्ति 'धीक्षित' (श्रेष्ठ धी को आश्रय करने वाला व्यक्ति) से दी गई है (श्रेष्ठां धियं क्षियर्तीति तं वा एनं धीक्षितं सन्तं दीक्षित इत्याचक्षते – गोपथ पूर्व, ३।१९)। ये व्युत्पत्तियाँ भाषाशास्त्र की दृष्टि से अपना महत्त्व रखती है वहुतों का उल्लेख स्वयं अवान्तरकालीन निरुक्त ग्रन्थों में किया गया है।

अष्टम परिच्छेद

आ र ण्य क

सामान्य परिचय

आरण्यक तथा उपनिषद् ब्राह्मणों के परिशिष्ट ग्रन्थ के समान हैं जिनमें ब्राह्मण-ग्रन्थों के सामान्य प्रतिपाद्य विषय से भिन्न विषयों का प्रतिपादन सर्वत्र, दृष्टिगोचर होता है। सायणाचार्य की सम्मति में अरण्य में पाठ्य होने के कारण से इनका 'आरण्यक' नामकरण सार्थक है[1] अर्थात् इन ग्रन्थों के मनन का स्थान अरण्य का एकान्त शान्त वातावरण ही उपयुक्त था। ग्राम के भीतर इनका अध्ययन कथमपि लाभप्रद, उचित तथा उपादेय नहीं था। आरण्यक का मुख्य विषय यज्ञ नहीं, प्रत्युत यज्ञयागों के भीतर विद्यमान आध्यात्मिक तथ्यों की मीमांसा है: यज्ञीय अनुष्ठान नहीं, बल्कि तदन्तर्गत दार्शनिक विचार ही इनके मुख्य विषय हैं। प्राणविद्या की भी महिमा का विशेष प्रतिपादन यहाँ स्पष्टतः उपलब्ध होता है। संहिता के मन्त्रों में इस विद्या का संकेत अवश्य है, परन्तु आरण्यकों में इन्हीं बीजों का पल्लवन है।

तैत्तिरीय आरण्यक के आरम्भिक अनुवाकों में काल के वास्तव तथा व्यावहारिक रूप का निदर्शन बड़ी सुन्दरता से किया गया है। काल

---

१ अरण्याध्ययनादेतद् आरण्यकमितीर्यते।
अरण्ये तदधीयीतेत्येवं वाक्यं प्रवक्ष्यते॥

—तै० आ० भा०, श्लोक ६।

अनुसरण करके ही प्राणिमात्र का सञ्चरण होता है और अन्तरिक्ष की सहायता से ही आदमी दूर स्थान पर कहे गये शब्दों को सुन लिया करता है। इस प्रकार अन्तरिक्ष प्राण की परिचर्या करता है। वायु भी शोभन गन्ध ले आकर प्राण को तृप्त कर देता है तथा इस प्रकार अपने पिता प्राण की सेवा किया करता है। ऐतरेय आरण्यक में प्राण के स्रष्टा तथा पिता होने की बात इस प्रकार कही गयी है—

प्राणेन सृष्टावन्तरिक्षं च वायुश्च। अन्तरिक्षं वा अनुचरन्ति, अन्तरिक्षमनुश्रृण्वन्ति। वायुरस्मै पुण्यं गन्धमावहति। एवमेतौ प्राणं पितरं परिचरतोऽन्तरिक्षं च वायुश्च।

प्राण की ध्यानविधि

ध्यान करने के लिये प्राण के भिन्न-भिन्न गुणों का उल्लेख विस्तृत रूप से किया गया है। तत्तद्रूप से प्राण का ध्यान करना चाहिये। उन-उन रूपों से उपासना करने से फल भी तदनुरूप ही उपासक को प्राप्त होंगे।

प्राण ही अहोरात्र के रूप में कालात्मक है। दिन प्राणरूप है तथा रात्रि अपानरूप। सवेरे प्राण सब इन्द्रियों को इस शरीर में अच्छी तरह से फैला देता है। इस 'प्रतनन' को देख कर मनुष्य लोग कहते हैं 'प्राताथि' अर्थात् प्रकर्षरूप से प्राण विस्तृत हुआ। इसी कारण दिन का आरम्भकाल जिसमें प्राण का प्रसरण दृष्टि–गोचर होता है 'प्रातः' (सवेरा) कहलाता है। दिन के अन्त होने पर इन्द्रियों में सङ्कोच दीख पड़ता है। उस समय कहते हैं 'समागात्'। इसी कारण उस काल को 'सायं' कहते हैं। विकास के कारण दिन प्राणरूप है और सङ्कोच के हेतु रात्रि अपान है। प्राण का ध्यान इस प्रकार अहोरात्र के रूप में करना चाहिये।

प्राण ही देवतात्मक है । वाग् में अग्नि देवता का निवास है, चक्षु सूर्य है; मन चन्द्रमा है; श्रोत्र दिशाएँ हैं । प्राण में इन सब देवताओं की भावना करनी चाहिये । 'हिरण्यदन् वैद' नामक एक ऋषि ने प्राण के इस रूप को जाना था तथा प्राण की देवता-रूप से उपासना की थी । इस उपासना का विपुल फल उन्हें प्राप्त हुआ (ऐत० आर० ·० १०३–१०४) ।

प्राण ही ऋषि-रूप है । ऋग्वेद के मन्त्रों के द्रष्टा अनेक ऋषि कहे गये हैं । इन सब ऋषियों की भावना प्राण में करनी चाहिये, क्योंकि प्राण ही इन मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के आकार में विद्यमान है । प्राण ही शयन के समय में वाग्, चक्षु आदि इन्द्रियों के निगरण करने के कारण 'गृत्स' कहलाता है और रति के समय में वीर्य के विसर्गजन्य मद उत्पन्न करने के कारण अपान ही 'मद' हुआ । अतः प्राण और अपान के संयोग को ही गृत्समद कहते हैं । प्राण ही विश्वामित्र है क्योंकि इस प्राण देवता का यह समस्त विश्व भोग्य होने के कारण मित्र है (विश्वं मित्रं यस्य असौ विश्वामित्रः) । प्राण को देख कर वागाद्यभिमानी देवताओं ने कहा, 'यही हम में वाम'—वननीय, भजनीय, सेवनीय है, क्योंकि यह हम में श्रेष्ठ है । इसी हेतु देवों में 'वाम' होने से प्राण ही वामदेव है । प्राण ही अत्रि है, क्योंकि इस प्राण ने ही समस्त विश्व को पाप से बचाया है (सर्वं पाप्मनोऽत्रायत इति अत्रिः) । प्राण ही भरद्वाज है । गतिसम्पन्न होने से मनुष्य के देह को 'वाज' कहते हैं । प्राण इस शरीर में प्रवेश कर उसकी रक्षा सतत किया करता है । अतः वह प्राण 'बिभ्रद्वाज' है । इसी कारण वह भरद्वाज है । देवताओं ने प्राण को देख कर कहा था कि तुम 'वसिष्ठ' हो, क्योंकि इस शरीर में इन्द्रियों के निवास करने का कारण प्राण ही है । प्राण ही सब से बढ़कर वास या निवास का हेतु है । अतः वह वसिष्ठ हुआ । इन निर्वचनों से यही सिद्ध होता है कि प्राण ही ऋषि-रूप है । अतः प्राण

में इन ऋषियों की भावना करनी चाहिये तथा तद्रूप उपासना करनी चाहिये। अन्य ऋषियों की भी भावना इसी प्रकार बतलायी गयी है।

इस आरण्यक में यहाँ तक प्राण के विषय में कहा गया है कि—

सर्वा ऋचः, सर्वे वेदाः, सर्वे घोषा एकैव व्याहृतिः प्राण एव प्राण ऋच इत्येव विद्यात्।

(ऐत० २।२।१०, पृ० १२१)।

जितनी ऋचाएँ हैं, जितने वेद हैं, जितने घोष हैं, वे सब प्राणरूप हैं। प्राण को ही इन रूपों में समझना चाहिये तथा उसकी उपासना करनी चाहिये। प्राण के इन भिन्न-भिन्न रूपों तथा गुणों को जान कर तत्तद्रूप मे उसकी उपासना करनी चाहिये।

इस प्रकार आरण्यकों में उन महनीय आध्यात्मिक तत्त्वों का संकेत उपलब्ध होता है जिनका पूर्ण विकाश उपनिषदों में मिलता है। उपनिषद् आरण्यकों के ही अन्त में आने वाले परिशिष्ट है तथा प्राचीन उपनिषद् आरण्यकों के ही अश तथा अगरूप में आज भी उपलब्ध होते है। इस प्रकार वैदिक तत्त्वमीमासा के इतिहास में आरण्यकों का विशेष महत्त्व है।

ऐतरेय आरण्यक

ऋग्वेद को दो आरण्यकों में अन्यतम आरण्यक यही है जो ऐतरेय ब्राह्मण का ही परिशिष्ट भाग है। इसमें पाँच आरण्यक हैं जो वस्तुतः पृथक् ग्रन्थ माने जाते हैं। ऋक् श्रावणी को ऋग्वेदी लोग वेदपारायण के अवसर पर ऐतरेय ब्राह्मण को तो उसके आद्य वाक्य के द्वारा ही निर्देश कर समाप्त करते हैं, परन्तु ऐतरेय आरण्यक के अवान्तर्गत पाँचों आरण्यकों के आद्य पदों का पाठ पृथक् रूप से करते है जो

इनके पृथक् ग्रन्थ मानने का प्रमाण माना जा सकता है। ऋक् वेद के मन्त्रों का बहुशः उद्धरण 'तदुक्तमृषिणा' निर्देश के साथ किया गया है।

प्रथम आरण्यक में महाव्रत का वर्णन है जो ऐतरेय ब्राह्मण (प्रपाठक ३) के 'गवामयन' का ही एक अंश है। द्वितीय आरण्यक के प्रथम तीन अध्यायों में उक्थ या निष्केवल्य शस्त्र तथा प्राणविद्या और पुरुष का विवेचन है। चतुर्थ, पंचम तथा षष्ठ अध्यायों में ऐतरेय उपनिषद् है। तृतीय आरण्यक का दूसरा नाम है संहितोपनिषद् जिसमें संहिता, पद, क्रम पाठों का वर्णन तथा स्वर, व्यञ्जन आदि के स्वरूप का विवेचन है। इस खण्ड में शाकल्य तथा माण्डूकेय के मतों का उल्लेख है। यह अंश निःसन्देह प्रातिशाख्य तथा निरुक्त से प्राचीनतर है तथा व्याकरण-विषयक नितान्त प्राचीन विवेचन है। यास्क से प्राचीन होने से यह आरण्यक निःसन्देह एक सहस्र वर्ष विक्रम-पूर्व होगा। इसमें निर्भुज (संहिता), प्रतृण्ण (पद), सन्धि, संहिता आदि पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त हुए हैं। चतुर्थ आरण्यक बहुत ही छोटा है जिसमें महाव्रत के पंचम दिन में प्रयुक्त होने वाली कतिपय महानाम्नी ऋचायें दी गई हैं। अन्तिम आरण्यक में निष्केवल्य शस्त्र का वर्णन है। इन आरण्यकों में प्रथम तीन के रचयिता ऐतरेय, चतुर्थ के आश्वलायन तथा पंचम के शौनक माने जाते हैं। यह शौनक बृहद्-देवता के निर्माता हैं, यह सिद्धान्त मान्य नहीं है। डाक्टर कीथ इसे निरुक्त से अर्वाचीन मानकर इसका रचनाकाल षष्ठशतक वि० पू० मानते हैं, परन्तु वस्तुतः यह निरुक्त से प्राचीनतर है तथा महिदास ऐतरेय के प्रथम तीन आरण्यकों के रचयिता होने से यह ऐतरेय ब्राह्मण का ही समकालीन सिद्ध होता है।

---

१ सायणभाष्य के साथ सं० आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलि संख्या ३८, पूना, १८९८ तथा डा० कीथ द्वारा अंग्रेजी अनुवाद (आक्सफोर्ड)

शाङ्खायन आरण्यक—ऋग्वेद का यह दूसरा आरण्यक है जो सामान्यत. ऐतरेय आ० के समान ही है। इसके १५ अध्यायो में से तीन से लेकर छ तक कौपीतकि नाम से प्रसिद्ध उपनिषद् है। षष्ठ अध्याय में उशीनर, मत्स्य, काशी, विदेह तथा कुरु—पाञ्चाल का निर्देश इसे मध्यदेश से सम्बद्ध सिद्ध करता है। त्रयोदश अध्याय में उपनिषदों से—विशेषतः वृहदारण्यक उपनिषद् से—अनेक उद्धरण यहाँ दिये गये मिलते है।

वृहदारण्यक जैसा इसके नाम से विदित होता है वस्तुतः आरण्यक ही है तथा शुक्लयजुर्वेद से सम्बद्ध है, परन्तु आत्मतत्त्व की विशेष विवेचना के कारण यह उपनिषद् माना जाता है और वह भी प्राचीनतम तथा मान्यतम। इसका विस्तृत विवेचन अगले प्रकरण में किया जावेगा। कृष्णयजुर्वेदीय मैत्रायणीय शाखा का भी एक आरण्यक है जो मैत्रायणीय उपनिषद् कहलाता है[1]।

तैत्तिरीय आरण्यक

इस आरण्यक में दस परिच्छेद या प्रपाठक है जो साधारण रीति से 'अरण' कहे जाते है तथा इनका नामकरण इनके आद्य पद के अनुसार होता है। जैसे प्रथम का नाम है भद्र, (२) सहवै, (३) चित्ति, (४) युञ्जते, (५) देव वै, (६) परे, (७) शीक्षा, (८) ब्रह्मविद्या, (९) भृगु, (१०) नारायणीय। इनमें सप्तम, अष्टम तथा नवम प्रपाठक मिलकर 'तैत्तिरीय उपनिषद्' कहलाते है। दशम प्रपाठक भी महानारायणीय उपनिषद् है जो इस आरण्यक का परिशिष्ट माना जाता है। प्रपाठकों का विभाजन 'अनुवाकों' में है तथा नवम प्रपाठक

[1] यह मैत्रायणी संहिता के परिशिष्ट रूप में प्रकाशित है जो उपनिषद् संग्रहों में प्रकाशित संस्करण की अपेक्षा शुद्धतर प्रतीत होता है (औंध, १९२५)।

तक के समस्त अनुवाक संख्या में १७० हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण के समान ही यहाँ भी प्रत्येक अनुवाक में दस वाक्यों की एक इकाई मानी गई है तथा प्रत्येक दशक का अन्तिम पद अनुवाक के अन्त में परिगणित किया गया है। इस आरण्यक में ऋग्वेदस्थ ऋचाओं का उद्धरण पर्याप्त सख्या में किया गया है।

प्रथम प्रपाठक आरुणक केतु नामक अग्नि की उपासना तथा तदर्थ इष्टकाचयन का वर्णन करता है। द्वितीय प्रपाठक में स्वाध्याय तथा पञ्च महायज्ञों का वर्णन है तथा यहाँ गगा यमुना का मध्यदेश अत्यन्त पवित्र तथा मुनियों का निवास बतलाया गया है। तृतीय प्रपाठक चातुर्होत्र चिति के उपयोगी मंत्रों का वर्णन प्रस्तुत करता है। चतुर्थ में प्रवर्ग्य के उपयोगी मन्त्रों का संग्रह है। यहाँ कुरुक्षेत्र तथा खाण्डव का वर्णन भौगोलिक स्थिति के अनुसार है। इस प्रपाठक में अभिचार-मन्त्रो की भी सत्ता है जिनका प्रयोग शत्रु के मारण आदि के लिए किया जाता था। ४।२७ में तथा ४।३७ में 'छिन्धी भिन्धी हन्धी कट्' आदि जैसे अभिचार मन्त्रों का स्पष्ट ही वर्णन है। ४।३८ में भृगु तथा अगिरा के रौद्र प्रयोगों का उल्लेख अथर्ववेद के अभिचारों की ओर स्फुट संकेत है। पचम में यज्ञीय संकेतों की उपलब्धि होती है। षष्ठ प्रपाठक में पितृमेध-सम्बन्धी मंत्रो का उल्लेख किया गया है तथा अनेक मन्त्र ऋग्वेद से यहाँ उद्धृत किये गये हैं[1]।

दशम प्रपाठक नारायणीयोपनिषद् है जो खिल-काण्ड माना जाता है। सायण के कथनानुसार इसके अनुवाकों की भी संख्या बड़ी अस्त-व्यस्त है। द्रविडों के अनुसार इसमें ६४ अनुवाक हैं, आन्ध्रो के अनुसार

---

१ तैत्तिरीय आरण्यक के विशेष अनुशीलन के लिए देखिए—वैद्य वैदिक साहित्य का इतिहास, द्वितीय खण्ड पृ० १५१–१५६।

८०, कार्णाटकों के अनुसार कहीं ७४ और कहीं ८९। ऐसी परिस्थिति में मूल पाठ का पता लगाना एक विषम समस्या है। सायण ने आन्ध्र पाठ के अनुसार ८० अनुवाकों की सत्ता यहाँ मानी है।

इस आरण्यक में अनेक विशिष्ट बातें स्थान-स्थान पर आती हैं। (१) 'कश्यप' का अर्थ है सूर्य। इसकी व्युत्पत्ति पर्याप्त वैज्ञानिक है (कश्यपः पश्यको भवति। यत् सर्वं परिपश्यतीति सौक्ष्म्यात् १।८।८)। (२) पाराशर्य व्यास का उल्लेख यहाँ मिलता है (१।९।२)। (३) द्वितीय प्रपाठक के आरम्भ में ही सन्ध्या में प्रयुक्त सूर्य के अर्घ्यजल की महिमा वर्णित है कि उस जल के प्रभाव से सूर्य पर आक्रमण करने वाले 'मन्देह' नामक राक्षसों का सर्वथा संहार हो जाता है (२।२)।

सामवेद से भी सम्बद्ध एक आरण्यक है जो 'तवलकार आरण्यक' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके चार अध्याय हैं तथा प्रत्येक अध्याय में अनुवाक हैं। चतुर्थ अध्याय के दशम अनुवाक में प्रसिद्ध तवलकार या केन उपनिषद् है। अथर्ववेद का कोई आरण्यक उपलब्ध नहीं है। इस वेद से सम्बद्ध जो अनेक उपनिषद् उपलब्ध होते हैं वे किसी आरण्यक के अंश न होकर आरम्भ से ही स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में हैं।

उपनिषद्

उपनिषद् आरण्यकों में ही सम्मिलित है—उन्हीं के विशिष्ट अंग हैं। वेद के अन्तिम भाग होने से तथा सारभूत सिद्धान्तों के प्रतिपादक होने के कारण उपनिषद् ही 'वेदान्त' के नाम से विख्यात हैं। भारतीय तत्त्वज्ञान तथा धर्मसिद्धान्तों के मूल स्रोत होने का गौरव इन्हीं उपनिषदों को प्राप्त है। उपनिषद् वस्तुतः वह आध्यात्मिक मानसरोवर है जिससे ज्ञानकी भिन्न भिन्न सरितायें निकल कर इस पुण्यभूमि में मानवमात्र के ऐहिक कल्याण तथा आमुष्मिक मंगल के लिए प्रवाहित होती हैं। वैदिक धर्म की मूल-तत्त्व-प्रतिपादिका प्रस्थानत्रयी में मुख्य उपनिषद् ही है। अन्य प्रस्थान—गीता तथा ब्रह्मसूत्र—उसी के ऊपर आश्रित हैं। भारतवर्ष में उदय लेने वाले समस्त दर्शनों का—सांख्य तथा वेदान्त आदि का—ही यह मूलग्रन्थ नहीं है, अपि तु जैन तथा बौद्ध दर्शनों के भी मौलिक तथ्यों की आधारशिला यही है। उपनिषद् का इसीलिए भारतीय संस्कृति से अविच्छेद्य सम्बन्ध है। इनके अध्ययन से इस संस्कृति के आध्यात्मिक रूप का सच्चा परिचय हमें उपलब्ध होता है। इसीलिए जब से किसी विदेशी विद्वान् को इसके पढ़ने तथा मनन करने का अवसर मिला है, तबसे वह इनकी समुन्नत विचारधारा, उदात्त चिन्तन, मार्मिक अनुभूति तथा आध्यात्मिक जगत् की रहस्यमयी अभिव्यक्तियों की शतमुख से प्रशंसा करता आया है। सत्रहवें शतक में दाराशिकोह तथा उन्नीसवें शतक में जर्मन दार्शनिक शोपेनहावर तथा महाकवि ग्वेटे ने अपने ग्रन्थों में इसकी विशद प्रशंसा में की है तथा इसे अपने तात्त्विक विचारों का आश्रय बनाया है।

'उपनिषद्' शब्द उप नि उपसर्गक सद्धातु से निष्पन्न होता है। सद्धातु के अर्थ हैं विशरण=नाश होना, गतिः=पाना या जानना ; अवसादन=शिथिल होना (सद्लृ विशरण-गत्यवसादनेषु) उपनिषद् मुख्यतया 'ब्रह्मविद्या' का द्योतक है क्योंकि इस विद्या के अनुशीलन से मुमुक्षु जनों की ससार-बीजभूता अविद्या नष्ट हो जाती है (विशरण), वह ब्रह्म की प्राप्ति करा देती है (गति) तथा मनुष्य के गर्भवास आदिक दु ख सर्वथा शिथिल हो जाते हैं[1] (अवसादन)। गौणअर्थ में यह शब्द पूर्वोक्त ब्रह्मविद्या के प्रतिपादक ग्रन्थ-विशेष का भी बोधक है और इसी अर्थ में इसका प्रयोग यहाँ किया जा रहा है।

असली उपनिषदों की संख्या में पर्याप्त मतभेद है। मुक्तिकोपनिषद् के अनुसार उपनिषदों की सख्या १०८ है जिनमें से १० उपनिषद सम्बद्ध हैं ऋग्वेद से, १९ शुक्लयजु: से, ३२ कृष्णयजुः से, १६ साम से तथा ३१ अथर्व से। इधर अड्यार लाइब्रेरी (मद्रास) से लगभग ६०अप्रकाशित उपनिषदों का एक संग्रह प्रकाशित हुआ है जिनमें छागलेय आदि चार उपनिषदों का भी समावेश है जिनका अनुवाद १७ वीं शताब्दी में दाराशिकोह की आज्ञा से फारसी में किया गया था। आचार्य शकर ने जिन दश उपनिषदों पर अपना महत्त्वपूर्ण भाष्य लिखा है वे प्राचीनतम तथा प्रामाणिक माने जाते है। मुक्तिकोपनिषद् के अनुसार उनके नाम तथा क्रम इस प्रकार हैं—

ईश केन कठ प्रश्न मुण्ड माण्डूक्य तित्तिरिः।
ऐतरेयं च छान्दोग्यं बृहदारण्यकं दश॥

(१) ईश, (२) केन, (३) कठ, (४) प्रश्न, (५) मुण्डक (६) माण्डूक्य, (७) तैत्तिरीय, (८) ऐतरेय, (९) छान्दोग्य

---

[1] द्रष्टव्य कठ तथा तैत्तिरीय उपनिषदों पर शाङ्कर भाष्य का उपोद्घात।

तथा (१०) बृहदारण्यक—ये ही उपनिषद् प्राचीन तथा सर्वथा प्रामाणिक अंगीकृत हैं। इनके अतिरिक्त कौषीतकि उप०, श्वेताश्वतर तथा मैत्रायणीय भी प्राचीन माने जाते हैं। क्योंकि शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र-भाष्य में दशोपनिषद् के साथ प्रथम दोनों को भी उद्धृत किया है, लेकिन उन्होंने इन पर भाष्य नहीं लिखा। श्वेताश्वतर पर शांकरभाष्य आद्य शंकराचार्य की कृति नहीं माना जाता। इस प्रकार यही त्रयोदश उपनिषद् वेदान्त-तत्त्व के प्रतिपादक होने से विशेषतः श्रद्धाभाजन माने जाते हैं। अन्य उपनिषद् तत्तत् देवता-विषयक होने से 'तान्त्रिक' माने जा सकते हैं। तन्त्रों को वेद से विरुद्ध तथा अर्वाचीन मानना यह सिद्धांत ठीक नहीं है। ऐसे उपनिषदों में वैष्णव, शाक्त, शैव तथा योग-विषयक उपनिषदों की प्रधान गणना है[1]

उपनिषदों के काल निरूपण करने तथा परस्पर सम्बन्ध दिखलाने के लिए अर्वाचीन विद्वानों ने बड़ा उद्योग किया है। जर्मन विद्वान् डायसन ने उपनिषदों को चार स्तरों में विभक्त किया है:—

(क) प्राचीन गद्य उपनिषद् जिनका गद्य ब्राह्मणों के गद्य के समान प्राचीन, लघुकाय तथा सरल है—(१) बृहदारण्यक, (२) छान्दोग्य, (३) तैत्तिरीय, (४) ऐतरेय, (५) कौषीतकि तथा (६) केन उपनिषद्।

(ख) प्राचीन पद्य उपनिषद् जिसका पद्य प्राचीन, सरल तथा वैदिक पद्यों के समान है—(७) कठ, (८) ईश, (९) श्वेताश्वतर, (१०) महानारायण।

(ग) पिछले गद्य उपनिषद्—(११) प्रश्न, (१२) मैत्री या मैत्रायणीय, (१३) माण्डूक्य।

---

[1] अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास ने ये उपनिषद 'उपनिषद् ब्रह्म योगी' की व्याख्या के साथ पृथक् पृथक् चार खण्डों में प्रकाशित हुए हैं।

(घ) आथर्वण उपनिषद्, जिनमें तान्त्रिक उपासना विशेषरूप से अंगीकृत है—(i) सामान्य उपनिषद् (ii) योग उप०, (iii) सांख्य-वेदान्त उप०, (iv) शैव उपनि० (v) वैष्णव उप०, (vi) शाक्त उपनिषत्।

इस क्रम-साधन में अनेक दोषों तथा त्रुटियों को दिखाकर डा० बेलवेलकर तथा रानाडे ने एक नयी योजना तैयार की है[1] जिसके साधक प्रमाणों की संख्या अनेक है और जिसके अनुसार प्राचीन उपनिषदों में ये मुख्य हैं—छान्दोग्य, बृहदारण्यक, कठ, ईश, ऐतरेय, तैत्तिरीय, मुण्डक, कौषीतकि, केन तथा प्रश्न। श्वेताश्वर, माण्डूक्य और मैत्रायणीय द्वितीय श्रेणी के अन्तर्भुक्त माने गये हैं तथा तृतीय श्रेणी में बाष्कल, छागलेय, आर्षेय तथा शौनक उपनिषद् आते हैं जो अभी हाल में उपलब्ध हुए हैं। इस योजना को सिद्ध करने के निमित्त उपन्यस्त तर्कप्रणाली बड़ी ही पेचीदी होने से विश्वास उत्पन्न नहीं करती। उपनिषदों के विभिन्न-कालीन स्तरों की कल्पना इतनी मनमानी तथा प्रमाण-विरहित है कि उन पर विश्वास उत्पन्न नहीं होता। ईशावास्य को द्वितीय स्तर में रखना क्या न्यायसंगत होगा? इसमें यज्ञ की महत्ता ब्राह्मण-काल के समान ही स्वीकृत है (कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः) तथा बृहदारण्यक के द्वारा उद्घोषित कर्म-सन्यास की भावना की घोषणा नहीं है (पुत्रैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति–बृहदा०)। अन्य उपनिषदों के समान आरण्यक का अंश न होकर वह माध्यन्दिन संहिता का भाग है तथा मुक्तिकोपनिषद् की मान्य परम्परा के अनुसार यह समस्त उपनिषदों की गणना में प्रथम स्थान रखता है। फलतः इसके प्रथम कालश्रेणी में

---

[1] द्रष्टव्य Belvelkar and Ranade—History of Indian Philosophy Vol 2, pp 87-90

अन्तर्भुक्त तथा प्राचीनतर होने में कोई भी सन्देह नहीं हो सकता। डा० बेलवेलकर तथा रानाडे ने उपनिषदों का व्यासात्मक अध्ययन कर उनके प्रत्येक खण्ड का पारस्परिक सम्बन्ध बतलाया है। उनकी विश्लेषण शक्ति का परिचायक होने पर भी यह परीक्षण इतना विकट तथा विषम है कि वह तत्त्व-जिज्ञासुओं के हृदय में सन्तोष तथा विश्वास नहीं उत्पन्न करता।

श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य ने अपने ग्रन्थ में उपनिषदों की प्राचीनता तथा अर्वाचीनता के निर्णयार्थ दो साधन उपस्थित किये हैं[1]—(१) विष्णु या शिव का परदेवता के रूप में वर्णन तथा (२) दूसरा है प्रकृति–पुरुष तथा सत्त्व, रज, तम त्रिविध गुणों के सांख्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन। यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि प्राचीनतम उपनिषदों ने वैदिक देवताओं से ऊपर उठकर एक अनाम-रूप ब्रह्म को ही इस विश्व का स्रष्टा, नियन्ता तथा पालनकर्ता विवेचित किया है। केवल पिछले उपनिषदों ने विष्णु को प्रथमतः, अनन्तर शिव को, उस परम पद पर प्रतिष्ठित किया है। इस दृष्टि से अनाम-रूप-ब्रह्म के प्रतिपादक होने से निम्नलिखित उपनिषदों की सर्व-प्राचीनता नितान्त मान्य है—छान्दोग्य, बृहदारण्यक, ईश, तैत्तिरीय, ऐतरेय, प्रश्न, मुण्डक तथा माण्डूक्य। इसके अनन्तर कठोपनिषद् आता है जो विष्णु को परम-पद पर प्रथमतः प्रतिष्ठित करने का श्रेय रखता है। कृष्ण यजुर्वेदीय उपनिषदों में महादेव इस महनीय पद के अधिष्ठाता माने गए हैं। इसी निमित्त महेश्वर की महत्ता के हेतु श्वेताश्वतर कठ से अर्वाचीन तथा ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश—इस देवत्रयी के गौरव गान के कारण मैत्रायणीय उपनिषद् श्वेताश्वतर से भी पीछे त्रयोदश उपनिषदों में अर्वाचीन-

१ वैद्य—संस्कृत साहित्य के वैदिक काल का इतिहास (अंग्रेजी) द्वितीय खण्ड पृष्ठ १७०–१७२।

तम माना जाना चाहिए। सांख्य तथ्यों के प्रतिपादन से भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। छान्दोग्यादि उपनिषदों में इस सिद्धान्त का कहीं भी निर्देश नहीं है। कठ में सांख्य के अनेक सिद्धान्त (गुण, महत् आत्मा, अव्यक्त और पुरुष, १।३।१०) उपलब्ध होते हैं। श्वेताश्वतर में सांख्य (तत् कारणं सांख्य-योगाधिगम्यम्) का तथा तद्वत् प्रवक्ता कपिल ऋषि का (ऋषिं प्रसूतं कपिलं पुराणम्), प्रधान, ज्ञेय तथा ज्ञ का वर्णन सांख्य-सिद्धान्तों से पर्याप्त परिचय का द्योतक है। अतः कठ से इसकी अर्वाचीनता माननी चाहिए। मैत्रायणीय में प्रकृति तथा गुणत्रय का सांख्य सिद्धान्त बड़े विस्तार के साथ दिया गया है और इसलिए इसे इस श्रेणी में पिछले युग की रचना मानना सर्वथा युक्तियुक्त है।

इस प्रकार मोटे तौर से हम उपनिषदों को तीन श्रेणी में विभक्त कर सकते हैं। प्रथम श्रेणी में हम छान्दोग्य, बृहदारण्यक, ईश, तैत्तिरीय, ऐतरेय, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य को रख सकते हैं जो तत्तद् वेदों के आरण्यकों के अंश होने से निःसन्दिग्ध रूपसे प्राचीन हैं। श्वेताश्वतर, कौषीतकि तथा मैत्रायणीय तृतीय श्रेणी में रखे जा सकते हैं और दोनों के बीच में कठ उपनिषद् को रख सकते हैं। उपनिषदों का देशकाल भी प्रमाणतः निर्णीत किया जा सकता है। उपनिषदों की भौगोलिक स्थिति मध्यदेश के कुरु-पञ्चाल से आरम्भ होकर विदेह तक फैली हुई है। इस समय आर्य-निवास से गान्धार नितान्त दूर पड़ गया था, क्योंकि छान्दोग्य के अनुसार किसी विज्ञ के उपदेशानुसार ही मनुष्य गान्धार में पहुँच सकता था। उपनिषद्-काल की सूचना मैत्रायणीय उपनिषद् में निर्दिष्ट ज्योति सम्बन्धी तथ्यों के आधार पर कल्पित की जा सकती है। तिलक के अनुसार मैत्रायणी उप० का काल १९००

१ विशेष के लिए द्रष्टव्य वैद्य—संस्कृत साहित्य का इतिहास, भाग दूसरा पृष्ठ १७२–१७८।

वि० पू० होना चाहिए और इस प्रकार उपनिषत्-काल का प्रारम्भ २५०० वि० पू० से मानना न्यायसंगत है।

उपनिषदों का प्रथम भाषान्तर

उपनिषदों का प्रथम भाषान्तर सप्तदश शतक में फारसी भाषा में दाराशिकोह की प्रेरणा पर किया गया था। दाराशिकोह प्रकृत्या दार्शनिक तथा स्वभावतः नितान्त धर्मनिष्ठ राजकुमार था। १६४० ई० में वह काश्मीर में यात्रा करने के लिए गया और वहीं उसने उपनिषदों की कीर्ति सुनी। फारसी अनुवाद की भूमिका में उसने स्वयं लिखा है कि कुरान के अध्ययन करने पर उसे उसमें अनेक अनुद्घाटित रहस्यमय तथ्यों से परिचय मिला जिनके उद्घाटन के निमित्त उसने बाइबिल, इंजील आदि समस्त ग्रन्थों का अध्ययन किया, परन्तु उसकी जिज्ञासा शान्त नहीं हुई। तब उसने हिन्दूधर्म का अध्ययन किया और यहीं विशेष कर उपनिषदों में अद्वैत तत्त्व का रहस्य प्रतिपादित मिला। वह उपनिषदों को 'दैवी रहस्यों का भाण्डागार' कहता है तथा ज्ञान के पिपासु तथा जिज्ञासु जनों के निमित्त उसे नितान्त उपादेय बतलाता है। उसने काशी के पण्डितों तथा संन्यासियों की सहायता से उपनिषदों का फारसी में अनुवाद 'सिर्र-ए-अकबर' (महान् रहस्य) के नाम से किया। इस नामकरण का यह कारण था कि वह उपनिषदों को कुरान शरीफ में केवल संकेतित परन्तु अव्याख्यात तत्त्वों तथा रहस्यों की कुंजी मानता है और केवल इनकी ही सहायता से उनका उद्घाटन हो सकता है। वह कहता है कि उपनिषद् ही कुरान में 'किताबिम मकनुनिन' (अर्थात् छिपी हुई किताब) शब्द के द्वारा उल्लिखित है।

भूमिका-भाग के अनन्तर वह संस्कृत के लगभग एक सौ पारिभाषिक शब्दों का फारसी अनुवाद देता है। तदनन्तर वह ५० उपनिषदों

उपनिषद्' कहलाता है। इस थोड़े परन्तु मार्मिक उपनिषद् में केवल चार खण्ड हैं। प्रथमखण्ड में उपास्य ब्रह्म तथा निर्गुण ब्रह्म में अन्तर बतलाया गया है। दूसरे में ब्रह्म के रहस्यमय रूप का संकेत है। तृतीय तथा चतुर्थ खण्ड में उमा हैमवती के रोचक आख्यान द्वारा परब्रह्म की सर्वशक्तिमत्ता तथा देवताओं की अल्पशक्तिमत्ता का सुन्दर निदर्शन है। छोटा होने पर भी दार्शनिक दृष्टि से यह पर्याप्तरूपेण महनीय है।

(३) कठ उपनिषत्—कृष्णयजुर्वेद की कठशाखा का अनुयायी यह उपनिषत् अपने गम्भीर अद्वैततत्त्व के लिए नितान्त प्रख्यात है। इसमें दो अध्याय हैं तथा प्रत्येक अध्याय में तीन वल्लियाँ। तैत्तिरीय आरण्यक में संकेतित नचिकेताकी उपदेशप्रद कथा से यह आरम्भ होता है। नचिकेता के विशेष आग्रह करने पर यमराज उसे अद्वैततत्त्व का मार्मिक तथा हृदयंगम उपदेश देते हैं। 'नेह नानास्ति किञ्चन' इस उपनिषद् का गम्भीर शङ्खनाद है। नित्यों में नित्य, चेतनों में चेतन वह एक ब्रह्म सब प्राणियों की आत्मा में निवास करता है। उसीका दर्शन शान्ति का एकमात्र साधन है (२।२।१३) योग ही उसके साक्षात्कार का प्रधान साधन है। मूँज से इषीका (सींक) के समान इस शरीर के भीतर विद्यमान आत्मा की उपलब्धि करनी चाहिए—यही इनका व्यावहारिक उपदेश है।

(४) प्रश्नोपनिषत्—इस उपनिषद् में छ: ऋषि ब्रह्मविद्या की खोज में महर्षि पिप्पलाद के समीप जाते हैं और उनसे अध्यात्म-विषयक प्रश्नों का उत्तर पूछते हैं। प्रश्नों के उत्तर में निबद्ध होने से इसका 'प्रश्न' उपनिषद् नाम सर्वथा सार्थक है। प्रश्नो का विषय अध्यात्म-जगत् की मान्य समस्यायें हैं जिनके समीक्षण के कारण पिप्पलाद एक उदात्त तत्त्वज्ञानी के रूप में हमारे सामने आते हैं।

मीमांस्य प्रश्न हैं—(१) प्रजा की उत्पत्ति कहाँ से होती है ? (२) कितने देवता प्रजाओं का धारण करते हैं तथा कौन इनको प्रकाशित करता है तथा कौन सर्व श्रेष्ठ है; (३) प्राणों की उत्पत्ति, शरीर में आगमन तथा उत्क्रमण आदि विषयक प्रश्न, (४) स्वप्न, जागरण तथा स्वप्नदर्शन आदि विषयक प्रश्न; (५) ओंकार की उपासना तथा उससे लोकों का विजय; (६) षोडशकला-सम्पन्न पुरुष की विवेचना। इन प्रश्नों के उत्तर में अध्यात्म की समस्त समस्याओं का विवेचन बड़ी सुन्दरता तथा गम्भीरता के साथ किया गया है। अक्षर-ब्रह्म ही इस जगत् की प्रतिष्ठा बतलाया गया है।

(५) मुण्डकउपनिषत्—(तीन मुण्डक तथा प्रत्येक के दो खण्ड) यह अथर्ववेदीय उपनिषद् 'मुण्डक' (मुण्डन-सम्पन्न व्यक्तियों) के निमित्त निर्मित है। इस उपनिषद् में ब्रह्मा अपने ज्येष्ठपुत्र अथर्वा से ब्रह्मविद्या का उपदेश देते हैं। यज्ञीय अनुष्ठान अदृढरूप प्लव हैं जिनके द्वारा संसार का संतरण कभी नहीं हो सकता। इष्टापूर्त—यज्ञादि अनुष्ठान को ही श्रेष्ठ मानने वाले व्यक्ति स्वर्गलोक पाकर भी अन्ततः इस भूतल पर आते हैं (१।२।१०)। इस प्रकार कर्मकाण्ड की हीनता तथा दोषों के वर्णन के अनन्तर ब्रह्मज्ञान की श्रेष्ठता प्रतिपादित है। द्वैतवाद का प्रधान स्तम्भरूप 'द्वा सुपर्णा स युजा सखाया' (३।१।१) मन्त्र इसी उपनिषद् में आता है। 'वेदान्त' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग यहीं उपलब्ध होता है (३।२।६) ब्रह्मज्ञानी के ब्रह्म में लय प्राप्त करने की तुलना नामरूप को छोड़कर नदियों के समुद्र में अस्त होने से दी गई है। इसमें सांख्य तथा वेदान्त के तथ्यों का भी यत्-किञ्चित् प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

(६) माण्डूक्य उपनिषद्—आकार में जितना स्वल्पकाय है सिद्धान्त में उतना ही विशाल है। इसमें केवल १२ खण्ड या वाक्य

है जिनमें चतुष्पाद आत्मा का बड़ा ही मार्मिक तथा रहस्यमय विवेचन है। इस उपनिषद को ओंकार की मार्मिक व्याख्या करने का श्रेय प्राप्त है। ओंकार में तीन मात्रायें होती हैं तथा चतुर्थ अंश 'अमात्र' होता है। चैतन्य की तदनुरूप चार अवस्थायें होती हैं—जागरित, स्वप्न, सुषुप्ति तथा चैतन्य की अव्यवहार्य चतुर्थ दशा और इन्हीं का आधिपत्य धारण करने वाला आत्मा भी क्रमश. चार प्रकार का होता है—वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ तथा प्रपंचोपशमरूपी शिव, जिनमें अन्तिम ही चैतन्य आत्मा का विशुद्धरूप है। इसके ऊपर गौडपादाचार्य ने चार खण्डों में विभक्त अपनी कारिकायें (माण्डूक्य कारिका) लिखी हैं जो मायावादी अद्वैत वेदान्त की पूर्ण प्रतिष्ठा मानी जाती हैं।

(७) तैत्तिरीय उपनिषद्—यह तैत्तिरीय आरण्यक का (सप्तम, अष्टम तथा नवम खण्डों का) ही अंश है। आरण्यक के सप्तम प्रपाठक का नाम है सांहिती उपनिद् जो यहाँ 'शीक्षावल्ली' के नाम से विख्यात है। आरण्यक का वारुणी उपनिषद् (प्रपाठक आठ और नव) यहाँ ब्रह्मानन्द वल्ली और भृगु वल्ली के नाम से प्रख्यात हैं। अतः प्रधान्य तो है वारुणी उपनिषद् का ही ब्रह्मविद्या की दृष्टि से, परन्तु चित्त की शुद्धि तथा गुरु-कृपा की प्राप्ति के निमित्त शिक्षावल्ली का भी गौण रूपेण उपयोग है। इसमें कई प्रकार की उपासना तथा शिष्य और आचार्य सम्बन्धी शिष्टाचार का निरूपण है। ११ वे अनुवाक में स्नातक के लिए उपयोगी शिक्षाओं का एकत्र निरूपण है जिसमे शिक्षा के उच्च आदर्श का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है। ब्रह्मानन्द वल्ली में ब्रह्मविद्या का निरूपण है। तदन्तर भृगुवल्ली में ब्रह्मप्राप्ति का मुख्य साधन 'पञ्चकोश विवेक' वरुण तथा भृगु के सवाद रूप मे वर्णित है।

(८) ऐतरेय उपनिषद्—ऐतरेय आरण्यक के द्वितीय आरण्यक के अन्तर्गत चतुर्थ से लेकर षष्ठ अध्यायों का नाम

ऐतरेय उपनिषद् है । इसमें तीन अध्याय हैं जिनमें द्वितीय तथा तृतीय अध्याय तो एक खण्ड के हैं, प्रथम अध्याय में दो खण्ड हैं जिसमें सृष्टितत्त्व का मार्मिक विवेचन है । मनुष्य का शरीर ही पुरुष के लिये उपयुक्त आयतन सिद्ध किया गया है जिसके भिन्न भिन्न अवयवों में देवताओं ने प्रवेश किया । तदनन्तर परमात्मा उसके मूर्ध-सीमा को विदीर्णकर प्रवेश करता है तथा जीवभाव को प्राप्त कर भूतों के साथ तादात्म्य रखता है । तदनन्तर गुरुकृपा से बोध के अनन्तर सर्वव्यापक शुद्धस्वरूप का साक्षात्कार होता है तथा 'इन्द्र' की संज्ञा प्राप्त होती है । अन्तिम अध्याय में 'प्रज्ञान' की विशेष महिमा प्रदर्शित है जिससे निःसन्देह उपनिषद् आदर्शवाद का प्रतिपादक सिद्ध होता है ।

(९) छान्दोग्य उपनिषद्—*यह सामवेदीय उपनिषद् प्राचीनता,* गम्भीरता तथा ब्रह्मज्ञान प्रतिपादन की दृष्टि से उपनिषदों में नितान्त प्रौढ़, प्रामाणिक तथा प्रमेय-बहुल है । इसमें आठ अध्याय या प्रपाठक हैं जिनमें अन्तिम तीन अध्यात्म-ज्ञान की दृष्टि से नितान्त महत्त्वपूर्ण हैं । इसके आदिम अध्यायों में अनेक विद्याओं का, ओंकार का तथा सामके गूढ़ स्वरूप का विवेचन मार्मिकता से किया गया है । द्वितीय अध्याय के अन्त में 'शौव उद्गीथ' है जो केवल भौतिक स्वार्थ-पूर्ति के लिए यागानुष्ठान तथा सामगायन करनेवाले व्यक्तियों के ऊपर मार्मिक व्यंग्य है । तृतीय अध्याय में सूर्य की देवमधु के रूप में उपासना है । गायत्री का वर्णन, घोर आङ्गिरस के द्वारा देवकी पुत्र कृष्ण को अध्यात्म शिक्षा (३।१७) तथा अन्त में अण्ड से सूर्य के जन्म (३।१९) का सुन्दर विवेचन है । इस अध्याय का यह प्रसिद्ध सिद्धान्त—सर्वं खल्विदं ब्रह्म = सब कुछ ब्रह्म ही है (३।१४।१) अद्वैतवाद का विजयघोष है । चतुर्थ अध्याय में रैक्व का दार्शनिक तथ्य, सत्यकाम जाबाल तथा उसकी माता की कथा (४।४।९); उपकोशल को सत्यकाम जाबाल से ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति (४।१०–१७) का विस्तृत

तथा रोचक विवेचन है। पंचम प्रपाठक में प्रवाहण जैवलि के दार्शनिक सिद्धान्त तथा केकय अश्वपति का सृष्टि-विषयक तथ्यों का विशद वर्णन है जिनमें छ विभिन्न दार्शनिकों के सिद्धान्तों का समन्वय किया गया है (५।११-२४)। षष्ठ प्रपाठक छान्दोग्यका नितान्त महनीय अध्याय है जिसमें महर्षि आरुणि के ऐक्यप्रतिपादक सिद्धान्तों की रोचक व्याख्या है। जिस प्रकार याज्ञवल्क्य बृहदारण्यक के सर्वश्रेष्ठ अध्यात्म-उपदेष्टा है, उसी प्रकार आरुणि छान्दोग्य के सर्वतोमान्य दार्शनिक हैं। इनके सिद्धान्त इतने सुन्दर, प्रामाणिक तथा तर्कपूर्ण है कि शतपथ के अनुसार याज्ञवल्क्य को आरुणि के शिष्य होने में हमें कोई आश्चर्य नहीं प्रतीत होता। 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो'—आरुणि की अध्यात्म शिक्षा का पीठस्थानीय मन्त्र है। सप्तम प्रपाठक में सनत्कुमार तथा नारद का नितान्त विश्रुत वृत्तान्त है जिसमें मन्त्रविद् नारद आत्मविद्या की शिक्षा के निमित्त महर्षि सनत्कुमार के पास आते हैं। इस उपदेश का पर्यवसान होता है—यो वै भूमा तदमृतम् अथ यदल्पं तन्मर्त्यम् में। अत इसे भूमा-दर्शन कह सकते है। अन्तिम प्रपाठक में इन्द्र तथा विरोचन की कथा है तथा आत्मप्राप्ति के व्यावहारिक उपायों का सुन्दर सकेत किया गया है।

(१०) बृहदारण्यक—परिमाण में ही विशाल नहीं है, प्रत्युत तत्त्वज्ञान के प्रतिपादन में भी गम्भीर तथा प्रामाणिक है। यह बृहत्तम, विपुलकाय तथा प्राचीनतम उपनिषद् सर्वत्र स्वीकृत है। इसमें छः अध्याय है। इस उपनिषद् के सर्वस्व दार्शनिक है याज्ञवल्क्य, जिनकी उदात्त अध्यात्म शिक्षा से यह ओतप्रोत है। प्रथम अध्याय (६ ब्राह्मण) में मृत्यु के द्वारा समग्र पदार्थों के ग्रास किये जाने का, प्राण की श्रेष्ठता विषयक रोचक आख्यायिका का तथा सृष्टि-विषयक सिद्धान्तों का वर्णन है। द्वितीय अध्याय (छ ब्राह्मण) के आरम्भ में अभिमानी गार्ग्य तथा शान्तस्वभाव काशी के राजा अजातशत्रु का रोचक संवाद है।

इसी अध्याय (चतुर्थ ब्राह्मण) में हमारा प्रथम वार याज्ञवल्क्य से साक्षात्कार होता है जो अपनी दोनों भार्यायो, कात्यायनी तथा मैत्रेयी को अपना धन विभक्त कर वन में जाते हैं तथा उनका मैत्रेयी के प्रति दिव्य दार्शनिक सन्देश की वाणी हमें यहीं श्रवणगोचर होती है। तृतीय तथा चतुर्थ अध्यायों में जनक तथा याज्ञवल्क्य का आख्यान है। तृतीय में जनक की सभा में नाना ब्रह्मवादियों को याज्ञवल्क्य के हाथों परास्त तथा मौन होने के विशेष वर्णन है। तृतीय मे इस प्रकार महाराज जनक वैदेह केवल तटस्थ श्रोता है, परन्तु चतुर्थ में वे स्वयं महर्षि से तत्त्वज्ञान सीखते हैं। इस अध्याय के पञ्चम ब्राह्मण में कात्यायनी तथा मैत्रेयी का आख्यान पुनः स्पष्टतः वर्णित है। पञ्चम अध्याय में नाना प्रकार के दार्शनिक विषयों का विवेचन है जैसे नीति-विषयक, सृष्टिविषयक तथा परलोक-विषयक तथ्य। षष्ठ अध्याय में प्रवहण जैवलि तथा श्वेतकेतु आरुणेय का दार्शनिक संवाद है जिसमें जैवलि ने पञ्चाग्नि-विद्या का विशद विवेचन किया है। याज्ञवल्क्य का तत्त्वज्ञान बड़ा ही विशद प्रामाणिक, तथा तर्कपूर्ण है। उपनिषद्-युग के वे सर्वमान्य तत्त्वज्ञ थे जिनके सामने ब्रह्मविद् जनक भी नतमस्तक होकर तत्त्वज्ञान सीखने से पराङ्मुख नहीं होता है। वे केवल सिद्धान्तवादी ही न थे, प्रत्युत व्यवहार में तत्त्वज्ञान के उपदेशक थे और उनका यह उपदेश बृहदारण्य को अध्यात्म-शिक्षा का महत्त्वपूर्ण अंग है—

> आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासि-
> तव्यो मैत्रेयि (बृहदा० ४।५।६)

(११) श्वेताश्वतर—यह उपनिषद् तो शैवधर्म के गौरव प्रतिपादन के लिये निर्मित प्रतीत होता है। द्वितीय अध्याय में योग का विशद प्राचीन विवेचन है। तृतीय से पंचम तक शैव तथा सांख्य सिद्धान्तों

का प्रतिपादन है। अन्तिम अध्याय में गुरुभक्ति का तत्त्व वर्णित है। गुरुभक्ति देवभक्ति का ही रूप है (यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ (६।२३)। भक्तितत्त्व का प्रथम प्रतिपादन इस उपनिषद् की विशेषता है। यह उस युग की रचना है जब साङ्ख्य का वेदान्त से पृथक् करण नहीं हुआ था। दोनों के सिद्धान्त मिश्रित रूप से उपलब्ध होते हैं। औपनिषद् सांख्य सेश्वर था। इसलिए साङ्ख्य का ईश्वर प्रधान के ऊपर आधिपत्य रखनेवाला वर्णित है (६।१०); वेदान्त में अभी माया का सिद्धात विकसित नहीं हुआ था। त्रिगुणों की साम्यावस्था रूप प्रकृति (अजा) का विवेचन निःसन्देह है। (४।५ = अजामेकां लोहित कृष्ण-शुक्लाम्), परन्तु अभी तक वह पूरा साङ्ख्य तत्त्व प्रतीत नहीं होता। क्षर, प्रधान, अक्षर आदि तत्त्वों का समावेश गीता ने यहीं से किया है (१।१०)। शिव परमात्मतत्त्व के रूप में अनेकशः वर्णित है (अमृताक्षरं हरः १।१०)। इस प्रकार साङ्ख्य तथा वेदान्त के उदयकाल के सिद्धान्तों की जानकारी के लिए यह उपनिषद् महत्त्वपूर्ण है।

(१२) कौषीतकि—इस ऋग्वेदीय उपनिषद् में चार अध्याय है जिनमें प्रथम में देवयान तथा पितृयान का विशद विस्तृत वर्णन है तथा चतुर्थ में बालाकि और अजातशत्रु के आख्यान की (बृहदारण्यक में वर्णित) पुनरावृत्ति है। द्वितीय तथा तृतीय अध्यायों में विशुद्ध दार्शनिक सिद्धान्तों का वर्णन है। तृतीय अध्याय में प्रतर्दन इन्द्र से ब्रह्मविद्या सीखते हैं जिसके पर्यवसान में प्राणतत्त्व का विशद विवरण है। प्राण प्रथमतः जीवन का तत्त्व है तदनन्तर चैतन्य का तत्त्व है। अन्त में यही प्राण आत्मा का प्रतीक सिद्ध किया गया है जो जगत् के समस्त पदार्थों का कारण है तथा प्राणिजात उसके हाथ में यन्त्रवत् घूमते रहते हैं (३।४)

(१३) मैत्री या मैत्रायणी उपनिषद्—अपने विचित्र सिद्धातों के लिए सदा प्रख्यात रहेगा। इसमें साङ्ख्यदर्शन के तत्त्व, योग के षडङ्गों

का (जो आगे चलकर पातञ्जल योग में अष्टांग रूप से विकसित होता है) तथा हठयोग के मन्त्र सिद्धान्तों का वर्णन दर्शनों का विकास के समझने के लिए नितान्त उपादेय है। इस उपनिषद् में सात प्रपाठक हैं। पूरा उपनिषद् गद्यात्मक है, परन्तु स्थान-स्थान पर पद्य भी दिए गये हैं। अन्य उपनिषदों के भी निःसन्दिग्ध संकेत तथा उद्धरण यहाँ मिलते हैं। यथा विद्वान् पुण्य-पापे विधूय (मै० ६।१८ = मुण्डक ३।१।३), शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति (मै० ६।२२ = ब्रह्मबिन्दु उप० १७), यदा पञ्चावतिष्ठन्ते (मै० ६।३० = कठ ६।१०) सर्वं मन एव (मै० ६।३० = बृहदा० १।५।३)। ईश तथा कठ के दो-दो उद्धरण सप्तम प्रपाठक में मिलते हैं। इसलिए यह त्रयोदश उपनिषदों में अपेक्षाकृत अर्वाचीन माना जाता है।

प्रधान उपनिषदों का यह विश्लेषण उनके महत्त्व तथा उपदेश की दिशा बतलाने में पर्याप्त माना जा सकता है। उपनिषदों के तत्त्व-ज्ञान तथा कर्तव्यशास्त्र का प्रभाव भारतीय दर्शन पर पूर्ण रूप से विद्यमान है। उपनिषद् वेदों के तत्त्व तथा रहस्य प्रतिपादन के कारण सचमुच ही 'वेदान्त' हैं[1]।

---

[1] उपनिषदों के तत्त्वज्ञान के लिए द्रष्टव्य बलदेव उपाध्याय—भारतीय दर्शन (चतुर्थ सं०, सन् १९५३) पृ० ७१-८७।

का प्रतिपादन है। अन्तिम अध्याय में गुरुभक्ति का तत्त्व वर्णित है। गुरुभक्ति देवभक्ति का ही रूप है (यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ (६।२३)। भक्तितत्त्व का प्रथम प्रतिपादन इस उपनिषद् की विशेषता है। यह उस युग की रचना है जब सांख्य का वेदान्त से पृथक् करण नहीं हुआ था। दोनों के सिद्धान्त मिश्रित रूप से उपलब्ध होते हैं। औपनिषद सांख्य सेश्वर था। इसलिए सांख्य का ईश्वर प्रधान के ऊपर आधिपत्य रखनेवाला वर्णित है (६।१०), वेदान्त में अभी माया का सिद्धान्त विकसित नहीं हुआ था। त्रिगुणों की साम्यावस्था रूप प्रकृति (अजा) का विवेचन निःसन्देह है। (४।५ = अजामेकां लोहित-कृष्ण-शुक्लाम्), परन्तु अभी तक वह पूरा सांख्य तत्त्व प्रतीत नहीं होता। क्षर, प्रधान, अक्षर आदि तत्त्वों का समावेश गीता ने यहीं से किया है (१।१०)। शिव परमात्मतत्त्व के रूप में अनेकश. वर्णित है (अमृताक्षरं हरः १।१०)। इस प्रकार सांख्य तथा वेदान्त के उदयकाल के सिद्धान्तों की जानकारी के लिए यह उपनिषद् महत्त्वपूर्ण है।

(१२) कौषीतकि—इस ऋग्वेदीय उपनिषद् में चार अध्याय हैं जिनमें प्रथम में देवयान तथा पितृयान का विशद विस्तृत वर्णन है तथा चतुर्थ में बालाकि और अजातशत्रु के आख्यान की (बृहदारण्यक में वर्णित) पुनरावृत्ति है। द्वितीय तथा तृतीय अध्यायों में विशुद्ध दार्शनिक सिद्धान्तों का वर्णन है। तृतीय अध्याय में प्रतर्दन इन्द्र से ब्रह्मविद्या सीखते हैं जिसके पर्यवसान में प्राणतत्त्व का विशद विवरण है। प्राण प्रथमत. जीवन का तत्त्व है तदनन्तर चैतन्य का तत्त्व है। अन्त में यही प्राण आत्मा का प्रतीक सिद्ध किया गया है जो जगत् के समस्त पदार्थों का कारण है तथा प्राणिजात उसके हाथ में यन्त्रवत् घूमते रहते हैं (३।४)

(१३) मैत्री या मैत्रायणी उपनिषद्—अपने विचित्र सिद्धांतों के लिए सदा प्रख्यात रहेगा। इसमें सांख्यदर्शन के तत्त्व, योग के षडङ्गों

का (जो आगे चलकर पातञ्जल योग में अष्टांग रूप से विकसित होता है) तथा हठयोग के मन्त्र सिद्धान्तों का वर्णन दर्शनों का विकास के समझने के लिए नितान्त उपादेय है। इस उपनिषद् में सात प्रपाठक हैं। पूरा उपनिषद् गद्यात्मक है, परन्तु स्थान-स्थान पर पद्य भी दिए गये हैं। अन्य उपनिषदों के भी निःसन्दिग्ध संकेत तथा उद्धरण यहाँ मिलते हैं। यथा विद्वान् पुण्य-पापे विधूय (मै० ६।१८ = मुण्डक ३।१।३), शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति (मै० ६।२२ = ब्रह्मबिन्दु उप० १७), यदा पञ्चावतिष्ठन्ते (मै० ६।३० = कठ ६।१०) सर्वं मन एव (मै० ६।३० = बृहदा० १।५।३)। ईश तथा कठ के दो-दो उद्धरण सप्तम प्रपाठक में मिलते हैं। इसलिए यह त्रयोदश उपनिषदों में अपेक्षाकृत अर्वाचीन माना जाता है।

प्रधान उपनिषदों का यह विश्लेषण उनके महत्त्व तथा उपदेश की दिशा बतलाने में पर्याप्त माना जा सकता है। उपनिषदों के तत्त्वज्ञान तथा कर्तव्यशास्त्र का प्रभाव भारतीय दर्शन पर पूर्ण रूप से विद्यमान है। उपनिषद् वेदों के तत्त्व तथा रहस्य प्रतिपादन के कारण सचमुच ही 'वेदान्त' है[1]।

---

[1] उपनिषदों के तत्त्वज्ञान के लिए द्रष्टव्य बलदेव उपाध्याय—भारतीय दर्शन (चतुर्थ सं०, सन् १९५३) पृ० ७१-८७।

का प्रतिपादन है। अन्तिम अध्याय में गुरुभक्ति का तत्त्व वर्णित है। गुरुभक्ति देवभक्ति का ही रूप है (यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ (६।२३)। भक्तितत्त्व का प्रथम प्रतिपादन इस उपनिषद् की विशेषता है। यह उस युग की रचना है जब साख्य का वेदान्त से पृथक् करण नही हुआ था। दोनों के सिद्धान्त मिश्रित रूप से उपलब्ध होते हैं। औपनिषद साख्य सेश्वर था। इसलिए साख्य का ईश्वर प्रधान के ऊपर आधिपत्य रखनेवाला वर्णित है (६।१०), वेदान्त में अभी माया का सिद्धात विकसित नहीं हुआ था। त्रिगुणों की साम्यावस्था रूप प्रकृति (अजा) का विवेचन निःसन्देह है। (४।५ = अजामेकां लोहित कृष्ण-शुक्लाम्), परन्तु अभी तक वह पूरा साख्य तत्त्व प्रतीत नहीं होता। क्षर, प्रधान, अक्षर आदि तत्त्वों का समावेश गीता ने यहीं से किया है (१।१०)। शिव परमात्मतत्त्व के रूप में अनेकश. वर्णित है (अमृताक्षरं हरः १।१०)। इस प्रकार साख्य तथा वेदान्त के उदयकाल के सिद्धान्तों की जानकारी के लिए यह उपनिषद् महत्त्वपूर्ण है।

(१२) कौपीतकि—इस ऋग्वेदीय उपनिषद् में चार अध्याय है जिनमें प्रथम में देवयान तथा पितृयान का विशद विस्तृत वर्णन है तथा चतुर्थ में बालाकि और अजातशत्रु के आख्यान की (बृहदारण्यक में वर्णित) पुनरावृत्ति है। द्वितीय तथा तृतीय अध्यायों में विशुद्ध दार्शनिक सिद्धान्तों का वर्णन है। तृतीय अध्याय में प्रतर्दन इन्द्र से ब्रह्मविद्या सीखते है जिसके पर्यवसान में प्राणतत्त्व का विशद विवरण है। प्राण प्रथमत जीवन का तत्त्व है तदनन्तर चैतन्य का तत्त्व है। अन्त में यही प्राण आत्मा का प्रतीक सिद्ध किया गया है जो जगत् के समस्त पदार्थों का कारण है तथा प्राणिजात उसके हाथ में यन्त्रवत् घूमते रहते है (३।४)

(१३) मैत्री या मैत्रायणी उपनिषद्—अपने विचित्र सिद्धातो के लिए सदा प्रख्यात रहेगा। इसमें साख्यदर्शन के तत्त्व, योग के षडङ्गों

का (जो आगे चलकर पातञ्जल योग में अष्टांग रूप से विकसित होता है) तथा हठयोग के मन्त्र सिद्धान्तों का वर्णन दर्शनों का विकास के समझने के लिए नितान्त उपादेय है। इस उपनिषद् में सात प्रपाठक है। पूरा उपनिषद् गद्यात्मक है, परन्तु स्थान-स्थान पर पद्य भी दिए गये हैं। अन्य उपनिषदों के भी निःसन्दिग्ध संकेत तथा उद्धरण यहाँ मिलते है। यथा विद्वान् पुण्य-पापे विधूय (मै० ६।१८ = मुण्डक ३।१।३), शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति (मै० ६।२२ = ब्रह्मबिन्दु उप० १७), यदा पञ्चावतिष्ठन्ते (मै० ६।३० = कठ ६।१०) सर्वं मन एव (मै० ६।३० = बृहदा० १।५।३)। ईश तथा कठ के दो-दो उद्धरण सप्तम प्रपाठक में मिलते है। इसलिए यह त्रयोदश उपनिषदों में अपेक्षाकृत अर्वाचीन माना जाता है।

प्रधान उपनिषदों का यह विश्लेषण उनके महत्त्व तथा उपदेश की दिशा बतलाने में पर्याप्त माना जा सकता है। उपनिषदों के तत्त्व-ज्ञान तथा कर्तव्यशास्त्र का प्रभाव भारतीय दर्शन पर पूर्ण रूप से विद्यमान है। उपनिषद् वेदों के तत्त्व तथा रहस्य प्रतिपादन के कारण सचमुच ही 'वेदान्त' है[1]।

---

[1] उपनिषदों के तत्त्वज्ञान के लिए द्रष्टव्य बलदेव उपाध्याय—भारतीय दर्शन (चतुर्थ सं०, सन् १९५३) पृ० ७१-८७।

नवम परिच्छेद

वेदाङ्ग

वेद हमारे भारतीय धर्म का प्रधान पीठ है तथा अतिशय आदर, सम्मान तथा पवित्रता की दृष्टि से देखा जाता है। यह बात उसके उदयकाल के कुछ ही पीछे सम्पन्न हो गई। वेद का अक्षर-अक्षर पवित्र माना जाने लगा तथा उसका परिवर्तन तथा स्वरूपतः च्युति महान् अनर्थ का कारण समझी जाती थी। वेद के स्वरूप के तथा अर्थ के संरक्षण के निमित्त ही वेदाङ्ग साहित्य का उदय हुआ। इस सहायक साहित्य का जन्म उपनिषत्-काल में ही हो गया था, क्योंकि छहों वेदाङ्गों के नाम तथा क्रम का वर्णन माण्डुकोपनिषद् (१।१।५) में हमें सबसे पहिले मिलता है। अपरा विद्या के अन्तर्गत वेदचतुष्टय के अनन्तर वेद के षट् अंगों का नामोल्लेख किया गया है। उनके नाम तथा क्रम है—(१) शिक्षा, (२) कल्प, (३) व्याकरण, (४) निरुक्त, (५) छन्द, (६) ज्योतिष। इनमें प्रत्येक का अपना निजी वैशिष्ट्य है। वेद के मन्त्रों के उचित उच्चारण का विवेचन है शिक्षा में; वेदद्वारा प्रतिपादित कर्मकाण्ड तथा यज्ञीय अनुष्ठान का विशद वर्णन है कल्प में। वैदिक शब्दों के रूपों के ज्ञान का साधन व्याकरण है, तो निरुक्त उनके अर्थों का निर्वचन कर विशद प्रतिपादक है। छन्द का विषय वैदिक छन्दों का वर्णन तथा ज्योतिष का विषय यज्ञ-याग के अनुष्ठान के लिए उचित काल-निर्णय की व्यवस्था है।

(१) शिक्षा

वेदाङ्गों में शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है । यह वेदरूपी पुरुष का प्राण कही गई है । जिस प्रकार सब अंगों के परिपुष्ट तथा सुन्दर होने पर भी प्राण के बिना पुरुष-शरीर नितान्त गर्हणीय तथा अशोभन प्रतीत होता है, उसी प्रकार शिक्षा नामक वेदाङ्ग से विरहित होने पर वेदपुरुष का स्वरूप नितान्त असुन्दर तथा बीभत्स दीख पड़ता है। शिक्षा का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ है वह विद्या जो स्वर, वर्ण आदि उच्चारण के प्रकार का उपदेश दे[1] । वेद के अध्ययन की प्रणाली यह है कि पहले गुरु किसी मन्त्र का उच्चारण स्वयं करता है और शिष्य इस उच्चारण को सुनकर स्वयं उसका अनुसरण करता है । इसीलिये वेद का एक सार्थक नाम है अनुश्रवः—अनु पश्चात् श्रूयते यः स अनुश्रवः—अर्थात् वह वस्तु जो गुरु के उच्चारण करने के अनन्तर सुनी जाय। इसीलिये लिपिबद्ध ग्रन्थ के आधार पर वेद पढ़ने वाला पाठक निन्दा का पात्र समझा जाता है । जिन पाठकर्ताओं की निन्दा शास्त्र में की गई है उनमें यह 'लिखित पाठक[2]' भी अन्यतम है ।

वेद के उच्चारण को ठीक ठीक करने के लिये स्वर के ज्ञान की नितान्त आवश्यकता रहती है । स्वर तीन प्रकार के होते हैं । (क) उदात्त (ख) अनुदात्त और (ग) स्वरित । इनमें उदात्त ऊँचे स्वर से उच्चरित

---

१ स्वरवर्णाद्युच्चारणप्रकारो यत्र शिक्ष्यते उपदिश्यते सा शिक्षा । सायण—ऋग्वेदभाष्य भूमिका पृ० ४९ ।

२ गीती, शीघ्री, शिरःकम्पी, तथा लिखितपाठकः ।
अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च, षडेते पाठकाधमाः ॥
पाणिनीय शिक्षा, श्लोक ३२ ।

होता है। इसीलिये पाणिनि ने इसे उच्चैरुदात्त' कहा है। अनुदात्त का धीमे स्वर से उच्चारण किया जाता है तथा स्वरित उदात्त और अनुदात्त के बीच की अवस्था का प्रतिनिधि है। पाणिनि की शब्दावली में इन दोनों के लक्षण हैं—नीचैरनुदात्तः। समाहारः स्वरितः। साधारणतया नियम यह है कि वेद के प्रत्येक शब्द में कोई न कोई स्वर उदात्त अवश्य रहेगा और शेष स्वर अनुदात्त रहते हैं[१] तथा इन्हीं अनुदात्तों में से कोई अनुदात्त स्वर विशिष्ट परिस्थितियों में स्वरित के रूप में परिवर्तित हो जाता है। स्वरशास्त्र (फोनोलाजी) का इतना अनुशीलन वेद को छोड़कर अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं होता।

वेद में स्वरों की प्रधानता का एक मुख्य कारण भी है और वह है अर्थ-नियामकता। अर्थात् शब्द के एक होने पर भी स्वर-भेद से उसका अर्थ-भेद हो जाया करता है। स्वरों में एक साधारण भी त्रुटि हो जाने पर अर्थ का अनर्थ हो जाया करता है। यज्ञ का यथावत् निर्वाह इसीलिये कठिन व्यापार है। इस विषय में एक अत्यन्त प्राचीन आख्यायिका प्रचलित है। प्रसिद्धि है कि वृत्र ने अपने शत्रु इन्द्र के विनाश के लिये एक बृहद् यज्ञ का आयोजन किया। उसमें ऋत्विग् लोगों की सख्या भी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान थी। होम का प्रधान मन्त्र था "इन्द्र शत्रुर्वर्धस्व" जिसका अर्थ है कि इन्द्र का शत्रु अर्थात् घातक विजय प्राप्त करे। इस प्रकार 'इन्द्रशत्रु.' शब्द में 'इन्द्रस्य शत्रु' यह षष्ठी तत्पुरुष समास अभीष्ट था। परन्तु यह अर्थ तभी सिद्ध हो सकता था जब 'इन्द्रशत्रुः' अन्तोदात्त हो। लेकिन ऋत्विजों की असावधानता से अन्तोदात्त के स्थान पर आदि उदात्त (इन्द्र शब्द में 'इ') का उच्चारण किया गया। इस

[१] पाणिनि ने इस बात को इस सुप्रसिद्ध सूत्र में निबद्ध किया है—अनुदात्तं पदमेकवर्जम्।

स्वर-परिवर्तन से यह शब्द तत्पुरुष समास से बहुव्रीहि बन गया और इसका अर्थ हो गया 'इन्द्रः शत्रुः यस्य' अर्थात् इन्द्र जिसका घातक है। इस प्रकार यज्ञ का फल यजमान के लिये ठीक उल्टा ही सिद्ध हुआ। जो यज्ञ यजमान की फलसिद्धि के लिये किया गया था, वही उसके लिये घातक सिद्ध हुआ। इसीलिये पाणिनीय शिक्षा में यह स्पष्ट घोषित कर दिया गया है कि जो मन्त्र स्वर से या वर्ण से हीन होता है वह मिथ्या प्रयुक्त होने के कारण अभीष्ट अर्थ का प्रतिपादन नहीं करता। वह तो वाग्वज्र बनकर यजमान का ही नाश कर देता है जिस प्रकार स्वर के अपराध से 'इन्द्रशत्रु' शब्द यजमान का ही विनाशक सिद्ध हुआ :—

> मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा,
> मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
> स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति,
> यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥
>
> पा० शि०, श्लोक ५२

इसीलिये प्राचीन वैदिक गुरु-गण वेद के मन्त्रों के ठीक-ठीक उच्चारण के विषय में बड़े ही सतर्क थे तथा यह परम्परा आज भी उसी प्रकार अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है। आज से २२०० वर्ष पहले महाभाष्यकार पतञ्जलि ने उस वैदिक गुरु का उल्लेख बड़े आदर से किया है जो उदात्त स्वर के स्थान में अनुदात्त स्वर का उच्चारण करने वाले शिष्य के मुँह पर चाँटा मार कर उसके उच्चारण को शुद्ध करता था[1]। इस प्रसङ्ग में हम वेदों के उच्चारण-विधान के गौरव को भली भाँति

---

१ उदात्तस्य स्थाने अनुदात्तं ब्रूते तेष खण्डिकोपाध्याय. तस्मै शिष्याय चपेटिका ददाति—महाभाष्य।

से पढ़ने वाला (३) शिरःकम्पी—सिर हिला-हिलाकर पढ़ने वाला (४) लिखित पाठक—लिपिबद्ध पुस्तक से पढ़ने वाला (५) अनर्थज्ञ—बिना अर्थ समझे हुए पढ़ने वाला (६) अल्पकण्ठ—अत्यन्त धीमे स्वर से पढ़ने वाला। इनके अतिरिक्त पाणिनि ने अनेक ने प्रकार के निन्दनीय पाठों का निर्देश किया है। वे लिखते हैं कि शकित, भीत, उत्कृष्ट, अव्यक्त, सानुनासिक, काकस्वर, खींचकर, स्थान रहित, उपांशु (मुँह में बुद-बुदाना), दष्ट (दाँत से शब्दों को पीसना), त्वरित, निरस्त, विलम्बित, गद्गद, प्रगीत, निष्पीडित, अक्षरों को छोड़कर तथा दीन पाठ का प्रयोग कभी नहीं करना चाहिये। क्योंकि ऐसे पाठ के करने से अभीष्ट अर्थ की सिद्धि नहीं होती[1]।

उपर्युक्त प्रणाली का विधान वैदिक मन्त्रों के पाठ के लिये विशेष रूप से किया जाता है। काव्य के पाठ की पद्धति भी विशिष्ट हुआ करती है। देश-भेद से भी काव्य-पाठ में विभेद हुआ करता है। इस विषय का विशेष वर्णन राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा के सप्तम अध्याय में बड़े रोचक, आकर्षक तथा सरस ढंग से किया है।

(६) सन्तान—इस शब्द का अर्थ है संहिता अर्थात् पदों की अतिशय सन्निधि। पदों का स्वतन्त्र अस्तित्व रहने पर भी कभी कभी दो पदों का आवश्यकतानुसार शीघ्रता से एक के अनन्तर उच्चारण होता है

---

१ शङ्कितं भीतमुत्कृष्टम् अव्यक्तमनुनासिकम्।
काकस्वरं शिरसि गतं तथा स्थानविवर्जितम्॥
उपांशु दष्टं, त्वरितं, निरस्तं,
विलम्बितं, गद्गदितं प्रगीतम्।
निष्पीडितं, ग्रस्तपदाक्षरञ्च,
वदेन्न दीनं न तु सानुनास्यम्॥
—पाणिनीय शिक्षा ३४, ३५।

इसे ही संहिता कहते हैं। संहिता होने पर ही पदों में सन्धि हुआ करती है। उदाहरण के लिये 'वायो आयाहि' में दो स्वतन्त्र वैदिक पद हैं। जब एक ही वाक्य में दोनों का साथ-साथ उच्चारण होता है तब संधि के कारण इनमें कुछ परिवर्तन हो जाता है। पूर्व उदाहरण का सन्धिजन्य रूप 'वायवा याहि' होगा। इसी प्रकार 'इन्द्राग्नी आगतम्' में प्रकृतिभाव हो जायेगा। मन्त्रों के उच्चारण के लिये उपयोगी होने पर भी व्याकरणशास्त्र में ही इस विषय का विशेष विधान किया गया है। इसीलिये 'शिक्षा-ग्रन्थों' में इस विषय की उपेक्षा की गई है।

प्रत्येक वेद में वर्णों का उच्चारण एक ही प्रकार से नहीं होता। किन्हीं वर्णों के उच्चारण में पार्थक्य भी बना रहता है। उदाहरण के लिये मूर्धन्य 'ष' का शुक्ल यजुर्वेद में कई परिस्थितियों में 'ख' के समान उच्चारण होता है परन्तु अन्य वेदों में यह विशुद्ध मूर्धन्य 'ष' के रूप में विद्यमान रहता है। यही कारण है कि प्रत्येक वेद की अपनी निजी 'शिक्षा' है जिसमें उस वेद के अनुकूल उच्चारण का विधान किया गया है।

प्रा ति शा ख्य

प्रातिशाख्य ही इस शिक्षा के प्राचीनतम उपलब्ध प्रतिनिधि हैं। संहिता की प्रत्येक शाखा का अपना निजी प्रातिशाख्य है। प्रातिशाख्य शब्द का नामकरण ही इसी सिद्धान्त के आधार पर रक्खा गया है। उच्चारण, स्वर-विधान, एक पद का दूसरे पद के साथ सन्निहित होने पर सन्धि, स्थान-स्थान पर ह्रस्व का दीर्घ विधान—आदि संहिताओं के पाठ से सम्बन्ध रखने वाले समस्त विषयों का इन ग्रन्थों में साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया गया है। संहिता-पाठ के पदपाठ के रूप में परिवर्तित होने पर जिन नियमों की आवश्यकता होती है उन सबका विवरण यहाँ बड़ी ही छानबीन के साथ किया गया है। इन ग्रन्थों की रचना बडी ही वैज्ञानिक रीति से की गई है। इनके रचयिताओं ने तद्तत् संहिताओं से उन मन्त्रों को उद्धृत किया है जिनमें सकार तथा नकार मूर्धन्य रूप को प्राप्त कर लेता है। दीर्घकरण के समस्त उदाहरण विशेष समीक्षण के साथ प्रस्तुत किये गये है। किन्हीं प्रातिशाख्यों में वैदिक छन्दों का भी वर्णन समुचित रीति से किया गया है। इन ग्रन्थो का द्विविध महत्त्व है। पहला महत्व भारत में व्याकरण शास्त्र के इतिहास के सम्बन्ध में है और दूसरा उपलब्ध वैदिक संहिताओं के पाठ तथा स्वरूप के विषय में है। प्राचीन भारत में संस्कृत भाषा का व्याकरण तो इन्हीं प्रातिशाख्यों से प्रारम्भ होता है। प्रातिशाख्य स्वयं व्याकरण संबधी ग्रन्थ नहीं है, परन्तु वे व्याकरण-सम्मत अनेक विषयों का प्रतिपादन करते है और प्राचीन काल के अनेक वैयाकरणों के नाम तथा मत इन ग्रन्थों में उद्धृत किये गये है। वैदिक काल में व्याकरण शास्त्र के उदय तथा अभ्युदय का यह पर्याप्त सूचक है। व्याकरण शास्त्र

के समस्त पारिभाषिक शब्द इन ग्रन्थों में स्वीकृत कर लिये गये हैं। भाषा की इतनी मीमांसा तथा समीक्षा इस सिद्धान्त का उज्ज्वल प्रमाण है कि इनके पहले ब्राह्मण-युग में व्याकरण का आविर्भाव हो चुका था। दूसरी बात जो इससे भी कहीं बढ़कर है वह यह है कि वैदिक संहिताओं का स्वरूप तथा पाठ उसी प्रकार का था जिस प्रकार वह आजकल उपलब्ध हो रहा है। हजारों वर्ष बीत गये परन्तु ये संहितायें अनवच्छिन्न रूप से उसी रूप में आज भी चली आ रही हैं जिस प्रकार वे अपने आरम्भिक युग में थीं।

शौनक ने ऋग्-प्रातिशाख्य में इतने सूक्ष्म नियम बनाये हैं जिनके आधार पर हम निःसन्देह कह सकते हैं कि ऋग्वेद का मूल पाठ अक्षर अक्षर, स्वर प्रति स्वर, उस समय भी उसी प्रकार का था जिस प्रकार आज वह मुद्रित प्रतियों में उपलब्ध होता है।

ऋक्-प्रातिशाख्य

प्रातिशाख्य ग्रन्थों में ऋक् प्रातिशाख्य प्राचीनता तथा प्रामाणिकता की दृष्टि से अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। पर्षद् या परिषद् में प्रचारित होने के कारण यह पार्षद या पारिषद सूत्र के भी नाम से प्रख्यात है। विष्णुमित्र ने शौनक को इस 'पार्षद' का रचयिता बतलाया है[1] तथा इस प्रातिशाख्य के रहस्यवेदी अपने आपको 'पारिषद' में श्रेष्ठ कहा है[2]। 'शिक्षा' के विषयों के प्रतिपादक होने के कारण ही इसे 'शिक्षा शास्त्र' के नाम से पुकारते हैं[3]। इसके रचयिता आश्वलायन के गुरु

---

१ शौनक च विशेषेण येनेदं पार्षदं कृतम्।

—वर्गद्वयवृत्ति, श्लो॰ २।

२ स वै पारिषदे श्रेष्ठः सुतत्त्वस्य महात्मनः।

—वही, श्लोक ८।

३ वही, पृष्ठ ७९।

महर्षि शौनक हैं। यह प्रातिशाख्य ऐतरेय आरण्यक के 'संहितोपनिषद्' (आरण्यक ३) का अक्षरशः अनुसरण करता है तथा आरण्यक में (३।१।१) निर्दिष्ट माण्डूकेय, माक्षव्य, आगस्त्य, शूरवीर नामक आचार्यों के संहिता-विषयक नाना मतों का प्रतिपादन करता है (कारिका २ तथा ३)। यह इसकी प्राचीनता का स्पष्ट प्रमाण माना जा सकता है। समग्र ग्रन्थ सूत्र-रूप में ही है, यद्यपि कुछ लोग इसे कारिकाबद्ध ही मानते हैं। आचार्य उवट (११ शतक) का विशद भाष्य समग्र ग्रन्थ के ऊपर है। किसी विष्णु-मित्र की वृत्ति केवल आरम्भ के दो वर्गों के ऊपर है और इसीलिए वह 'वर्गद्वय वृत्ति' के नाम से विख्यात है तथा प्रकाशित है[1]।

'ऋग्वेद-प्रातिशाख्य' का विषय विवेचन यहाँ किया जा रहा है जिससे प्रातिशाख्यमात्र के वर्ण्य विषयों से सामान्य परिचय प्राप्त हो सकता है। इस प्रातिशाख्य के १८ पटलों में से प्रथम पटल (संज्ञा प्रकरण) में इस शास्त्र के नाना पारिभाषिक शब्द—स्वर, व्यञ्जन, स्वरभक्ति, रक्त, नामि, प्रगृह्य आदि विशिष्ट शब्दों का लक्षण दिया हुआ है। द्वितीय पटल में प्रश्लिष्ट, क्षैप्र, उद्ग्राह, भुग्न आदि नाना प्रकार की सन्धियों का उदाहरण के साथ लक्षण दिया गया है। तृतीय में स्वरों के परिचय के अनन्तर विसर्जनीय सन्धि (विसर्ग की रेफ में परिणति) नकार के नाना विकार, नति सन्धि (स तथा न को मूर्धन्य वर्ण में परिवर्तन; स = ष तथा न = ण), क्रमसन्धि (वर्ण का द्विर्वचन) तथा व्यञ्जन-सन्धि, प्लुतिसन्धि आदि नाना प्रकार की सन्धियों का विस्तृत और वैज्ञानिक परिचय चतुर्थ पटल से लेकर नवम पटल तक दिया गया है। दशम तथा एकादश पटल में क्रम-पाठ का

---

[1] डा० मङ्गलदेव शास्त्री ने इसका एक प्रामाणिक संस्करण इंडियन प्रेस, प्रयाग से तथा अंग्रेजी अनुवाद मोतीलाल बनारसी दास, काशी से प्रकाशित किया है।

विवरण है जिसमें वर्णों के तथा उदात्तादि स्वरों के परिवर्तन के नियमों का पूर्ण उल्लेख है। त्रयोदश पटल में व्यञ्जनों के रूप तथा लक्षण की अनेक प्राचीन आचार्यों के मतपुरःसर विशिष्ट विवेचना है। चतुर्दश पटल में वर्णों के उच्चारण में जायमान दोषों का उल्लेख है। पंचदश में वेद-पारायण की पद्धति का संक्षिप्त परिचय है। अन्तिम तीन (१६—१८) पटलों में छन्दों—गायत्री, उष्णिक्, बृहती, पंक्ति—आदि का विस्तृत वर्णन छन्दःशास्त्र के अध्ययन के लिए नितान्त उपादेय है। फलतः स्वर, वर्ण, सन्धि, तथा छन्द की मार्मिक व्याख्या इस प्रातिशाख्य को वेदसमीक्षा के लिए उपयोगी बना रही है।

वाजसनेयि-प्रातिशाख्य

शुक्ल यजुर्वेद का प्रातिशाख्य कात्यायन मुनि की रचना है। ये कात्यायन अष्टाध्यायी के वार्तिककार कात्यायन (वररुचि) से भिन्न हैं या अभिन्न? इस विषय में पर्याप्त मतभेद है। हमारा परिनिष्ठित मत है कि ये कात्यायन वार्तिककार से भिन्न हैं तथा पाणिनि से भी प्राचीनतर हैं। इस प्रातिशाख्य में आठ अध्याय हैं जिनमें परिभाषा, स्वर तथा संस्कार इन तीनों विषयों का विस्तृत विवेचन है। कात्यायन के लिए 'स्वर-संस्कार-प्रतिष्ठापयिता' की उपाधि इसी विशिष्टता को लक्ष्य कर दी गई है (८।५४)। इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में पारिभाषिक शब्दों का विस्तृत लक्षण दिया गया है। द्वितीय अध्याय में त्रिविध स्वरों के लक्षण तथा वैशिष्ट्य का प्रतिपादन है। तृतीय से लेकर सप्तम तक संस्कार (सन्धि) का विशद विवेचन है जिनमें नाना प्रकार की सन्धियों, पदपाठ बनाने के विशिष्ट नियम (५ अ०), विशेष स्वर-विधान (६ अ०) आदि का वर्णन है। अन्तिम अध्याय की संज्ञा 'वर्ण समाम्नाय' है जिसमें वर्णों की गणना तथा स्वरूप का विवेचन बड़ी सुन्दरता से किया गया है। प्राचीन आचार्यों के मतों का उल्लेख

अनेक सूत्रों में किया गया है जिनमें शाकल्य (३।१०) तथा काश्यप (४।५) की अपेक्षा शाकटायन के मतों का निर्देश विशेष किया गया है (३।९; ३।१२, ४।५, ४।१८९)। निःसन्देह ये समस्त मत उसी प्रसिद्ध आचार्य शाकटायन के हैं जिनका निर्देश पाणिनि की अष्टाध्यायी तथा निरुक्त आदि प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है।

कात्यायन तथा पाणिनि का परस्पर सम्बन्ध क्या है? दोनों के ग्रन्थों की तुलना से स्पष्ट है कि दोनों में पारिभाषिक शब्दों की एकता है। वार्तिककार कात्यायन के निजी विशिष्ट मतों का यहाँ सर्वथा अभाव ग्रन्थकारों की भिन्नता का स्पष्ट प्रमाण है। पाणिनि ने ही अपने व्याकरण के लिए पारिभाषिक शब्दों को इस प्रातिशाख्य से ग्रहण किया है। ऐसे पारिभाषिक शब्द ये हैं—उपधा (१।३५), उदात्त (उच्चैरुदात्तः १।१०८), अनुदात्त (नीचैरनुदात्त १।१०९), स्वरित (उभयवान् स्वरित १।११० = समाहारः स्वरितः १।२।३१), आम्रेडित (१।१४६), लोप (१।१४१), अपृक्त (एकवर्णः पदमपृक्तम् १।१५१ = अपृक्त एकाल् प्रत्ययः, १।१।४१), मुख्य हैं। पाणिनि ने अनेक सूत्रों को अक्षरशः ग्रहण कर लिया है.—वर्णस्यादर्शनं लोपः (१।१४८) = अदर्शनं लोपः (१।१।६०), संख्यातानामनूदेशो यथासंख्यम् (१।१४३) = यथा संख्यमनुदेशः समानाम् (१।३।१०), साम जपन्न्यूंखवर्जम् (१।१३१) = यज्ञकर्मण्यजपन्न्यूंखसामसु (१।२।३४) आदि आदि। पाणिनि ने ही इन सूत्रों तथा पारिभाषिक शब्दों को अष्टाध्यायी में ग्रहण किया है। इसका परिचय पाणिनि की रचना-शैली की प्रगाढता तथा उनकी परिभाषाओं तथा संज्ञाओं की एकरूपता तथा अविसंवादिता के साथ वाजसनेयि-प्रातिशाख्य की शैली की अप्रौढता तथा अव्यवस्था के साथ तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है (तुलना करो १।३८ तथा ४०, १।५२, ३।९–१०)। इस प्रातिशाख्य के अनेक शब्द ऋग्वेदीय प्रातिशाख्य के समान ही प्राचीनतर अर्थ में

प्रयुक्त हुए हैं। प्रथम अध्याय के सूत्र १२३ से लेकर १२७ सूत्र तक जिस विषय का प्रतिपादन है वह नितान्त व्यवस्थित तथा समुचित है। इन्हीं में से तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य (१।१३४), तस्मादित्युत्तरस्यादेः (१।१३५) तथा षष्ठीस्थाने योगाः (१।१३६) सूत्रों को पाणिनि ने अपने ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर रख लिया है। फलतः इन विषयों का सामूहिक परिणाम यही है कि यह प्रातिशाख्य पाणिनि से प्राचीनतर है। बहुत सम्भव है कि महर्षि पाणिनि माध्यन्दिन संहिता के अनुयायी हों और इसीलिए इस प्रातिशाख्य से उन्होंने बहुतसी सामग्री अपने ग्रन्थ के लिए संगृहीत की है। इस प्रातिशाख्य का रचना काल पूर्व-पाणिनि काल है अर्थात् विक्रम-पूर्व अष्टम शतक में इसकी रचना हुई[१]।

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य

तैत्तिरीय संहिता से सम्बद्ध यह प्राति-शाख्य दो प्रश्नों अर्थात् खण्डों में विभक्त है तथा प्रत्येक प्रश्न में १२ अध्याय हैं। इस प्रकार पूरा सूत्रात्मक ग्रन्थ २४ अध्यायों में विभक्त है। विषयों का प्रतिपादन सुव्यवस्थित तथा प्रामाणिक है। प्रथम प्रश्न में वर्ण समाम्नाय, शब्द-स्थान तथा शब्द का उत्पत्ति-प्रकार, तथा नाना प्रकार की स्वर तथा विसर्ग सन्धियों, मूर्धन्य-विधान आदि विषयों का विवेचन है। द्वितीय प्रश्न में नकार का णत्व विधान, अनुस्वार तथा अनुनासिक, अनुनासिक-भेद, स्वरित-भेद, संहिता स्वरूप आदि अनेक उपादेय विषयों का संक्षेप में यहां प्रतिपादन है। अपनी संहिता से

---

१ उवट भाष्य के साथ काशी संस्कृत सीरिज में युगलकिशोर पाठक के द्वारा सम्पादित (काशी, सन् १८८८) यह संस्करण बहुत ही प्रामाणिक है। इसके साथ कात्यायन निर्मित 'प्रतिज्ञा परिशिष्ट सूत्र' (तीन कण्डिका) तथा 'भाषिक परिशिष्ट सूत्र' (तीन कण्डिका) समाप्त प्रकाशित हैं।

सम्बद्ध होने के कारण स्वभावतः समग्र उदाहरण तैत्तिरीय संहिता से ही सकलित हैं।

इसकी व्याख्या-सम्पत्ति पर्याप्तरूपेण विशद हैं। प्रकाशित तीन व्याख्यायों में माहिषेयकृत 'पदक्रम-सदन' नामक भाष्य प्राचीनतम है[१], क्योंकि इसके दूसरे व्याख्याकार सोमयार्य ने अपने 'त्रिभाष्यरत्न' में माहिषेय, आत्रेय तथा वररुचि की प्राचीन व्याख्यायों का उपयोग किया है। उनमें यह माहिषेय भाष्य सर्वप्रथम है। उसमें निर्दिष्ट समस्त उद्धरण यहाँ उपलब्ध भी होते हैं। 'पदक्रमसदन' नाम अन्वर्थक है। वैदिकों के मन्तव्यानुसार वैदिक पाठ दो प्रकार के होते हैं—सहिता, पद तथा क्रम पाठ प्रकृति-पाठ कहलाते हैं तथा शिखा, माला, घन आदि आठों विकृति-पाठ कहलाते है। इनमें प्रातिशाख्यों का प्रतिपाद्य विषय प्रकृति-पाठ यथा तत्सम्बद्ध स्वर तथा सन्धि का विवेचन होता है। इस दृष्टि को लक्ष्य में रखकर माहिषेय भाष्य का 'पदक्रमसदन' नाम सार्थक है। यह भाष्य सक्षिप्त, लघुकाय तथा उपादेय है। सोमयार्य का 'त्रिभाष्य रत्न' इससे अर्वाचीन है। गोपालयज्वा विरचित 'वैदिकाभरण' तो इन दोनों की अपेक्षा कालदृष्टि से नवीन है। ये तीनों व्याख्याएं प्रामाणिक, प्रमेयबहुल तथा व्याकरण के मार्मिक तत्त्व जैसे वर्णोत्पत्ति आदि के विशद प्रतिपादक होने से विशेष उपयोगी हैं[२]।

सामवेद के ऊपर कई प्रातिशाख्य प्रकाशित हुए हैं जिनमें मुख्य ये है—

(क) पुष्पसूत्र—पुष्प ऋषि के द्वारा प्रणीत होने से यह प्रातिशाख्य 'पुष्पसूत्र' के नाम से अभिहित किया जाता है। इसके दश प्रपाठक हैं।

---

[१] सस्करण मद्रास यूनिवर्सिटी सस्कृत सीरिज न० १, मद्रास विश्वविद्यालय, १९३०।

[२] इन दोनों व्याख्याओं के साथ यह ग्रन्थ मैसूर सस्कृत ग्रन्थमाला (सख्या ३३) में प्रकाशित है। अंग्रेजी अनुवाद तथा टिप्पणी के साथ डा० ह्विट्नी ने भी एक सस्करण अमेरिका से निकाला है।

इसके ऊपर उपाध्याय अजातशत्रु कृत भाष्य प्रकाशित हुआ है[1]। यह साम-प्रातिशाख्य गान-संहिता से सम्बन्ध रखता है और इसीलिए इसमें स्तोभ का विशेष विवेचन है तथा उन स्थलों तथा मन्त्रों के उल्लेख हैं जिनमें स्तोभ का विधान या अपवाद होता है। गायनोपयोगी अन्य सामग्री के संकलन के कारण यह सूत्र नितान्त उपयोगी है। इसमें प्रधानतया वेयगान तथा अरण्येगेयगान में प्रयुक्त सामों का ऊहन अन्य मन्त्रों पर कैसे किया जाता है, इस विषय का विशद विवेचन है।

(ख) ऋक्तन्त्र--यह ग्रन्थ सामवेद की कौथुम शाखा का प्रातिशाख्य ग्रन्थ है और इसीलिए अन्य प्रातिशाख्यों में वर्ण्य विषयों के साथ इसके विषयों का भी गहरा साम्य है। ग्रन्थ की पुष्पिका में यह 'ऋक्तन्त्र व्याकरण' के नाम से निर्दिष्ट है। पूरा ग्रन्थ सूत्रों में है जिनकी संख्या २८७ है तथा जो पाँच प्रपाठकों (या अध्याय) में विभक्त है। इसके रचयिता सुप्रसिद्ध शाकटायन हैं जिनका निर्देश यास्क तथा पाणिनि ने अपने ग्रन्थों में किया है। इसमें प्रथमतः अक्षर के उदय तथा प्रकार का वर्णन किया गया है। तदनन्तर व्याकरण के विशिष्ट पारिभाषिक शब्दों के लक्षण का निर्देश किया गया है। अक्षरों के उच्चारण-स्थान के विवरण के अनन्तर सन्धि का वर्णन विशदता से किया गया है। पदान्त अक्षरों के नाना परिवर्तनों का विवरण सन्धि के प्रसंग में बड़ा ही उपयोगी तथा उपादेय है जैसे अन्तिम नकार का विसर्जनीय में परिवर्तन (सूत्र ११२-११२) जैसे ऋतून् + अनु = ऋतूँरनु), रेफित शब्दों के विसर्ग का रेफ में परिवर्तन (सूत्र ११६, जैसे प्रातरग्निः; प्रातर्जुषस्व), अन्य दशा में

---

[1] सं० चौखम्भा संस्कृत सीरीज नं० २६७। काशी, १९२२। इस ग्रन्थ का संस्करण तथा जर्मन अनुवाद डा० साइमन नामक जर्मन विद्वान् ने (बर्लिन, १९०६) किया है जिसकी डा० कैलेण्ड ने बड़ी प्रशंसा की है।

विसर्ग का यकार में परिवर्तन (सूत्र ११७) आदि। पादान्त स के नाना परिवर्तनों का निर्देश (सूत्र १५६–१६७), समास के प्रथम पद के अन्तिम स्वर का दीर्घीकरण (सूत्र २१४-२५५) तथा उसके अपवाद (२५६–२६०)। जैसे कपि, मोदनी, दर्भ तथा रथ शब्दों से पूर्व वृष के अन्तिम स्वर का दीर्घ होता है (सूत्र २१५) जैसे वृषाकपि वृषारव आदि। नर, वसु तथा राट् शब्दों से पूर्व पद के अन्त्य स्वर का दीर्घ होता है (सूत्र २१८) जैसे विश्वानर, विश्वावसु, आदि। इस प्रकार व्याकरण सम्बन्धी तथ्यों से यह पूर्ण है।[1]

यह प्रातिशाख्य अपने मूलरूप में निःसन्देह पाणिनि से पूर्ववर्ती है और इसलिए परिभाषा के निर्माण में और सूत्रों की रचना में यदि अष्टाध्यायी पर इसका विपुल प्रभाव दृष्टिगोचर होता है, तो आश्चर्य करने की कोई बात नहीं है। यास्क ने भी इसके विशिष्ट मतों का निर्देश अपने ग्रन्थ में किया है।

अथर्ववेद के तीन प्रतिशाख्य प्रकाशित हुए हैं। पहिला शौनकीया चतुरध्यायिका है जिसे डा० ह्विटनी ने सम्पादित कर अनुवाद के साथ प्रकाशित किया है[2]। दूसरा ग्रन्थ है—अथर्ववेद-प्रतिशाख्य सूत्र जो पंजाब विश्वविद्यालय की ग्रन्थमाला में विश्वबन्धु शास्त्री के सम्पादकत्व में प्रकाशित हुआ है। यह ग्रन्थ अपेक्षाकृत बहुत ही स्वल्पकाय है तथा अथर्ववेद सम्बन्धी कतिपय विषयों का ही प्रतिपादन करता है।[3] तीसरा ग्रन्थ भी अथर्वप्रतिशाख्य के नामसे प्रसिद्ध है

---

१ टीका के साथ डा० सूर्यकान्त शास्त्री द्वारा सम्पादित। लाहौर, १९३४। इस संस्करण के प्रारम्भ में बड़ी ही सुन्दर प्रमेयबहुल भूमिका है।

२ डा० ह्विटनी द्वारा सम्पादित, जर्नल आफ अमेरिकन ओरियण्टल सोसायिटी (खण्ड ७), १८६२।

३ विश्वबन्धु शास्त्री द्वारा लाहौर में प्रकाशित १९२३।

तथा लाहौर से भूमिका तथा टिप्पणी के साथ प्रकाशित हुआ है।[1] इन तीनों में अन्तिम ग्रंथ ही अपने विषय का महत्वपूर्ण, उपादेय तथा व्यापक ग्रन्थ प्रतीत होता है जिसकी सहायता से अथर्व के मूलपाठ समझने में भी विशेष सामग्री मिलती है।

---

१ डा० सूर्यकान्त शास्त्री द्वारा लाहौर से प्रकाशित १९४०।

शिक्षा ग्रन्थ

पाणिनीय शिक्षा—यह 'शिक्षा' नितान्त प्रसिद्ध तथा लोकप्रिय है। यह लोक तथा वेद उभय शास्त्रों के लिये उपकारी होने के कारण से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें ६० श्लोक हैं जिनमें उच्चारण विधि से सम्बन्ध रखने वाले विषयों का संक्षेप में बड़ा ही उपादेय विवरण प्रस्तुत किया गया है। इसके रचयिता का पता नहीं चलता। ग्रन्थ के अन्त में पाणिनि का उल्लेख दाक्षीपुत्र[1] के नाम से किया गया है तथा उनकी प्रशंसा में कई श्लोक भी दिये गये हैं[2]। इससे स्पष्ट है कि पाणिनि इसके लेखक नहीं हो सकते। पाणिनि-मतानुयायी किसी वैयाकरण ने इस उपयोगी ग्रन्थ का निर्माण किया है। इसके ऊपर अनेक टीकायें भी उपलब्ध होती हैं। परिमाण में न्यून होने पर भी यह इतनी सारगर्भित है कि केवल इसी के अनुशीलन से संस्कृत भाषा के इस उपयोगी विषय का ज्ञान भली भाँति हो सकता है।

प्रातिशाख्यों के विषय को ग्रहण कर सर्वसाधारण के लिये कारिका के रूप में अनेक ग्रन्थ निबद्ध किये गये हैं जो शिक्षा—

---

१ शङ्कर शाङ्करी प्रादात् दाक्षीपुत्राय धीमते।
वाङ्मयेभ्य समाहृत्य देवीं वाचमिति स्थिति ॥
पाणिनीय शिक्षा ५६।

२ येनाक्षर समाम्नायमधिगम्य महेश्वरात्।
कृत्स्न व्याकरण प्रोक्त तस्मै पाणिनये नम ॥
येन धौता गिर पुसा विमलै शब्दवारिभि।
तमश्चाज्ञानज भिन्न तस्मै पाणिनये नम ॥
वही ५७—५८।

वेदाङ्ग के साथ सम्बद्ध होने से शिक्षा कहे जाते हैं। ऐसे ग्रन्थों की संख्या बहुत अधिक है। 'शिक्षा-संग्रह' नामक ग्रन्थ में एकत्र प्रकाशित छोटी बड़ी ३२ शाखाओं का समुच्चय है[1]। ये शिक्षायें चारों वेदों की भिन्न-भिन्न शाखाओं से सबंध रखती हैं। इन्हीं का संक्षिप्त वर्णन नीचे दिया जाता है।

(१) याज्ञवल्क्य शिक्षा—यह परिमाण में बड़ी है। इसके श्लोकों की संख्या २३२ है। इसका सबन्ध शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता से है। इस शिक्षा में वैदिक स्वरों का उदाहरण के साथ विशिष्ट तथा विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया गया है। लोप, आगम, विकार तथा प्रकृतिभाव—इन चार प्रकार की सन्धियों का विवेचन भी किया गया है। वर्णों के विभेद, स्वरूप, परस्पर साम्य तथा वैषम्य आदि विषय भी सुन्दर रीति से वर्णित है।

(२) वासिष्ठी शिक्षा—इसका भी सम्बन्ध वाजसनेयी संहिता से है। इस संहिता में आने वाले ऋक्मन्त्र तथा यजुर्मन्त्र का पार्थक्य इस ग्रन्थ में बड़े विस्तार के साथ किया गया है। इस शिक्षा के अनुसार शुक्ल वेद की समग्र संहिता में ऋग्वेदीय मन्त्र १४६७ हैं और यजुषों की सख्या २८२३ है। यह संख्या-विभाग इस वेद के अध्ययन करने वालों के लिये बड़ा उपादेय है।

(३) कात्यायनी शिक्षा—इस शिक्षा में केवल तेरह (१३) श्लोक हैं जिनके ऊपर जयन्त स्वामी नामक विद्वान् ने संक्षिप्त टीका लिखी है।

(४) पाराशरी शिक्षा—इस शिक्षा में १६० श्लोक हैं। इसमें भी स्वर वर्ण, सन्धि आदि आवश्यक विषयो का विवेचन है।

---

१ यह 'शिक्षा-सग्रह' बनारस सरकृत सीरीज में युगलकिशोर पाठक के सपादकत्व में सन् १८९३ में काशी से प्रकाशित हुआ है।

(५) माण्डव्य शिक्षा—इस शिक्षा का सम्बन्ध शुक्ल यजुर्वेद से है। इस शिक्षा में वाजसनेयी संहिता में आने वाले ओष्ठ्य वर्णों का सग्रह किया गया है। बड़े परिश्रम से समस्त संहिता का अध्ययन कर यह उपादेय ग्रन्थ लिखा गया है। साधारण शिक्षा-ग्रन्थों से इसकी विशिष्टता भी स्पष्ट है। स्वर तथा वर्णों का विचार न कर केवल ओष्ठ से उच्चारण किये जाने वाले वर्णों का इसमें संग्रह किया गया है।

(६) अमोघानन्दिनी शिक्षा—इसमें १३० श्लोक हैं जिनमें स्वरों का तथा वर्णों का पर्याप्त सूक्ष्म विचार किया गया है। इसका एक संक्षिप्त सस्करण भी है जिसमें केवल १७ श्लोक हैं।

(७) माध्यन्दिनी शिक्षा—इसमें केवल द्वित्व के नियमों का विचार है। यह दो प्रकार की है एक बड़ी और दूसरी छोटी। पहली गद्यात्मक है और दूसरी पद्यात्मक।

(८) वर्णरत्न प्रदीपिका—इसके रचयिता भारद्वाज-वंशी कोई अमरेश नामक विद्वान् हैं। इनके समय का कुछ पता नहीं चलता। इस ग्रन्थ के श्लोकों की सख्या २२७ है। नाम के अनुरूप ही इसमें वर्णों स्वरों तथा सन्धियों का साङ्गोपाङ्ग विवेचन है।

(९) केशवी शिक्षा—इसके रचयिता आस्तीक मुनि के वंशज गोकुल दैवज्ञ के पुत्र दैवज्ञ केशव हैं। यह शिक्षा दो प्रकार की उपलब्ध होती है। पहिली शिक्षा में माध्यन्दिन शाखा से सबद्ध परिभाषाओं का विस्तृत विवेचन है। प्रतिज्ञा सूत्र के समस्त नव (९) सूत्रों की विस्तृत व्याख्या उदाहरणों के साथ यहाँ दी गई है। दूसरी शिक्षा पद्यात्मक है और इसमें २१ पद्यों में स्वर का विस्तृत विचार है।

(१०) मल्लशर्म शिक्षा—इसके रचयिता उपमन्यु गोत्रीय अग्निहोत्री खगपति के पुत्र मल्ल शर्मा नामक कोई कान्यकुब्ज ब्राह्मण हैं।

इसके पद्यों की सख्या ६५ है। इसकी रचना लेखक के अनुसार १७८१ विक्रमी (१७२४ ई०) में हुई थी।

(११) स्वराङ्कुश शिक्षा—इसके लेखक जयन्त स्वामी ने २५ पद्यो में स्वरों का विवेचन किया है।

(१२) षोडश श्लोकी शिक्षा—इसके रचयिता रामकृष्ण नामक विद्वान् ने १६ पद्यो में वर्ण और स्वरों का विचार प्रस्तुत किया है।

(१३) अवसान निर्णय शिक्षा—इसके लेखक अनन्तदेव नामक विद्वान् ने शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध इस शिक्षा का निर्माण किया है।

(१४) स्वरभक्ति लक्षण शिक्षा—इसके रचयिता महर्षि कात्यायन बतलाये जाते हैं। इसमे स्वर-भक्ति का विचार उदाहरणों में साथ किया गया है।

(१५) प्रातिशाख्य प्रदीप शिक्षा—इसके लेखक सदाशिव के पुत्र बालकृष्ण नामक कोई विद्वान् हैं। यह शिक्षा परिमाण में बहुत बडी है। इसमें प्राचीन ग्रन्थों के मतों का उल्लेख कर स्वर तथा वर्ण आदि शिक्षा के समग्र विषयों का साङ्गोपाङ्ग विवेचन है। शिक्षा के यथार्थ ज्ञान के लिये यह ग्रन्थ बडा ही उपादेय है।

(१६) नारदीय शिक्षा—यह शिक्षा सामवेद से सम्बद्ध है। यह बडी विस्तृत तथा उपादेय शिक्षा है। इसके ऊपर शोभाकर भट्ट ने एक विस्तृत व्याख्या भी लिखी है। सामवेद के स्वरों के रहस्य को जानने के लिये यह बडी ही उपयोगी है। सामवेद से सम्बद्ध दो छोटी शिक्षायें और मिलती है (१७) गौतमी शिक्षा तथा (१८) लोमशी शिक्षा।

(१९) माण्डूकी शिक्षा—इसका सम्बन्ध अथर्ववेद से है। इसके श्लोकों की संख्या १७९ है। अथर्ववेद के स्वरों तथा वर्णों को भली भाँति जानने के लिये यह शिक्षा विशेष महत्त्व रखती है।

इन शिक्षा-ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य छोटी शिक्षायें भी मिलती हैं जिनका नाम निर्देश करना ही पर्याप्त होगाः—

(२०) क्रम सन्धान शिक्षा, (२१) गलदृक् शिक्षा, (२२) मनः-स्वार शिक्षा जिसके रचयिता याज्ञवल्क्य मुनि बतलाये गये हैं।

ऊपर जिन शिक्षा-ग्रन्थों का वर्णन किया गया है वे सभी प्रकाशित हैं। परन्तु इनके अतिरिक्त अभी अनेक ऐसे शिक्षा-ग्रन्थ विद्यमान हैं जिनका प्रकाशन अभी तक नहीं हुआ है और जो हस्तलिखित प्रतियों के रूप में सुरक्षित हैं।

इन शिक्षा-ग्रन्थों से प्राचीन शिक्षा-सूत्र भी विद्यमान थे। आपिशलि, पाणिनि तथा चन्द्रगोमी रचित शिक्षासूत्र प्रकाशित हैं।[1] आपिशलि-शिक्षा-सूत्र में स्थान, करण, अन्त. प्रयत्न, बाह्यप्रयत्न, स्थान पीडन, वृत्तिकार प्रकरण, प्रक्रम, नाभितल प्रकरण नाम से आठ प्रकारण विद्यमान है जिनमें अक्षरों की उत्पत्ति, स्थान तथा प्रयत्नों का विशद वर्णन है। शिक्षासूत्रों में से कतिपय सूत्रों को वृषभदेव ने वाक्यपदीय की टीका में, हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण की बृहत् वृत्ति में तथा न्यासकार से अपने न्यास में उद्धृत किया है। पाणिनि के शिक्षासूत्र में भी आपिशलि शिक्षा सूत्रों के समान क्रम तथा प्रकरणों का निर्देश है। सूत्रों में भी विशेप रूप से समता उपलब्ध होती है। चन्द्रगोमी ने जैसे अष्टाध्यायी के आधार पर अपने व्याकरण की रचना की है उसी प्रकार पाणिनि शिक्षासूत्रों के आधार पर अपने वर्णसूत्रों की रचना की है जो संख्या में ५० हैं। ये शिक्षासूत्र ऊपर उल्लिखित शिक्षा ग्रन्थो से नि सन्देह प्राचीनतर प्रतीत होते हैं।

---

१ द्रष्टव्य शिक्षासूत्राणि, काशी सं० २००५।

इन शिक्षा-ग्रन्थों के अनुशीलन से यह भली भाँति सिद्ध होता है कि प्राचीन ऋषियों ने भाषाशास्त्र के इस आवश्यक अङ्ग का कितना वैज्ञानिक अध्ययन किया था। आज कल के पाश्चात्य विद्वान् भी उच्चारण विद्या (फोनोलाजी) के अन्तर्गत इस विषय का अध्ययन करते हैं। आज कल उच्चारण के स्वरूप को समझने के लिये कई प्रकार के यन्त्र भी बनाये गये हैं। प्राचीन भारत में ये साधन उपलब्ध नहीं थे। तो भी इस विषय का इतना गम्भीर वर्णन तथा अनुशीलन प्राचीन भारतीयो की उच्चारण-सम्बन्धी वैज्ञानिक गवेषणा के द्योतक है[1]।

---

१ इन शिक्षा-ग्रन्थों का वैज्ञानिक अध्ययन कर डाक्टर सिद्धेश्वर वर्मा ने 'फाने-टिक आवजरवेशन आफ एन्शेएट हिन्दूज' नामक बड़ी ही उपादेय पुस्तक लिखी है।

(२)

कल्प

वेदाङ्ग साहित्य में 'कल्प' का स्थान नितान्त महत्त्वपूर्ण तथा प्राथमिक है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में यज्ञ-यागादिका विधान इतनी प्रौढ़ि तथा विस्तृति पर पहुंच गया था कि कालान्तर में उनको क्रमबद्ध रूप मे प्रस्तुत करने का कार्य नितान्त आवश्यक प्रतीत हुआ। उस युग की प्रचलित शैली के अनुरूप इन ग्रन्थों की रचना 'सूत्र शैली' में की गई। 'कल्प' का अर्थ है वेद में विहित कर्मों का क्रमपूर्वक व्यवस्थित कल्पना करने वाला शास्त्र (कल्पो वेद-विहितानां कर्मणा-मानुपूर्व्येण कल्पना-शास्त्रम्[1])। फलतः जिन यज्ञ यागादि तथा विवाहोपनयनादि कर्मों का विशिष्ट प्रतिपादन वैदिक ग्रन्थों में किया गया है उन्हीं का क्रमबद्ध वर्णन करनेवाले सूत्रग्रन्थो का सामान्य अभिधान 'कल्प' है। ये सूत्र प्राचीनतम इसीलिए माने जाते हैं कि ये अपने विषय-प्रतिपादन में ब्राह्मण तथा आरण्यकों के साथ साक्षात् सम्बद्ध है। ऐतरेय आरण्यक में अनेक वचनों का अस्तित्व है जो वस्तुत सूत्र ही है और जो सम्प्रदायानुसार आश्वलायन तथा शौनक के द्वारा रचित माने जाते है। ब्राह्मण-युग के प्रभावानुसार यज्ञ ही वैदिक आर्यों का प्रधान धार्मिक कृत्य था, परन्तु उसके बहुत ही विस्तृत होने से याग-विधान के नियमों को सक्षेप में, तथा व्यवस्थित रूप में ऋत्विजों के व्यावहारिक उपयोग के लिए प्रतिपादक ग्रन्थों की आवश्यकता प्रतीत होने लगी और इसी की पूर्ति के लिए 'कल्पसूत्रों' का निर्माण प्रत्येक शाखा में सम्पन्न हुआ।

---

[1] विष्णुमित्र—ऋग्वेद-प्रातिशाख्य की वर्गद्वयवृत्ति पृ० १३।

कल्पसूत्र मुख्यतः चार प्रकार के होते हैं—(१) श्रौतसूत्र जिनमें ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित श्रौत अग्नि में सम्पाद्यमान यज्ञ-यागादिक अनुष्ठानों का वर्णन है। (२) गृह्यसूत्र जिनमें गृह्याग्नि में होनेवाले यागों का तथा उपनयन, विवाह, श्राद्ध आदि संस्कारों का विस्तृत विवरण है। (३) धर्मसूत्र जिनमें चतुर्वर्ण तथा चारों आश्रमों के कर्तव्यों, विशेपतः राजा के कर्तव्यों, का विशिष्ट प्रतिपादन है। ये ही कल्पसूत्र में प्रधानतया परिगणित होते है। चतुर्थ प्रकार (४) शुल्वसूत्र के नाम से अभिहित किया जाता है जिसमें वेदि के निर्माण की रीतिका विशिष्ट रूपेण प्रतिपादन है और जो इसीलिए आर्यों के प्राचीन ज्यामिति सम्बन्धी कल्पनायें तथा गणनाओं के प्रतिपादक होने से वैज्ञानिक महत्त्व रखता है।

श्रौतसूत्रों का मुख्य विषय श्रुति-प्रतिपादित महत्वपूर्ण यज्ञों का क्रमबद्ध वर्णन है। इन यागो के नाम हैं—दर्श, पूर्णमास, पिण्डपितृयाग, आग्रयणेष्टि, चातुर्मास्य, निरूढ पशु, सोमयाग, सत्र (द्वादशदिनों में समाप्य द्वादशसुत्या-युक्त याग-विशेप), गवामयन (पूरे एक वर्प तक चलनेवाला याग), वाजपेय, राजसूय सौत्रामणी, अश्वमेध, पुरुपमेध, एकाहयाग, अहीन (दो दिनों से लेकर एकादश दिनों तक चलनेवाला याग विशेप)। अग्नि-स्थापना के अनन्तर ही यागविधान विहित है। फलतः अग्नि-चयन का और किन्हीं अवस्थाओ में पुनराधान का वर्णन भी श्रौतसूत्रों में आवश्यक होता है। यागों के पूर्वोल्लिखित नामों को देखकर ही अनुमान लगाया जा सकता है कि श्रौतसूत्र का विपय बड़ा पेचीदा है तथा साधारण मनुष्यों के लिए उनमें किसी प्रकार का आकर्पण नहीं है, परन्तु धार्मिक दृष्टि से ये अपने विपय के अद्वितीय ग्रन्थ हैं। आज श्रौत यागों का विधान विरल हो गया है, फलतः इन सूत्रों के अनुशीलन से ही हम उस

युग की धार्मिक रूढ़ियों, विधानों तथा धारणाओं के समझने में कृत-कार्य हो सकते हैं।

ऋग्वेद के दो श्रौतसूत्र हैं—(१) आश्वलायन[1] तथा (२) शाङ्खायन[2] जिनमें होता के द्वारा प्रतिपाद्य विषयों की ओर विशेष लक्ष्य रखते हुए यागों का अनुष्ठान है। इनमें पुरोऽनुवाक्या, याज्या तथा तत्तत् शस्त्रों के अनुष्ठान प्रकार, उनके देश, काल तथा कर्ता का विधान, स्वर-प्रतिगर-न्यूख-प्रायश्चित्त आदि का विधान विशेष रूप से वर्णित है। आश्वलायन श्रौतसूत्र में १२ अध्याय[1] हैं। प्रसिद्धि है कि आश्वलायन ऋषि शौनक ऋषि के शिष्य थे तथा ऐतरेय आरण्यक के अन्तिम दो अध्यायों (आरण्यकों) को गुरु और शिष्य ने मिलकर बनाया था। शाङ्खायन श्रौतसूत्र १८ अध्यायों में विभक्त है तथा नाना यज्ञ यागों का प्रतिपादक है।[2] शाङ्खायन ब्राह्मण से सम्बद्ध यह श्रौत-सूत्र विषय तथा शैली की दृष्टि से प्राचीनतर प्रतीत होता है तथा ब्राह्मण ग्रन्थों के साथ किन्हीं अंशों में साम्य रखता है। इसके १८ अध्यायों में से अन्तिम दो अध्याय पीछे जोड़े गए बतलाये जाते हैं तथा कौषीतकि आरण्यक के आरम्भिक दो अध्यायों के समान हैं।

ऋग्वेद के ग्रह्यसूत्रों में दो ही गृह्यसूत्र सर्वत्र प्रसिद्ध हैं जो पूर्वोक्त श्रौतसूत्रों के साथ सम्बद्ध हैं। इनके नाम हैं—आश्वलायन गृह्यसूत्र तथा शाङ्खायन गृह्यसूत्र।

आश्वलायन गृह्यसूत्र में ४ अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में अनेक खण्ड हैं। गृह्यकर्म तथा संस्कारों का वर्णन बड़े ही सुन्दर ढंग

---

१ स बिब्लोथिका इंडिका, कलकत्ते में।

२ शाङ्खायन श्रौतसूत्र का सम्पादन हिलेब्रान्ट के द्वारा, बिब्लो० इंडिका, १८८८ ई० ।

से किया गया है। स्थान स्थान पर महत्त्व की बातें हैं जैसे ३।२ में ऋषितर्पण के प्रसंग में प्राचीन आचार्यों के नाम निर्दिष्ट किये गये हैं जो अन्यत्र नहीं मिलता। तृतीय अध्याय के द्वितीय खण्ड में वेदाध्ययन के विशेष नियमों का वर्णन उल्लेखनीय है तथा चतुर्थ खण्ड में 'उपाकरण' (श्रावणी) का वर्णन भी महत्वपूर्ण सूचनाओं से मण्डित है।[1]

शाङ्खायन गृह्यसूत्र में ६ अध्याय हैं।[2] विषय वही है संस्कारों का वर्णन तथा तत्सम्बद्ध अन्य बातों का जैसे गृहनिर्माण; गृह प्रवेश आदि का भी स्थान स्थान पर वर्णन है। ऋग्वेद की तीसरी शाखा—कौषीतक के कल्पसूत्रों का भी परिचय अभी विद्वानों को मिला है। यह धारणा प्रायः प्रचलित है कि शाङ्खायन तथा कौषीतक दोनों एक ही शाखा के भिन्न भिन्न अभिधान हैं, परन्तु कौषीतक शाखा शाङ्खायन से सर्वथा भिन्न है तथा इसके विशिष्ट ग्रन्थ प्रकाशित होने लगे हैं। कौषीतक श्रौतसूत्र अभीतक अप्रकाशित है, परन्तु कौषीतक गृह्यसूत्र हाल में मद्रास से प्रकाशित हुआ है। शाङ्खायन गृह्य की रचना सुयज्ञ ने की थी तथा कौषीतक गृह्यसूत्र की शाम्बव्य (अथवा शाम्भव्य ने) इसीलिए यह शाम्भव्य गृह्यसूत्र के नाम से भी प्रख्यात है। शाम्बव्य महाभारत के अनुसार कुरुदेश के निवासी बतलाये गये हैं। इस गृह्य सूत्र में ५ अध्याय है तथा प्रत्येक अध्याय में अनेक सूत्र हैं। ग्रन्थ का आरम्भ विवाह संस्कार के वर्णन से होता है तथा जात शिशु के आरम्भिक संस्कारों का किंचित् परिचय के

१ स० अनन्तशयन ग्रन्थमाला में हरदत्त की व्याख्या के साथ, ग्रन्थांक ७८; १९०३।

२ स० काशी संस्कृत सीरीज में। इन ऋग्वेदीय दोनों गृह्यों का अंग्रेजी अनुवाद डा० ओल्डनबर्ग ने किया है 'पवित्र प्राच्य ग्रन्थमाला' भाग २९ में।

अनन्तर उपनयन का विवरण पर्याप्त रूपेण विस्तृत है। वैश्वदेव, कृषिकर्म के बाद श्राद्ध के वर्णन से यह समाप्त होता है। कौपीतक तथा शाङ्खायन के गृह्य सूत्रों में बहुश. साम्य है तथा वैषम्य भी कम नहीं है। कौपीतक गृह्यसूत्र में केवल ५ अध्याय हैं, जब दूसरे गृह्य में ६ अध्याय हैं। प्रथम चार अध्यायों का विषय-क्रम तथा प्रतिपादन-प्रकार प्राय. एक समान है दोनों में, परन्तु कौपीतक के अन्तिम अध्याय के विषय की तुलना शाखायन के अन्तिम दो अध्यायों के साथ कथमपि नहीं हो सकती। कौपीतक के अन्त में पितृमेध का वर्णन है जो शाखायन गृह्य में न होकर शाखायन श्रौतसूत्र का एक अंश है (चौथे अध्याय का १४, १५, १६ खण्ड)। यहाँ कौपीतक का क्रम उचित तथा न्यायपूर्ण है, क्योंकि श्राद्ध गृह्यका ही अग है, श्रौत का नहीं।[1]

यजुर्वेदीय कल्पसूत्र

शुक्ल यजुर्वेद का एकमात्र श्रौतसूत्र है कात्यायन श्रौतसूत्र जो परिमाण में पर्याप्त बड़ा है। इसमें २६ अध्याय है जिनमें शतपथ ब्राह्मण के द्वारा निर्दिष्ट यागक्रम का अनुवर्तन किया गया है। कर्काचार्य का विस्तृत भाष्य इसके गूढ़ रहस्यों की व्याख्या के लिए महत्त्वशाली ग्रन्थ माना जाता है[2]। शुक्ल यजुर्वेद का एकमात्र गृह्यसूत्र 'पारस्कार गृह्यसूत्र' के नाम से विख्यात है। इसके तीन काण्डों में से प्रथम काण्ड में आवसथ्य अग्नि का आधान, विवाह तथा गर्भधारण से आरम्भ कर अन्नप्राशन तक वर्णित है। द्वितीय काण्ड में चूड़ाकरण, उपनयन, समा-

---

१ भवत्रात की व्याख्या के साथ मूल ग्रन्थका संस्करण मद्रास विश्वविद्यालयीय संस्कृत ग्रन्थावली में (नं० १५) मद्रास से प्रकाशित हुआ है, १९४४।

२ कर्क भाष्य के साथ संस्करण चौखम्भा संस्कृत सीरीज (काशी) में तथा महामहोपाध्याय विद्याधर गौड़ की सरलावृत्ति तथा विस्तृत भूमिका के साथ अच्युत ग्रन्थमाला काशी से प्रकाशित, सं० १९८७।

वर्तन, पञ्चमहायज्ञ, श्रावणाकर्म, सीता यज्ञ का विवरण है तथा अन्तिम काण्ड में श्राद्ध के अनन्तर अवकीर्णि-प्रायश्चित्त आदि विविध विधियों का प्रतिपादन है। इसकी व्याख्यासम्पत्ति इसकी लोक-प्रसिद्धि का पर्याप्त परिचायक है। इसके पाँच भाष्यकारों की व्याख्यायें गृह्य के अर्थ गौरव को प्रदर्शित कर रही हैं[1]। इनके नाम है—(१) कर्क (कात्यायन श्रौतसूत्र के व्याख्याता), (२) जयराम, (३) हरिहर, (४) गदाधर तथा (५) विश्वनाथ। हरिहर की पद्धति भी यजुर्वेदियों के कर्मकाण्ड को विशद प्रतिपादिका होने के कारण महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। कात्यायन श्राद्धसूत्र श्राद्ध-विषय का वर्णन विस्तार के साथ करता है। इसमें ९ कण्डिकायें है। तथा प्रति कण्डिका में सूत्र हैं। इसके ऊपर तीन टीकाएँ प्रकाशित हैं कर्काचार्य की, गदाधर की तथा कृष्ण मिश्र की श्राद्धकाशिका (रचनाकाल १५०५ संवत् = १४४८ ईस्वी)। हलायुध की व्याख्या का उल्लेख श्राद्धकाशिका के आरम्भिक दूसरे श्लोक में मिलता है। कात्यायन की रचना होने से ये 'कातीय श्राद्धसूत्र' के नाम से विख्यात हैं। कात्यायन रचित शुल्वसूत्र काशी से प्रकाशित हुआ है। इसमें सात कण्डिकायें है जिनमें प्रथम में परिभाषा का प्रकरण है। वेदि-निर्माण, चतुरस्रादि क्षेत्र, तथा चिति आदि का निरूपण यहाँ किया गया है। ज्यामिति का वैदिक युगीय प्रतिपादन नितान्त महत्त्वपूर्ण है।

कृष्णयजुर्वेद से सम्बद्ध इन श्रौतसूत्रों की उपलब्धि होती है—(१) बौधायन श्रौतसूत्र, (२) आपस्तम्ब, (३) हिरण्यकेशी या

---

१ पाँचों भाष्यों से सवलित पारस्कर गृह्यसूत्र का विशद सस्करण गुजराती प्रेस बम्बई से प्रकाशित हैं, १९१७। कातीय श्राद्धसूत्र का श्राद्धकाशिका के साथ सस्करण काशी से १९५० संवत में निकला था। गृह्य के साथ इसकी तीनों व्याख्यायें भी प्रकाशित हैं, बम्बई १९१७।

सत्याषाढ, (४) वैखानस, (५) भारद्वाज तथा (६) मानव श्रौतसूत्र। इनमें से प्रथम पाँच तो तैत्तिरीय शाखा से सम्बन्ध रखते हैं तथा अन्तिम मैत्रायणी शाखा से। इनमें बौधायन तथा आपस्तम्ब शाखा ने कल्प के चारों सूत्र ग्रन्थों श्रौत, गृह्य, धर्म तथा शुल्व–को पूर्ण तथा समग्र रखा है। ये परस्पर में इतने सम्बद्ध हैं कि हम इन्हें एक ही ग्रन्थ के चार खण्ड मान सकते हैं। एक ही आचार्य बौधायन तथा आपस्तम्ब ने तत्तत् कल्पसूत्रों का प्रणयन किया है, इस सिद्धान्त के मानने में कोई भी विप्रतिपत्ति नहीं दीखती। ग्रन्थकार की एकता न भी मानी जाय, परन्तु इतना तो सन्देह-रहित तथ्य है कि ये समग्र ग्रन्थ एकही समान शैली पर निर्मित हैं तथा इनमें प्रतिपादन की एकता स्पष्ट है। इन कल्पसूत्रों में बौधायन तथा मानव निःसन्देह प्राचीनतर हैं क्योंकि इनका उल्लेख आपस्तम्ब श्रौत में उपलब्ध होता है।

बौधायन श्रौतसूत्र को डा० कैलण्ड ने सम्पादित किया है तथा गोविन्द स्वामी के भाष्य के साथ यह मैसूर से भी प्रकाशित हुआ है। इसी प्रकार बौधायन गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र तथा शुल्वसूत्र भी सम्पादित होकर प्रकाशित हैं। बौधायन धर्मसूत्र में चार प्रश्न या खण्ड हैं जिनमें ब्रह्मचर्य, शुद्धाशुद्ध विचार, राजकीय विधि तथा अष्टविध विवाह का वर्णन है (प्रथम प्रश्न)। प्रायश्चित्त, उत्तराधिकार, चार आश्रम, गृहस्थ धर्म तथा श्राद्ध (द्वितीय प्रश्न) वैखानस आदि के कर्तव्य तथा चान्द्रायणादि व्रत (तृतीय प्रश्न), तथा काम्य सिद्धियाँ (चतुर्थ प्रश्न) क्रमशः वर्णित तथा व्याख्यात हैं।[1]

---

१ बौधायन श्रौत का सं० डा० कैलेण्ड द्वारा बिब्लिओथिका इण्डिका, कलकत्ता १९०४–२४ तथा गोविन्द स्वामी के भाष्य के साथ मैसूर से। गृह्य तथा धर्म का प्रकाशन 'गवर्नमेण्ट ओरियण्टल लाइब्रेरी' मैसूर में तथा शुल्वसूत्र का संस्करण तथा अंग्रेजी अनुवाद डा० थीबो द्वारा 'पण्डितपत्र' के नवम भाग में, काशी।

आपस्तम्ब का कल्पसूत्र तीन प्रश्नों या अध्यायों में विभक्त है जिनमें से प्रथम तेइस प्रश्न श्रौतसूत्र है, २४ प्रश्न परिभाषा है; २५ तथा २६ प्रश्नों में गृह्यकर्म के उपयोगी मन्त्रों का एकत्र संकलन है तथा सत्ताइसवाँ प्रश्न गृह्यसूत्र है। २८ तथा २९ प्रश्न धर्मसूत्र है तथा अन्तिम ३० प्रश्न शुल्व-सूत्र है और इस प्रकार यह कल्पसूत्र पूर्णतया सुरक्षित तथा सर्वतः परिपूर्ण है। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र का मुख्य सम्बन्ध तैत्तिरीय ब्राह्मण से है और इसीलिए ब्राह्मणस्थ याग-विधानों का विशिष्ट वर्णन यहाँ उपलब्ध होता है। आपस्तम्ब गृह्यसूत्र में २३ खण्ड हैं जिसमें विवाह, उपनयन, उपाकर्मोत्सर्जन, समावर्तन, मधुपर्क, सीमन्तोन्नयन आदि तेइस विषयों का मुख्यतया प्रतिपादन है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में ब्रह्मचर्य, भोजन, विचार, प्रायश्चित आदि उपयोगी विषयों का वर्णन है। आपस्तम्ब परिभाषासूत्र कपर्दि-स्वामी के भाष्य तथा हरदत्त की व्याख्या के साथ प्रकाशित है[१]।

हिरण्यकेशी श्रौतसूत्र आपस्तम्ब की अपेक्षा अर्वाचीन माना जाता है। इसीलिए इसकी रचना आपस्तम्ब श्रौतसूत्र के आधार पर विशेषतः प्रतीत होती है। इनका दूसरा नाम सत्याषाढ़ है। इनका गृह्यसूत्र भी प्रकाशित है[१]। भारद्वाज श्रौतसूत्र की हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध

---

१ आपस्तम्ब श्रौतसूत्र का सम्पादन डा० गार्बे ने किया है बिब्लि० इ०, कलकत्ता १८८२–१९०३ तथा प्रथम सात प्रश्नों का जर्मन अनुवाद किया है डा० कैलेण्ड ने, जर्मनी १९२१ में। गृह्य का स० डा० विन्टरनित्स द्वारा, वियन्ना १८८७ तथा हरदत्त की अनाकुला वृत्ति और सुदर्शनाचार्य कृत तात्पर्य दर्शन टीका के साथ चौखम्भा, काशी से १९२८ में तथा इसका अंग्रेजी अनुवाद ओल्डन बर्ग द्वारा प्राच्य ग्रन्थमाला के खण्ड ३० में। शुल्वसूत्र का जर्मन अनुवाद १९०१–२। धर्मसूत्र का मैसूर से गवर्नमेण्ट संस्कृत ग्रन्थमाला में।

१ सत्याषाढ श्रौतसूत्र अनेक टीकाओं के साथ आनन्दाश्रम में माला (संख्या ५३), पूना तथा गृह्य का स० टीका के साथ डा० क्रिस्ते ने वीयना से १८८९ तथा अंग्रेजी अनुवाद प्राच्य ग्रन्थमाला खण्ड ३० में।

होती है। भारद्वाज गृह्यसूत्र लाइडन से १९१३ में प्रकाशित हुआ है। मानव श्रौतसूत्र[1] का सम्बन्ध मैत्रायणी शाखा से है। मानव गृह्यसूत्र अष्टावक्र भाष्य के साथ गायकवाड ओ० सीरीज में सुसम्पादित होकर प्रकाशित है। इसका शुल्बसूत्र भी उपलब्ध है। काठक गृह्यसूत्र भी मानव गृह्यसूत्र से मिलता जुलता है तथा कठशाखा से स्पष्टत अपना सम्बन्ध रखता है। वाराह श्रौतसूत्र का सम्बन्ध भी कृष्णयजुर्वेद से ही है[2]। इस लघुकाय ग्रन्थ में श्रौत यागों का सामान्य परिचय है।

सामवेदीय कल्पसूत्र

सामवेद के कल्पसूत्रों में सर्वप्राचीन माना जाता है आर्षेय कल्पसूत्र[3] जो अपने रचयिता के नाम पर मशक कल्पसूत्र के नाम से भी पुकारा जाता है। इसमें साम गानों का तत्तत् विशिष्ट अनुष्ठानों में विनियोग का विवरण है। यह पञ्चविंश ब्राह्मण के यागक्रम का अनुसरण करता है तथा इससे स्पष्टत सम्बद्ध है तथा लाट्यायन श्रौतसूत्र से निःसन्देह प्राचीनतर है क्योंकि लाट्यायन ने इसका निर्देश किया है। सामवेद की तीनों शाखाओं के कल्पसूत्र आज सुरक्षित तथा उपलब्ध हैं जिनमें लाट्यायन श्रौतसूत्र[4] का सम्बन्ध है कौथुमशाखा से, द्राह्यायण श्रौतसूत्र[5] का (जो लाट्यायन से बहुत ही कम भिन्नता

१ मानव श्रौतसूत्र के आदिम पाँच अध्यायों का सम्पादन डा० क्नाउएर ने किया है, सेंटपीटर्सबर्ग (रूस) १९०० और इन्हीं ने मानव गृह्य को वहीं से सम्पादित किया है। इधर बड़ोदा से भाष्य सहित स० निकला है। काठक गृह्यसूत्र डा० कैलेण्ड के द्वारा सम्पादित लाहौर से।

२ स० डा० कैलेण्ड तथा रघुवीर द्वारा, लाहौर १९३३।

३ स० डा० कैलेण्ड द्वारा, लाइपनिग (जर्मनी) १९०८।

४ स० बिब्लिओ० इ०, कलकत्ता।

५ स० डा० रायटर द्वारा (केवल प्रथम भाग) लण्डन, १९०४।

रखता है) राणायनीय शाखा से तथा जैमिनीय श्रौतसूत्र का जैमिनि शाखा से[1]। सामवेद का मुख्य गृह्यसूत्र कौथुम-शाखीय गोभिल गृह्यसूत्र है जो इस श्रेणी के ग्रन्थों में पूर्णतम, प्राचीनतम तथा अनेक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। सामवेद की संहिता के अतिरिक्त 'मन्त्र ब्राह्मण' के मन्त्रों को भी उद्धृत करता है। खादिर गृह्यसूत्र गोभिल से यत्-किञ्चित् परिवर्तित तथा संक्षिप्त है जिसे राणायनीय शाखा वाले प्रयोग में लाते हैं। जैमिनीय गृह्यसूत्र भी सुन्दर तथा उपादेय है[2]। गोभिल-गृह्यसूत्र चार प्रपाठकों में विभक्त है।

अथर्ववेदीय कल्पसूत्र

अथर्ववेद का कल्पसूत्र विभिन्न ऋषियों के द्वारा प्रणीत है। इस वेद के श्रौतसूत्र का नाम है वैतान श्रौतसूत्र[3]। यह न तो प्राचीन न मौलिक ही माना जाता है। वैतान नाम से भी यह भ्रान्ति उत्पन्न होती है। 'वैतान' का अर्थ है त्रिविध अग्नि-सम्बन्धी ग्रन्थ। यह गोपथ ब्राह्मण का अनुसरण अनेक अंशों में करता है यद्यपि कात्यायन श्रौतसूत्र का भी प्रभाव इसके ऊपर विशेष है। कौशिक गृह्यसूत्र[4]

---

१ सं० कतिपय भाग का ही डा० गास्ट्रा द्वारा, लीडन १९०६।

२ इनमें गोभिल का सं० कलकत्तेसे तथा जैमिनीय का लाहौरसे, १९२२। इनमें से गोभिल का अंग्रेजी अनुवाद प्राच्य ग्रन्थमाला भाग ३० में तथा खादिर का भाग २९ में प्रकाशित है। खादिर गृह्यसूत्र रुद्रस्कन्द की टीका के साथ मैसूर से प्रकाशित है।

३ सं० डा० गार्बे द्वारा लण्डन से १८७८ में प्रकाशित तथा जर्मन में अनुवादित। इस अनुवाद से विशुद्धतर जर्मन अनुवाद है डा० कैलेण्ड का, १९१०।

४ सं० डा० ब्लूमफील्ड द्वारा, न्यूहावेन (अमेरिका) १८९० में तथा हिन्दी अनुवाद के साथ उदयनारायण सिंह द्वारा इसीका पुनर्मुद्रण, मुजफ्फरपुर (बिहार) १९४२। ब्लूमफील्ड ने अथर्वमन्त्र के अनुवाद की टिप्पणियों में भी इसका विशेष उपयोग किया है तथा डा० कैलेण्ड ने कतिपय महत्त्वशाली अंश का जर्मन अनुवाद किया है।

अथर्ववेद का एकमात्र गृह्यसूत्र है। यह १४ अध्यायों में विभक्त है तथा इसके ऊपर हारिल तथा केशव की संक्षिप्त व्याख्यायें उपलब्ध होती है। यह ग्रन्थ प्राचीन भारतीय यातुविद्या (जादू की विद्या) की जानकारी के लिए अनुपम सामग्री प्रस्तुत करता है जो अन्यत्र दुर्लभ है। इस ग्रन्थ की सहायता से हम अथर्ववेद के नाना अनुष्ठानों का विधिविधान पूर्णरूपेण जान सकते हैं। अतः इसके अनुशीलन के अभाव में अथर्व का रहस्य उन्मीलित नहीं होता है। यही इसकी उपादेयता का बीज है। वैधक शास्त्र के औषधों के लिए तो यह एक अक्षय निधि है।

धर्मसूत्र

[illegible]सूत्र कल्प के अविभाज्य अंग हैं। नियमतः प्रत्येक शाखा का [illegible]विशिष्ट धर्मसूत्र होना चाहिए, परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। [illegible]यन, शाखायन तथा मानव शाखा के श्रौतसूत्र तथा गृह्यसूत्र दोनों उपलब्ध हैं, परन्तु उनका धर्मसूत्रात्मक अंश उपलब्ध नहीं है। आश्वलायन धर्मसूत्र तथा शाङ्खायन धर्मसूत्र की नितरा उपलब्धि नहीं होती। मानव धर्मसूत्र भी, जिसके आधार पर कालान्तर में मनुस्मृति का निर्माण हुआ, अभी तक उपलब्ध नहीं है। केवल बौधायन, आपस्तम्ब तथा हिरण्यकेशी के कल्पसूत्रों की उपलब्धि पूर्णरूपेण होती है और इसीलिए इनके धर्मसूत्र भी मिलते हैं। कुमारिल भट्ट ने तन्त्रवार्तिक (मीमांसा सूत्र १।३।११) में भिन्न-भिन्न वेदों के धर्मसूत्रों का प्रामाणिक निर्देश किया है। गृह्यसूत्र पाक यज्ञ तथा संस्कारों का, विशेपतः उपनयन विवाह तथा श्राद्ध का विशेप वर्णन करते हैं। धर्मसूत्र भी इन विपयों का वर्णन निश्चय ही करते हैं, परन्तु दृष्टिभेद से। गृह्य में अनुष्ठानों के आकार-प्रकार तथा विधान पर ही विशेप आग्रह है। धर्मसूत्र में इससे भिन्न आचार, कर्तव्य कर्म, व्यवहार को महत्त्व दिया गया है। धर्मसूत्र में चतुर्वर्णों के कर्तव्य कर्म तथा वर्तनप्रकार के साथ-साथ राजधर्म का वर्णन मुख्य है। राजा के कर्तव्य, प्रजा के साथ सम्बद्ध, व्यवहार के नियम, अवस्था विशेप में प्रायश्चित्त का विधान धर्मसूत्र को महत्त्व प्रदान करना है। विवाह के नाना प्रकारों का उभयत्र वर्णन है, परन्तु गृह्यसूत्र का मुख्य उद्देश्य केवल उसकी धार्मिक पद्धति तथा अनुष्ठान के प्रकार के विवरण से है। धर्मसूत्र में विवाह से उत्पन्न पुत्रों के बीच सम्पत्ति के विभाजन का प्रश्न मुख्य है।

दाय भाग से वञ्चना, स्त्रियों का पारतन्त्र्य, व्यभिचार के लिए प्रायश्चित्त, नियोग के नियम, गृहस्थ का नित्य तथा नैमित्तिक कर्तव्यों का वर्णन सब धर्मसूत्रों में नियमतः थोड़ी या अधिक मात्रा में आता है। इन्हीं धर्मसूत्रों का संक्षिप्त वर्णन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

धर्मसूत्रों में प्राचीनतम ग्रन्थ गौतम धर्मसूत्र माना जाता है जिसका सम्बन्ध कुमारिल के प्रामाण्य पर सामवेद से है। चरण-व्यूह में निर्दिष्ट राणायनीय शाखा की ९ अवान्तर शाखा में गौतम अन्यतम है। गोभिल ने गृह्यसूत्र से गौतम को उद्धृत किया है। प्राचीन धर्मकारों में केवल मनु का उल्लेख यहाँ मिलता है। बौधायन धर्मसूत्र में केवल उल्लेख ही नहीं है, प्रत्युत तीसरे प्रश्न के दशम अध्याय में गौतम धर्मसूत्र के १९ वें अध्याय से प्रायश्चित्त-विषयक सब सामग्री ली गई है। इसी प्रकार वसिष्ठ धर्मसूत्र का २२ वाँ अध्याय गौतम के १९ वें अध्याय से लिया गया है। इस ग्रन्थ में २८ अध्याय हैं जिनमें वर्णधर्म, राजधर्म, नित्यकर्म तथा प्रायश्चित्त का विशेष प्रतिपादन है। गौतम धर्मसूत्र का निर्देश याज्ञवल्क्य, कुमारिल, शंकराचार्य तथा मेधातिथि ने किया है। इसका ६०० वि० पू० और ४०० वि० पू० के बीच में आविर्भाव माना जा सकता है। हरदत्त ने व्याख्या से तथा आचार्य मस्करी ने भाष्य से इसके अर्थ को सरल तथा बोधगम्य बनाया[1] है।

कृष्णयजुर्वेदीय कल्पकारों में प्राचीनतम आचार्य बौधायन ने धर्मसूत्र भी लिखा है जो उनके कल्पसूत्र का एक अंशमात्र है। बौधायन गृह्य बौधायन धर्मसूत्र का अस्तित्व मानता है। इनका ग्रन्थ ४ प्रश्नों (या खण्डों) में विभक्त है जिनमें अन्तिम प्रश्न सम्भवतः परिशिष्ट तथा अर्वाचीन-कालीन माना जाता है। बौधायन की प्राची-

---

१ सं० हरदत्त की व्याख्या के साथ आनन्दाश्रम, पूना तथा मस्करिभाष्य के साथ मैसूर से प्रकाशित।

नता का एक निदर्शन यह भी है कि उनकी भापा पाणिनीय संस्कृत से भिन्नता रखती है। अनेक प्राचीन धर्माचार्य के नाम तथा मतों का उल्लेख ग्रन्थ में पाया जाता है। बौधायन के अनेक सूत्र आपस्तम्ब तथा वसिष्ठ से अक्षरशः मिलते हैं। यह धर्मसूत्र गौतम की अपेक्षा अर्वाचीन परन्तु आपस्तम्ब से प्राचीन माना जाता है। अतः इनका समय वि० पू० ५००—२०० वि० पू० तक माना जाता है[1]।

आपस्तम्ब कल्पसूत्र के दो प्रश्न (२८ तथा २६) आपस्तम्ब धर्मसूत्र के नाम से विख्यात है। बौधायन की अपेक्षा इसकी भापा अधिक प्राचीन तथा अपाणिनीय प्रयोगों से युक्त है और अनेक अप्रचलित तथा विरल शब्दों की भी यहाँ उपलब्धि होती है जिससे इसकी प्राचीनता स्वतः सिद्ध होती है। संहिता के अनन्तर ब्राह्मणों के अनेक उद्धरण दिये गये हैं। उन्होंने प्राचीन धर्म के ऊपर दस ग्रन्थ-कर्ताओं के नाम तथा मतों का उल्लेख किया है जिनमें काण्व, कुणिक, कुत्स कौत्स, पुष्करसादि, वार्ष्यायणि, श्वेतकेतु, हारीत आदि मुख्य है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में मीमांसा के पारिभापिक शब्दों तथा मीमांसा के सिद्धान्त का बहुत अधिक निर्देश मिलता है तथा अनेक विपयों में इनका निर्णय जैमिनि से मिलता है। आपस्तम्ब के ग्रन्थ में धर्मशास्त्र के अनेक माननीय विपयों तथा सिद्धान्तों का विवेचन इसकी व्यापक दृष्टि का परिचायक है। गौतम (४।१४-१७) तथा बौधायन (१।८।७—१२) ने वर्णसंकर जातियों का वर्णन किया है, परन्तु आपस्तम्ब इस विषय में मौन हैं। ये नियोग की निन्दा करते है तथा प्राजापत्य विवाह को उचित विवाह मानने के पक्ष में नहीं है। इनका समय ६०० वि० पू०—३०० वि० पू० स्वीकृत किया जाता है।

---

१ गोविन्द स्वामी के भाष्य के साथ काशी संस्कृत सीरिज में प्रकाशित।

आपस्तम्ब के निवासस्थान के विषय में विद्वानों में मतभेद है। डा० बूलरने इन्हें दक्षिण भारत का ग्रन्थकार माना है। आपस्तम्ब ने अपने धर्मसूत्र (१।१७।१७) में आसन पर उपविष्ट पुरुषों के हाथ में जल देने की श्राद्धीय प्रथा को उदीच्यों का सम्प्रदाय बतलाया है (उदीच्य-वृत्तिश्चेदासनगतेपूदपात्रानयनम्)। इसी के प्रमाण पर बूलर ने उन्हें दक्षिणदेशीय सिद्ध किया है, परन्तु वस्तुस्थिति ठीक इसके विपरीत है। एक प्रमाण से वे उत्तरदेशीय प्रतीत होते हैं। सीमन्त प्रकरण (आप० गृह्य १४।२) में वीणा गाने वालो को इस मन्त्रद्वय के गाने का विधान किया गया है—

> यौगन्धरिरेव नो राजेति साल्वीरवादिपुः।
> विवृत्तचक्रा आसीनास्तीरेण यमुने। तव॥
> सोम एव नो राजेत्याहुर्ब्राह्मणीः प्रजाः।
> विवृत्तचक्रा आसीनास्तीरेणासौ तव॥

इसके प्रथम मन्त्र में यमुना के तीर पर निवास करनेवाली साल्व-देशीय स्त्रियों का उल्लेख ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। साल्व देश वस्तुत रावी नदी के पास पजाब का एक अंश था। इसके ६ भागों का उल्लेख काशिका (४।१।१७३) में मिलता है जिसमें युगन्धर एक प्रधान अवयव था। इस उल्लेख का कर्ता आपस्तम्ब निःसन्देह यमुना तथा साल्व जनपद से परिचित कोई उत्तरप्रदेशीय व्यक्ति है[1]।

हिरण्यकेशि धर्मसूत्र[2] इस शाखा के कल्पसूत्र का दो प्रश्न मात्र (२६ तथा २७) है। इसे स्वतन्त्र ग्रन्थ मानना उचित नहीं है। यह एक प्रकार से आपस्तम्ब धर्मसूत्र का ही संक्षिप्त प्रवचन है। इन्होंने आपस्तम्ब से सैकड़ो सूत्रों को अक्षरशः अपने ग्रन्थ में उद्धृत

---

[1] द्रष्टव्य आपस्तम्ब गृह्यसूत्र, प्रस्तावना पृष्ठ ५। काशी १९२८।

[2] दोनों ग्रन्थों का संस्करण आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलि में छपा है।

किया है। इनके सूत्रों का पाठ पाणिनि के विशेष अनुकूल है। इनके टीकाकार महादेव ने अनेक स्थलों पर हरदत्त की अपेक्षा अनेक आवश्यक विषयों का वर्णन किया है जो विशेष उपादेय तथा संग्राह्य है।

वसिष्ठ धर्मसूत्र—को यद्यपि कुमारिल ऋग्वेद से सम्बद्ध बतलाते हैं, परन्तु प्रकृत ग्रन्थ में ऐसी कोई बात नहीं है जो मुख्यतः ऋग्वेद से सम्बन्ध कल्पना की भित्ति हो सके। इसके अनेक सूत्र गौतम तथा बौधायन से एकाकार हैं। मेधातिथि तथा मिताक्षराकार ने इस उपलब्ध ग्रन्थ के प्रायः प्रत्येक अध्याय से उद्धरण दिया है। वसिष्ठ म्लेच्छों की भाषा सीखने का निषेध करते हैं। इस ग्रन्थ में वर्तमान मनुस्मृति से श्लोक उद्धृत प्रतीत होते हैं। ४० श्लोकों वसिष्ठ तथा मनु में समानरूप से उपलब्ध होते हैं मनु (८।१४०) ने वशिष्ठ का उल्लेख किया है। इनके मत विषय में प्राचीन आचार्यों से भिन्न पड़ते हैं। पूर्वोल्लिखित आचार्यों से अर्वाचीन होने पर भी ये ईसा के आरम्भ से बहुत प्राचीन हैं। अनुमानित काल ३०० वि० पू० से १०० वि० पू० है।

इनके अतिरिक्त **विष्णु धर्मशास्त्र** कौषीतकि शाखा से सम्बन्ध रखता है। मनु के अनेक श्लोक गद्यरूप में परिवर्तित कर इसमें सम्मिलित कर लिये गए हैं। इसका प्राचीन मूलरूप ३०० वि० पू० के आसपास रचित हुआ, परन्तु वर्तमान रूप में लाने के लिए अनेक विषय तृतीय शतक से लेकर सप्तम तक जोड़े गये। इसके अतिरिक्त हारीत का धर्मसूत्र तथा शंख-लिखित धर्म-सूत्र (वाजसनेय शाखा का) भी उपलब्ध हैं। परन्तु उनका सम्बन्ध कल्पसूत्रों से विशेष सिद्ध नहीं होता[1]।

---

१ इन धर्मसूत्रों के विषय वर्णन के लिए देखिए काणे—हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र भाग १, पृष्ठ १२—७६।

(३) व्याकरण

व्याकरण भी प्रकृति और प्रत्यय का उपदेश देकर पद के स्वरूप, तथा उसके अर्थ के निर्णय के लिये प्रयुक्त होता है। व्याकरण का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है पदों की मीमांसा करने वाला शास्त्र—व्याक्रियन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम्। व्याकरण वेद पुरुष का मुख माना जाता है—मुखं व्याकरणं स्मृतम्। मुख होने से ही वेदाङ्गों में व्याकरण की मुख्यता है। जिस प्रकार मुख के विना भोजनादि के न करने से शरीर की पुष्टि असभव है उसी प्रकारण व्याकरण के विना वेद-रूपी पुरुप के शरीर की रक्षा तथा स्थिति असंभाव्य है। इसीलिये हमारे प्राचीन ऋषियों ने व्याकरण की महत्ता का प्रतिपादन बड़े ही गम्भीर शब्दों में किया है।

स्वयं ऋग्-संहिता में ही हम व्याकरण शास्त्र की प्रशसा में अनेक मन्त्र भिन्न-भिन्न स्थानों में उपलब्ध होते हैं। ऋग्वेद के एक सुप्रसिद्ध मन्त्र में शब्द शास्त्र (व्याकरण) का वृपभ से रूपक बाँधा गया है जिसमें व्याकरण ही कामों (इच्छाओं) की पूर्ति (वर्णन) करने के कारण से वृपभ नाम से उल्लिखित किया गया है। इसके चार सींग है—(१) नाम, (२) आख्यात (क्रिया), (३) उपसर्ग और (४) निपात। वर्तमान, भूत और भविष्य—ये तीन काल इसके तीन पाद है। इसके दो सिर हैं—सुप् और तिङ्। इसके सात हाथ सात विभक्ति प्रथमा, द्वितीया आदि के रूप में हैं। यह उर, कण्ठ और सिर इन तीन स्थानों में बाँधा गया है। यह महान् देव है जो मनुष्यों में प्रवेश किये हुए हैं:—

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा
द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति
महो देवो मर्त्याँ आविवेश ॥
ऋ० वे० ४।५८।६

ऋग्वेद के एक दूसरे मन्त्र में व्याकरण—शास्त्र के विशेषज्ञ तथा अनभिज्ञ व्यक्तियों की तुलना बड़ी ही मार्मिक रीति से की गई है। व्याकरण से अनभिज्ञ व्यक्ति एक ऐसा जीव है जो वाणी को देखता हुआ भी नहीं देखता और सुनता हुआ भी नहीं सुनता। परन्तु व्याकरण के विद्वान् के लिये वाणी अपने रूप को उसी प्रकार से अभिव्यक्त करती है जिस प्रकार शोभन वस्त्रों से सुसज्जित कामिनी अपने पति के सामने अपने आपको समर्पण करती है[1]।

इसी प्रकार आचार्य वररुचि ने व्याकरण-शास्त्र के महत्त्व को बतलाते हुए इसके अध्ययन के पाँच प्रधान प्रयोजन बतलाये हैं। महर्षि पतञ्जलि ने इनके अतिरिक्त व्याकरण के तेरह प्रयोजनों का वर्णन महाभाष्य के आरम्भ (पश्-पशाह्निक) में बड़ी ही सुन्दर भाषा में किया है। यहाँ हम कतिपय प्रयोजनों का ही उल्लेख करेंगे। वररुचि के अनुसार व्याकरण के मुख्य पाँच प्रयोजन निम्नलिखित हैं[2]:—(१ रक्षा (२) ऊह (३) आगम (४) लघु तथा (५) असन्देह।

---

१ उत त्व. पश्यन् न ददर्श वाचं,
उत त्व शृण्वन् न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्व विसस्रे,
जायेव पत्ये उशती सुवासा ॥
ऋ० १०।७१।४

२ रक्षो-हागमलघ्वसन्देहा. प्रयोजनम्।
महाभाष्य—पश्पशाह्निक।

(१) रक्षा—व्याकरण के अध्ययन का प्रधान लक्ष्य वेद की रक्षा है। वेद का उपयोग यज्ञ-याग के विधान में है। इन्हीं प्रयोगों में उपयुक्त होने वाले मन्त्रों का समुच्चय वेद की संहिताओं में किया गया है। किस मन्त्र का उपयोग किस यज्ञ में किया जाय? किस मन्त्र का विनियोग कहाँ सम्पन्न हो? इन प्रश्नों का उत्तर वहीं विद्वान् दे सकता है जो इन मन्त्रों में आये हुए पदों के स्वरूप को पहचानता है तथा उनके अर्थ से परिचय रखता है। इसीलिये वेद की रक्षा का प्रधान भार वैयाकरणों के ऊपर है।

(२) ऊह—ऊह का अर्थ नये-नये पदों की कल्पना। वेद में मन्त्र न तो सब लिङ्गों में दिये गये हैं और न सब विभक्तियों में। यज्ञ की आवश्यकता के अनुसार इन मन्त्रों के शब्दों का भिन्न-भिन्न विभक्तियों में तथा भिन्न लिङ्गों में परिणाम अनिवार्य होता है। इस विपरिणाम का सम्पादन वही पुरुष कर सकता है जो व्याकरण-सम्मत शब्द रूपों से परिचित हो।

(३) आगम—स्वयं श्रुति ही व्याकरण के अध्ययन के लिये प्रमाणभूत है। वह कहती है कि ब्राह्मण का यह कर्तव्य है कि वह निष्कारण धर्म तथा अङ्ग सहित वेद का अध्ययन तथा ज्ञान प्राप्त करे। ऊपर अभी प्रतिपादित किया गया है कि षडङ्गों में व्याकरण ही मुख्य है। मुख्य विषय में किया गया यत्न विशेष फलवान् होता है। इसलिये श्रुति के प्रामाण्य को स्वीकार कर व्याकरण का अध्ययन करना प्रत्येक द्विज का कर्तव्य है।

(४) लघु—लघुता के लिये भी व्याकरण का पठन आवश्यक है। संस्कृत भाषा के प्रत्येक शुद्ध शब्द का यदि हम अध्ययन करना चाहें तो यह लघु जीवन की तो बात ही क्या अनेक जीवन व्यतीत हो जाय परन्तु हम शब्द-वारिधि के अन्त तक नहीं पहुँच सकने। व्याकरण

ही वह लघु उपाय है जिसका आश्रय लेकर हम अपने मनोरथ को पूरा कर सकते हैं। व्याकरण का अध्ययन सकल शास्त्रों की वह कुंजी है जिससे सरलता से उनके रहस्य का उद्घाटन हो सकता है।

(५) असन्देह—वैदिक शब्दों के विषय में उत्पन्न सन्देह का निराकरण व्याकरण ही कर सकता है। ऐसे अनेक समासयुक्त पदों का प्रयोग मिलता है जिनमें अनेक प्रकार के समासों की संभावना बनी रहती है। वह बहुव्रीहि भी हो सकता है तथा तत्पुरुष भी। अब इस सन्देह का निराकरण करे तो कौन करे? स्वर की सहायता से ही इसका निर्णय किया जा सकता है। यदि यह पद अन्तोदात्त हो तो कर्मधारय होगा और यदि वह पूर्व पदप्रकृति-स्वर हो तो बहुव्रीहि होगा। स्वर की इन सूक्ष्म बातों का पता वैयाकरण को ही रहता है। इसीलिये वैदिक अध्ययन के निमित्त व्याकरण शास्त्र की भूयसी उपयोगिता है।

इन उपर्युक्त पाँच प्रयोजनों के अतिरिक्त पतञ्जलि ने अन्य १३ प्रयोजनों का भी उल्लेख बड़े विस्तार के साथ किया है जिनमें कतिपय नीचे दिये जाते हैं:—

(१) अपभाषण—शब्दों के अशुद्ध उच्चारण के दूर हटाने का मार्ग व्याकरण ही हमें बतलाता है। सुना जाता है कि असुर लोग हेलय॰ हेलयः ऐसा उच्चारण करते हुए पराजय को प्राप्त हुए। वर्णों का तथा शब्दों का अशुद्ध उच्चारण करना ही म्लेच्छ है और शुद्ध उच्चारण करना आर्य है। अतः हम म्लेच्छ न हो जाँय; इसलिए व्याकरण का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।

(२) दुष्ट शब्द—शब्दों की शुद्धि तथा अशुद्धि का ज्ञान व्याकरण के अधीन है। अशुद्ध शब्दों के प्रयोग से उत्पन्न होने वाले अनर्थों से हम भली भाँति परिचित हैं। अतः दुष्ट शब्दों के प्रयोग से अपने को बचाने के लिये व्याकरण का अध्ययन आवश्यक है।

(३) अर्थज्ञान—वेद के अर्थ को जानने के लिये व्याकरण जानना आवश्यक है। विना अर्थ को जाने हुए शास्त्र का अध्ययन उसी प्रकार फल नहीं देता जिस प्रकार आग में न रखी गई सूखी लकड़ी। सूखी लकड़ी में जलने की योग्यता अवश्य है, पर उसे आग के साथ सयोग होना भी आवश्यक है। उसी प्रकार अर्थ-ज्ञान से सम्पन्न होने पर ही शब्द-ज्ञान सफलता प्राप्त करता है।

(४) धर्म-लाभ—जो कुशल व्यक्ति व्यवहार के समय शुद्ध शब्दों का प्रयोग करता है, वह स्वर्ग लोक में अनन्त फल प्राप्त करता है परन्तु जो केवल अपशब्दों का ही प्रयोग करता है, वह अनेक पाप का भाजन बनता है। शुद्ध शब्द एक ही होता है, पर उसी के अनेक अपभ्रंश उपलब्ध होते है। 'गौ' शब्द व्याकरण से शुद्ध है, पर उसी के स्थान पर गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि अनेक अपभ्रंश मिलते है। धर्म-लाभ के लिए शुद्ध पदों का प्रयोग न्याय्य है, अपभ्रंश का नहीं।

(५) नामकरण—गृह्यकारों का कहना है कि उत्पन्न हुए जातक का नामकरण दशम दिन में करना चाहिए। इस नामकरण के विशिष्ट नियम है जिनमें एक यह है कि वह कृदन्त होना चाहिए, तद्धितान्त नहीं। इन सूक्ष्म बातों का परिचय वही पा सकता है जिसने व्याकरण का अनुशीलन किया हो।

इन कतिपय सिद्धान्तों से ही व्याकरण की महती आवश्यकता का पर्याप्त परिचय हमें प्राप्त हो सकता है।

प्राचीन व्याकरण के विषय का निर्देश 'गोपथ ब्राह्मण' (१।२४) में स्पष्टतया किया गया है। धातु, प्रातिपदिक, नाम, आख्यात, लिङ्ग, वचन, विभक्ति, प्रत्यय, स्वर, उपसर्ग, निपात, मात्रा, वर्ण, अक्षर, पद, सयोग, स्थानानुप्रदान—आदि पारिभाषिक शब्द उस समय के

व्याकरणशास्त्र के मान्य शब्द थे। इस उद्धरण का 'शिक्षिकाः' शब्द भी पारिभाषिक है। इस शब्द का प्रयोग शुद्ध उच्चारण की शिक्षा देने वाले व्यक्ति के लिए किया गया है। 'व्याकरण' शब्द का प्रयोग भी इस बात का स्पष्ट प्रतिपादक है कि गोपथ ब्राह्मण की रचना से बहुत पूर्वकाल में ही इस शास्त्र की उत्पत्ति हो चुकी थी।

अब विचारणीय प्रश्न है कि वेद के इस अंग का प्रतिनिधि ग्रन्थ कौन सा है? आज कल प्रचलित व्याकरणों में पाणिनीय व्याकरण ही प्राचीनतम है, यह निःसन्देह बात है और प्राचीनतम होने का दृष्टि से यही व्याकरण नामक इस अंग का प्रतिनिधि माना जाता है। परन्तु पाणिनि से भी पूर्वकाल में 'ऐन्द्र व्याकरण' की सत्ता थी जिसके प्रबल तथा पुष्ट प्रमाण उपलब्ध हुए है। बहुत पहिले से ही यह व्याकरण कालकवलित हो गया है, परन्तु उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यह कथन अनुचित न होगा कि वैदिक काल में इन्द्र के प्रथम वैयाकरण होने की घटना का स्पष्ट निर्देश है। पिछले वैयाकरणों ने भी इसकी आवृत्ति की है। अतः इसकी सत्ता में सन्देह करने का स्थान नहीं है।

महर्षि शाकटायन ने ऋक्-तन्त्र (पृ० ३) में लिखा है कि व्याकरण का कथन ब्रह्मा ने बृहस्पति से किया, बृहस्पति ने इन्द्र से, इन्द्र ने भरद्वाज से, भरद्वाज ने ऋषियों से और ऋषियों ने ब्राह्मणों से।

---

१ ओंकार पृच्छाम। को धातु, किं प्रातिपदिकं किं नामाख्यातम्, किं लिङ्गं, किं वचनं, का विभक्तिः, कः प्रत्ययः, कः स्वरः उपसर्गोपनिपातः, किं व्याकरणं, को विकारः, को विकारी, कति मात्रा, कति वर्णाः, कति अक्षराः, कति पदाः, कः संयोगः किं स्थानानुप्रदानकरणं, शिक्षिकाः किमुच्चारयन्ति, किं छन्दः को वर्णः इति पूर्वं प्रश्नाः।

—गोपथ ब्राह्मण १।२४।

इस शास्त्र को 'अक्षर समाम्नाय' कहते है। तैत्तिरीयसंहिता में इस विषय का सर्व—प्रथम तथा प्राचीनतम उल्लेख मिलता है[1]। पूर्वकाल में वाग् 'अव्याकृत' थी—इसमें पद-प्रकृति की कथमपि व्यवस्था न थी—उसका व्याकरण न था और इस व्याकरण का नियमन भगवान् इन्द्र ने ही किया। इसी निर्देश को स्पष्ट कर पतञ्जलि ने महाभाष्य में लिखा है[2] कि बृहस्पति ने इन्द्र को प्रत्येक पद का उल्लेख कर दिव्य सहस्र वर्षों तक शब्द-पारायण किया, परन्तु अन्त न प्राप्त हो सके—इतना अगाध तथा अनन्त है यह शब्दरूपी महार्णव। इसीलिए पण्डित-समाज में एक प्राचीन गाथा प्रख्यात है—

समुद्रवद् व्याकरणं महेश्वरे
तदर्धकुम्भोद्धरणं बृहस्पतौ।
तद्-भागभागाच्च शतं पुरन्दरे
कुशाग्रबिन्दूत्पतितं हि पाणिनौ॥

महेश्वर व्याकरण समुद्र के समान विस्तृत था। बृहस्पति का व्याकरण आधे घड़े में जल रखने के समान था। इसके टुकड़े का भी शतांश इन्द्र व्याकरण में विद्यमान था और पाणिनि में तो कुश के अग्रभाग से गिरने वाले जल का बिन्दु ही वर्तमान है। इन चारों व्याकरणों के परस्पर परिमाण का यह सापेक्षिक वर्णन ध्यान देने योग्य है।

---

१ वाग् वै पराच्यव्याकृताऽवदत्। ते देवा इन्द्रमब्रुवन् इमां नो वाचं व्याकुर्विति। सोऽब्रवीद् वरं वृणै, मह्यं चैवैष वायवे च सह गृह्याता इति। तस्माद् ऐन्द्रवायवः सह गृह्यते। तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्। तस्मादियं व्याकृता वागुद्यते॥

तै० सं० ६।४।७।३।

२ बृहस्पतिश्च वक्ता। इन्द्रश्चाध्येता। दिव्यं वर्षसहस्रमध्ययनकालः। अन्तं च न जगाम।

महाभाष्य—पस्पशाह्निके।

ऐन्द्र व्याकरण

इन निर्देशों से इन्द्र के द्वारा व्याकरण की रचना किये जाने का वर्णन स्फुट प्रतीत होता है। यह व्याकरण ग्रन्थरूप में था, इसका भी परिचय हमें इन प्रमाणों से चलता है—

(१) नन्दिकेश्वर स्मृत 'काशिका' वृत्ति की तत्त्व विमर्शिणी व्याख्या में उपमन्यु ने स्पष्ट लिखा है—तथा-चोक्तम् इन्द्रेण 'अन्तर्वर्णा-समुद्भूता धातवः परिकीर्तिताः' इति।

(२) वररुचि ने 'ऐन्द्र निघण्टु' के आरम्भ में ही इसका निर्देश किया है—

पूर्वं पद्मभुवा प्रोक्तं श्रुत्वेन्द्रेण प्रकाशितम्।
तद् बुधेभ्यो वररुचिः कृतवानिन्द्र-नामकम्॥

(३) वोपदेव ने संस्कृत के मान्य व्याकरण सम्प्रदायों में प्रथम स्थान इन्द्र को दिया है—

इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टादि शाब्दिकाः॥

(४) सारस्वत-प्रक्रिया के कर्ता अनुभूति-स्वरूपाचार्य ने भी इन्द्र को ही शब्दसागर के पार करने के उद्योगी पुरुषों में प्रथम बतलाया है—

इन्द्रादयोऽपि यस्यान्तं न ययुः शब्दवारिधेः।
प्रक्रियां तस्य कृत्स्नस्य क्षमो वक्तुं नरः कथम्॥

डाक्टर बर्नेल का कथन है कि तमिळ भाषा के आद्य व्याकरण 'तोलकप्पियं' में ऐन्द्र व्याकरण से विशेष सहायता ली गई है। हरप्रसाद शास्त्री का कहना है कि कातन्त्र या कलाप व्याकरण का निर्माण इसी सम्प्रदाय के अनुसार किया गया है। वररुचि ने 'भवन्ती' अद्यतनी ह्यस्तनी आदि जिन पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख लिखा है

वे पाणिनि के 'लट्' 'लुङ्' 'लिट्' आदि शब्दों से प्राचीन है और इनका प्रयोग ऐन्द्र व्याकरण में किया गया था, ऐसा पण्डितों का अनुमान है।[1]

पाणिनि-व्याकरण

आज कल व्याकरणरूपी वेदाङ्ग का प्रतिनिधित्व करने वाला एक ही व्याकरण है और वह है 'पाणिनीय व्याकरण'। महर्षि पाणिनि ने लगभग ४००० अल्पाक्षर सूत्रों के द्वारा संस्कृत भाषा का नितान्त वैज्ञानिक व्याकरण प्रस्तुत कर विद्वानों को आश्चर्य में डाल दिया है। वैज्ञानिक दृष्टि से देवभाषा का जितना सुन्दर शास्त्रीय विवेचन पाणिनि ने किया है वैसा विवेचन अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। हम डके की चोट कह सकते है कि पाणिनि जैसा भाषा-मर्मज्ञ वैयाकरण संसार में अन्यत्र कहीं नहीं हुआ। पाणिनि का ग्रन्थ आठ अध्यायों में विभक्त है इसीलिए इसे 'अष्टाध्यायी' कहते हैं। इनका समय ईसा-पूर्व षष्ठ शतक है। पाणिनि के अनन्तर संस्कृत में प्रयुक्त होने वाले नवीन शब्दों की व्याख्या करने के उद्देश्य से कात्यायन ने ई० पूर्व चतुर्थ शतक में वार्तिकों की रचना की। तदनन्तर ई० पूर्व द्वितीय शतक में पतञ्जलि ने महाभाष्य का निर्माण किया। सूत्रों पर भाष्य अनेक हैं। परन्तु विषय की व्यापकता, विचार की गभीरता के कारण यही भाष्य महाभाष्य के गौरवपूर्ण अभिधान को प्राप्त कर सका है। इसे व्याकरण का ही ग्रन्थ मानना अनुचित होगा। व्याकरण के दार्शनिक सिद्धान्तों की मीमांसा सर्व-प्रथम हमें यहीं उपलब्ध होती है। इसका गद्य नितान्त प्राञ्जल तथा साहित्यिक है। ग्रन्थकार ने कथनोपकथन की शैली में समग्र ग्रन्थ

---

१ वर्तमाने लट् (३।२।१२३)। वार्तिक—प्रवृत्तस्याविरामे शिष्या भवन्त्या-वर्तमानत्वात्। 'भवन्तीति लट: पूर्वाचार्य-संज्ञा'—कैयट।

की रचना नितान्त मनोरंजक रूप में की है। व्याकरण के ये ही मुनित्रय हैं—पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि।

विक्रम-सम्वत् के आरम्भ से ही इन ग्रन्थों का विशेष मनन तथा समीक्षण पण्डित-समाज में होने लगा। व्याकरण का साहित्य विशाल तथा प्रतिभा-सम्पन्न है। कुछ ग्रन्थ तो सदा के लिए लुप्त हो गये हैं। ऐसे ग्रन्थों में व्याडि महर्षि रचित 'संग्रह' का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। इसका ग्रन्थ-परिमाण एक लाख श्लोक बतलाया जाता है। वामन तथा जयादित्य ने अष्टाध्यायी के ऊपर सम्मिलित रूप से एक बड़ी सुन्दर व्याख्या लिखी है। इसका नाम है—काशिका वृत्ति। ये दोनों ग्रन्थकार काश्मीर के रहने वाले थे और षष्ठ शतक के आरम्भ में विद्यमान थे। इस काशिका वृत्ति के ऊपर पिछले शताब्दी में व्याख्याओं की परम्परा निबद्ध की गई। एक प्रकार की व्याख्या को 'न्यास' कहते हैं। न्यास अनेक थे परन्तु वे धीरे-धीरे लुप्त हो गए। आज कल जिनेन्द्र बुद्धि (७०० ई०) का न्यास ही न्यास - ग्रन्थों का एकमात्र निदर्शन है। हरदत्त की पदमञ्जरी भी काशिका वृत्ति की एक सर्व-मान्य टीका है। ये हरदत्त दक्षिण भारत के निवासी थे और १२ वी शताब्दी में विद्यमान थे।

महाभाष्य के अनन्तर व्याकरण दर्शन का सबसे प्रधान ग्रन्थ वाक्य-पदीय है। इसके रचयिता आचार्य भर्तृहरि थे (षष्ठ शतक) वाक्य-पदीय में व्याकरण शास्त्र का दार्शनिक रूप स्फुट रूप से अभिव्यक्त होता है। व्याकरण शैवागम के अन्तर्गत है और उसकी अपनी विशिष्ट साधन-प्रक्रिया है। इसका पूर्ण परिचय विद्वानों को वाक्यपदीय के अनु-शीलन से होता है। भर्तृहरि शब्दाद्वैत के संस्थापक थे। उनकी दृष्टि में स्फोट ही एकमात्र परमतत्त्व है और यह जगत् उसीका विवर्त रूप है। इन्होंने महाभाष्य के ऊपर एक व्याख्या लिखी थी परन्तु वह आज कल उपलब्ध नहीं है। काश्मीर के निवासी कैयट द्वारा

विरचित भाष्य-प्रदीप ही महाभाष्य के सिद्धान्तों को प्रदीप के समान प्रकाशित करने वाला एकमात्र ग्रन्थ-रत्न है। प्रदीप के ऊपर नागेश भट्ट ने उद्योत की रचना कर प्रदीप के सिद्धान्तों को नितान्त स्पष्ट बनाने का श्लाघनीय उद्योग किया है।

अब तक जो टीकायें लिखी गईं वे अष्टाध्यायी के क्रम को मानकर प्रवृत्त हुई। परन्तु रामचन्द्राचार्य ने पञ्चदश शतक में अष्टाध्यायी के सूत्रों को प्रक्रिया के अनुसार एक नये क्रम से निबद्ध किया। इस क्रम में पदों की ही सिद्धि प्रधान लक्ष्य रक्खी गई है। इसी क्रम को अग्रसर करने वाले विख्यात वैयाकरण हुए भट्टोजि दीक्षित। ये काशी के ही रहने वाले थे। इनके गुरु थे 'आचार्य शेष श्रीकृष्ण'। शेष जी अपने समय के बडे ही मर्मज्ञ वैयाकरण थे। भट्टोजि दीक्षित ने उन्हीं से शिक्षा ग्रहण कर व्याकरण के इतिहास में एक नवीन युग उपस्थित कर दिया। इनके तीन ग्रन्थ सुप्रसिद्ध हैं—(१) सिद्धान्त कौमुदी, (२) शब्द-कौस्तुभ, (७) मनोरमा। नव्य व्याकरण इन्हीं ग्रन्थों के अध्ययन-अध्यापन मीमासा तथा समीक्षा में व्यस्त रहा है। दीक्षित की ही परम्परा में नागेश भट्ट उद्भट वैयाकरण हुए। इनकी प्रतिभा बहुमुखी है। इनका परिभाषेन्दुशेखर पाणिनि व्याकरण की उपयोगी परिभाषाओं का निदर्शन करने वाला सर्वमान्य ग्रन्थ है। इनका शब्देन्दुशेखर मनोरमा की विस्तृत व्याख्या है। इनकी लघुमञ्जूषा शब्द और अर्थ के सिद्धान्तों की विस्तृत मीमासा करने वाला सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। नागेश काशी के ही निवासी थे और अष्टादश शतक के उत्तरार्ध में विद्यमान थे। आज भी काशी पाणिनि-व्याकरण का महान् दुर्ग है। काशी के वैयाकरणों ने पाणिनि के सूत्रों, तथ्यों तथा सिद्धान्तों के उन्मीलन करने का जितना श्लाघनीय प्रयत्न किया है उतना किसी अन्य प्रान्त के वैयाकरणों ने नहीं।

संस्कृत-भाषा

पाणिनि के समय में संस्कृत बोलचाल की भाषा थी जिसमें शिष्ट लोग अपने मनोभावों का प्रकटीकरण अनायास बिना किसी प्रकार की शिक्षा के किया करते थे। इस विषय की पुष्टि में अनेक प्रमाण अन्यत्र दिये गये हैं[1]। पाणिनि ने उस युग की संस्कृत को 'भाषा' शब्द के द्वारा व्यवहृत किया है। उसके विरोध में प्राचीन वैदिक भाषा के लिए मन्त्र, छन्दसि तथा निगम इन तीन शब्दों का प्रयोग किया है जिनमें मन्त्र से तात्पर्य संहिता-विषयक मन्त्र से, तथा छन्दसि का तात्पर्य मन्त्र तथा ब्राह्मण दोनों से है (द्रष्टव्य शीर्षं छन्दसि ६।१।१५० जिसका उदाहरण 'शीर्ष्णो हि सोमं क्रीतं हरन्ति' ब्राह्मण का उद्धरण है) 'निगम' का प्रयोग यास्क ने सामान्यतः वेद के लिए किया है और पाणिनि ने भी इसी अर्थ में इसे प्रयुक्त किया है (६।३।११३)। पाणिनि के द्वारा व्याकृत भाषा मध्यदेश में प्रयुक्त संस्कृत भाषा थी। उन्होंने प्राचां तथा उदीचां शब्दों के द्वारा पूरबी भारत तथा उत्तरी भारत में होने वाली प्रयोग-भिन्नता को प्रदर्शित किया है। यथा 'कुपिरजोः प्राचां श्यन् परस्मैपदं च' ३।१।९० सूत्र के अनुसार कर्म-कर्तरि प्रयोग में 'कुप्यति' बनता है पूरब देश में, अन्यत्र आत्मनेपद प्रयुक्त होता है। कहीं प्राचां तथा उदीचां के परस्पर प्रयोग-विरोध का प्रदर्शन है (मिलाइए २।४।१८ तथा ३।४।१९)। इस प्रकार पाणिनि के समय में भारत के तीन विभिन्न खण्ड प्रतीत होते हैं—पूरबी देश, उत्तर देश तथा मध्य देश। प्राचां तथा उदीचां की भेदिका नदी, काशिका के अनुसार[1], शरावती थी जो कुरुक्षेत्र की नदी है तथा जो

---

१ द्रष्टव्य बलदेव उपाध्याय—संस्कृत साहित्य का इतिहास पृष्ठ १०-१६।

१ प्रागुदञ्चौ विभजते हंसः क्षीरोदके यथा

विदुषां शब्दसिद्ध्यर्थं सा नः पातु शरावती॥

—१।१।७५ पर काशिका में उद्धृत।

दृपद्वती (वर्तमान नाम चौतग या चितग)से अभिन्न प्रतीत होती है। इस प्रकार शरावती भारत को दो भागों में विभक्त करती है—पूरबी तथा उत्तरी। अमहन्नवं नगरेऽनुदीचाम् (६।२।८९) में 'अनुदीचाम्' के द्वारा मध्य देश की ओर संकेत है। पाणिनि स्वय उदीच्य थे। अत॰ उत्तर भारत के नगरों से, ग्रामों से, नदियों से तथा जातियों से उनका घनिष्ट परिचय होना स्वाभाविक है। मध्य देश ही आर्य सस्कृति का निरूपक तथा प्रतिष्टापक था और इसीलिए उस देश की भाषा भी समस्त आर्यावर्त की मान्य भाषा हुई; यही न्याय-संगत स्थिति प्रतीत होत है।

---

(४)

निरुक्त

'निरुक्त' निघण्टु की टीका है। निघण्टु में वेद के कठिन शब्दों का समुच्चय किया गया है। 'निघण्टु' की संख्या के विषय में पर्याप्त मतभेद है। आजकल उपलब्ध निघण्टु एक ही है और इसी के ऊपर महर्षि यास्क रचित 'निरुक्त' है। कतिपय विद्वान् यास्क को ही 'निघण्टु' का भी रचयिता मानते[1] हैं परन्तु प्राचीन परम्परा के अनुशीलन से यह बात प्रमाणित नहीं होती। निरुक्त के आरम्भ में 'निघण्टु' को 'समाम्नाय' कहा गया है। और इस शब्द की जो व्याख्या दुर्गाचार्य ने की है उससे तो इसका प्राचीनत्व ही सिद्ध होता है।[2] महाभारत (मोक्षधर्म पर्व अ० ३४२, श्लोक ८६–८७) के अनुसार प्रजापति कश्यप इस 'निघण्टु' के रचयिता हैं—

> वृषो हि भगवान् धर्मः ख्यातो लोकेषु भारत।
> निघण्टुकपदाख्याने विद्धि मां वृषमुत्तमम्॥
> कपिर्वराहः श्रेष्ठश्च धर्मश्च वृष उच्यते।
> तस्माद् वृषाकपिं प्राह कश्यपो मां प्रजापतिः॥

वर्तमान निघण्टु में 'वृषाकपि' शब्द संगृहीत किया गया है। अतः पूर्वोक्त कथन के अनुसार यही प्रतीत होता है कि महाभारत काल में प्रजापति कश्यप इसके निर्माता माने जाते थे। 'निघण्टु' में पाँच अध्याय

---

१ वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग १, खण्ड २, पृ० १९२।

२ दुर्गवृत्ति पृ० ३।

वर्तमान है। आदिम तीन अध्यायों को 'नैघण्टुक काण्ड' कहते चतुर्थ अध्याय 'नैगम काण्ड' और पञ्चम अध्याय 'दैवत का कहलाता है। प्रथम तीन अध्याय में तो पृथ्वी आदि के बोधक अ पदों का एकत्र सग्रह है। द्वितीय काण्ड को 'ऐकपदिक' भी कहते 'नैगम' का तात्पर्य यह है कि इनके प्रकृति प्रत्यय का यथार्थ अवग नहीं होता—'अनवगतसस्कारांश्च निगमान्।' दैवत काण्ड में देवत के रूप तथा स्थान का निर्देश है।

निघण्टु के व्याख्याकार

आजकाल निघण्टु की एक ही व्याख्या उपलब्ध होती है इसके कर्ता का नाम है—देवराज यज्वा। इनके पितामह का भी था—देवराज यज्वा और पिता का नाम था—यज्ञेश्वर। ये रंगेशपुर पास ही किसी ग्राम के निवासी थे। नाम से प्रतीत होता है कि सुदूर दक्षिण के निवासी थे। इनके समय के विषय में दो मत प्रचा है। कुछ लोग इन्हें सायण से भी अर्वाचीन मानते हैं, परन्तु सायण से प्राचीन मानना ही न्यायसंगत है। आचार्य सायण ने ऋ (१।६२।३) के भाष्य में 'निघण्टु भाष्य' के वचनों का निर्देश ि है जो देवराज के भाष्य में थोड़े पाठान्तर से उपलब्ध होता है। सि इस भाष्य के 'निघण्टु-भाष्य' कोई विद्यमान ही नहीं है। देवरा अपने भाष्य के उपोद्घात में क्षीरस्वामी तथा अनन्ताचार्य की 'नि व्याख्याओं' का उल्लेख किया है—'इदं च...क्षीरस्वामि-अनन्ताचार्य कृता निघण्टु व्याख्या...निरीक्ष्य क्रियते'। अनन्ताचार्य का निर्देश यहाँ प्रथम बार ही हमें मिलता है। क्षीरस्वामी के मत का निर्देश बहुलता से किया गया है। क्षीरस्वामी 'अमरकोश' के प्रसिद्ध टीका है। देवराज के उद्धरण अमरकोष टीका (अमरकोशोद्घाटन) में के त्यों उपलब्ध होते हैं। अतः 'निघण्टु व्याख्या' से देवराज का उ

प्राय इसी अमर-व्याख्या से ही प्रतीत होता है। इस भाष्य का नाम है—निघण्टु निर्वचन। अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार देवराज ने 'नैघण्टुक' काण्ड का ही निर्वचन अधिक विस्तार के साथ किया है (विरचयति देवराजो नैघण्टुक-काण्ड-निर्वचनम्—श्लो० ६)। अन्य काण्डों की व्याख्या बहुत ही अल्पाकार है। इस भाष्य का उपोद्घात वैदिक भाष्यकारों के इतिवृत्त जानने के लिए नितान्त उपयोगी है। व्याख्या बड़ी ही प्रामाणिक और उपादेय है। इसमें आचार्य स्कन्द स्वामी के ऋग्भाष्य तथा स्कन्द महेश्वर की निरुक्त-भाष्य-टीका से विशेष सहायता ली गई है। प्राचीन प्रमाणों का भी उद्धरण बड़ा ही सुन्दर है। सायण-पूर्व होने से देवराज की व्याख्या तथा निरुक्ति का विशेष महत्त्व है।

प्रसिद्ध तान्त्रिक भास्करराय रचित एक छोटा ग्रन्थ उपलब्ध होता है जिसमें निघण्टु के शब्द अमर की शैली पर श्लोकबद्ध कर दिये गये हैं। इससे इन्हें याद करने में बड़ा सुभीता होता है।

निरुक्त काल

निरुक्त युग—निघण्टु काल के अनन्तर निरुक्तों का समय आरम्भ होता है। दुर्गाचार्य के अनुसार निरुक्त संख्या में १४ थे—निरुक्तं चतुर्दश प्रभेदम् (दुर्गवृत्ति १।१३)। यास्क के उपलब्ध निरुक्त में बारह निरुक्तकारों के नाम तथा मत निर्दिष्ट किये गये हैं। इनके नाम अक्षरक्रम से इस प्रकार है—(१) आग्रायण, (२) औपमन्यव, (३) औदुम्बरायण, (४) और्णवाभ, (५) कात्थक्य, (६) क्रौष्टुकि, (७) गार्ग्य, (८) गालव, (९) तैटीकि, (१०) वार्ष्यायणि, (११) शाकपूणि, (१२) स्थौलाष्ठीवि। तेरहवें निरुक्तकार स्वयं यास्क हैं। इनसे अतिरिक्त १४ वाँ निरुक्तकार कौन था? इसका ठीक-ठीक परिचय नहीं मिलता। ऊपर निर्दिष्ट निरुक्तकारों के विशिष्ट मत की जानकारी निरुक्त के अनुशीलन से भली भाँति लग सकती है।[1]

[1] वैदिक वाङ्मय का इतिहास (१।२) पृ० १६६-१८०

इन ग्रन्थकारों में 'शाकपूणि' का मत अधिकता से उद्धृत किया गया है। बृहद्देवता में भी इनका मत निर्दिष्ट किया गया है। बृहद्देवता में तथा पुराणों में शाकपूणि का 'रथीतर शाकपूणि' नाम से स्मरण है तथा यास्क से इन्हें विरुद्धमत माननेवाला कहा गया है।

यास्क का निरुक्त

'निरुक्त' वेद के षडङ्गों में अन्यतम है। आजकल यही यास्क-रचित निरुक्त इस वेदाङ्ग का प्रतिनिधि-ग्रन्थ है। निरुक्त में बारह अध्याय हैं। अन्त में दो अध्याय परिशिष्ट रूप में दिये गये हैं। इस प्रकार समग्र ग्रन्थ चौदह अध्यायों में विभक्त है। परिशिष्ट वाले अध्याय भी अर्वाचीन नहीं माने जा सकते, क्योंकि सायण तथा उवट इन अध्यायों से भली भाँति परिचय रखते हैं। उवट ने यजुर्वेदभाष्य (१८।७७) में निरुक्त १३।१२ में उपलब्ध वाक्य को निर्दिष्ट किया है। अतः इस अंश का भोजराज से प्राचीन होना स्वतः सिद्ध है।

निघण्टु तथा निरुक्त का परस्पर सम्बन्ध - बोधक विवरण

निघण्टु			निरुक्त
			१ अध्याय (भूमिका)
(१) नैघण्टुक काण्ड[1] (गौ —अपारे)	१ अध्याय	[illegible]	२ अध्याय
	२ ,,		३ अध्याय
	३ ,,		

१ इस काण्ड में सब मिलाकर १३४१ पद हैं जिनमें से केवल साढ़े तीन सौ पदों की निरुक्ति यास्क ने यत्र तत्र की है। स्कन्दस्वामी ने इनसे भिन्न दो सौ पदों की व्याख्या की है—ऐसा देवराज का कथन है (पृ० ३)

(२) नैगम काण्ड ४ अध्याय

(जहा-ऋटपीसम्)	(क) १ खण्ड—६२ पद		४ अध्याय
	(ख) २ खण्ड—८४ ,,		५ अध्याय
	(ग) ३ खण्ड—१३२ ,,		६ अध्याय
			पूर्व षट्क

(३) दैवत काण्ड ५ अध्याय

(अग्नि-देवपत्नी)	पृथ्वी स्थान	(क) १ खण्ड	—३ पद	७ अध्याय (दैवता विषयक विशिष्ट भूमिकाकेसाथ)
		(ख) २ ,,	१३ ,,	८ ,,
		(ग) ३ ,,	३६ ,,	९ ,,
	अन्तरिक्ष	(घ) ४ ,,	३२ ,,	१० ,,
		(ङ) ५ ,,	३६ ,,	११ ,,
	आकाश	(च) ६ ,,	३१ ,,	१२ ,,
				उत्तरषट्क

यास्क की प्राचीनता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं होता। ये पाणिनि से भी प्राचीन हैं। संस्कृत भाषा का जो विकाश इनके निरुक्त में मिलता है वह पाणिनीय अष्टाध्यायी में व्याख्यात रूप से प्राचीनतर है। महाभारत के शान्तिपर्व में (अ० ३४२) यास्क के निरुक्तकार होने का स्पष्ट निर्देश है—

> यास्को मामृषिरव्यग्रो नैकयज्ञेषु गीतवान्।
> शिपिविष्ट इति ह्यस्माद् गुह्यनामधरो ह्यहम् ॥७२॥
> स्तुत्वा मां शिपिविष्टेति यास्क ऋषिरुदारधीः।
> यत्प्रसादादधो नष्टं निरुक्तमभिजग्मिवान् ॥७३॥

इस उल्लेख के आधार पर भी हम यास्क को विक्रम से सात-आठ सौ वर्ष पूर्व मानने के लिए बाध्य होते हैं। यास्क के इस ग्रन्थ की महत्ता बहुत ही अधिक है। ग्रन्थ के आरम्भ में यास्क ने निरुक्त के

सिद्धान्त का वैज्ञानिक प्रदर्शन किया है। इनके समय में वेदार्थ के अनुशीलन के लिए अनेक पक्ष थे, जिनका नाम इस प्रकार दिया गया है—(१) अधिदैवत, (२) अध्यात्म, (३) आख्यान-समय, (४) ऐतिहासिका., (५) नैदाना, (६) नैरुक्ताः, (७) परिव्राजकाः, (८) याज्ञिकाः। इस मत-निर्देश से वेदार्थानुशीलन के इतिहास पर विशेष प्रकाश पड़ता है। यास्क का प्रभाव अवान्तरकालीन वेदभाष्य-कारों पर बहुत ही अधिक पड़ा है। सायण ने इसी पद्धति का अनुसरण कर वेदभाष्यों की रचना में कृतकार्यता प्राप्त की है। यास्क की प्रक्रिया आधुनिक भाषावेत्ताओं को भी प्रधानत. मान्य है। निरुक्त का एकमात्र प्रतिनिधि होने के कारण इसका महत्त्व सर्वातिशायी है।

निरुक्त स्वयं भाष्यरूप है फिर भी वह स्थान-स्थान पर इतना दुरूह है कि विद्वान् टीकाकारों को भी उसके अर्थ समझने के लिये माथापच्ची करनी पड़ती है। तिस पर उसका पाठ यथार्थरूप से परम्परया प्राप्त भी नहीं होता। भाषा की दुरुहता के साथ-साथ उसके पाठ भी स्थान स्थान पर इतने भ्रष्ट हैं कि दुर्ग जैसे विद्वान् टीकाकार को भी कठिनता का अनुभव करना पड़ा है। निरुक्त की व्याख्या करने की ओर विक्रम से बहुत पूर्व विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हुआ था। इसका पता हमें पतञ्जलि के महाभाष्य से ही चलता है। अष्टाध्यायी ४।३।६६ के भाष्य में वे लिखते हैं—"शब्दग्रन्थेषु चैषा प्रसूततरा गतिर्भवति। निरुक्तं व्याख्यायते। व्याकरणं व्याख्यायत इत्युच्यते। न कश्चि-दाह पाटलिपुत्रं व्याख्यायत इति।" परन्तु पतञ्जलि का संकेत किस व्याख्यान की ओर है? इसका पता नहीं चलता।

सबसे विस्तृत तथा सम्पूर्ण टीका जो आजकल निरुक्त के ऊपर उपलब्ध हुई है वह है दुर्गाचार्यवृत्ति। परन्तु यह इस विषय का आदिम

ग्रन्थ नहीं है, इतना तो निश्चित ही है। दुर्गवृत्ति में चार स्थलों[1] पर किसी वार्तिककार के श्लोक उद्धृत किये गये हैं, प्रसङ्ग से स्पष्ट मालूम पड़ता है कि यह वार्तिक इसी निरुक्त पर ही था। निरुक्त स्वयं भाष्य-रूप है अतएव उसके ऊपर वार्तिक की रचना अयुक्त नहीं। निरुक्त-वार्तिक की सत्ता एक अन्य ग्रन्थ से भी प्रमणित होती है। मण्डन मिश्र रचित 'स्फोटसिद्धि' नामक ग्रन्थ की 'गोपालिका टीका' में निरुक्त वार्तिक से छः श्लोक उद्धृत किये गये हैं। और ये सब श्लोक निरुक्त-१।२० की व्याख्यारूप हैं। अतः इन दोनों प्रमाणों को एकत्र करने से हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि निरुक्त-वार्तिक ग्रन्थ अवश्य था और अत्यन्त प्राचीन भी था। परन्तु अभी तक इस ग्रन्थ का पता नहीं चलता। यदि इसका उद्धार हो जाय तो वेदार्थानुशीलन के इतिहास में एक अत्यन्त प्रामाणिक वस्तु प्राप्त हो जाय। वर्वर स्वामी की टीका की भी यही दशा है। स्कन्दस्वामी ने इन्हें पूर्व के टीकाकारों में उल्लिखित किया है[2] तथा इन्हें दुर्गाचार्य से भी प्राचीनतर माना है। जब तक इस ग्रन्थ की उपलब्धि नहीं होती तब तक हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि वर्वर स्वामी पूर्व-निर्दिष्ट वार्तिककार से भिन्न है या अभिन्न ?

दुर्गाचार्य

निरुक्त के प्राचीन उपलब्ध टीकाकार दुर्गाचार्य ही हैं, परन्तु ये आद्य टीकाकार नहीं हैं। इन्होंने अपनी वृत्ति में प्राचीन टीकाकारों की व्याख्या की ओर अनेक स्थानों पर उल्लेख किया है। वेदों के ये कितने बड़े मर्मज्ञ थे; इसका परिचय तो दुर्गवृत्ति के साधारण पाठक को भी लग सकता है। इस वृत्ति में निरुक्त की तथा उसमें उल्लिखित मन्त्रों की बड़े विस्तार के साथ व्याख्या प्रस्तुत की गई है। निरुक्त का प्रति-

---

१ निरुक्त वृत्ति १।१, ६।३१, ८।४।१।१।१३।

२ तत्र पूर्वटीकाकारैर्वर्वरस्वामिभगवद्दुर्गप्रभृतिभि· विस्तरेण व्याख्यातस्य।

शब्द उद्धृत किया गया है। इस वृत्ति के आधार पर समग्र निरुक्त का शाब्दिक रूप खड़ा किया जा सकता है। विद्वत्ता तो इतनी अधिक है, साथ ही साथ इनकी नम्रता भी श्लाघनीय है। निरुक्त के दुरूह अंशों की व्याख्या करने के अवसर पर इन्होंने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि ऐसे कठिन मन्त्रों के व्याख्यान में विद्वान् की भी मति रुद्ध हो जाती है। हम तो इसके विषय में इतना ही जानते हैं—

'ईदृशेषु शब्दार्थन्यायसंकटेषु मन्त्रार्थघटनेषु दुरवबोधेषु मतिमता मतयो न प्रतिहन्यन्ते। वय त्वेतावदत्रावबुध्यामह इति।' ७।३१

कहीं-कहीं इन्होंने स्वयं नवीन पाठ की योजना की है। इससे स्पष्ट है कि इन्होंने निरुक्त के अर्थ में बडी छानबीन से काम लिया है। यदि हमें यह वृत्ति आज उपलब्ध नहीं होती तो निरुक्त का समझना एक दुरूह ही व्यापार होता। परन्तु दुःख की बात है कि दुर्गाचार्य के विषय में हमारा ऐतिहासिक ज्ञान बहुत ही स्वल्प है। ४।१४ निरुक्त में इन्होंने अपने को कापिष्ठल शाखाध्यायी वसिष्ठगोत्री लिखा है। प्रत्येक अध्याय की समाप्ति पर वृत्ति की पुष्पिका इस प्रकार है—

"इति जम्बूमार्गाश्रमवासिन आचार्यभगवद्दुर्गस्य कृतौ ऋज्वर्थाया निरुक्तवृत्तौ . अध्यायः समाप्तः।'

इससे ज्ञात होता है कि ये जम्बूमार्ग - आश्रम के निवासी थे। परन्तु यह स्थान कहाँ है? इसका ठीक ठीक उत्तर देना आजकल कठिन है। डाक्टर लक्ष्मण स्वरूप इसे काश्मीर राज्य का प्रसिद्ध नगर जम्बू मानते हैं। परन्तु भगवत्-दत्त जी का यह अनुमान है कि ये गुजरात प्रान्त के निवासी थे। इन्होंने मैत्रायणी संहिता से अधिक उद्धरण अपनी वृत्ति में दिया है। प्राचीन काल में यह संहिता गुजरात प्रान्त में विशेष रूप से प्रसिद्ध थी। इस अनुमान के लिये यही आधार है।

दुर्गाचार्य का समय-निरूपण अभी यथार्थ रीति से नहीं हुआ है। इस वृत्ति की सब से प्राचीन हस्तलिखित प्रति १४४४ संवत् की है। अतः दुर्गाचार्य को इस समय से प्राचीन मानना पड़ेगा। ऋग्वेद के भाष्यकार उद्गीथ दुर्गाचार्य की वृत्ति से परिचित मालूम पड़ते हैं। आचार्य उद्गीथ का समय विक्रम की सप्तम शताब्दी है। अतः दुर्गाचार्य को सप्तम शताब्दी से अर्वाचीन नहीं माना जा सकता।

(२) निरुक्त के अन्य टीकाकारों में स्कन्द-महेश्वर की टीका लाहौर से प्रकाशित हुई है। यह टीका प्राचीन, प्रामाणिक और पाण्डित्य-पूर्ण है। ये स्कन्द स्वामी वही व्यक्ति हैं जिन्होंने ऋग्वेद के ऊपर भाष्य लिखा है। ये गुजरात की प्रख्यात नगरी वलभी के रहने वाले थे। इनके पिता का नाम भर्तृध्रुव था। इनका समय सप्तम शतक विक्रमी का उत्तरार्ध है। इनका ऋग्वेद का भाष्य प्रामाणिक है तथा अल्पाक्षर होने पर भी सारगर्भित है। ऐसे विशिष्ट विद्वान् के द्वारा विरचित होने से यह निरुक्त टीका भी अपनी विशिष्टता रखती है।

(३) निरुक्त-निचय—इस ग्रन्थ के रचयिता कोई वररुचि हैं। यह निरुक्त की साक्षात् व्याख्या नहीं है अपितु निरुक्त के सिद्धान्तों के प्रतिपादक लगभग एक सौ श्लोकों की स्वतन्त्र व्याख्या है। निरुक्त की इन टीकाओं के अनुशीलन करने से हम भाषाशास्त्र-संबंधी अनेक ज्ञातव्य विषयों पर पहुँचते हैं। निरुक्त तथा उसकी वृत्तियों में दिये गये संकेतों को ग्रहण कर मध्ययुग के विद्वानों ने वेद के भाष्य निबद्ध करने में सफलता प्राप्त की है। मध्यकालीन भाष्यकारों को अपने सिद्धान्तों के निर्माण करने में इन्हीं ग्रन्थों से स्फूर्ति तथा प्रेरणा मिली है, इस विषय में सन्देह के लिये स्थान नहीं है। इस प्रकार इन ग्रन्थों का ऐतिहासिक महत्त्व वेद के अर्थानुचिन्तन के विषय में बहुत ही अधिक है। सायणाचार्य तो यास्क तथा दुर्गाचार्य के तथा अन्य व्याख्याकारों के विशेष ऋणी हैं; इस तथ्य को उन्होंने स्पष्ट स्वीकार किया है।

निरुक्त का महत्त्व

निरुक्त शब्द की व्याख्या सायणाचार्य के अनुसार यह है—**अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजातं यत्र उक्तं तत् निरुक्तम्।** अर्थात् अर्थ की जानकारी के लिये स्वतन्त्र रूप से जो पदों का संग्रह है वही निरुक्त कहलाता है। दुर्गाचार्य[1] का कहना है कि अर्थ का परिज्ञान कराने के कारण यह अंग इतर वेदाङ्गों तथा शास्त्रों से प्रधान है। अर्थ प्रधान होता है और शब्द गौण होता है। व्याकरण में इस शब्द का ही विचार है। कल्प में मन्त्रों के विनियोग का चिन्तन होता है। जो मन्त्र जिस अर्थ को शब्दतः स्वीकार करने में समर्थ होता है वहीं उसका प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार कल्प भी मन्त्रों के अर्थानुसन्धान के ऊपर विनियोग का विधान करता है। अतः निरुक्त कल्प से भी अधिक महत्त्व का है। सारांश यह है कि शब्द का लक्षण तो व्याकरण के अनुसार जाना जाता है परन्तु शब्द और अर्थ के निर्वचन का ज्ञान निरुक्त के द्वारा ही जाना जा सकता है। इस प्रकार निरुक्त वेद के अर्थ को जानने के लिये नितान्त आवश्यक है। यह व्याकरण-शास्त्र का पूरक है।

निरुक्त में वैदिक शब्दों की निरुक्ति दी गई है। 'निरुक्ति' शब्द का अर्थ है व्युत्पत्ति। निरुक्त का यह सर्वमान्य मत है कि प्रत्येक शब्द किसी न किसी धातु के साथ अवश्य सम्बन्ध रखते हैं। इसीलिये निरुक्तकार शब्दों की व्युत्पत्ति दिखलाते हुये धातु के साथ विभिन्न प्रत्ययों का निर्देश बतलाते हैं। निरुक्त के अनुसार सब शब्द व्युत्पन्न हैं

---

१ प्रधानं चेदमितरेभ्यो अङ्गेभ्य सर्वशास्त्रेभ्यश्च अर्थपरिज्ञानाभिनिवेशात्। अर्थो हि प्रधानं तद्गुणः शब्दः तन्त्रेषु व्याकरणादिषु चिन्त्यते। यथा शब्द-लक्षण-परिज्ञानं सर्वशास्त्रेषु व्याकरणात् एव शब्दार्थ निर्वचन परिज्ञानं निरुक्तात्।

दुर्गाचार्य वृत्ति १४ ३।

अर्थात् किसी न किसी धातु से बने हुए हैं (धातुज)। वैयाकरणों में प्राचीन वैयाकरण शाकटायन का यह मत था। इसका उल्लेख यास्क तथा पतञ्जलि ने अपने ग्रन्थों में किया है[1]। शब्दों की व्युत्पत्ति अनेक प्रकार से की गई है। 'दुहिता' शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में यास्क लिखते हैं कि वह पिता से दूर रक्खे जाने पर ही उसका हित करती है (दूरे हिता) अथवा वह पिता से सदा द्रव्य को दुहा करती है अथवा वह स्वयं गाय दूहती है।

निरुक्त जिस आधार पर प्रवृत्त होता है—अर्थात् प्रत्येक संज्ञा पद धातु से व्युत्पन्न हुआ है—वह आधार नितान्त वैज्ञानिक है। इसीका आजकल नाम है भाषा विज्ञान। इसकी उन्नति पाश्चात्य जगत् में १०० वर्ष के भीतर ही हुई है और वह भी संस्कृत भाषा के यूरोप में प्रचार होने पर ही। परन्तु आज से ३००० वर्ष पहले वैदिक ऋषियों ने इस शास्त्र के सिद्धान्तों का वैज्ञानिक रीति से निरूपण किया था। भाषा शास्त्र के इतिहास में भारतवर्ष ही इसका मूल उद्गम स्थान है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। निरुक्त के आरम्भ में इस विषय के जिन नियमों का प्रतिपादन उपलब्ध होता है वह विशेष महत्त्व रखता है[2]।

---

१ तत्र नामानि आख्यातजानीति शाकटायनो निरुक्तसमयश्च।

—निरुक्त १।१२।२।

नाम च धातुजमाह निरुक्ते, व्याकरणे शकटस्य च तोकम्।

—महाभाष्य

२ निरुक्त के अनेक संस्करण भारत में प्रकाशित हुए हैं।

(क) सत्यव्रत सामश्रमी (एशियाटिक सोसाइटी बंगाल, १८८०) ने दुर्गवृत्ति के साथ इसका एक संस्करण निकाला है।

(ख) पं० शिवदत्त शर्मा के सम्पादकत्व में वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई सं० १९६९ वि० में प्रकाशित।

निरुक्ति की शैली

निरुक्त भाषाशास्त्र की दृष्टि से एक अनुपम रत्न है। निरुक्त का मान्य सिद्धान्त है कि सब नाम धातु से उत्पन्न होने वाले हैं। वैयाकरणों में केवल शाकटायन का ही यह मत था। इस मत की परीक्षा गार्ग्य नामक किसी प्राचीन आचार्य ने बड़ी युक्तियों के बलपर की है जिनका खंडन यास्क ने प्रबलतर युक्तियों से किया है। भाषा का मूल धातु ही होता है, इस तथ्य का उद्‌घाटन यास्क ने आज से तीन हजार वर्ष पहिले किया था। यह तथ्य आधुनिक तुलनात्मक भाषाशास्त्र का मेरुदण्ड है। यास्क ने अपने वैज्ञानिक मत की प्रस्थापना के लिए अनेक सबल युक्तियाँ दी हैं जिनसे परिचय आवश्यक है।

गार्ग्य की पहली आपत्ति "वस्तु का क्रियानुसार नाम रखने से अनेक वस्तुओं की एक क्रिया होने से अनेक का एक नाम हो सकता है" असंगत है। तुल्यकर्म करने वाले लोगों में भी उसी कर्म द्वारा उनमें से व्यक्ति-विशेष या श्रेणी-विशेष का ही नाम हुआ करता है, सब का नहीं। लोक-व्यवहार की यही शैली है। 'तक्षण' (काटना) और 'परिव्रजन' (चारों ओर फिरना) क्रियाओं के अनेक व्यक्तियों के करने पर भी बढ़ई का नाम 'तक्षा' तथा सन्यासी का नाम 'परिव्राजक' है, अन्य का नहीं। शब्द का स्वभाव ही ऐसा है कि किसी क्रिया द्वारा किसी एक ही वस्तु का प्रतिपादन करता है, सब वस्तुओं का प्रतिपादन नहीं। एक वस्तु

(ग) डाक्टर लक्ष्मण स्वरूप ने पंजाब विश्वविद्यालय से इस ग्रन्थ का मूल पाठ, अंग्रेजी अनुवाद स्कन्द महेश्वर की टीका तथा टिप्पणियों के साथ प्रामाणिक तथा वैज्ञानिक संस्करण अनेक भागों में सम्पादित किया है।

(घ) पूना के प्रोफेसर राजवाड़े ने दुर्गवृत्ति के साथ निरुक्त का संस्करण सम्पादित किया है जो प्रामाणिकता की दृष्टि से अद्वितीय है। उन्होंने विस्तृत टिप्पणियों के साथ इसका मराठी भाषा में अनुवाद भी किया है जो विषय की दृष्टि से तथा निरुक्त के बोध के लिये विशेष उपादेय है।

के साथ अनेक क्रियाओं का योग रहने पर भी किसी एक क्रिया के अनुसार उसका नाम हुआ करता है—यह शब्द का स्वभाव तथा लोक-प्रसिद्ध व्यवहार है। 'तक्षा' तथा 'परिव्राजक' अन्य क्रियाओं को भी करते हैं, परन्तु क्रिया की विशिष्टता के कारण तक्षण तथा परिव्रजन क्रियाओं के अनुसार ही उनका नामकरण हुआ है। निष्पन्न नाम के सहारे वस्तु की क्रिया की परीक्षा या विचार करना असगत नहीं होता। कारण, नाम की निष्पत्ति होने पर ही उसके योगार्थ की परीक्षा हो सकती है (भवति हि निष्पन्नेऽभिव्याहारे योगपरीष्टिः—निरुक्त १।१४) नाम के निपन्न न होने पर किसका अर्थ परीक्षित होगा? "प्रथनात् पृथिवी"—विस्तृत किये जाने के कारण पृथिवी का यह नाम है। शाकटायन की इस व्याख्या पर गार्ग्य का यह कथन नितान्त अयुक्तिक है कि इसे किसने विस्तृत बनाया? या किस आधार पर स्थित होकर व्यक्ति ने इसे विस्तृत किया? ये बातें तर्कहीन हैं क्योंकि पृथिवी का पृथुत्व तो प्रत्यक्षदृष्ट है। इसके प्रथन के विषय में प्रश्न ही व्यर्थ है। अतः गार्ग्य की यह भी आपत्ति सुसगत नहीं है।

शाकटायन ने पदों की निरुक्ति के लिए एक अभिन्न पद की व्याख्या अनेक धातुओं के योग से निष्पन्न की है। 'सत्य' शब्द को शाकटायन ने दो भागों में विभक्त किया है—सत् + य; जिनमें प्रथम अंश अस्ति से निष्पन्न है तथा द्वितीय अंश इण् धातु के 'आययति' रूप से गृहीत है। सन्तमेव अर्थम् आययति गमयतीति सत्यम्अ र्थात् जो विद्यमान अर्थ का यथार्थ अर्थ का ज्ञान करावे वह 'सत्य' है। गार्ग्य को इस पर महती आपत्ति है। यास्क का उत्तर है कि शब्दों को तोड़-मरोड़ करने पर भी शाकटायन की निरुक्ति अनुगतार्थ है और इसीलिए अमान्य नहीं है। अनन्वित अर्थ में शब्द का संस्कार करने वाला पुरुष निन्दनीय होता है, शास्त्र नहीं (सैषा पुरुषगर्ह्या न शास्त्रगर्ह्या)। निरुक्ति तथा पद का अन्वय होना ही न्याय्य है। उसके लिए पदों को विभक्त

करना अनुचित नहीं है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में यह निरुक्ति-प्रकार ग्राह्य माना गया है, गर्हणीय नहीं। शतपथ ब्राह्मण (१४।८।४।१) ने 'हृदय' शब्द को तीन भागों में विभक्त कर उनकी निरुक्ति क्रमशः हृ, दा तथा इण् (आययति रूप से) धातुओं से प्रदर्शित की है। फलतः शाकटायन का मत यथार्थ है।

परभाविनी क्रिया के द्वारा पूर्वजात वस्तु का नामकरण होना उचित नहीं है, गार्ग्य की यह आपत्ति भी अकिञ्चित्कर है। लोक में परभाविनी क्रिया के द्वारा पूर्वजातवस्तु की संज्ञा या व्यपदेश अनेक स्थानों पर देखा जाता है। भविष्यत् योग या सम्बन्ध के सहारे किसी व्यक्ति का 'बिल्वाद' तथा 'लम्बचूडक' नामकरण लोक में होता है। मीमांसा-दर्शन का भी यही सिद्धान्त है। रूढ़ शब्दों की भी व्युत्पत्ति अनावश्यक है, यह कथन भी ठीक नहीं। वेद में रूढ़ शब्दों की व्युत्पत्ति अनेकत्र दृष्टिगोचर होती है। यदसर्पत् तत् सर्पिः। सर्पिः (घी) की व्युत्पत्ति गमनार्थक सृप् धातु से निष्पन्न होती है।

यास्क ने इस प्रकार के युक्ति-व्यूह से स्पष्टतः प्रतिपादित किया है कि समस्त नाम धातुज हैं और वर्तमान भाषा शास्त्र का यही मान्य सिद्धान्त है[1]।

(५)

छन्द

छन्द वेद का पाँचवा अङ्ग है। वेद के मन्त्रों के उच्चारण के निमित्त छन्दों का ज्ञान बड़ा ही आवश्यक है। छन्दों का बिना ज्ञान हुए मन्त्रों का उच्चारण तथा पाठ ठीक ढंग से नहीं हो सकता। प्रत्येक सूक्त में देवता, ऋषि तथा छन्द का ज्ञान आवश्यक माना जाता है। कात्यायन

---

[1] यास्क—निरुक्त, अध्याय १, खण्ड १८।

का यह स्पष्ट कथन है कि जो व्यक्ति छन्द, ऋषि तथा देवता के ज्ञान से हीन होकर मन्त्र का अध्ययन, अध्यापन, यजन तथा याजन करता है उसका यह प्रत्येक कार्य निष्फल ही होता है[1]।

प्रधान छन्दों के नाम संहिता तथा ब्राह्मणों में उपलब्ध होते हैं जिससे प्रतीत होता है कि इस अंग की उत्पत्ति वैदिक युग में हो गई थी। इस वेदाङ्ग का प्रतिनिधि ग्रन्थ है पिंगलाचार्य कृत छन्दः सूत्र। इस ग्रन्थ के रचयिता पिङ्गल कब हुए? इसका पर्याप्त परिचय नहीं मिलता। यह ग्रन्थ सूत्ररूप में है और आठ अध्यायों में विभक्त है। आरम्भ से चौथे अध्याय के ७ वे सूत्र तक वैदिक छन्दों के लक्षण दिये गये हैं। तदनन्तर लौकिक छन्दो का वर्णन है। इसके ऊपर भट्ट हलायुध-कृत 'मृत संजीवनी' नामक व्याख्या प्रसिद्ध है। इसका प्रकाशन अनेक स्थानो से हुआ है[2]।

वैदिक संहिताओं का अधिकांश भाग छन्दोमय है। कृष्ण यजुर्वेद तथा अथर्ववेद के कतिपय भाग में गद्य का प्रयोग किया गया उपलब्ध होता है। इन अंशो को छोड देने पर समग्र वैदिक संहिताएँ छन्दोमयी वाक् के रूप में मिलती है। ऋग्वेद तथा सामवेद के समस्त मन्त्र छन्दोबद्ध ऋचाएँ है। हृदय के कोमल भावों की अभिव्यक्ति का नैसर्गिक माध्यम छन्द ही है। अन्तस्तल के मर्मस्पर्शी भाव प्रकट करने के लिए कविजनों छन्दों का कमनीय कलेवर ही खोजा करते हैं। मन्त्रों का प्रधान उद्देश्य यज्ञों में उपास्य देवता के प्रसादन कार्य में ही है और यह भी निश्चय रूप से

---

१ यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवत-ब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वा अध्यापयति वा स्थाणु वर्च्छति गर्त वा पात्यते प्रमीयते वा पापीयान् भवति।

सर्वानुक्रमणी १।१।

२ बंगला अनुवाद के साथ प० जीवानाथ भट्टाचार्य ने इसे कलकत्ता से प्रकाशित किया है (शक १८३५)। यह संस्करण विशुद्ध तथा छात्रोपयोगी है।

कहा जा सकता है कि देवताओं की प्रसन्नता उत्पन्न करने का मुख्य साधन मन्त्रों का गायन ही हो सकता है। इस दृष्टि से भी छन्दों की महत्ता विशेष है। किसी मन्त्र की फलवत्ता तभी सम्पन्न हो सकती है जब उसके द्रष्टा ऋषि तथा वर्णित देवता के साथ साथ हम उसके छन्द से भी परिचित हों। अतः मन्त्रों के छन्दों से परिचय प्राप्त करना एक विशेष आवश्यक कार्य है। पाणिनीय शिक्षा (श्लोक ४) का कहना है—छन्द पादौ तु वेदस्य—छन्द वेद के पाद है। जिस प्रकार बिना पैरों के सहारे न तो मनुष्य खड़ा हो सकता है और न चल सकता है, उसी प्रकार छन्द के आधार के बिना वेद लगड़ाने लगता है—चलने में असमर्थ रहता है।

यास्क ने 'छन्द.' की व्युपत्ति छद् धातु (ढकना) से बतलाई है और छन्दो के छन्द कहे जाने का रहस्य यही है कि ये वेदो के आवरण है—ढकने वाले साधन है (छन्दासि छादनात्—नि० ७।१९)। इसी अर्थ की पुष्टि में दुर्गाचार्य ने यह सारगर्भित वाक्य उद्धृत किया है—यद्देभिरात्मानमाच्छादयन् देवा मृत्योर्बिभ्यतः, तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्[1]। पीछे वेद के लिए 'छन्द' का प्रयोग उपचारवशात् होने लगा। वेदों का वाह्यरूप छन्दोबद्ध होने से यह गौण प्रयोग अवान्तर काल में होने लगा। पाणिनि ने बोलचाल की भाषा के लिये जहाँ 'भाषा' शब्द का प्रयोग किया है, वहाँ सूत्रों में वैदिक भाषा के लिये 'छन्दस्' का प्रयोग किया है[2]। लौकिक संस्कृत की दृष्टि से वैदिक संस्कृत के शब्द-रूपों तथा छन्दो में नियम का सामान्य अभाव है। इसीलिए 'छान्दस'

---

[1] यह वाक्य छान्दोग्य उपनिषद् (१।४।२) में भी पाया जाता है, परन्तु दोनों में कुछ पाठभेद है। तात्पर्य समान ही है।

[2] यथा 'बहुलं छन्दसि' पाणिनि ७।१।८, ७।१।१०, ७।१।२६, ७।१।३८ आदि।

शब्द का अर्थ हो गया अनिश्चित, अनियमित और इसी अर्थ में यह शब्द आजकल बहुधा प्रयुक्त किया जाता है।

वैदिक छन्दो की विशेषता यही है कि ये अक्षर-गणना पर नियत रहते हैं अर्थात् उनमें अक्षरों के गुरुलघु के क्रम का कोई विशेष नियम नहीं है। इसीलिये कात्यायन ने 'सर्वानुक्रमणी' में इसका लक्षण 'यदक्षरपरिमाण तच्छन्दः' किया है। परन्तु लौकिक संस्कृत के छन्दों में यह बात नहीं है। वहाँ तो वृत्तस्थ अक्षरों की गुरुता और लघुता नियत कर दी गई है। यह भी याद करने को बात है कि अनेक शताब्दियों के अनन्तर वैदिक छन्दो से ही लौकिक छन्दो का आविर्भाव हुआ है। लौकिक छन्दों में चार ही चरण होते हैं, परन्तु वैदिक छन्दों में यह नियम नहीं है। यो तो वेदों में एक तथा दो पाद वाले छन्द भी मिलते हैं, परन्तु तीन पाद वाले छन्दो का विशेष प्राचुर्य है। गायत्री तथा उष्णिक् तीन पाद के ही होते है। पंक्ति छन्द पाँच पादों का होता है। इस प्रकार तुलनात्मक अध्ययन करने से अनेक महत्त्वपूर्ण बातों का पता लगाया जा सकता है। 'वैदिक छन्द' के साङ्गोपाङ्ग अध्ययन की अभी बडी कमी है। यह विषय भी अन्य वैदिक विषयो के समान अत्यन्त गम्भीर है।

प्रधान वैदिक छन्द

नाम	पाद				
	१	२	३	४	५
गायत्री	८ अक्षर	८	८		
उष्णिक्	८	८	१२		
पुरउष्णिक्	१२	८	८		
ककुप्	८	१२	८		

अनुष्टुप्	८	८	८	८	
बृहती	८	८	१२	८	
सतोबृहती	१२	८	१२	८	
पङ्क्ति	८	८	८	८	८
प्रस्तारपङ्क्ति	१२	१२	८	८	
त्रिष्टुभ्	११	११	११	११	
जगती	१२	१२	१२	१२	

इन्हीं छन्दों के अनेक अवान्तर भेद भी संहिताओं में मिलते हैं। प्रत्येक संहिता के छन्दों का वर्णन अनुक्रमणियों में बड़ी सूक्ष्मता के साथ किया गया है। कात्यायन ने ऋग्वेद के प्रत्येक मन्त्र के छन्दों का निर्देश 'सर्वानुक्रमणी' में बड़ी प्रामाणिकता से किया है। प्रातिशाख्यों में, विशेषत ऋक्प्रातिशाख्य (पटल १६—पटल १८) में, छन्द का विस्तृत विवेचन है। पिंगल के ग्रन्थ में वैदिक तथा लौकिक दोनों प्रकार के छन्दों का विशेष वर्णन है। ये ग्रन्थ छन्दों की जानकारी के लिये विशेष मननीय हैं।

पहले बतलाया गया है कि वैदिक छन्दों में अक्षरों के गौरव-लाघव पर ध्यान न देकर उनकी संख्या का ही विचार किया जाता है। कभी-कभी अन्य पादों के अक्षरों के समसंख्यक होने पर भी एक पाद में कभी संख्या कम हो जाती है और कभी अधिक। यह मनमानी अनियमित नहीं है, अपि तु नियम से ही किया जाता है। यदि किसी पाद के अक्षर एक कम हों तो उसे 'निचृत्' और एक अधिक हों, तो 'भुरिक्' कहते हैं। नियमत: त्रिपदा अष्टाक्षरा गायत्री के अक्षरों की संख्या (८×३) २४ ही है, परन्तु २३ अक्षरों की गायत्री 'निचृद्-गायत्री' और २५ अक्षरों की 'भुरिग्-गायत्री' कही जाती है। इसी प्रकार दो अक्षरों की

हीनता वाले छन्दों को 'विराट्' तथा दो अक्षरों की अधिकता होने पर छन्द को 'स्वराट्' कहते हैं। कहना न होगा कि 'विराट् गायत्री (२४-२) २२ अक्षरों की और 'स्वराट् गायत्री' (२४+२) २६ अक्षरों की होती है[1]।

कभी-कभी देखने में आता है कि छन्द एक अक्षर के अभाव में लँगड़ा जान पड़ता है। ऐसी दशाओं में छन्द को नियमबद्ध बनाने के अभिप्राय से एक अक्षर को दो अक्षर बना देने की अवस्था 'सर्वानुक्रमणी' में स्पष्टतः दी गई है।—

पादपूरणार्थं क्षैप्रसयोगैकाक्षरीभावान् व्यूहेत्। (सर्वा० ३।६) अर्थात् पादपूरण के लिये क्षेप्रसयोग (यकार तथा वकार के संयोग) तथा सन्धिजन्य एकाक्षरों को पृथक् कर देना चाहिए। कुछ उदाहरणों के द्वारा इस नियम को स्पष्ट करना उचित होगा:—

(१) जहाँ यण् सन्धि के द्वारा यकार तथा वकार हो, उसे पृथक् कर मूल दोनों अक्षरों का उच्चारण करना चाहिए यथा—त्रिपदा उष्णिक् के उदाहरण में दिए गए मन्त्र के दूसरे चरण—पिबाति सोम्यं मधु—में ८ अक्षरों में एक अक्षर की कमी है। अतः पादपूरण के लिए सोम्य = सोमिअं। जगती के अन्तिम चरण में द्युमद् = दिउमद्। 'तत् सवितुर्वरेण्यं' में वरेण्यं = वरेणिअं।

(२) वकार का पृथक् करण—अधिकांश मन्त्रों में त्वं का उच्चारण तुअम् होता है। 'दिव गच्छ स्वः पते' में स्वः = सुअः।

(३) रेफ का पृथक् करण—अनेक मन्त्रों में 'इन्द्र' का उच्चारण 'इन्दर' होता है यथा ऋ० ७।१२।२ त्वं ह त्यदिन्द्रः का उच्चारण होगा—तुअं ह त्यदिन्दरः।

---

१ अनाधिकेनैकेन निचृद् भुरिजौ। द्वाभ्या विराट् स्वराजौ—सर्वानुक्रमणी पृ० २। एकद् यूनाधिका सैव निचृद् ऊनाधिका भुरिक् (ऋक् प्रातिशाख्ये १७। २)।

(४) ए या ओ (गुण) अथवा ऐ तथा औ (वृद्धिस्वर) का दो स्वरों में पृथक्-करण होता है—ज्येष्ठ = ज्ययिष्ठ (ऋ० ७।६५।१), धेष्ठ = धयिष्ठ (ऋ० ७।९३।१) प्र ब्रह्मैस्विति (ऋ० ७।३६।१) में होता है—ब्रह्म एतु इति ।

(५) एकार तथा ओकार के अनन्तर लुप्त अकार को (एङः पदान्तादति—पाणिनि ६।१।१०९) पुन. स्थापन कर उच्चारण करना चाहिए—इन्द्र वाजेषु नोऽव (ऋ० १।७।४) में नोऽव = नो अव । इद्र सखायोऽनु संरभध्वम् (ऋ० १०।१०३।६) में 'अनु' का उच्चारण पूरा होना चाहिए ।

(६) दीर्घ सन्धि से उत्पन्न आकार को दो अक्षरों के रूप में परिवर्तन करना चाहिये[1]—यथा वदन् ब्रह्मावदतो वनीयान् (ऋ० १०।११७।७) में होता है ब्रह्म अवदतो । अद्याद्या श्वः श्वः (ऋ० ८।६१।१७) में अद्याद्या = अद्य अद्या । ऋ० ७।४०।६ में वात = व अत ।

कात्यायन ने सर्वानुक्रमणी में ऋग्वेद के समस्त मन्त्रों के छन्दों का निर्देश किया है । उनके अनुसार ऋग्वेद में छन्दों की संख्या:—

गायत्री	२४६७
उष्णिक्	३४१
अनुष्टुप्	८५५
बृहती	१८१
पंक्ति	३१२
त्रिष्टुप्	४२५३
जगती	१३५८
	९७६७

१ द्रष्टव्य—षड्गुरुशिष्य की पूर्वोक्त सूत्र की वृत्ति पृ० ६३ ।

लगभग ३०० मन्त्र अति जगती (१३ × ४), शक्वरी (१४ × ४) अतिशक्वरी (१५ × ४) अष्टि (१६ × ४) अत्यष्टि (१७ × ४) आदि विविध छन्दों में निबद्ध हैं। एकपदा ऋचाएँ केवल ६ तथा नित्य द्विपदा १७ हैं। इस सूची पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट है कि ऋग्वेद में सर्वाधिक लोकप्रिय छन्द 'त्रिष्टुप्' है जिस में ऋचाओं का द्वितीय पंचमांश निबद्ध है। इससे उतर कर गायत्री का नम्बर है। गायत्री में ऋग्वेद का लगभग चतुर्थ अंश लिखित है। जगती इसके भी पीछे आती है। अतः त्रिष्टुप्, गायत्री, जगती—ये ही तीन वैदिक संहिताओं के महत्त्वपूर्ण जनप्रिय छन्द है।

लौकिक संस्कृत के छन्दों का विकास इन्हीं वैदिक छन्दो से हुआ है। संस्कृत के कवियो ने श्रुति-माधुर्य तथा संगीतमय आरोह-अवरोह को ध्यान से रखकर इन्हीं छन्दों में अक्षरों के गौरव तथा लाघव को नियम-बद्ध कर दिया है। अन्य लौकिक छन्दो के तो आविष्कर्ताओं का नाम लुप्त हो गया है, परन्तु अनुष्टुप् के आविष्कारक महर्षि वाल्मीकि की कहानी प्रसिद्ध है। व्याध के बाणों से विद्ध क्रौञ्च को देखकर किस प्रकार महर्षि का हृदयगत शोक श्लोकरूप में परिणत हो गया? इसे यहाँ याद दिलाने की आवश्यकता नहीं है। वैदिक त्रिष्टुप् से ही एकादशाक्षर छन्दों का, विशेषतः इन्द्रवज्रा तथा उपेन्द्रवज्रा का, उदय हुआ है। जगती से द्वादशाक्षर छन्द वंशस्थ आदि की तथा सामगों की अत्यन्त प्यारी शक्वरी से वसन्ततिलका की उत्पत्ति हुई है। इसी प्रकार अन्य लौकिक छन्दों का भी उदय समझ लेना चाहिए।

(६)

ज्योतिष

वेदाङ्गों में ज्योतिष अन्तिम वेदाङ्ग है। वेद की प्रवृत्ति यज्ञ के सम्पादन के लिये है। और यज्ञ का विधान विशिष्ट समयों की अपेक्षा रखता है। यज्ञ-याग के लिये समय-शुद्धि की बड़ी आवश्यकता रहती है। कुछ विधान ऐसे हैं जिनका सम्बन्ध संवत्सर से है और किसी का ऋतु से। तैत्तिरीय ब्राह्मण[1] का कथन है कि ब्राह्मण वसन्त में अग्नि का आधान (स्थापन) करे, क्षत्रिय ग्रीष्म में, वैश्य शरद् ऋतु में आधान करें। कुछ यज्ञ विशिष्ट मासों तथा विशिष्ट पक्षों में किये जाते हैं। विशेष तिथि—अष्टका, फाल्गुनी पूर्णमासी में दीक्षा का विधान पाया जाता है[2]। प्रातःकाल तथा सायंकाल में प्रत्येक अग्निहोत्री को अग्नि में दुग्ध या घृत से हवन करने का नियम है[3]। कहने का तात्पर्य यह है कि नक्षत्र, तिथि, पक्ष, मास, ऋतु तथा संवत्सर—काल के समस्त खण्डों—के साथ यज्ञयाग का विधान वेदों में पाया जाता है। इन निय[illegible] यथार्थ निर्वाह के लिये ज्योतिष शास्त्र का ज्ञान नितान्त [illegible] उपादेय है। इस[illegible] ज्योतिष का तो यह आग्रह [illegible] ज्योतिष को [illegible] जानता है वही यज्ञ का

[illegible]र्धीन, [illegible] धीन, शरदि वैश्य आदधीत।
—तै० ब्रा० १।२

[illegible]।

ब्राह्मण ५।६।
—तै० ब्रा० २।

वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ता,
कालानि पूर्वा विहिताश्च यज्ञाः।
तस्मादिदं कालविधान-शास्त्रं,
यो ज्यौतिषं वेद स वेद यज्ञम् ॥

वेदाङ्ग-ज्योतिष, श्लोक ३।

यज्ञ की सफलता केवल उचित विधान में ही नहीं है प्रत्युत उचित नक्षत्र तथा उचित समय में करने से ही होती है। इसीलिये असुरों की परिभाषा देते हुए श्रुति का वचन है[1] कि वे असुर यज्ञ से हीन होते हैं, दक्षिणा से विरहित होते हैं, नक्षत्र से रहित होते हैं, जो कुछ वे करते हैं वे कृत्या को ही समर्पित करते हैं। इसके ठीक विपरीत देवताओं की स्थिति है। वे उचित समय में दक्षिणा के साथ यज्ञ का सम्पादन करते हैं।

यज्ञ-विधान के लिये ज्योतिष के इस महत्त्व को भास्कराचार्य ने भी स्पष्टतः स्वीकार किया है[2]। वेदाङ्ग ज्योतिष की सम्मति में ज्योतिष समग्र वेदाङ्गों में मूर्धस्थानीय है। जिस प्रकार मयूर की शिखा उसके सिर पर ही रहती है, सर्पों का मणि उनके मस्तक पर निवास करता है उसी प्रकार षडङ्ग वेद में ज्योतिष को सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त है[3]। ज्योतिष वेद पुरुष का चक्षु है। जिस प्रकार चक्षुविहीन पुरुष अपने कार्य-

---

१ ते असुरा अयज्ञाः अदक्षिणा अनक्षत्राः। यच्च
किञ्चाकुर्वत ता कृत्यामेवाकुर्वत ॥

२ वेदास्तावत् यज्ञकर्मप्रवृत्ता, यज्ञा प्रोक्तास्ते तु कालाश्रयेण।
शास्त्रादस्मात् कालबोधो यतः स्यात्, वेदाङ्गत्वं ज्यौतिषस्योक्तमस्मात् ॥
—सिद्धान्त शिरोमणि।

३ यथा शिखा मयूराणां, नागानां मणयो यथा।
तद्वद् वेदाङ्ग-शास्त्राणां, गणितं मूर्धनि स्थितम् ॥ —वे० ज्यौ० ४।

ज्योतिष

वेदाङ्गों में ज्योतिष अन्तिम वेदाङ्ग है। वेद की प्रवृत्ति यज्ञ के सम्पादन के लिये है। और यज्ञ का विधान विशिष्ट समयों की अपेक्षा रखता है। यज्ञ-याग के लिये समय-शुद्धि की बड़ी आवश्यकता रहती है। कुछ विधान ऐसे हैं जिनका सम्बन्ध संवत्सर से है और किसी का ऋतु से। तैत्तिरीय ब्राह्मण[1] का कथन है कि ब्राह्मण वसन्त में अग्नि का आधान (स्थापन) करे, क्षत्रिय ग्रीष्म में, वैश्य शरद् ऋतु में आधान करें। कुछ यज्ञ विशिष्ट मासों तथा विशिष्ट पक्षों में किये जाते हैं। विशेष तिथि—अष्टका, फाल्गुनी पूर्णमासी में दीक्षा का विधान पाया जाता है[2]। प्रातःकाल तथा सायंकाल में प्रत्येक अग्निहोत्री को अग्नि में दुग्ध या घृत से हवन करने का नियम है[3]। कहने का तात्पर्य यह है कि नक्षत्र, तिथि, पक्ष, मास, ऋतु तथा संवत्सर—काल के समस्त खण्डों—के साथ यज्ञयाग का विधान वेदों में पाया जाता है। इन नियमों के यथार्थ निर्वाह के लिये ज्योतिष शास्त्र का ज्ञान नितान्त आवश्यक तथा उपादेय है। इसीलिये वेदाङ्ग ज्योतिष का तो यह आग्रह है कि जो व्यक्ति ज्योतिष को भलीभाँति जानता है वही यज्ञ का यथार्थ ज्ञाता है।

---

१ वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत, ग्रीष्मे राजन्य आदधीत, शरदि वैश्य आदधीत।
—तै० ब्रा० १।२।

२ एकाष्टकायां दीक्षेरन् फाल्गुनी पूर्णमासे दीक्षेरन्।
—ताण्ड्य ब्राह्मण ५।९।१७।

३ प्रातर्जुहोति सायं जुहोति। —तै० ब्रा० २।१।२।

वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ता,
कालानि पूर्वा विहिताश्च यज्ञाः।
तस्मादिदं कालविधान-शास्त्रं,
यो ज्यौतिषं वेद स वेद यज्ञम् ॥
वेदाङ्ग-ज्योतिष, श्लोक ३।

यज्ञ की सफलता केवल उचित विधान में ही नहीं है प्रत्युत उचित नक्षत्र तथा उचित समय में करने से ही होती है। इसीलिये असुरों की परिभाषा देते हुए श्रुति का वचन है[1] कि वे असुर यज्ञ से हीन होते हैं, दक्षिणा से विरहित होते हैं, नक्षत्र से रहित होते हैं, जो कुछ वे करते हैं वे कृत्या को ही समर्पित करते हैं। इसके ठीक विपरीत देवताओं की स्थिति है। वे उचित समय में दक्षिणा के साथ यज्ञ का सम्पादन करते हैं।

यज्ञ-विधान के लिये ज्योतिष के इस महत्त्व को भास्कराचार्य ने भी स्पष्टतः स्वीकार किया है[2]। वेदाङ्ग ज्योतिष की सम्मति में ज्योतिष समग्र वेदाङ्गों में मूर्धस्थानीय है। जिस प्रकार मयूर की शिखा उसके सिर पर ही रहती है, सर्पों का मणि उनके मस्तक पर निवास करता है उसी प्रकार षडङ्ग वेद में ज्योतिष को सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त है[3]। ज्योतिष वेद पुरुष का चक्षु है। जिस प्रकार चक्षुर्विहीन पुरुष अपने कार्य-

---

१ ते असुरा अयज्ञा. अदक्षिणा अनक्षत्रा.। यच्च किञ्चाकुर्वत ता कृत्यामेवाकुर्वत ॥

२ वेदास्तावत् यज्ञकर्मप्रवृत्ता., यज्ञा प्रोक्तास्ते तु कालाश्रयेण।
शास्त्रादस्मात् कालबोधो यत स्यात्, वेदाङ्गत्व ज्यौतिषस्योक्तमस्मात् ॥
—सिद्धान्त शिरोमणि।

३ यथा शिखा मयूराणा, नागाना मणयो यथा।
तद्वद् वेदाङ्ग-शास्त्राणा, गणित मूर्धनि स्थितम् ॥ —वे० ज्यो० ४।

सम्पादन में असमर्थ रहता है उसी प्रकार ज्योतिप ज्ञान से रहित पुरुप वैदिक कार्यों में सर्वथा अन्धा होता है।

वेदाङ्ग ज्योतिप का प्रतिनिधि ग्रन्थ दो वेदों से सम्बन्ध रखने वाला उपलब्ध होता है (१) यजुर्वेद से, (२) ऋग्वेद से, याजुप ज्योतिप तथा आर्च ज्योतिष। पहले में ४३ श्लोक हैं और दूसरे में ३६। वहुत से श्लोक दोनों ग्रन्थों में एक समान ही हैं। ये वेदकालीन प्राचीन ज्योतिप शास्त्र का वर्णन करते हैं। उस युग की वातें इतनी अज्ञात है कि वेदाङ्ग ज्योतिप के श्लोकों का रहस्य वतलाना आज भी विद्वानों के लिये एक विपम समस्या है। अनेक वर्षों से पश्चिमीय तथा भारतीय विद्वान् इन श्लोकों के रहस्यों को समझाने का प्रयत्न करते आ रहे है परन्तु आज भी वेदाङ्ग ज्योतिप के कुछ पद्य ऐसे हैं जिनके अर्थ का उद्घाटन अभी तक ठीक-ठीक नहीं हो सका है। डा० थीवो, शङ्कर वालकृष्ण दीक्षित, लोकमान्य तिलक तथा सुधाकर द्विवेदी आदि विद्वानों ने इसके श्लोकों की समय-समय पर व्याख्या लिखी है। डा० थीवो ने एशियाटिक सोसाइटी वगाल की पत्रिका में (१८७७ ई०), शकर वालकृष्ण दीक्षित ने 'भारतीय ज्योतिशास्त्र' नामक मराठी ग्रन्थ में, लोकमान्य तिलक ने अपनी 'वेदाङ्ग ज्योतिप' नामक अंग्रेजी पुस्तक में तथा सुधाकर द्विवेदी ने वेदाङ्ग ज्योतिप के स्वनिर्मित संस्कृत-भाष्य में इन श्लोकों की विशद व्याख्या की है। वेदाङ्ग ज्योतिप के ऊपर एक प्राचीन भाष्य भी प्रकाशित है जिसकी रचना शेपकुल में उत्पन्न, काशी-निवासी सोमाकर नामक किसी दाक्षिणात्य पण्डित ने की थी। सोमाकर ज्योतिपशास्त्र के परम मर्मज्ञ थे, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं परन्तु दुःख है कि उनके जीवन-चरित तथा समय का पता नहीं चलता[१]।

---

[१] याजुप ज्योतिप 'सोमाकर' तथा सुधाकर भाष्य के साथ तथा आर्च ज्योतिप सुधाकर भाष्य तथा लघुविवरण के साथ मेडिकल हाल, काशी से एक साथ प्रकाशित हुआ है (काशी १९०८ ई०) वेदाङ्ग ज्योतिप के ये दोनों ग्रन्थ प्रतिनिधि हैं।

वेदाङ्ग ज्योतिष के कर्त्ता का नाम लगध था[1]। ये कौन थे तथा किस काल में पैदा हुये थे? इसका ठीक-ठीक पता नहीं चलता। गणना के लिये इस ग्रन्थ में पाँच वर्ष का युग माना गया है। इन वर्षों के नाम हैं सम्वत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, अनुवत्सर और इद्वत्सर। ये नाम तैत्तिरीय ब्राह्मण में दिये गये हैं। उस समय वर्ष माघ मास से आरम्भ होता था। ज्यौतिष के सिद्धान्त-ग्रंथों में १२ राशियों से गणना की जाती है परन्तु इस ज्यौतिष में राशियों का कहीं नाम निर्देश नहीं है प्रत्युत गणना के आधार २७ नक्षत्र ही हैं। शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने सप्रमाण सिद्ध किया है कि इस वेदाङ्ग ज्यौतिष की रचना ई० पू० १४०० वर्ष में की गई होगी। सुदूर प्राचीनकाल से सम्बद्ध होने से ही यह ग्रन्थ इतना दुरूह तथा दुर्बोध हो गया है।
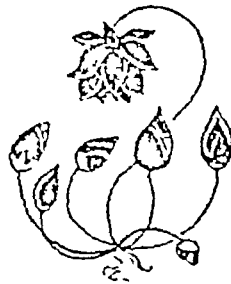
१ प्रणम्य शिरसा कालमभिवाद्य सरस्वतीम्।
कालज्ञानं प्रवक्ष्यामि, लगधस्य महात्मनः॥

आर्च ज्योतिष, श्लोक २।

अनुक्रमणी

वेदों की रक्षा के लिए कालान्तर में एक नवीन शैली के ग्रन्थों की रचना आचार्यों ने की जिसमें तत्तद् वेद के ऋषि, देवता, छन्द आदि की सूची प्रस्तुत की गई है। ये ग्रन्थ 'अनुक्रमणी' (= सूची) के नाम से प्रख्यात हैं। अनुक्रमणी प्रत्येक वेद की उपलब्ध होती है जिसमें अनेक ग्रन्थ प्रकाशित भी हो गये हैं। अनुक्रमणी के रचयिताओं में शौनक और कात्यायन नितान्त प्रख्यात आचार्य हैं। शौनक ने ऋग्वेद के और कात्यायन ने शुक्लयजुर्वेद के प्रातिशाख्यों की रचना क्रमश. की थी। इनकी अनुक्रमणियाँ वेदाङ्ग न होने पर भी वेद की रक्षा तथा तद्गत अवान्तर विषयों के विवेचन के निमित्त महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं। 'ऋक्सर्वानुक्रमणी' की वृत्ति की भूमिका में वृत्तिकार 'षड्गुरुशिष्य' ने शौनक के ऋग्वेद की रक्षा के निमित्त निर्मित जिन दस ग्रन्थों का उल्लेख किया है वे ये हैं—(१) आर्षानुक्रमी, (२) छन्दोऽनुक्रमणी, (३) देवतानुक्रमणी, (४) अनुवाकानुक्रमणी, (५) सूक्तानुक्रणी, (६) ऋग्विधान, (७) पादविधान, (८) बृहद्देवता, (९) प्रातिशाख्य तथा (१०) शौनक स्मृति।

इन ग्रन्थों में से आरम्भ की पाँच अनुक्रमणियाँ क्रमशः ऋग्वेद के दशों मण्डलों के ऋषियों की, छन्दों की, देवताओंकी, अनुवाकों की तथा सूक्तों की संख्या, नाम तथा तद्विषयक महनीय बातों का क्रमबद्ध विवरण अनुष्टुप्पद्यों में प्रस्तुत करती हैं। ऋग्विधान में ऋग्वेदीय मन्त्रों का प्रयोग विशेष कार्य की सिद्धि के लिए बतलाया गया है। इस प्रकार के विधान ग्रन्थ अन्य वेदों में भी प्राय उपलब्ध होते हैं। सामवेद में ठीक इसी पद्धति का ग्रन्थ है 'सामविधान' जो वस्तुतः

अनुक्रमणी होने पर भी ब्राह्मणों में परिगणित किया है और जिसमें साम का प्रयोग विविध अनुष्ठान में विशेष फल की कामना के लिये बतलाया गया है[1]। शौनकीय प्रतिशाख्य ऋग्वेद से ही सम्बन्ध रखता है और इसका वर्णन प्रातिशाख्य वाले अंश में पहिले ही किया जा चुका है।

बृहद्देवता

बृहद्देवता अनुक्रमणी-साहित्य का एक प्रभावान् रत्न है जिसके आलोक में ऋग्वेद के देवता के रहस्य स्पष्टतः आलोकित होते हैं। बारह सौ पद्यों में निर्मित यह ग्रन्थ ऋग्वेद के देवताओं के विषय में प्रामाणिक, प्राचीन तथा पर्याप्तरूपेण विस्तृत है। यह ग्रन्थ आठ अध्यायों में विभक्त है तथा प्रत्येक अध्यायों में लगभग पाँच पद्यों का एक वर्ग होता है, परन्तु इस विभाजन का सम्बन्ध ऋग्वेद के अष्टकों के साथ किसी भी प्रकार से नहीं है। वर्गों के विभाजन भी बिल्कुल अव्यावहारिक तथा यथेच्छ कल्पित हैं। इसीलिए कभी-कभी आख्यान के बीच में ही वर्ग समाप्त हो जाता है। बृहद्देवता का प्रथम अध्याय तथा द्वितीय अध्याय के आदिम २५ वर्ग (= १२५ श्लोक) ग्रन्थ की उपादेय भूमिका है जिसमें देवता के स्वरूप का, स्थान का तथा वैलक्षण्य का विवरण विस्तार के साथ दिया गया है। भूमिका के अन्तिम सात वर्गों का पूर्णतया व्याकरण से सम्बद्ध विषय निरुक्त से घनिष्ट सम्बन्ध रखता है और निपात, अव्यय, सर्वनाम, सञ्ज्ञा, समास का वर्णन शब्दविभाजन में यास्क की अशुद्धियों की आलोचना के साथ किया गया है। द्वितीय अध्याय के २६ वें वर्ग से लेकर अन्त तक यह ग्रन्थ ऋग्वेद के प्रत्येक सूक्त के लिए (और कभी-कभी सूक्तान्तर्गत ऋचाओं के लिए) देवता का निर्देश क्रमशः बतलाता है, परन्तु यह

१ सामविधान के विषय निर्देश के लिए इसी ग्रन्थ का पृष्ठ २२५ देखिए।

केवल देवता की नीरस सूची नहीं है। इसमें सूक्तों के विषय में उपलब्ध आख्यानों का भी निर्देश बड़े सुन्दर ढग से किया गया है और इस कार्य में इसका लगभग चतुर्थांश (३०० श्लोकों के आसपास) व्यय हुआ है। ये आख्यान बृहद्देवता के प्राण हैं। काव्यशैली में निबद्ध ये आख्यान ऐतिहासिक रीति से महाभारत में निर्दिष्ट अनेक आख्यानों के साथ सम्पर्क रखते हैं। इस दृष्टि से बृहद्देवता कथा-साहित्य का आद्य ग्रन्थ माना जा सकता है। महाभारतीय आख्यानों तथा बृहद्देवता गत आख्यानों का पारस्परिक तुलनात्मक सम्बन्ध अभी तक विवाद का विषय बना हुआ है, परन्तु अधिकाश विद्वानों की दृष्टि में प्राचीनतर बृहद्देवता का ही अनुकरण अवान्तर-कालीन महाभारत ने तत्तत् भाग में किया है। द्याद्विवेद की 'नीतिमञ्जरी' (रचनाकाल १५ शतक) तो बृहद्देवता के ही अनुशीलन का परिणत फल है। सर्वानुक्रमणी में कात्यायन ने तथा वेदभाष्य में सायण ने इन आख्यानों का यहीं से उद्धृत किया है। इस प्रकार आख्यानों के प्राचीनतम संग्रह होने के कारण बृहद्देवता साहित्य की सार्वभौम दृष्टि से भी नितान्त रोचक तथा हृदयावर्जक ग्रन्थ है।

यह ग्रन्थ यास्क के निरुक्त तथा कात्यायन की सर्वानुक्रमणी के मध्य-काल की महनीय कृति है। शौनक ने यहाँ निरुक्त की देवता-विषयक कल्पना को ही विशेषतः अगीकृत नहीं किया है, प्रत्युत उसके अनेक वाक्यों को भी उद्धृत किया है। कात्यायन ने भी बृहद्देवता का उपयोग अपनी रचना 'सर्वानुक्रमणी' में बहुत ही अधिक किया है। सूत्र-रूप में होने पर भी सर्वानुक्रमणी में बृहद्देवता के लगभग ३० श्लोक ज्यों के त्यों अल्प परिवर्तन के साथ स्वीकृत तथा उद्धृत किये गये हैं। अपाणिनीय पदों की बहुल सत्ता के हेतु सर्वानुक्रमणीकार कात्यायन वार्तिककार वैयाकरण कात्यायन से सर्वथा भिन्न माने जाते हैं। 'सर्वानुक्रमणी' का मूल स्रोत होने के कारण कात्यायन का समय तो

पाणिनि से बहुत ही प्राचीन होगा तथा निरुक्त से कुछही हटकर होगा। अतः बृहद्देवता पूर्व-पाणिनीय युग की मान्य रचना होने से कम से कम वि० पू० अष्टम शतक में प्रणीत हुआ होगा।

बृहद्देवता ने अपने कथन की पुष्टिमें अनेक प्राचीन आचार्यों के मतोंका उल्लेख दिया है। ऐसे मान्य आचार्यों में यास्क का उल्लेख १८ वार, शौनक का १५ वार, शाकटायन का ८ बार, ऐतरेय ब्राह्मण का ८ वार, शाकपूणि का ७ वार तथा गालव का ५ बार है। शौनक का उल्लेख 'आचार्य शौनक' के रूप में कई स्थानों पर अकेले (२।१३६) तथा कहीं अन्य आचार्यों के साथ (५।३९; ७।३८) किया गया है। इससे इस ग्रन्थ के सम्पादक डा० मैक्डानल की सम्मति है कि बृहद्देवता का रचयिता स्वयं आचार्य शौनक नहीं है, प्रत्युत उसके सम्प्रदाय का कोई आचार्य है जो काल-दृष्टि से उनसे बहुत दूर नहीं था। षड्गुरुशिष्य ने तो निश्चय रूप से शौनक को ही इसका प्रणेता बतलाया है[1]।

सर्वानुक्रमणी

ऋग्वेद के समस्त आवश्यक विषयों के ज्ञान के लिए कात्यायन रचित 'सर्वानुक्रमणी' नितान्त प्रसिद्ध तथा प्रामाणिक है[2]। यह सूत्र-रूप में निबद्ध है तथा प्रत्येक सूक्त के आद्य पद, अनन्तर ऋचों की संख्या, सूक्त के ऋषि का नाम तथा गोत्र, सूक्तों तथा तदन्तर्गत मन्त्रों के देवता का निर्देश तथा मन्त्रो के छन्दों का क्रमबद्धपूर्वक उल्लेख

१ सस्करण डा० मैक्डानल द्वारा दो भागों में 'हारवर्ड ओरियन्टल सीरीज' (ग्रन्थ सख्या ५ और ६), १९०४। प्रथम भाग में भूमिका तथा मूल ग्रन्थ है तथा दूसरे भाग में ग्रन्थ का अग्रेजी अनुवाद है। यह सकरण बहुत ही विशुद्ध तथा उपादेय है।

२ डा० मैक्डानेल के द्वारा सम्पादित, आक्सफोर्ड, १८८६।

किया गया है। इस प्रकार ऋग्वेद के विषय में आवश्यक सामग्री के सकलन के कारण यह विशेष उपादेय है। माधव भट्ट की भी एक ऋग्वेदानुक्रमणी है जिसके दो खण्डों में स्वर, आख्यात, निपात, शब्द, ऋषि, छन्द, देवता तथा मन्त्रार्थ-विषयक आठ अनुक्रमणियों का एकत्र सग्रह है[1]। यह स्वतन्त्र ग्रन्थ न होकर माधव भट्ट के भाष्य के अन्तर्गत तत्तत् विषयों के प्रतिपादक श्लोकों का संग्रह है। सर्वानुक्रमणी की दशा इससे भिन्न है। इसमें बृहद्देवता के श्लोकात्मक उद्धरण भी सूत्ररूप में परिणत कर निबद्ध कर दिये गये हैं। सर्वानुक्रमणी ऋग्वेदीय देवता के वर्णन में बृहद्देवता को ही अपना आधार मानती है और इसीलिए एक सौ के आस-पास उद्धरणों का यहाँ समावेश किया गया है।

सर्वानुक्रमणी के रचयिता कात्यायन मुनि हैं जो शुक्लयजुर्वेदीय श्रौतसूत्र के कर्ता से भिन्न नहीं प्रतीत होते। कात्यायन द्वारा प्रणीत 'शुक्ल यजुर्वेदीय अनुक्रमणिका' भी इसी कात्यायन की रचना प्रतीत होती है, क्योंकि इसका समस्त भूमिकाभाग सर्वानुक्रमणी की भूमिका से पूर्णतः साम्य रखता है। कात्यायन के इन ग्रन्थों के पदों में अनेक वैदिक विशिष्टता मिलती हैं तथा अनेक अपाणिनीय पदों का भी प्रयोग यहाँ मिलता है। इससे हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अनुक्रमणी के रचयिता कात्यायन वैयाकरण वार्तिककार कात्यायन से भिन्न व्यक्ति हैं। सर्वानुक्रमणी को पूर्व-पाणिनि युग की रचना मानना निःसन्देह युक्तियुक्त है।

याजुष अनुक्रमणी

शुक्लयजुः सर्वानुक्रमसूत्र—के भी रचयिता कात्यायन ही माने जाते हैं। इसमें पाँच अध्याय हैं। सूत्रों के ऊपर अर्थ को ठीक-ठीक

---

[1] सम्पादन मद्रास विश्वविद्यालय की संस्कृत ग्रन्थमाला में, मद्रास, १९३२।

समझाने के लिए भाष्य भी प्रकाशित है जिसके रचयिता महायाज्ञिक प्रजापति के पुत्र महायाज्ञिक श्री देव हैं। इसका परिचय प्रति अध्याय में दी गई पुष्पिका से मिलता है। इसमें माध्यन्दिन संहिता के देवता, ऋषि तथा छन्दों का विस्तृत विवरण दिया गया है। ग्रन्थ के आरम्भ में ऋषि तथा छन्द के ज्ञान की महिमा प्रतिपादित है। बिना इनके ज्ञान के वेद का पढ़ने वाला या तो मृत्यु को प्राप्त करता है या पापीयान् होता है (अथान्तरा श्वगर्तं वाऽऽपद्यते स्थाणुं वर्च्छति प्रमीयते वा पापीयान् भवति, पृ० १०)। इसमें याग-विधान के नियम तथा अनुष्ठानों का भी वर्णन विशेष रूप से मिलता है। छन्दों का विस्तृत विवेचन इस अनुक्रमणी की भूयसी विशेषता है।

सामवेदीय ग्रन्थ

सामवेद के श्रौत याग से सम्बद्ध अनेक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं जिनमें बहुत से अभी तक हस्तलिखित रूप में ही हैं। कतिपय ग्रन्थों का यहाँ परिचय दिया जाता है जिनमें से अनेक सामवेद की अनुक्रमणीका प्रयोजन सिद्ध करते हैं:—

(१) कल्पानुपद सूत्र—२ प्रपाठकों में और प्रत्येक प्रपाठक १२ पटलों में विभक्त है। यह आर्षेय कल्प तथा क्षुद्रसूत्र का परिशिष्ट प्रतीत होता है; क्योंकि इन दोनों से उद्धरण बिना नाम निर्देश के किये गये हैं (अप्रकाशित)

(२) उपग्रन्थसूत्र—४ प्रपाठकों में। सायण के अनुसार (ताण्ड्य ७।४।८) कात्यायन इसके कर्ता हैं। प्रथम तीन प्रपाठक क्षुद्र सूत्र के परिशिष्ट हैं और अन्तिम प्रपाठक साम के प्रतिहार भाग का परिचायक स्वतन्त्र ग्रन्थ है (प्रकाशित[2])

---

१ भाष्य के साथ मूलग्रन्थ काशी से प्रकाशित।

२ सत्यव्रत सामश्रमी के द्वारा 'उषा' पत्रिका मे, कलकत्ता १८९७।

(३) अनुपदसूत्र—१० प्रपाठकों में। पंचविंशब्राह्मण की संक्षेप में व्याख्या (अप्रकाशित)

(४) निदानसूत्र—१० प्रपाठकों में। इस ग्रन्थ के प्रणेता 'पतञ्जलि' प्रतीत होते हैं। ताण्ड्य भाष्य (१४।५।१२) में सायण ने जो उद्धरण दिया है वह निदान सूत्र से मिलता है—तथा निरालम्बरूपता भगवता पतञ्जलिना उक्तं सप्तमेऽहन्यर्कः कृताकृतो भवत्यब्राह्मण-विहितत्वादिति। यह उद्धरण निदान सूत्र में (४।७) उपलब्ध होता है। अन्य प्रमाणों से भी पतञ्जलि ही निदानसूत्र के रचयिता प्रतीत होते हैं (प्रकाशित[1])

(५) उपनिदानसूत्र—२ प्रपाठकों में। इसमें प्रथमतः छन्द का सामान्य वर्णन है। तदनन्तर दोनों आर्चिकों के मन्त्रों के छन्दों का विवरण है (अप्रकाशित)। ये दोनों ग्रन्थ छन्दोविषयक वेदाङ्ग के अन्तर्गत आते हैं।

(६) पञ्चविधान सूत्र—२ प्रपाठकों में। सामों के पाँच विभाग का जो वर्णन ऊपर किया गया है उन्हीं के विभाजन प्रकारों का यहाँ वर्णन है (प्रकाशित[2])।

(७) लघु ऋक्तन्त्र संग्रह—यह ऋक्तन्त्र का संक्षेप न होकर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। इसमें संहिता पाठ को पदपाठ के रूप में परिणत करने पर जो विशिष्टतायें लक्षित होती हैं उनका एक विपुल संग्रह यहाँ प्रस्तुत किया गया है। यहाँ ऐसे मन्त्रों का निर्देश है जहाँ संहितायें 'ष' है, परन्तु पदपाठ में स (श्लोक २७–३९), संहिता में 'ष्ट' है, परन्तु पद में 'स्त' (श्लोक ४०–४३) इसी प्रकार गुण, वृद्धि,

---

१ सत्यव्रत सामश्रमी द्वारा 'उषा' पत्रिका में, कलकत्ता, १८९६।

२ जर्मन पण्डित साइमन द्वारा जर्मनी में प्रकाशित, १९१३।

पूर्वरूप, प्रकृतिभाव वाले स्थलों का निर्देश किया गया है। मन्त्रों के स्वरूप की जानकारी के लिए यह नितान्त उपादेय है। (प्रकाशित)[1]

(८) साम सप्तलक्षण—इस पद्यबद्ध छोटे ग्रन्थ में साम सम्बन्धी ज्ञातव्य तथ्यों का संकलन है। (प्रकाशित[2])

इसके अतिरिक्त अन्यवेदों की भी वैदिक अनुक्रमणियाँ उपलब्ध होती हैं; परन्तु अनेक अभी तक हस्तलिखित रूप में ही विद्यमान हैं। इसी विभाग से सम्बद्ध दो ग्रन्थ ऐसे हैं जो पिछले युग की रचना होने पर भी महत्त्वशाली हैं। इसमें प्रथम है महर्षि शौनक-प्रणीत **चरणव्यूहसूत्र** तथा दूसरा है द्याद्विवेद-विरचित **नीतिमञ्जरी**। चरणव्यूह में ५ खण्ड हैं जिनमें ऋग्वेद, यजुर्वेद, साम तथा अथर्व की शाखाओं का क्रमशः प्रतिखण्ड विवरण तथा अन्तिम खण्ड में फलश्रुति है। इसके ऊपर महिदास ने १६१२ संवत् में (=१५५६ ई० में) काशी में रहते हुए एक प्रमेयबहुल विवृत्ति (व्याख्या) लिखी है जिसमें मूल अर्थ की पुष्टि पुराणो के विशिष्ट उद्धरणों की सहायता से की गई है। इस विवृति में वैदिक साहित्य सम्बन्धी अनेक तथ्यों का विवरण है जो वेदाभ्यासियों के लिए सर्वथा उपादेय तथा ग्राह्य है। **नीतिमञ्जरी** का वैशिष्ट्य यह है कि ऋग्वेद में उपलब्ध समस्त आख्यानों का और तज्जन्य उपदेशो का श्लाघ्य संकलन इस ग्रन्थमें किया गया है। ऋग्वेद के आख्यानों का निर्देश बृहद्देवता में तथा तदनुसार सायण-भाष्य में तत्तत् प्रसंग में विशेप रूप से किया गया है। इस ग्रन्थ के रचयिता द्याद्विवेद ने अष्टक क्रम से समग्र ऋग्वेद को आख्यान-संकलन की दृष्टि से छान डाला है तथा जिस किसी घटना से किसी मनोरम व्यवहारिक शिक्षा की प्राप्ति होती है उसे एक श्लोक में निवद्ध

---

१ डा० सूर्यकान्त शास्त्री द्वारा सम्पादित, लाहौर, १९४०।

२ महीदास की विवृत्ति के साथमूल का सं० संस्कृत सीरीज में, काशी १९३८।

कर दिया है। ऋग्वेदीय आख्यान तथा तदुपदेश का सग्रह एक ही श्लोक में किया गया है। प्रति-श्लोक में निर्दिष्ट मन्त्रों की व्याख्या ग्रन्थकार ने प्रामाणिक वैदिक ग्रन्थों के उल्लेख के साथ बड़ी मार्मिकता तथा गाढ़ विद्वत्ता के साथ स्वयं की है। द्या द्विवेद गुजरात के निवासी थे तथा जैसा ग्रन्थ की पुष्पिका से पता चलता है कि उन्होंने नीतिमञ्जरी की समाप्ति १५५० संवत् (= १४९४ ईस्वी) में की थी। इस ग्रन्थ के भाष्य में सायण के वेदभाष्य (१४ शतक) तथा षड्-गुरु-शिष्य की वेदार्थ दीपिका (रचनाकाल ११८४ ई०) से बड़ी सहायता ली गई है। इस प्रकार ऋग्वेदीय आख्यानों के अनुशीलन के निमित्त नीति-मञ्जरी एक अद्वितीय ग्रन्थ है। मन्त्रों के भाष्य में द्याद्विवेद ने अपनी गाढ़ विद्वत्ता और वैदिक अनुशीलन का विशेष परिचय दिया है। वह सायण के भक्त होने पर भी वे उनका अन्धाधुन्ध अनुसरण नहीं करते। ऋग्वेद की व्याख्या के निमित्त भी नीतिमञ्जरी उपयोगी सिद्ध हो सकेगी[१]।

[१] इस ग्रन्थ का अनेक परिशिष्टों तथा उपयोगी भूमिका के साथ संस्करण पण्डित सीताराम जयराम जोशी ने काशी में प्रकाशित किया है, १९३३।

वैदिक साहित्य

[३]

संस्कृति खण्ड

(१) वैदिक भूगोल और आर्य निवास
(२) आर्य और दस्यु
(३) सामाजिक दशा
(४) आर्थिक दशा
(५) राजनैतिक दशा
(६) धार्मिक दशा

असंवाधं वध्यतो मानवानां
यस्या उद्वतः प्रवतः समं वहु ।
नानावीर्या ओपधीर्या विभर्त्ति
पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः ।

यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो
यस्यामन्नं कृष्टयः संवभूवुः ।
यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत्
सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु ।।

—अथर्ववेद १२।१।२-३

दशम परिच्छेद

वैदिक भूगोल तथा आर्य निवास

संहिता और ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् में उपलब्ध होने वाली भौगोलिक सामग्री का उपयोग करने से वैदिक युग की भौगोलिक स्थिति के विषय में हम बहुत कुछ जान सकते हैं। इस जगत् का वेद में प्रथमतः विभाग तीन लोकों में किया गया है—पृथ्वी, अन्तरिक्ष या वायु लोक, द्युलोक अथवा स्वर्ग। अग्नि, वृक्षादि की स्थिति पृथ्वी पर, मेघ, विद्युत् तथा वायु की अन्तरिक्ष में तथा सूर्य की स्वर्ग लोक में है। वेद में एक ही 'स्वः' शब्द सूर्य तथा स्वर्ग दोनों के लिए प्रयुक्त किया गया है। ब्राह्मणों में इन्हीं के वास्ते 'भू' 'भुवः' तथा 'स्वः' (तीन महाव्याहृतियों) के नाम भी आये हैं। निघण्टु में इसी कल्पना के अनुसार कुछ देवता पृथ्वी में रहने वाले, कतिपय अन्तरिक्ष में रहने वाले और कुछ द्युस्थान में रहने वाले बतलाये गये हैं। तात्पर्य यह है कि सर्वत्र वेद में लोकत्रय की यही कल्पना—पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा स्वर्ग-मान्य मानी गई है, लोकत्रय के भीतर पृथ्वी, आकाश तथा पाताल की कल्पना पौराणिक है और वेद में स्वीकृत नहीं की गई है।

ऋग्वेद से पता चलता है कि कभी प्राचीन समय में पृथ्वी तथा पर्वत बिल्कुल हिलते डुलते थे और इन्द्र ने पृथ्वी तथा द्युलोक को दृढ़ बनाया (ऋ० २।१२।१) पृथ्वी चक्र की तरह वृत्ताकार है। सूर्य के उदय तथा अस्त को लेकर विलक्षण कल्पना को प्रश्रय दिया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण (३।४४) सूर्य के विषय में कहता है कि वह न कभी उदित होता है और न कभी अस्त होता है। लोग जो समझते हैं कि

सूर्य अस्त होता है; वह बात इस प्रकार है—दिन के अन्त में पहुँच कर सूर्य अपने को पलट देता है और रात्रि को नीचे करके तथा दिन को ऊपर करके लौट जाता है। प्रातःकाल में उदय लेने की जो बात है उसका मतलब यह है कि सूर्य रात्रि के अन्त को पाकर अपने को घुमा देता है और दिन को नीचे तथा रात्रि को ऊपर करके पश्चिम की ओर जाता है। इसका अर्थ यह है कि सूर्य के एक भाग में रहता है दिन या प्रकाश तथा दूसरे भाग में रहती है रात्रि या अन्धकार। जब वह पूरब से पश्चिम की ओर प्रस्थान करता है, तब उसका प्रकाशमय भाग हमारे सामने और अन्धकारमय भाग ऊपर रहता है, यहीं हमारा दिन है। पश्चिम आकाश के अन्त को पाकर वह लौटता है तब अन्धकार वाला भाग हमारे सामने और प्रकाश वाला भाग हमारे ऊपर रहता है। इसीलिए उस काल में अन्धकार का राज्य रहता है और उसे रात्रि के नाम से पुकारते हैं। दिन-रात की यह कल्पना ऋग्वेद को भी अमान्य प्रतीत नहीं होती (ऋ० १।११५।४, ५।८१।४ आदि).—

तत् सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं
मध्या कर्तोर्विततं संजभार।
यदेदयुक्त हरितः सधस्था-
दाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै॥
(ऋ० १।११५।४)

वैदिक भौगोलिक स्थिति के विषय में चर्चा करते समय इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि आधुनिक तथा वैदिक नदियों के नामों में साम्य होने पर भी यह नहीं कहा सकता कि उसका प्रवाह-मार्ग प्राचीन काल में भी उसी स्थान पर था जिस स्थान पर वह आजकल विद्यमान है। यह तो प्रसिद्ध बात है कि नदियों की घाटियों की स्थिति बदला करती है। भवभूति ने इसी कारण किसी स्थान की पहचान

के वास्ते नदियों से बढ़कर पर्वतों का प्रमाण माना है। वैदिक आर्य पर्वतो मे परिचित थे। काण्व संहिता तथा मैत्रायणी संहिता में पुराणों में विख्यात कथानक का उल्लेख मिलता है कि प्राचीन काल में पर्वतो के पंख थे, वे जहाँ चाहते थे उड़कर जाया करते थे। इससे उत्पन्न जन-धन हानि से बचाने के लिए इन्द्र ने पर्वतो के पंखो को काट डाला और पृथ्वी को सुरक्षित बनाया। यह किसी वास्तविक घटना का वर्णन न होकर किसी काल्पनिक घटना की ओर संकेतमात्र है। पर्वत विशेष के नामों में 'हिमवन्त' (हिमालय) का नाम आता है, परन्तु इसके विस्तार के विषयों में किसी प्रकार का निर्देश नहीं मिलता। ऋग्वेद में 'मूजवत्' नामक एक विशिष्ट पर्वत का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद (१०।३४।१ सोमस्येव मौजवतस्य भक्षः) से पता चलता है कि सोमलता मूजवत् के ऊपर उगती थी। यह मूजवत् निरुक्त (९।८)की व्याख्याके अनुसार एक पर्वत का नाम था जिसकी स्थिति की जानकारी के विषय में अथर्व-संहिता हमारी सहायता करती है। अथर्व के ५ वें काण्ड के २२ सूक्त के कथनानुसार[1] मूजवत् पर्वत बहुत दूर उत्तर पश्चिम में गन्धार या वाल्हीक देश के पास कहीं पर था। यही पर्वत सोमलता का मूल स्थान था जहाँ से सोम लाकर यज्ञ में प्रस्तुत किया जाता था। आर्यों के पूरब की ओर बढ़ने पर यह स्थान इतना दूर हो गया कि इसका व्यापार होने लगा। सोमयाग में 'सोम-परिक्रयण' का यही ऐतिहासिक रहस्य है। शतपथ ब्राह्मण ने (१।८।१।६) जल के ओघ (बाढ़) के समाप्त होने पर मनु की नाव के उतरने के स्थान को 'मनोरवसर्पण' नाम दिया है, परन्तु उत्तर गिरि (हिमालय)

---

१ तक्मन् मूजवतो गच्छ बल्हिकान् वा परस्तरान्। ७
गन्धारिभ्यो मूजवद्भ्योऽङ्गेभ्यो मगधेभ्यः
प्रैष्यन् जनमिव शेवधि तक्मानं परिदद्मसि ॥ १४

में यह स्थान कहाँ था ? इसका पता नहीं चलता। तैत्तिरीय आरण्यक में (१।३१) क्रौञ्च, मैनाग, सुदर्शन पर्वतों के नाम पाए जाते हैं। इसी आरण्यक (१।७) में 'महामेरु' का स्पष्ट उल्लेख मिलता है जिसे कश्यप नाम का अष्टम सूर्य कभी नहीं छोड़ता, बल्कि सदा उसकी परिक्रमा किया करता है। इस वर्णन से स्पष्टतः प्रतीत होता है कि 'महामेरु' से यहाँ अभिप्राय 'उत्तरी ध्रुव' से ही है।

समुद्र

समुद्र के विषय में ऋग्वेदकालीन वैदिक आर्य परिचय रखते थे या नहीं ? इस प्रश्न को लेकर पश्चिम विद्वानों में बड़ी चर्चा चला करती थी। अधिकांश विद्वानों की सम्मति में आर्यगण समुद्र से कथमपि परिचय नहीं रखते थे, परन्तु वेद के गाढ अनुशीलन ने स्थिति बदल दी है। अब निःसन्दिग्ध रूप से कहा जा सकता कि आर्य लोग समुद्र से ही नहीं, प्रत्युत समुद्रजात मुक्ता आदि पदार्थों को भी जानते थे। ऋक्संहिता के अनेक स्थलों पर (१।७१।७, १।१९०।७ आदि) नदियों के समुद्र में गिरने का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। इतना ही नहीं, बल्कि जहाँ आजकल राजपुताने की मरुभूमि में बालुकाएँ लहर मार रही हैं, वहाँ उस समय एक लम्बा चौड़ा समुद्र था। आजकल के पूरबी भाग गंगा-यमुना की घाटीका स्थान भी, जहाँ आज उत्तरप्रदेश तथा बिहार के प्रदेश अपनी जन-समृद्धि से शोभायमान हैं, उस समय वह समुद्र के नीचे था। इस विषय का विस्तृत विवेचन अगले परिच्छेद में किया गया है। ऋक् (१।४७।६) तथा अथर्व (१९।३८।२) में समुद्रजात वस्तुओं का और विशेषतः समुद्र से उत्पन्न 'मुक्ता' का उल्लेख स्पष्ट शब्दों में किया गया है। तुग्र के पुत्र 'भुज्यु' की आख्यायिका का निर्देश अनेक स्थलों पर किया गया मिलता है। इस विख्यात कथा के अनुसार भुज्यु ने बहुत लम्बी समुद्र-यात्रा की

थी जिसमें एक सौ डाँडो की जहाजों का उपयोग किया गया था। इतनी सुसज्जित जहाज के डूबने की आशंका ने 'भुज्यु' को उस समुद्र में बेचैन कर डाला और अपनी रक्षा के निमित्त उसने अश्विनी कुमारों को पुकारना आरम्भ किया। इन्हीं दयालु देवताओं ने उस जहाज को किनारे लगाया और अपने भक्तों के प्राण बचाये। इस कथानक से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वैदिक आर्य लम्बी समुद्र यात्रा करने से कभी मुँह नहीं मोड़ते थे तथा लम्बी सौ डाँडों वाली जहाज बनाने और खेने की विद्या से भी वे भली भाँति परिचित थे[1]।

नदियाँ

ऋग्वेद में नदियों के नाम अधिकता से पाये जाते हैं। वैदिक-साहित्य में अन्य भौगोलिक नामोंकी अपेक्षा नदियोंके नाम कहीं अधिक बहुलता से उपलब्ध होते हैं। ऋग्वेद में 'सप्त सिन्धवः' शब्द अनेक बार उल्लिखित हुआ है, परन्तु ये सात नदियाँ कौन सी हैं? इसका पता लगाना बड़ा कठिन है। एक तो स्वयं नदियों की संख्या सात से कहीं अधिक है, यदि प्रधान नदियों की ओर इस शब्द में संकेत माने तो भी किन नदियों की हम प्रधान नदियों के अन्तर्गत गणना मानें? सायण ने गंगादि सप्त नदियों का उल्लेख किया है, परन्तु गोदावरी, कावेरी आदि दाक्षिणात्य नदियों की गणना इस शब्द के भीतर नहीं की जा सकती क्योंकि इनका निर्देश वैदिक-साहित्य में कहीं नहीं मिलता। बहुत सम्भव है कि पंजाब की पाँचों नदियाँ—शुतुद्रि, विपाश, परुष्णी, वितस्ता, असिक्नी—सिन्धु तथा सरस्वती के साथ इस शब्द में परिगणित की गई हों। जो कुछ भी हो, इतना तो

---

१ अनारम्भणे तदवीरयेथामनास्थाने अग्रभणे समुद्रे।
यदश्विना ऊहथुर्भुज्युमस्तं शतारित्रां नावमातस्थिवांसम्॥
—ऋ० १।११६।५

नितरां स्पष्ट है कि ऋग्वेदकालीन आर्यों के निवास के लिए इस शब्द का प्रयोग होता था। 'सिन्धु' आर्य-निवास का एक नितान्त विख्यात नद था जिसकी कीर्ति अनेक मन्त्रों में गाई ही नहीं गई है, प्रत्युत जिसके नाम पर समग्र प्रवहणशील जलस्रोत 'सिंधु' के नाम से पुकारे जाते हैं। समुद्र के लिए भी 'सिन्धु' का प्रयोग मिलता है।

ऋग्वेद के १०म मण्डल में एक पूरा सूक्त ही नदियों की स्तुति में प्रयुक्त हुआ है। १०।७५ सूक्त 'नदीसूक्त' कहलाता है जिसमें सिन्धु-तीरस्थ किसी प्रैयमेध नामक ऋषिने अपनी सहायक नदियों से संवलित सिन्धु से प्रार्थना की है। इस सूक्त में बहुत सी नदियों के नाम एक साथ आ गये हैं। सूक्त के पञ्चम मन्त्र में सिन्धु की पूरबी सहायक नदियों के नाम क्रम से दिये गये हैं। पूरा मन्त्र यह है —

इमं मे गंगे यमुने सरस्वति
शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयाऽ
र्जिकीये शृणुह्या सुषोमया॥

इन नदियों का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है —

(१) गंगा—ऋग्वेद में इसी एक जगह गंगा का नाम स्पष्टतः आया है। 'उरुकक्षो न गाङ्ग्य:' (ऋ० ६।४५।३१) में गङ्गातीरोत्पन्न व्यक्ति के अर्थ में प्रयुक्त गाङ्ग्य शब्द से नदी का संकेत माना जा सकता है, पर यह स्पष्ट नहीं है। गङ्गा से आर्यों का परिचय पीछे चल कर हुआ। इसी कारण उल्लेखों की कमी है। शतपथ (१३।५।४।११), जैमिनीय ब्रा० ३।१८३, तैत्ति० आर० २।१० में गङ्गा का नाम मिलता है।

(२) यमुना—इस नदी का नाम ऋग्, ऐतरेय तथा शतपथ के अनेक स्थलों पर आता है।

(३) सरस्वती—वैदिक आर्यों की पुण्यतमा तथा ख्याततमा नदी है जिसके किनारे वैदिक याग-विधान का बहुशः उल्लेख है। कुछ विद्वानों की सम्मति में 'सिन्धु' के लिये 'सरस्वती' शब्द का प्रयोग किया जाता था, परन्तु पीछे कुरुक्षेत्र वाली नदी के लिए इसका प्रयोग सीमित कर दिया गया। यह यमुना तथा शुतुद्री (सतलज) के बीच में बहती थी तथा समुद्र में अपना जल गिराती थी। पिछले काल में मरुभूमि में यह नदी बिल्कुल सूख गई। यह आजकल पटियाला रियासत में सुरसुति के नाम से प्रसिद्ध छोटी नदी है। इसी नदी के विषय में पौराणिकों का कहना है कि अदृश्य रूपसे आकर यह प्रयागमें गंगा-यमुना से मिल गई है, परन्तु वेद में इसकी पुष्टि नहीं दीख पड़ती। ऋग्वेद काल में यह पश्चिम समुद्र तक निरन्तर बहती थी। ब्राह्मणयुग में इसका सूखना आरम्भ हुआ। ताण्ड्य ब्राह्मण (२५।१०।१६) में सरस्वती के लुप्त होने के स्थान का तथा जैमिनीय ब्राह्मण (४।२६।१२) में पुनः निकलने के स्थान का उल्लेख किया गया है। सरस्वती के लुप्त हो जाने का स्थान 'विनशन' तथा पुनः उत्पन्न होने का स्थान 'प्लक्ष प्रास्रवण' नाम से निर्दिष्ट है जो 'विनशन' से घोडे की गति से चौआलीस दिनों की दूरी पर स्थित था। आश्वलायन श्रौतसूत्र (१२।६।१) में इसका नाम 'प्लाक्ष प्रस्रवण' दिया गया है।

(४) शुतुद्री—वर्तमान सतलज। रामायण में यह 'शतद्रु' के नाम से विख्यात है।

(५) परुष्णी—यह 'इरावती' के नाम से भी प्रसिद्ध था। वर्तमान नाम 'रावी'। इसी के किनारे वैदिक युग का विख्यात दाशराज्ञ-युद्ध हुआ था जिसमें महाराज सुदास ने अपने विरोध में सम्मिलित होनेवाले दश पराक्रमी नरपतियों की सेनायें छिन्न-भिन्न कर डाली थीं।

(६) असिक्नी—काली होने के कारण इस नदी का नाम 'असिक्नी' पड़ा था। इसीका वर्तमान नाम 'चन्द्रभागा' या 'चेनाब' है। ग्रीक लोग वर्ण-विपर्यास कर इसे 'एकेसिनिज' के रूप में जानते थे।

(७) मरुद्वृधा—यह कोई बड़ी नदी है। डा० स्टाईन के कथनानुसार इसका आधुनिक नाम मरुवर्दवान् है। यह चेनाब की एक पश्चिमी सहायक नदी है।

(८) वितस्ता—'झेलम' नाम से प्रसिद्ध है। अभी तक काश्मीर में वितस्ता 'वेथ' के नाम से विख्यात है जिससे इसके प्राचीन नाम की स्मृति आज भी जाग्रत है।

(९) आर्जीकीया—निरुक्त (९।२६) के अनुसार 'ऋजीक' पर्वत से उत्पन्न होने के कारण या ऋजुगामिनी होने से इस नदी का यह नामकरण किया गया। यास्क इसे 'विपाश्' (व्यास) का नामान्तर बतलाते हैं, परन्तु इस एकीकरण के मान लेने पर नदियों के क्रमिक उल्लेख की परम्परा त्रुटित हो जाती है। अत. यह झेलम तथा सिंधु के बीच में बहनेवाली कोई सामान्य नदी प्रतीत होती है।

(१०) सुषोमा—अटक जिले में बहनेवाली 'सोहन' नदी। निरुक्तकार इसका तात्पर्य सिंधु नदी से ही लगाते हैं।

नदीसूक्त के षष्ठ मन्त्र में सिन्धु की पश्चिमी सहायक नदियों का नामोल्लेख मिलता है.—

तृष्टामया प्रथमं यातवे सजूः
सुसर्त्वा रसया श्वेत्या त्या।
त्वं सिन्धो कुभया गोमती क्रुमुं
मेहत्न्वा सरथं याभिरीयसे॥
—(ऋ० वे० १०।७५।६)

(१) तृष्टामा—"वस्तुतः यह सिन्धु की पहली सहायक नदी है। ऋग्वेद के मन्त्र से भी यही ध्वनि निकलती है। आजकल यह 'जासकार' नाम से प्रसिद्ध है और कश्मीर के लद्दाख प्रान्त में है। आधुनिक नक्शे में यह दिखाई गई है।"

(२) सुसर्तु—वस्तुतः यह सिन्धु की सहायक दूसरी नदी है। आजकल 'सुरु' नाम से प्रसिद्ध है। यह दक्षिण से उत्तर जाती है। इसकी पश्चिमी सहायक नदी 'द्रास' और पूर्वी सहायक नदी 'पक्षुम' कही जाती है। यह नदी जासकार नामक नदी के बाद उसी दिशा में सिन्धु से मिलती है।" वेद धरातल (पृ० ७७५) के लेखक का यह समीकरण कश्मीर देश के अधिकारियों की सूचना पर आधारित है। अतएव प्रामाणिक और मान्य है।

(३) रसा—इस नदी का उल्लेख ऋग्वेद में कई बार आता है। इस नदी को पार कर सरमा के पणियों के पास पहुँचने की घटना का उल्लेख ऋग्वेद (१०।१०८।१-२) में किया गया है (कथं रसाया अतरः पयांसि)। 'रन्हा' नामक नदी से इसका समीकरण अनेक विद्वान् करते हैं। वस्तुतः यह सिन्धु की तीसरी सहायक नदी है। वर्तमान नाम शेवक है और काश्मीर की नदी है।

(४) श्वेती—सिन्धु की सहायक चतुर्थ नदी। कश्मीर में बहनेवाली गिलगित नदी से इसकी एकता मानी गई है।

(५) कुभा—सिन्धु की महत्त्वपूर्ण सहायक नदी है जिसका उल्लेख ऊपर के नदीसूक्त वाले मंत्र में तथा ऋग्वेद ५।५३।९ मंत्र में किया गया है। वह मंत्र यह है:—

मा वो रसानितभा कुभा क्रमु र्मा वः सिन्धुर्नि रीरमत्।
मा वः परिष्ठात् सरयुः पुरीषिण्य स्मे इत् सुम्नमस्तु वः॥

[भावार्थ—हे मरुतों, आपको रसा, अनितभा, कुभा, क्रुमु और सिन्धु निकृष्ट रमण न करावें और पुरीषिणी (जलवाली) सरयू भी मत रोकें।]

कुभा की वर्तमान पहिचान 'काबुल' नदी से है। यह सिन्धु की सहायक नदी हिन्दुकुश से दक्षिण है तथा कुनार तथा पजकोरा आदि इसकी सहायक नदियाँ है।

(६) मेहत्नू—उक्त मन्त्र में यह नदी सिन्धु की सहायक नदी मानी गई है तथा इसकी सख्या छठी है। गोमती तथा क्रुमु से पहिले ही सिन्धु से मिलने की घटना का वर्णन है। अत. आजकल 'सवान' नदी से इसकी पहिचान की जा सकती है।

(७) गोमती—सिन्धु की सहायक नदी के रूप में उल्लिखित इस गोमती की पहिचान वर्तमान 'गोमाल' से की जाती है। यह अफगानिस्तान की नदी है जो सिन्धु नदी में डेरा इस्माइल खाँ तथा पहाड़पुर के बीच में गिरती है।

(८) क्रुमु—वर्तमान नाम कुर्रम जो सिन्धु की पश्चिमी सहायक नदी है।

इनके अतिरिक्त अन्य नदियों के नाम इस प्रकार हैः—

सुवास्तु—ऋ० ८।१९।३७ तथा निरुक्त ४।१५ में उल्लिखित है। यह सिन्धु की सहायिका कुभा (काबुल) की सहायक नदी है। आजकल यह स्वात् नाम से अफगानिस्तान में प्रसिद्ध है।

सरयू—(ऋ० ५।५३।९, १०।६४।९)—कुभा, क्रुमु, सिन्धु आदि पश्चिमी नदियों के साथ उल्लेख से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह भी पश्चमी नदी है। अत इसे अयोध्याजी के पास बहने वाली सरयू मानना नितान्त भ्रान्त है। अवेस्ता में यही 'हरोयू' के नाम से विख्यात है। आजकल इसे हरिरुद कहते हैं।

विपाश्—(ऋ० ३।३३।१,३
„ ४।३०।३१) = व्यास नदी ।

आपया—(ऋ० ३।२३।४) कुरुक्षेत्र की नदी है जो सरस्वती की सहायक नदी थी । 'मानुपतीर्थ से पूर्व एक कोस पर है और बरसाती नदी है जो अस्थिपुर के पास महेश्वरदेव के समीप है' ।

दृपद्वती—बड़ी महत्त्वशालिनी नदी है । यह सरस्वती की सहायक नदी है । यह आजकल 'घग्घर' या चितंग नदी हो सकती है । ऋग्वेद (३।२३।४) में इसका उल्लेख भरतों की यज्ञस्थली के रूप में आपया तथा सरस्वती के साथ आया है । इसके उत्पत्ति-स्थान का नाम दृषद्वती प्रभव्य (या अर्स) है (लाट्यायन श्रौत सूत्र १०।१९।९) जो हिमालय के प्रत्यन्त पर्वत पर है । यह नदी सरस्वती के साथ जहाँ संगम करती थी उसका नाम 'दृषद्वत्यप्यय' (कात्यायन श्रौत सूत्र २४।१९८) या 'दृपद्वत्या अप्यय' है । संगम के स्थल पर यज्ञों के अनुष्ठान का वर्णन मिलता है । लाट्या० १७।१,२ से पता चलता है यह नदी कभी सोदका होती थी और कभी-कभी अनुदका भी । फलतः यह वर्षावहा नदी थी । मनु (२।१७) ने दृपद्वती तथा सरस्वती को देवनदी कहा है तथा इनके बीच वाले प्रदेश को 'ब्रह्मावर्त' पुण्यभूमि बतलाया है ।

सदानीरा—(शतपथ १।४।१।१४) यह नदी कोशल और विदेह राज्यों की सीमा थी । सम्भवतः वर्तमान गण्डकी नदी से इनका एकीकरण किया जा सकता है । इस नदी के पश्चिम ओर था कोशल देश तथा पूरब ओर था विदेह (सैपाप्येतर्हि कोसलविदेहानां मर्यादा-शत० १।४।१।१७)

इन सुस्पष्ट उल्लेखों के अतिरिक्त कुछ नदियों के अस्पष्ट नाम भी मिलते हैं—अनितभा (ऋ० ५।५३।९)—सिन्धु की कोई पश्चिमी

सहायक नदी, यव्यावती (ऋ० ६।२७।६) पंजाब की कोई नदी; रथस्या (जैमिनि ब्रा० २।२३५)—पता नहीं। वरणावती (अथर्व ४।७।१)—सायण के मत में कोई ओषधि का नाम। कुछ लोग इसे काशी के पास 'वरुणा' बतलाते हैं। विबाली (ऋ० ४।३०।१२)—अज्ञात नदी, शिफा (ऋ० १।१०४।३)—असुर कुयव की दोनों पत्नियों के शिफा की धारा में मारे जाने की प्रार्थना पूर्वोक्त मंत्र में है। अतः यह नदी प्रतीत होती है। हरियूपीया (ऋ० ६।२७।५) में कहा गया है कि इन्द्र ने इस नदी पर अभ्यावर्ती चायमान के लिए वृचीवतों को मार डाला था और अगले मन्त्र में इस युद्ध का स्थान यव्यावती बतलाया गया है। अतः सम्भवतः हरियूपीया तथा यव्यावती एक ही अभिन्न नदी के नाम हों।

देश

नदियों के विवरण के अनन्तर वैदिक काल के प्रदेशों के वर्णन की ओर ध्यान देना समुचित प्रतीत होता है। प्राचीन साहित्य में किसी जातिविषयक तथा उसके निवास स्थान के लिए एक ही अभिन्न शब्द प्रयुक्त किया जाता है जिसे जनपद-वाची शब्द कहते हैं जैसे 'काशि'। यह शब्द काशि नामक देश तथा जाति के लिए भी प्रयुक्त किया जाता था। वेद में ऐसे जनपद-वाची शब्द प्रचुरता से मिलते हैं। इन नामों के देखने से यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इन जातियों का निवासस्थल इन्हीं स्थानों पर था जहाँ ये स्थान आजकल मिलते हैं। जातियाँ एक स्थान से दूसरे स्थानों पर कालान्तर में हटती चली जाती थीं और अपना नाम भी साथ लेती जाती थीं। ऐसी दशा में इन स्थानों की मौलिक स्थिति का ठीक ठीक निर्णय करना एक विषम पहेली है।

ऐतरेय ब्राह्मण (८।२) ने राजा के महाभिषेक के प्रसङ्ग में इस आर्यमण्डल को पाँच भागों में विभक्त किया है—प्राच्य (पूरब के लोग तथा देश), दक्षिण, पश्चिम में नीच्य तथा अपाच्य (पश्चिम के रहनेवाले लोग), उत्तर हिमालय से उस पार उत्तर कुरु और उत्तर मद्र नामक जनपदों की स्थिति थी और सबों के बीच था 'ध्रुवा मध्यमा प्रतिष्ठा' अर्थात् प्रतिष्ठित ध्रुव मध्यम देश जिसमें कुरु-पञ्चालों का निवास था। मनु आदि स्मृतिकारों के द्वारा वर्णित 'मध्यदेश'[1] की कल्पना का मूल ऐतरेय के इसी वर्णन में है। वैदिक ग्रन्थों में अनेक देशों के नाम उपलब्ध होते हैं जो इन्हीं भिन्न-भिन्न दिङ्मण्डलों में विभक्त थे।

आर्यनिवास के बीच में कुरु पञ्चाल जनपदों का नाम आता है। कुरु तथा पञ्चाल का नाम सदा सम्मिलित रूप से मिलता है। अतः ये एक सम्मिलित राष्ट्र प्रतीत होते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में इनकी प्रकृष्ट प्रशंसा का कारण यह है कि यह आर्यसभ्यता का केन्द्र माना जाता था, इसी देश में सरस्वती का गृह था, कुरु पाञ्चालों की याग-पद्धति सब से श्रेष्ठ बतलाई गई है (श० ब्रा० १।७।२।८), इस देश के राजा-लोग राजसूय यज्ञ किया करते थे (श० ब्रा० ५।५।२।२) तथा शीत काल में दिग्विजय के लिए यात्रा करते तथा ग्रीष्म ऋतु में घर लौट आते थे (तै० ब्रा० १।८।४।१-२)। उपनिषदों में इस देश के ब्राह्मणों

---

[1] हिमवद् विन्ध्ययोर्मध्यं यत् प्राग् विनशनादपि।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः॥

मनुस्मृति २।२१

अर्थात् हिमालय तथा विन्ध्याचल के बीच का, विनशन (सरस्वती नदी के लुप्त हो जाने के स्थान) से पूरब तथा प्रयाग से पश्चिम का स्थान 'मध्यदेश' कहलाता है। इसके भीतर कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पञ्चाल तथा शूरसेन प्रान्तों का अन्तर्भाव माना जाता था (म० स्मृ० २।१९)।

राजा जानश्रुति पौत्रायण ने महावृष देश में ब्रह्मज्ञानी सयुग्वा रैक्व को 'रैक्वपर्ण' नामक ग्राम दिया था। क्या यह तराई का कोई स्थान है? जहाँ ज्वर की अधिकता आज भी उपलब्ध होती है।

कुरुपञ्चाल से पूरब ओर के अनेक देशों के नाम वैदिक साहित्य में उल्लिखित हैं जिनका संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जाता है—

काशि या काश्य—अथर्व ५।२२।१४ (पैप्पलाद शाखा के अनुसार) शतपथ १३।५।४।१९, जैमिनीय २।३।१९, बृहदारण्यक २।१।१ में उल्लिखित काशी वर्तमान काशी ही है। ब्राह्मण युग में भी इसकी प्रख्याति कम न थी। 'काशि' काशीके निवासियों के लिए तथा 'काश्य' यहाँ के राजा के लिए प्रयुक्त मिलते हैं। शतपथ का कथन है कि काशि-नरेश धृतराष्ट्र को शतानीक सात्राजित ने युद्ध में हराया था। बृहदारण्यक में अजातशत्रु काशी के राजा बतलाये गये हैं। काशि तथा विदेह कभी एक साथ सम्मिलित थे, क्योंकि कौषीतकि उप० में 'काशि-विदेह' नाम समस्तरूप में मिलता है तथा बृहदारण्यक में गार्गी ने अजातशत्रु को काश्य या वैदेह बतलाया है (काश्यो वा वैदेहो वा उग्रपुत्रः—बृह० ३।८।२)।

कोशल—इस देश का नाम शतपथ (१।४।१।१७), तथा जैमिनीय ब्रा० में मिलता है। कोशलों का नाम विदेहों के साथ मिलता है जिससे जान पड़ता है कि पीछे के समय के अनुसार वैदिक काल में भी ये आसपास ही निवास करते थे।

विदेह—शतपथ (१।४।१०) में 'विदेघ' नाम से भी इसी देश का निर्देश किया गया है। यह वही देश है जो आजकल तिरहुत के नाम से बिहार में विख्यात है। शतपथ के कथनानुसार स्पष्ट प्रतीत होता है कि आर्य संस्कृति का इस देश में प्रचार कुरुपञ्चाल से ही

पीछे चल कर हुआ, परन्तु उपनिषत्काल में अपने ब्रह्मवादी तथा विद्वान् राजा जनक के कारण इसने विपुल ख्याति अर्जन की थी। बृहदारण्यक में ब्रह्मवादियों की जिस सभा का मनोरम वर्णन है वह जनक के ही दरबार में हुई थी। विदेह लोग काशियों के साथ एक सम्मिलित राष्ट्र माने जाते थे। कोशल तथा विदेह की सीमा पर 'सदानीरा' थी जो सम्भवतः वर्तमान गण्डकी होगी।

मगध—ऋग्वेद मगध का नाम नाम नहीं मिलता, परन्तु अथर्व में अङ्ग के साथ मगध मे ज्वर के चले जाने के चले जाने की प्रार्थना की गई है (५।२२।१४)। अङ्ग के साथ सम्बद्ध होने से इसे पूरवी देश मानने में कोई आपत्ति नहीं है। यजुर्वेद के पुरुषमेध के अवसर पर मागध की बलि अतिक्रुष्ट के लिए बतलाई गई है (यजु० ३०।२२), तथा अथर्व संहिता (१५।२।५) में मागध व्रात्य का मित्र, मन्त्र, तथा उसका हास्य बतलाया गया है। (मित्रो मागधो विज्ञानं वासोऽहरुष्णीपं)। लाट्यायन श्रौतसूत्र (८।६।२८) में व्रात्य मगध-देशीय ब्रह्मबन्धु के रूप में स्वीकृत किया गया है। इन सब उल्लेखो से प्रतीत होता है कि वैदिक काल में मगध के निवासी सभ्यता तथा धर्म की दृष्टि में नितान्त हेय तथा हीन समझे जाते थे। इसका कारण यही था कि ये लोग ब्राह्मणधर्म में बहुत पीछे सन्निविष्ट किये गये। पिछले समय में यहाँ की भूमि वैदिक याग के तिरस्कार करनेवाले बौद्धधर्म के उदय के लिए नितान्त उर्वरा सिद्ध हुई। जान पडता है कि यहाँ के निवासियों ने कला कौशल, विशेषतः सगीत के सीखने के प्रति विशेष आदर दिखाया। इसीलिए राज दरबार में मागध का समादर कालान्तर में होने लगा।

अङ्ग—इस देश का नाम ऋग्वेद में नहीं मिलता, परन्तु अथर्ववेद में मगध के साथ इसका नामोल्लेख है (५।२२।१४) गोपथ ब्राह्मण

में 'अङ्गमगधाः' समस्त पद की उपलब्धि से प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में अङ्ग और मगध सम्मिलित राष्ट्र माने जाते थे।

दक्षिण के कतिपय देशों के भी नाम मिलते हैं। चेदिराज कशु के दान की महिमा ऋ० ८।५।३७ में गाई गई है, परन्तु 'चेदि' की स्थिति का पता नहीं चलता। शतपथ (२।३।२।१) में दक्षिण के राजा नल 'नैषिध' कहे गये है। जैमिनीय ब्रा० (२।४४२) में विदर्भ नाम आता है, परन्तु इसकी निःसन्दिग्ध स्थिति विचारणीय है। मत्स्यों का का नाम शतपथ (१३।५।४।९) तथा गोपथ (१।२।९) में आता है। ऋग्वेद ७।१८।६ में इनका उल्लेख किन्हीं लोगों की राय में माना जाता है, परन्तु इनका निवास कहाँ था? यह ठीक-ठीक नहीं बतलाया जा सकता। आर्यों की सीमा पर रहनेवाली कतिपय जातियों का भी उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण में किया गया है। इस ब्राह्मण (७।१८) से पता चलता है कि जब विश्वामित्र ने शुनः शेप को अपना ज्येष्ठ पुत्र माना, तब उनके पुत्रों ने घोर विरोध किया। इस पर क्रुद्ध होकर ऋषिवर्य ने पुत्रों को शाप दे दिया जिसके कारण ये लोग आन्ध्र, पुण्ड्र, शबर, पुलिन्द तथा मूतिब नामक उपान्तवासी दस्युजातियों में परिणत हो गए। पिछले ऐतिहासिक काल में हम इन जातियों के आवास स्थान से भली भाँति परिचित है, परन्तु ब्राह्मणयुग में इन दस्युजातियों की स्थिति किस ओर थी और कहाँ थी? इसका ठीक-ठीक पता बताना बहुत ही कठिन कार्य है। आन्ध्र जो इस समय मद्रास प्रान्त के उत्तर में स्थित है कभी दक्षिणापथ के उत्तरी भाग में रहते थे। इसी प्रकार 'पुण्ड्र लोग बिहार के दक्षिण भाग में आगे चलकर रहते थे, परन्तु ऐतरेयकाल में उनकी भौगोलिक स्थिति का यथार्थ परिचय नहीं चलता।

देशों के नाम के अतिरिक्त कतिपय स्थानों के भी नाम वैदिक ग्रन्थों में आते हैं जिनमें कतिपय प्रसिद्ध स्थान नीचे दिये जाते हैं:—

काम्पिल (तै० सं० ७।४।१९।१)—पञ्चाल की राजधानी, कुरुक्षेत्र—पुण्यभूमि रूप से उल्लेख किया गया है ; तूर्घ्न—कुरुक्षेत्र का उत्तरी भाग (तै० आ० ५।१।१); त्रिप्लक्ष = दृषद्वती के अन्तर्धान का स्थान यमुना के पास था (ताण्ड्य २५।१३।४); नैमिश (काठक सं० १०।६, छान्दोग्य १।२।१३)—प्रसिद्ध नैमिषवन, वर्तमान निमिसार । परीणह्—कुरुक्षेत्र में पश्चिम में कोई स्थान (ताण्ड्य २५।१३।१). अन्य अनेक छोटे मोटे स्थानों का उल्लेख यत्र तत्र किया गया है जिनका वर्णन अनावश्यक समझकर नहीं किया जाता ।

(२)

आर्यों का निवासस्थल

ऋग्वेद के अनुशीलन करने से हम वैदिक आर्यों के निवासस्थल का पर्याप्त परिचय पाते है । ऋग्वेद में आर्य-निवास के लिए सर्वत्र 'सप्तसिन्धवः' शब्द का प्रयोग किया गया है । 'वैदिक भूगोल' प्रकरण में हमने दिखलाया है कि आर्य-निवास की सात विख्यात नदियों के विषय में प्राचीन तथा अर्वाचीन विद्वानो में पर्याप्त मतभेद है, परन्तु इतना तो निश्चित सा है कि जिसे आजकल पंजाब के नाम से पुकारते है उसी के लिए या उससे कुछ विस्तृत भूखण्ड के लिए 'सप्त सिन्धव' शब्द व्यवहृत होता था । आजकल के अफगानिस्तान, पंजाब, कश्मीर से प्राचीन आर्यजन परिचित थे । अफगानिस्तान में बहनेवाली कुभा (काबुल), सुवास्तु (स्वात्), क्रुमु (कुर्रम) तथा गोमती (गोमाल) नदियों से वे लोग परिचय रखते थे । 'सिन्धु' की जानकारी के विषय में कहना ही व्यर्थ है । ऋग्वेदीय मन्त्रों में 'सिन्धु' की भूयसी प्रशंसा उपलब्ध होती है । ऋग्वेद के नदी-सूक्त (१०।७५) में सिन्धु का इतनी ओजस्विनी भाषा में वर्णन किया गया है कि नदी के तुमुल तरङ्गों का दृश्य नेत्र के सामने झलकने लगता है । प्रैयमेधा का कहना है—

सिन्धु का शब्द पृथ्वी से उठकर आकाश तक को आच्छादित कर देता है, महान् वेग से उज्ज्वल बनकर यह चलती है। इसके शब्द को सुनकर मन में ऐसा भान होता है कि मेघ घोर गर्जन के साथ वृष्टि कर रहा हो। सिन्धु वैसी ही आती है जैसे वृष गर्जन करता हुआ आता हो:—

दिवि स्वनो यतते भूम्योप-
यनन्तं शुष्ममुदियर्ति भानुना ॥
अभ्रादिव प्रस्तनयन्ति वृष्टयः
सिन्धुर्यदेति वृषभो न रोरुवत् ॥
(ऋक् १०।७५।३)

एक दूसरे मन्त्र में सिन्धु का अपनी सहायक नदियों के संगम का दृश्य बड़ी रोचक भाषा में अभिराम उपमाओं के सहारे प्रस्तुत किया गया है—

अभि त्वा सिन्धो शिशुमिन्न मातरो
वाश्रा अर्षन्ति पयसेव धेनवः।
राजेव युध्वा नयसि त्वमित् सिचौ
यदासामग्रं प्रवतामिनक्षसि ॥
(ऋक् १०।७५।४)

[हे सिन्धो ! जैसे कोमल बछड़े के पास रँभाती गायें दूध लेकर दौड़कर जाती हैं, उसी तरह ये नदियाँ आवाज करती हुई तुम्हारे मिलने के लिए दौड़ी आती हैं। युद्ध के समय लड़ाकू राजा जिस प्रकार अपनी सेना को लेकर आगे बढ़ता है, उसी प्रकार तुम भी इन सहायक नदियों को अपने साथ लेकर आगे बढ़ती चली जाती हो।]

अत निश्चय है कि आर्यों के हृदय पर प्रबल तरङ्गमयी वेगवती सिंधु के प्रवाह ने अपना प्रभाव जमा रखा था। वे लोग प्राकृतिक दृश्य

से ही प्रभावित नहीं हुए थे, प्रत्युत यहाँ अपने सुख के साधनों को पाकर वे अत्यधिक आनन्दित हुए थे। सिन्धु प्रदेश ऊन की उपज के लिए प्रख्यात था तथा यहाँ के उत्पन्न सुन्दर घोड़ों को आर्य लोग युद्ध के लिए उपयोग में लाते थे। यहाँ सुन्दर रथ होते थे तथा कपड़ों के लिए यह प्रदेश नितान्त प्रसिद्ध था। इसीलिए 'सिन्धु' को ऋषिगण 'स्वश्वा' 'सुरथा', 'सुवासा', 'वाजिनीवती', 'ऊर्णावती' आदि विशेषणों के द्वारा प्रशंसित करते नहीं थकते थे (ऋ० १०।७५।८)। आर्यों का निवास 'सिन्धु' के उभय किनारों पर फैला हुआ था। इसीलिए 'आर्यों' का नामकरण इसी नदी के अभिधान पर कालान्तर में सम्पन्न हुआ। ईरानी लोग 'सिन्धु' को, 'स' को 'ह' में परिवर्तित कर 'हिन्दू' नाम से तथा ग्रीक लोग 'सिंधुस्' शब्द में सकार का लोप कर 'इन्दुस्' के नाम से पुकारते थे। इसी 'इन्दुस्' से पूरे देश का नाम 'इंडिया' पड़ गया; इस सुप्रसिद्ध बात को यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं।

ऋग्वेद में 'सरस्वती' नदी का भी बड़ा माहात्म्य है। आर्य-निवास की यह भी एक भूरिप्रशंसित नदी थी। कालान्तर में प्रसिद्धि लाभ करने वाली गंगा तथा यमुना का उल्लेख ऋग्वेद में बहुत ही स्वल्प है, परन्तु सरस्वती की प्रशंसा करते ऋषि लोग कभी नहीं अघाते थे। सरस्वती की प्रशंसा में अनेक मन्त्र उपलब्ध होते है। इसी के किनारे वैदिक ऋषिलोग साम गायन करते हुए यज्ञयागों के अनुष्ठानों में दत्त-चित्त रहा करते थे। गृत्समद ऋषि विनयावनत हृदय से सरस्वती को लक्ष्य कर प्रार्थना कर रहे हैं कि हे नदियों में सर्वश्रेष्ठ, देवियों में अग्र-गण्य, पूजनीया माता, हमलोग अप्रशस्त हैं, ऐसी कृपा कीजिये जिससे हमलोग भाग्यशाली बन जांय :—

अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति।
अप्रशस्ता इव स्मसि प्रशस्तिमम्ब नस्कृधि ॥

(ऋ० २।४१।१६)

सिन्धु नदी के पूरब ओर जिस प्रकार भिन्न-भिन्न आर्य जातियाँ अपने जीवन के सुख साधनों के सम्पादन में लगी हुई कालयापन कर रही थीं, उसी प्रकार सिन्धु के पश्चिमी भाग में भी आर्य नरेश अपनी प्रजाओं का कल्याण साधन करते हुए इधर से आने वाले शत्रुओं से अपने पवित्र आर्य-निवास की रक्षा करने के लिए दूर-दूर तक फैले हुए थे। इस विषय में ऋग्वेद के पञ्चम मण्डल के ६१ सूक्त का परिशीलन नितान्त महत्त्वशाली है। उसके अध्ययन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि गोमती नदी (वर्तमान गोमल) के आस-पास के पार्वत्य प्रदेशों में आर्यों की सभ्यता जीती जागती थी। इसी नदी के तीर पर पर्वतमय प्रदेश में राजा रथवीति दार्भ्य (दर्भपुत्र) का राज्य था[1]। अत्रिवंशी अर्चनाना ऋषि इनके सोमयाग में प्रधान होता का काम किया करते थे। इसी ऋषि के पुत्र का नाम 'श्यावाश्व' था जिन्होंने मरुतों के अनुग्रह से ऋषित्व लाभ करके रथवीति की कन्या से विवाह किया (ऋ० ५।६१।१७)। राजा रथवीति के राज्य से कुछ ही दूर पर राजा तरन्त का राज्य था जिनकी दानशीला महिषी का नाम 'शशीयसी' था (ऋ० ५।६१।६)। तरन्त के राज्य के पास ही पुरुमीळ्ह राज्य करते थे जो 'विददश्व' के पुत्र होने से 'वैददश्वि' के नाम से प्रख्यात थे (ऋ० ५।६१।९)। बहुत सम्भव है कि विदेशी आक्रमणों से आर्यों की रक्षा करने के अभिप्राय से प्रेरित होकर इन राजाओं ने इस पश्चिमोत्तर भूभाग को अपने वीरमय कृत्यों का भाजन बनाया था तथा इधर ही निवास कर ये लोग प्रजा का कल्याण साधन करते थे।

इस आर्य-निवास की चतुः सीमा का उल्लेख ऋग्वेद के मन्त्रों में स्पष्टाक्षरों में प्रतिपादित किया गया है। ऋग्वेद १०म मण्डल १३६ वें

---

[1] एष क्षेति रथवीतिर्मघवा गोमतीरनु ।
पर्वतेष्वपश्रितः । —ऋ० ५।६१।१९ ।

सूक्त के ५ वें मन्त्र में पूर्व समुद्र तथा अपर समुद्र का निर्देश मिलता है। यह पूर्व समुद्र आज कल की बंगाल की खाडी को संकेतित नहीं करता, प्रत्युत उत्तर-प्रदेश, विहार, बगाल आदि पूरबी प्रान्तों की भूमि पर उस समय लहराता था। 'सप्तसिन्धव' के पूरब ओर वर्त्तमान रहने से यह 'पूर्व सागर' नाम से अभिहित किया जाता था। उस युग में यह समुद्र समग्र गाङ्गेय प्रदेश, पन्चाल, कोसल, मगध, विदेह, अङ्ग तथा वङ्ग देश को समाच्छन्न करके विद्यमान था। ऋग्वेद में इन पूर्वी प्रदेशों का नाम कहीं भी उपलब्ध नहीं होता, इसका प्रधान हेतु, यही है कि यह समस्त भूखण्ड अभी समुद्र गर्भ में विलीन था, उससे बाहर नहीं निकला था। पिछले युगों में ख्याति तथा पवित्रता लाभ करने वाली गङ्गा तथा यमुना के ऋग्वेद में स्वल्प निर्देशों को देखकर हमें विस्मय न करना चाहिये, क्योंकि उस समय ये दूर तक बहने वाली लम्बी नदियाँ न होंगी, वलिक थोड़ी दूर तक ही प्रवाहित होने वाली स्वल्प-काया सरिता मात्र थीं। यह पूरब सागर सप्तसिन्धव की पूर्वी सीमा से अत्यधिक सन्निकट रहा होगा, जिससे गङ्गा-यमुना के दूर तक बहने का ही अवकाश न रहा होगा। 'अपर समुद्र' वर्तमान अरब सागर का ही कोई भाग होगा, जो सिन्धु प्रदेश के ऊपर तक प्रवाहित होता था। इतना ही नहीं, पंजाब के दक्षिण में जो विशाल वालुका-राशि आज राजपूताना के रेगिस्तान के नाम से विख्यात है, वहाँ ऋग्वेदीय युग में एक विपुलकाय समुद्र की स्थिति का पता चलता है जिसमें दृषद्वती के साथ मिलकर सरस्वती[2], विपाश् (विआस) तथा शुतुद्री[3] (सतलज)

१ वातस्याश्वो वायो सखाथ देवेषितो मुनि ।
उभा समुद्रावा क्षेति यश्च पूर्व उतापरः ॥ —ऋ० १०।१३६।५

२ एका चेतत् सरस्वती नदीनां
शुचिर्यती गिरिभ्य आ समुद्रात्। ऋ० ७।९५।२

३ इन्द्रेषिते प्रसवं भिक्षमाणे
अच्छा समुद्रं रथ्येव याथः। —ऋ० ३।३३।२

नदियाँ गिरती थीं। उस काल में ये तीनों नदियाँ इसी समुद्र में जाकर गिरती थीं, परन्तु भौगोलिक स्थिति की उथल-पुथल के कारण इस दशा में परिवर्तन हो गया। ब्राह्मण युग में ही सरस्वती नदी वालुका के बीच अपना अस्तित्व खो बैठी। जिस स्थान पर वह अन्तर्धान हो गई उसका नाम 'विनशन' था। कहीं २ वह मरुभूमि में कुछ दूर तक अन्तर्हित होकर भी पुन. बाहर आकर समुद्र तक प्रवाहित होने लगी थी। सरस्वती की उत्पत्ति 'प्लक्ष प्रास्रवण' नामक स्थान से हुई थी; ब्राह्मणों में यह स्थान विख्यात है। सुरसुति आज भी है परन्तु एक छोटी धारामात्र है। व्यास तथा सतलज की भी भौगोलिक स्थिति में विशेष परिवर्तन हो गया है। जब ये नदियाँ वालुका पुञ्ज को भेदकर अग्रसर होने में असमर्थ हो गईं, तब इन्होंने अपना मार्ग बदल दिया और पश्चिम की तरफ एक नूतन खात तैयार कर ये सीधे सिन्धु नदी में मिल गईं। उस प्राचीनकाल में प्रतीत होता है कि यह राजपुताना का समुद्र 'पूर्व सागर' के साथ मिलकर सप्तसिन्धव के दक्षिण तथा पूरबी भाग को सदा प्रक्षालित किया करता था।

ऋग्वेद के अनुशीलन से आर्य-निवास की उत्तर दिशा में लहराने वाले एक अन्य समुद्र का भी पता चलता है। ऋग्वेद में 'चतुः-समुद्रा'—चार समुद्रों का सुस्पष्ट निर्देश है। सप्तगु ऋषि इन्द्र से प्रार्थना कर रहे हैं कि चारों समुद्रों की सम्पति लाकर उन्हें भाग्यशाली बनावें। पूरा मन्त्र इस प्रकार है—

> स्वायुधं स्ववसं सुनीथं
> चतुः समुद्रं धरुणं रयीणाम्।
> चर्कृत्यं शंस्यं भूरिवार-
> मस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः॥
>
> ऋ० १०।४७।२

उत्तरी समुद्र

तीन तरफ बहनेवाले समुद्रों का संक्षिप्त संकेत ऊपर किया गया है। पूर्वोक्त मन्त्र में सूचित चौथा समुद्र आर्यों के निवासस्थल की उत्तर दिशा में प्रवाहित होता था। भूतत्त्ववेत्ताओं का कहना है कि अत्यन्त प्राचीनकाल में (जिसके वर्षों की गणना पाँच अङ्कोंवाली संख्या के रूप में ही किया जा सकता है) वाल्हीक (वलख) तथा पारसीक (फारस) देश के उत्तरी भाग में तथा वर्तमान तुर्किस्तान के पश्चिमी भाग में भूमध्य सागर विद्यमान था। यह समग्र भूप्रदेश समुद्र के तल में विलीन था। कालान्तर में यह पूरा समुद्र सूखकर ठोस जमीन के रूप में परिणत हो गया, परन्तु इन प्रदेशों में आज भी विद्यमान रहनेवाले समुद्र तथा झीलों की स्थिति से उस प्राचीन दीर्घ समुद्र की स्मृति जाग्रत है—उसकी याद हरी भरी बनी हुई है। वह समुद्र किसी नैसर्गिक कारण से सूख गया और आज भी काला सागर, काश्यप समुद्र (कैसपियन सी), अराल सागर (सी आफ अराल) तथा वाल्कश ह्रद के रूप में वह विद्यमान है। ये जलाशय अलग-अलग अपनी स्वतन्त्र सत्ता आजकल बनाये हुए हैं, परन्तु जिस समुद्र की चर्चा हम यहाँ कर रहे हैं, उसी विशाल भूमध्यसागर के एक विराट आकार में ये सब उस समय सम्मिलित थे। यही आर्य-निवास के उत्तर में विस्तृत विस्तीर्ण सागर ऋग्वेदोक्त चतुर्थ समुद्र था। इन चारों समुद्रों में व्यापार की दृष्टि से आदान प्रदान भी जारी था। समुद्र-वणिक् लोग नावों तथा जहाजों की सहायता से इन विभिन्न समुद्रों में जाकर व्यापार किया करते थे तथा प्रभूत धन उपार्जन किया करते थे। तभी तो त्रित ऋषि सोम देव से इन चारों समुद्रों की विपुल सम्पत्ति के आनयन के लिए प्रार्थना कर रहे हैं:—

> रायः समुद्रांश्चतुरोऽस्मभ्यं सोम
> विश्वतः आ पवस्व सहस्रिणः ॥ —(ऋ० ९।३३।६)

इन्हीं चतुःसमुद्रों से आवृत भूमण्डल पर आर्यों का प्राचीन निवास था। यहीं से आर्यों ने वैदिक धर्म तथा सस्कृति की ध्वजा फहराते हुए अनेक नूतन प्रदेशों में अपने उपनिवेश स्थापित किये तथा उन्हें वैदिक धर्म में दीक्षित बनाया। महर्षि मनु का यह कथन कि इसी देश के अग्रजन्मा विद्वज्जनों से पृथ्वीतल के मानवों ने अपनी सभ्यता की तथा चरित्र की शिक्षा पाई, ऐतिहासिक दृष्टि से भी यथार्थ, तथ्यपूर्ण तथा सम्पूर्णरूपेण सत्य प्रतीत होता है।

पूर्वोक्त मीमासा से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि सरस्वती तथा दृषद्वती नदी के अचल में ही आर्य सभ्यता ऋग्वेदीय काल में पनपी, यद्यपि पजाब तथा गाधार में आर्यों का निवासस्थान कभी प्राचीन काल में अवश्य था जिसकी स्मृति ऋग्वेद के मन्त्रों में पद-पद पर जागरूक है। कभी माना जाता था कि ऋग्वेद के मन्त्रों की रचना पजाब में ही हुई, परन्तु वस्तुत. यह घटना सिद्ध नहीं होती। जिन मन्त्रों में सुवर्ण रथ पर आरूढ होकर कमनीयकलेवरा उषा के उदय होने की घटना का वर्णन किया गया है, वे मन्त्र पंजाब में भले ही निर्मित माने जायँ, परन्तु जिन मन्त्रों में प्रचण्ड गर्जन करनेवाले पर्जन्य की स्तुति है, तथा घनघोर वेग से तुमुल वर्षा के मेघों से फूटकर पृथ्वी पर गिरने का वर्णन है वे मन्त्र नि सन्देह सरस्वती देश में ही ऋषिजनों के द्वारा दृष्ट हुए है, यही मानना युक्तियुक्त प्रतीत होता है। क्योंकि पजाब स्वय स्वल्प वर्षा का देश है। वहाँ वर्षा इतने जोर शोर से नहीं होती कि उसका चित्र भावुक हृदयों पर सदा के लिए अकित हो जाता। परन्तु सारस्वत प्रदेश ऐसा ही उपयुक्त प्रान्त है जहाँ प्रकृति नटी इन विषम तथा विचित्र लीलाओं को दिखलाती हुई रग-मंच पर सतत क्रीडा किया करती है और जहाँ मनुष्यों के हृदय पर इन लीलाओं की गहरी छाप सदा के लिए पड जाती है। इसी कारण हम सारस्वत प्रदेश की इतनी

महिमा गाई गई है तथा मनु महाराज ने इसे 'देव-निर्मित देश' मानकर इसकी ख्याति तथा पवित्रता पर अपनी मुहर लगा दी है—

तं देव-निर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते—मनु० २।१९। यह सरस्वती-क्षेत्र ही वैदिक आर्यों की आदिम भूमि है जहाँ से उन्होंने उत्तरी ध्रुव में भी जाकर अपना उपनिवेश बनाया। इसी लिए ऋग्वेद के मन्त्रों में ऐसे अनेक भौगोलिक बातों का वर्णन मिलता है जो उत्तरी ध्रुव में ही यथार्थतः उपलब्ध होती है। लोकमान्य तिलक उत्तरी ध्रुव को ही आर्यों का मूलस्थान मानते थे[1], परन्तु भारतीय परम्परा के अनुसार भारत ही आर्यों की आदिभूमि है[2]।

पिछली संहिता तथा ब्राह्मणयुग में वैदिक सभ्यता का प्रसार पूरब के देशों की ओर होने लगा, जब भौगोलिक स्थिति में परिवर्तन होने से पूर्वसागर सूख गया तथा उसके स्थान पर गाङ्गेय प्रदेशों की ठोस जमीन ऊपर निकल कर विभिन्न प्रान्तों का रूप धारण करने लग गई। इस प्रसार के विषय में एक प्राचीन सुन्दर आख्यायिका शतपथ ब्राह्मण में (१।४।१।१०) दी गई है जिसका सारांश यहाँ दिया जाता है। "विदेघ माथव" ने वैश्वानर अग्नि को मुख में धारण किया था। घृत के नाम लेते ही वह अग्नि माथव के मुँह से निकल कर पृथ्वी पर आ पहुँचा। उस समय विदेघ माथव सरस्वती पर निवास करते थे (तर्हि विदेघो माथव आस सरस्वत्याम्)। वह अग्नि पूरब की ओर जलाता हुआ आगे बढ़ा और उसके पीछे-पीछे विदेघ माथव तथा उनके पुरोहित गोतम रहूगण चले। वह नदियों को जलाता चला गया, अकस्मात् वह 'सदानीरा' नदी को नहीं जलाया जो उत्तर गिरि (हिमालय) से

---

१ द्रष्टव्य तिलक-आर्कटिक होम इन वेदज, पूना १८९३।

२ दास ने 'ऋग्वेदिक इण्डिया' में इसका विशेष प्रतिपादन किया है। द्रष्टव्य सम्पूर्णानन्द—आर्यों का आदिदेश, प्रयाग।

वहती है (सदानीरेत्युत्तराद् गिरेर्निधावति)। अग्नि के द्वारा दग्ध न होने के कारण ब्राह्मण लोग पुराने जमाने में उसके पार नहीं जाते थे, परन्तु आजकल उसके पूरब ओर ब्राह्मणों का निवास है। विदेघ माथव ने अग्नि से पूछा कि अब मैं कहाँ निवास करूँ? अग्नि ने उत्तर दिया— इस नदी की पूरब ओर। सदानीरा ही कोसल तथा विदेह देशों की आज भी मर्यादा बनी हुई है"। यह कथानक बड़े ही ऐतिहासिक महत्त्व का है। वैश्वानर अग्नि वैदिक यागानुष्ठान या वैदिक धर्म का प्रतिनिधि है। उसका प्रथम स्थान था सरस्वती-मण्डल और वहीं से उसने पूरब के देशों में प्रस्थान किया। इस आर्यसभ्यता के विस्तार में विदेव माधव तथा उनके पुरोहित गोतम रहूगण का विशेष हाथ दीख पड़ता है। ये गोतम रहूगण कोई सामान्य ऋषि न थे। शतपथ में (१।८।१।१०) स्पष्टतः ये माथव के पुरोहित बतलाये गये हैं (तस्य गोतमो रहूगण ऋषिः पुरोहित आस), परन्तु ऋग्वेद में इनके द्वारा दृष्ट अनेक सूक्त (१।७५, ७६, ७७, ७८, ७९ आदि) उपलब्ध होते हैं जिनमें विशेषतः अग्नि से प्रार्थना की गई है। एक मन्त्र में इन्हों ने अग्नि की स्तुति के प्रसंग में अपने नाम का भी उल्लेख किया है :—

अवोचाम रहूगणा अग्नये मधुमद् वचः।
द्युम्नैरभि प्र णो नुमः।

(ऋ० १।७८।६)

शतपथ ने इन्हें विदेह के महाराज जनक तथा ऋषि याज्ञवल्क्य का भी समकालीन बतलाया है (शत० ११।४।३।२०) तथा अथर्व संहिता में भी इनके नाम का उल्लेख दो बार किया गया है (अथर्व० ४।२९।६ ; १८।३।१६) अतः इन निर्देशों के आधार पर हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि पूरबी प्रान्तों में आर्यधर्म के विस्तार करनेवाले

रहूगण गोतम ऋषि उस काल के एक पूजनीय तथा माननीय महर्षि प्रतीत होते हैं।

आर्य सभ्यता का विस्तार

ऋग्वेदकाल के अनन्तरवाले काल में जिसे ब्राह्मणयुग के नाम से यथार्थ रूप से पुकारते हैं, आर्य-सभ्यता का क्रमशः विस्तार सम्पन्न होने लगा, इसका परिचय तत्कालीन भूगोल के परिशीलन से भलीभांति लग सकता है। कुरु-प्रदेश ने इस युग में वैदिक धर्म का झंडा ऊँचा किया। कुरु प्रदेश की सीमा का भी स्पष्ट निर्देश है। इस देश के दक्षिण ओर था खाण्डव, उत्तर में तूघ्न तथा पश्चिम में परीणह्। पश्चिम तथा पश्चिमीय जातियों के प्रति शतपथ तथा ऐतरेय में अनादर की भावना जाग्रत हो गई और पंजाब का माहात्म्य धीरे-धीरे कम हो गया और मध्यदेश ने विशिष्ट प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली। पूरबी प्रदेशों का महत्व आर्य-सभ्यता के विस्तार के साथ साथ ब्राह्मण युग में बढ़ने लगा। कुरु-पञ्चाल के संग में विदेह, कोसल, मगध तथा अङ्ग देशों का उल्लेख अनेक ग्रंथों में होने लगा। सम्भवतः दक्षिण भारत में आन्ध्र, शबर, पुण्ड्र, पुलिन्द तथा मूतिब नामक दस्यु जातियों की सत्ता बनी हुई थी, जिन्होंने अभी तक आर्य धर्म तथा वैदिक सभ्यता को ग्रहण नहीं किया। विदर्भ (बरार) का नाम जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण मे मिलता है। इन जातियों में आर्यधर्म का प्रसार ब्राह्मण-युग के अनन्तर हुआ। विन्ध्य की भी दशा ऐसी ही थी। वैदिक ग्रथों में उल्लिखित न होने से हम इसी परिणाम पर पहुँचते है कि विन्ध्य-प्रदेश में आर्य लोग अभी तक नहीं फैले थे, यद्यपि कौषी-तकि-उपनिषद् में उत्तर तथा दक्षिण पर्वत का नामोल्लेख मिलता है। 'दक्षिण पर्वत' से तात्पर्य विन्ध्य पर्वत से ही हो सकता है। उत्तर भारत की भौगोलिक स्थिति का भरपूर ज्ञान इस युग में होने लगा

था। अथर्ववेद केवल गन्धारि तथा मूजवन्तों से ही परिचित नहीं है, प्रत्युत 'महावृष' नामक सुदूर उत्तर में स्थित जनपद को भी भलीभाँति जानता है जिसमें छान्दोग्य (४।२।५) के उल्लेखानुसार 'रैक्वपर्ण' नामक कोई विशिष्ट स्थान था। यास्क (२।२) के कथन से पता चलता है कि कम्बोज देश के निवासियों की भाषा आर्यों की भाषा से कुछ पृथक् हो गई थी। आर्य लोग 'शव' का प्रयोग मृतक के अर्थ में किया करते थे, वहाँ कम्बोज-निवासी गति के अर्थ में 'शवति' क्रिया-पद का प्रयोग करते थे। पीछे चलकर कम्बोज लोग सिन्धु के पश्चिमोत्तर आकर बस गये थे। 'वंश ब्राह्मण' में मद्रगार के शिष्य काम्बोज औपमन्यव नामक आचार्य का नाम उपलब्ध होता है।

इस प्रकार इस युग में नवीन देशों का ही ज्ञान नहीं था, प्रत्युत विशिष्ट तथा विख्यात नगरों और अन्य स्थानों का भी पूरा परिचय हो चला था। कुरुओं की राजधानी 'आसन्दीवन्त' का, मध्यदेश में पाञ्चालों की राजधानी काम्पील का (वर्तमान नाम कपिल), कौशाम्बी का तथा वरणावती (वरुणा) के तीरस्थ काशियों की राजधानी काशी का उल्लेख ब्राह्मणों में अनेक बार पाया जाता है। आसन्दीवन्त तो उस जमाने का एक बड़ा विख्यात नगर प्रतीत होता है जहाँ जनमेजय पारीक्षित का अश्वमेध सम्पन्न हुआ था तथा जहाँ इनका अभिषेक किया गया था। (ऐत० ३९।७, शत० १३।५।४।२, शाखा० सूत्र १६।९।१) शतपथ (१३।५।४।२) में इन्द्रोत दैवाप शौनक अश्वमेध का पुरोहित माना गया है तथा ऐतरेय में (८।२१) तुर कावषेय इस प्रसिद्ध राज के अभिषेक करानेवाला बतलाया गया है। इस तरह भौगोलिक ज्ञान का विस्तार इस युग की अपनी विशेषता है।

---

[1] शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते। विकारमस्य आर्येषु भाषन्ते शव इति
निरुक्त २।२।८

एकादश परिच्छेद

आर्य और दस्यु

जब तक मनुष्य अपनी जीविका के लिए शिकार पर अवलम्बित रहता है तथा एक स्थान से दूसरे स्थान पर अपने सामान को अपने साथ लेकर घूमा करता है, तब तक उसमें न सभ्यता का उदय हो सकता है न संस्कृति का उत्थान। यह मानव दशा मनुष्य के मानसिक विकास को सर्वथा रोक रखती है। परन्तु जब मनुष्य खेती कर अपना जीवन निर्वाह करने लगता है तथा एक जगह पर अपना घर बना कर नियमित जीवन बिताने लगता है, तब उसकी वास्तविक भौतिक उन्नति होने लगती है। यही अवस्था सभ्यता की उत्पादिका है। वैदिक आर्यगण इसी दशा में थे। हमने ऊपर दिखलाया है कि वे सप्तसिन्धु प्रदेश में स्थान-स्थान पर अपनी टोलियाँ बना कर सुख से नियमित जीवन बिता रहे थे। उनके भौतिक जीवन की विशिष्ट बातों का वर्णन आगे चल कर किया जायगा। इस परिच्छेद में आर्यों की विभिन्न जातियाँ या जनों के विषय में महत्त्वपूर्ण बातों का वर्णन किया जावेगा।

पञ्च जनाः

ऋग्वेद के अध्ययन से पता लगता है कि सप्तसिन्धु प्रदेश के वैदिक आर्य छोटी-छोटी टोलियाँ बना कर, विशेषतः नदियों की घाटियों में निवास करते थे, परन्तु उनकी सभ्यता एक समान ही थी, क्योंकि वे सब लोग समान देवताओं की पूजा अर्चा किया करते थे, अग्नि में हवन किया करते थे तथा समान प्रकार का सामाजिक जीवन बिताया करते थे। ऋग्वेद इन टोलियों या जातियों की संख्या पाँच बतलाता है। इन्हीं जातियों के द्योतनार्थ ऋग्वेद में पञ्चजनाः (३।३७।९), पञ्च-

मानुषा. (८।९।२), पञ्चकृष्टयः (२।२।१०, ३।५३।१६), पञ्चक्षितयः (१।७।९) पञ्चचर्षणयः (५।८६।२, ९।१०१।९) शब्दों का प्रयोग किया गया। प्रायः प्रत्येक मण्डल में इन पञ्च जातियों के उल्लेख का अवसर आया है। परन्तु 'पञ्चजनाः' का यथार्थ अर्थ अनिश्चित सा है। ऐतरेय ब्राह्मण (३।३१।) ने देवता, मनुष्य, गन्धर्व और अप्सरा, सर्प तथा पितृगण का समावेश 'पञ्चजनाः' के भीतर बतलाया है। औपमन्यव आचार्य की सम्मति में चार वर्ण तथा निषाद मिल कर पञ्च जातियाँ हैं (निरुक्त ३।८) तथा इस आचार्य की सम्मति को सायण भी मानते हैं। यास्क का मत ऐतरेय से मिलता जुलता सा है, क्योंकि उन्होंने इस शब्द के अन्तर्गत गन्धर्व, देवता, पितर, असुर तथा राक्षस का समावेश स्वीकृत किया है। परन्तु इन व्याख्याओं में त्रुटि प्रतीत होती है। 'पञ्च मानुषा' के भीतर मनुष्यों की ही परिगणना यथार्थ होगी, मानुषेतर राक्षस तथा असुरों को घसीट लाना उचित नहीं प्रतीत होता। पाश्चात्य विद्वानों में भी इस शब्द की व्याख्या को लेकर गहरा मतभेद है। यह कहना कि इस शब्द का प्रयोग समस्त मानवमात्र अथवा प्राणिमात्र के लिए किया गया है, ठीक नहीं जँचता, क्योंकि ऋग्वेद (६।६१।१२) ने स्पष्ट ही इन पञ्च मानवों को सरस्वती के तट पर अवस्थित बतलाया है। इन जातियों से सोम का सम्बन्ध तथा इन्द्र के लिए 'पाञ्चजन्य' (पञ्च जनों से सम्बद्ध) शब्द का प्रयोग (ऋ० ५।३२।११) यही दर्शाता है कि 'पञ्चक्षितयः' के भीतर आर्यों का ही समावेश ऋग्वेद के ऋषियों को माननीय तथा अभीष्ट है। अतः ऋग्वेद के एक मन्त्र में एक साथ निर्दिष्ट यदु, तुर्वश, द्रुह्यु, अनु तथा पुरु ही मुख्यतया इस शब्द के द्वारा संकेतित माने जाते हैं[1]।

---

[1] यदिन्द्राग्नी यदुषु तुर्वशेषु यद् द्रुह्युष्वनुषु पूरुषु स्थः ।
अतः परि वृषणावा हि यातमथा सोमस्य पिबतं सुतस्य ॥
—१।१०८।८ ।

यदु और तुर्वश—यदु तथा तुर्वश का परस्पर सम्बन्ध नितान्त घनिष्ट था। ये दोनों जातियाँ अनेक स्थलों पर एक साथ उल्लिखित की गई हैं। इनका तृत्सु जाति के राजाओं से बड़ा विरोध था। इनका प्रधान कार्य राजा सुदास् के विरोध में युद्ध में शामिल होना बतलाया गया है, परन्तु इस विरोध का फल कुछ अच्छा नहीं हुआ, क्योंकि इन्हें सुदास के सामने हार माननी पड़ी। इसके पहले भी इनकी सुदास् के पिता या पितामह दिवोदास के साथ लड़ाई हुई थी (६।६।१।२)। अतः पुराना वैर साधने के मतलब से इनका सुदास् विरोधी दल में सम्मिलित होना उचित ही था।

अनु और द्रुह्यु—इन दोनों जातियों में भी परस्पर सम्बन्ध था। अनु लोग परुष्णी (रावी) के तीर पर रहते थे तथा द्रुह्यु लोग पश्चिमोत्तर प्रदेश के रहनेवाले थे, क्योंकि पौराणिक अनुश्रुति द्रुह्यु लोगों का सम्बन्ध गान्धार के साथ बतलाती है। अनु लोगों के साथ द्रुह्यु के नरेश ने दाशराज्ञ युद्ध में भाग लिया था, परन्तु वह युद्ध में हार गया और उसे परुष्णी के जल में डूब कर प्राण छोड़ना पड़ा (७।१८)।

पूरु—पञ्चजनों में यही जाति बड़ी प्रभावशालिनी जान पड़ती है। यद्यपि दाशराज्ञ युद्ध में इसे भी पराजय स्वीकार करना पड़ा था, तथापि उस समय इसका लोहा सब जातियाँ मानती थीं। कुछ लोग इनका निवास-स्थान सिन्धु नदी के प्रदेश में मानते हैं, परन्तु सरस्वती के पास इसका वास मानना ठीक जँचता है। इसकी प्रभुता तथा महत्ता का पता इसी बात से चल सकता है कि पूरुवंशीय अनेक राजाओं के नाम तथा काम वैदिक ग्रन्थों में उल्लिखित हैं। इस जाति में प्राचीन काल में दुर्गह नामक राजा था जिसका पुत्र था गिरिक्षित। इन दोनों राजाओं के विषय में किसी भी घटना का वर्णन नहीं मिलता। गिरिक्षित के पुत्र थे प्रतापी पुरुकुत्स जो राजा सुदास् के समकालीन थे।

इनकी राजमहिषी के एक बड़ी विपत्ति में पड़ने का उल्लेख मिलता है जिससे उसका उद्धार पुत्र के उत्पन्न होने से हुआ (८।१९।३६)। वह विषम विपत्ति कौन सी थी ? इसका स्पष्ट पता नहीं चलता, परन्तु सम्भवतः वह पुरुकुत्सकी मृत्यु ही होगी। पुरुकुत्स ने भी सुदास् का विरोध किया था जिस में वे स्वयं मारे गये। माता को विपत्ति के मुख से निकालनेवाले इस पुत्र का नाम त्रसद्दस्यु था जिसके नाम से ही पता चलता है कि वह दस्युओं के लिए एक भीषण विभीषिका था। आर्यजनों के साथ उसके युद्ध का हाल हमें मालूम नहीं, परन्तु यह निश्चय है कि उसने अपना अधिकांश जीवन आर्यों को संकट पहुंचानेवाले दस्युओं के उच्छेद करने में बिताया। त्रसद्दस्यु ऋग्वेद के महत्त्वपूर्ण राजाओं में से एक है। इसके बाद इसके पुत्र तृक्षि ने शासन किया था (ऋ० ८।२२।७) जिसके अनन्तर इस वंश के दो नाम राजाओं का ऋग्वेद की दानस्तुतियों में उल्लिखित है। एक राजा का नाम त्र्यरुण जो त्रिवृ-पण् का पुत्र था। इसी कारण इसका पूरा नाम त्र्यरुण त्रैवृष्ण था इसका उल्लेख त्रसदस्यु तथा अश्वमेध के साथ किया गया है (५।२७)। इस वंश की दूसरी सन्तान थी कुरुश्रवण (ऋ० १०।३३।४) इसी सूक्त से यह भी पता चलता है कि उपमश्रवस् इसी कुरुश्रवण का पुत्र तथा मित्रातिथि का पौत्र था। इन नामोल्लेखों से हम ऋग्वेदीय काल में पुरुवंशीयों की महनीयता तथा प्रभुता का यत्किञ्चित् परिचय पा सकते हैं।

तृत्सु—इन पाँचों जातिओं के अतिरिक्त अनेक जातियाँ आर्यमण्डल में निवास किया करती थीं। इनमें 'तृत्सु' बड़े पराक्रमी, धीर तथा पुरुषार्थी थे। रहते थे ये लोग परुष्णी की पूरब ओर, परन्तु इनका प्रभाव सप्तसिन्धु प्रदेश के प्रत्येक जाति पर था। इसी जाति के वीर-रत्न थे राजा सुदास् जिनके विजय की कहानी कहते इनके पुरोहित वसिष्ठ लोग कभी नहीं अघाते थे। सुदास् के पिता या पितामह

दिवोदास भी अपने समय के नामी राजा थे। ये अतिथियों के नितान्त पूजक थे जिसके कारण उनका दूसरा नाम 'अतिथिग्व' भी था। पहले ही कहा गया है कि तृत्सुओं की बढ़ती देखकर पञ्चजातियाँ इनसे बुरा मानती थीं। तुर्वश, यदु तथा पूरु जातियों के राजाओं के साथ इनका झगड़ा चला करता था, परन्तु इनका जानी दुश्मन था दासों का सबसे पराक्रमी वीर शम्बर। इतना ही नहीं, पणि, पारावत तथा बृषय (६।६।२) लोगों के साथ दिवोदास युद्ध किया करते थे। भारद्वाजों के ये राजा सहायक तथा पृष्ठपोषक थे। इनका भी राज्य सुदास् के समान ही विस्तृत था। सप्तसिन्धु का मध्यभाग दिवोदास की छत्रछाया में था, ऐसा अनुमान कर सकते हैं, क्योंकि इन्हें पंजाब की पश्चिमी जातियों के साथ युद्ध करने के अतिरिक्त पारावतों के साथ भी लड़ाई लड़नी पड़ी थी जो यमुना के तीर पर निवास करते थे।

सृञ्जय—तृत्सु के सहायक सृञ्जय जाति का विशेष वर्णन ऋग्वेद में नहीं मिलता। इनके राजा दैववात ने वृचीवन्त तथा तुर्वश को एक साथ एक बड़े युद्ध में हराया था जिस विजय के लिए एक मन्त्र में उनका उल्लेख भी किया गया है (६।२७।७)। इस सृञ्जय राजा के साथ सोमक साहदेव्य राजा का भी वर्णन किया गया है (ऋ० ४।१५।७) जिससे ये दैववात के मदद देनेवाले मालूम पड़ते हैं। ऐतरेय (७।३४।९) में सोमक साहदेव्य तथा इनके पिता सहदेव का नारद तथा पर्वत ऋषि के द्वारा अभिषिक्त किये जाने का उल्लेख मिलता है। इन्हें तृत्सुओं के सहायक मानने का कारण यह है कि सृञ्जय नरेश प्रस्तोक तृत्सुवंशीय दिवोदास के साथ अपनी दानशीलता के लिए प्रशंसित किये गये हैं तथा तुर्वश लोगों के साथ दोनों का विरोधभाव समान रूप से था। ब्राह्मणयुग में सृञ्जयों ने अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाये रखा था। अपनी न्यायपरायणता के लिए सर्वत्र प्रसिद्धि प्राप्त की थी। शतपथ (१२।९।३।११) ब्राह्मण ने इनकी उदार चित्तवृत्ति के विषय में इस घटना का

उल्लेख किया है कि इन्होंने अपने एक राजा को जिनका नाम दुष्टरीतु पौंसायन था और जो दस पीढ़ियों से इनके ऊपर शासन करता था मन्त्री के साथ राज्य से निकाल बाहर किया। ये लोग भरतों के पड़ोसी थे तथा सरस्वती नदी के आसपास रहते थे। आगे चलकर ये लोग कुरु लोगों के साथ सम्मिलित होकर एक प्रबल जाति के रूप में परिणत हो गये।

क्रिवि—यह जाति सिन्धु तथा चेनाब के प्रान्त में निवास करती थी (ऋ० ८।२०।२४)। शतपथ (१३।५।४।७) के अनुसार क्रिवि पाचाल का प्राचीन नाम था और वहाँ उल्लिखित राजा क्रैव्य पाञ्चाल के नाम से भी इस कथन की पर्याप्त पुष्टि होती है। ऋग्वेद (७।१८।११) में एक स्थल पर वैकर्ण नामक दो विशिष्ट जातियों का उल्लेख पाया जाता है जिनके इक्कीस जनों को सुदास ने अपने पराक्रम से मार भगाया था। बहुत सम्भव है कि क्रिवि तथा कुरु का सम्मिलन ही वैकर्ण के रूप में ऊपर निर्दिष्ट किया गया हो।

वृचीवन्त—इस जाति का निर्देश ऋग्वेद के दो मन्त्रों में किया गया मिलता है, परन्तु इन दोनों स्थलों पर इनके पराजय की दुःखद वार्ता का ही वर्णन है। तुर्वशों की सहायता पाने पर भी ये लोग एक बार सृञ्जय राजा दैववात के द्वारा पराजित किये गये थे (६।२७५)। कतिपय विद्वानों का यह कथन कि वृचीवन्त तथा तुर्वश एक ही अभिन्न जाति के दो पृथक् नाम थे अनावश्यक तथा अनुपादेय प्रतीत होता है। ये लोग सृञ्जयों के विरोध में तुर्वशों के सहायकमात्र थे। अभ्यावर्ती चायमान के साथ हरियूपीया के पास इनका तुमुल संग्राम हुआ था

---

१ एकं च यो विंशतिं च श्रवस्या
वैकर्णयोर्जनान् राजा न्यस्तः (७।१८।११)।

जिसमें इन्हें हार जाना पड़ा था। अतः यह जाति साधारण सी मालूम पड़ती है।

नहुष—आर्यों में एक प्राचीन जाति 'नहुष' नाम से विख्यात थी जिसके प्रधान पुरुष का भी नाम नहुष था। दान-स्तुतियों में राजा नहुष की दानशीलता का वर्णन किया गया है। ऋ० ११२२।८ में पञ्च ऋषियों का राजा नहुष कहा गया है। इसी नहुष ने या नहुष जाति के किसी पुरुष ने पाँच वार्षगिरों (वृषगिर के पुत्रों को)पुरस्कृत किया था (ऋ० ११००।१६)। राजा मशशरि तथा आयवस नहुष जाति के राजा प्रतीत होते हैं (११२२।१५)। इन्होंने राजा नहुष के साथ मिलकर एक महान् यज्ञ का अनुष्ठान किया था।अतः ये उसके सम्बन्धी या घनिष्ठ मित्र तो जरूर थे। यह जाति सिन्धु नदी या सरस्वती के प्रदेश में निवास करती थी। इसी जाति के एक व्यक्ति का नाम अर्द्धअक्ष था जिसने अनेक शोभन कार्यों का सम्पादन किया था। ब्राह्मण युग में यह किसी अन्य जाति के साथ सम्मिलित हो गई।

भरत—यह जाति ऋग्वेदकाल में विशेष प्रख्यात थी। इसका निवासस्थान सरस्वती के किनारे था जो देश स्मृतियों में ब्रह्मावर्त के नाम से पीछे चलकर विख्यात हुआ। ऋग्वेद में भरतजाति के दो सरदार सरस्वती, दृषद्वती तथा आपया के किनारे स्थित बतलाये गये हैं। ये लोग वैदिक यज्ञों के बड़े भारी उन्नायक थे। इसी कारण अग्नि कई जगह 'भारत' नाम से निर्दिष्ट किया गया हैं। भौतिक स्थिति की गड़बड़ी के कारण भरतों को तृत्सुओं से अभिन्न मानना ठीक नहीं जँचता। भरतों का निवास था सारस्वत मण्डल में और तृत्सुओं की बसती थी परुष्णी के तट पर। एक मन्त्र में भरत को स्पष्ट शब्दों में तृत्सुओं का शत्रु बतलाया गया है। ऐसी दशा में दोनों को स्वतन्त्र जातियाँ मानना ही ठीक है। अवान्तर काल

में भरतो की ख्याति खूब ही बढ़ी-चढ़ी दीख पड़ती है, क्योंकि इस जाति के अनेक राजाओं के नाम तथा काम का उल्लेख ब्राह्मणग्रन्थों में किया गया है। शतपथ में (१३।५।४) भरत वंश के दो राजाओं को हम अश्वमेध यज्ञ करते हुए पाते हैं। इनमें एक था दुष्यन्त का पुत्र भरत (भरत दौष्यन्ति) तथा दूसरा था शतानीक सात्राजित। ऐतरेय में (८।४।२३) इन दोनों के अभिषेक की सूचना मिलती है। भरत दौष्यन्ति का अभिषेक किया था दीर्घतमा मामतेय ने तथा शतानीक का अभिषेक किया था सोमशुष्मन् वाजरत्नायन ने। इन्होंने काशियों पर विजय पाई थी तथा गङ्गा और यमुना के किनारे यज्ञो का विधिवत् अनुष्ठान किया था। इस घटना से इनके ब्रह्मावर्त में प्रतिष्ठित होने का सिद्धान्त को पर्याप्त पुष्टि मिलती है।

अन्य जातियाँ--ऋग्वेद के युग में और भी छोटी-छोटी जातियाँ सप्तसिन्धु में निवास करती थीं। इनमें से कुछ जातियों का नामोल्लेख दाशराज्ञ युद्ध के प्रसङ्ग में आगे चलकर किया जायगा। यहाँ अन्य जातियों का संक्षिप्त वर्णन दिया जाता है। कीकट का नाम ऋग्वेद में केवल एक बार (३।५३।१४) ही आता है[1] जिससे पता चलता है कि यागानुष्ठान की ओर इनकी विशेष रुचि न थी। अनेक पश्चिमी विद्वान् इससे जाति-विशेष का अर्थ लेते हैं, परन्तु वस्तुत देश का ही नाम है जहाँ अनार्य लोगों का निवास था (कीकटो नाम देशोऽनार्य-निवासः, यास्क ६।३२) इनके राजा का नाम प्रमगन्द था

---

[1] किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावो
नाशिरं दुह्रे न तपन्ति घर्मम्।
आ नो भर प्रमगन्दस्य वेदो
नैचाशाखं मघवन् रन्धया नः ॥

—ऋग० ३।५३।१४

जिसके लिए 'नैचाशाख' शब्द का प्रयोग पाया जाता है। इस शब्द के ठीक अर्थ के विषय में पर्याप्त मतभेद है। पाश्चात्य विद्वानों का कहना है कि वह नीच जाति या शाखा का था, इसी लिए इस विशेषण का उपयोग उसके लिए किया गया है, परन्तु सायण की माननीय सम्मति में यह किसी स्थान-विशेष का अभिधान बतलाया गया है। कीकट लोग उत्तर थे किसी पार्वत्य प्रदेश में रहते थे, जहाँ सोमलता प्रचुरता से मिलती थी। ब्राह्मणयुग में ये दक्षिणी विहार में आ गये जैसा यास्क ने बतलाया है (निरुक्त ६।३२)। दूसरी चेदि जाति का भी उल्लेख मिलता है। एक दानस्तुति में (ऋ० ८।५।३७) चेदियों के राजा कशु की दानशीलता की भूरि प्रशंसा है। इस राजा ने ब्रह्मातिथि नामक ब्राह्मण को एक सौ ऊँट तथा दस हजार गायों का भेंट दिया था। ऊँटों की अधिकता से अनुमान किया जा सकता है कि यह जाति राजपूताने के मरुभूमि के पास ही रहती थी। मत्स्य लोग इनके पड़ोसी जान पड़ते है।

ऋग्वेद-कालीन कतिपय विख्यात राजा

अब तक हमने आर्य-मण्डल में निवास करने वाली जातियों तथा उनके राजाओं का संक्षिप्त परिचय दिया है, परन्तु राजाओं की सख्या कहीं अधिक थी। ऋग्वेद के मन्त्रों में कतिपय मन्त्र ऐसे हैं जिनमें राजाओं की दानशीलता की स्तुति की गई है। दान के द्वारा सत्कृत ऋषियों ने अपने आश्रयदाता नरेशों की प्रशंसा कर अपनी कृतज्ञता दिखलाई है। इन मन्त्रों को 'दानस्तुति' कहते हैं। इनके अध्ययन से ऋग्वेदीय अनेक राजाओं के नाम, धाम तथा काम को हम भली भाँति जान सकते हैं। इन्हीं दानस्तुतियों में निर्दिष्ट कतिपय प्रख्यात नरपतियों का सामान्य वर्णन यहाँ दिया जाता है:—

(१) पुरुमीढ—यह उस समय का एक प्रभावशाली राजा प्रतीत होता है। ऋ० ५।६१।९-१० ऋचाओं के भाष्य में बृहद्देवता,

षड्गुरुशिष्य तथा सायणाचार्य ने इस राजा से सम्बद्ध एक मनोरम आख्यान का उल्लेख किया है जिसका सारांश यह है—ऋषि आत्रेय अर्चनाना ने राजा रथवीति दाल्भ्य के लिए एक यज्ञानुष्ठान किया था। ऋषि के पुत्र का नाम श्यावाश्व था। यज्ञ के अवसर पर अर्चनाना को राजा की सुन्दरी कन्या को देखकर उसे अपनी पुत्र-वधू बनाने की इच्छा जाग उठी। उन्होंने राजा से यह प्रस्ताव डाला। राजा ने अपनी महिषी की सम्मति से इस प्रस्ताव का तिरस्कार कर दिया। कारण यह था कि श्यावाश्व शास्त्रों में पाण्डित्य रखने पर भी अभी तक मन्त्रद्रष्टा ऋषि न था और महिषी का ऋषि को ही कन्या देने का संकल्प था। निराश होने पर श्यावाश्व ने आशा न छोड़ी। बड़ी उग्र तपस्या की। ब्रह्मवर्चसी ऋषि ने राजा तरन्त की महिषी शशीयसी से भेंट की जिस पर रानी ने प्रसन्न होकर नाना प्रकार के पदार्थ दान में दिए। तरन्त ने भी इनका उचित आदर-सत्कार किया तथा अपने अनुज पुरुमीळ्ह के पास उन्हें भेजा[1]। राह में जाते समय श्यावाश्व ने दीप्यमान शरीर वाले मरुद्गणों को देखा और उनकी प्रशस्त स्तुति की। देवता प्रसन्न हुए और श्यावाश्व को ऋषित्व की प्राप्ति हो गई। इस समाचार से प्रसन्न होकर अपने संकल्पानुसार रथवीति ने अपनी कन्या का शुभ विवाह ऋषि श्यावाश्व के साथ स्वयं कर दिया। इस कथानक के अनुसार पुरुमीढ एक उदार राजा ही नहीं, प्रत्युत ऋ० १।१५१।२ के अनुसार वह राजर्षि प्रतीत होता है। ताण्ड्य ब्रा० (१३।७।१२) तथा जैमिनीय ब्रा० (१।१५१) के प्रामाण्य पर पुरुमीढ तरन्त का अनुज था। ये दोनों 'विददश्व' गोत्र में उत्पन्न होने के कारण 'वैददश्वि' कहे गये हैं।

---

१ दत्त्वा च पुरुमीळ्हस्य भ्रातुरन्त्यान्तिकं प्रति
प्रेषयामास तमृषिं सोऽपि तं मानयिष्यति ।

—बृहद्देवता

(२) अभ्यावर्त्ती—यह चयमान का पुत्र था (ऋ० ६।२७ ४–८) इसने वृचीवतों को, जिनका राजा वरशिख था, जीता था। सृञ्जय ने इसकी सहायता की थी। यह तुमुल युद्ध हरियूपीया तथा यव्यावती नदी के किनारे हुआ था। भूगोल प्रकरण में हमने दिखलाया है कि यह दोनों नदियाँ सिन्धु नदी के पश्चिम ओर कहीं पर थीं। ऋ० ६।२७।८ में अभ्यावर्ती के लिए 'पार्थव' शब्द का प्रयोग किया गया है। इस शब्द की यथार्थ व्याख्या अभी तक एक पहेली है। पाश्चात्य विद्वानों की सम्मति में यह राजा उत्तर-पश्चिम की ओर रहनेवाला पारसीकों के साथ सम्बन्ध था।

(३) मनुसावर्णि (या सावर्ण्य)—ऋग्वेद में इनके दानों की बड़ी स्तुति की है। इन्होंने अष्टकर्णी हजारों गायों तथा हजारों घोड़ों को दक्षिणा में दिया था (ऋ० १०।६२।७–८)। इस दानस्तुति से स्पष्ट है कि ये यदु तथा तुर्वश के समकालिक थे (ऋचा १०)। ये विवस्वत् या वैवस्वत भी कहे गये हैं (८।५१।१)। जान पड़ता है कि 'वैवस्वत' नाम पितृवंशसूचक तथा सावर्णि (सवर्णा की सन्तान) मातृवंश सूचक है। दानस्तुति में वर्णित होने से इनकी ऐतिहासिकता में सन्देह करने की गुंजायश नहीं है। अन्य स्थानों पर ये मनुष्य जाति के पिता तथा याज्ञिक और अन्य अनुष्ठानों में मार्गदर्शक माने गये हैं। शतपथ में वर्णित जलप्लावन से मानव समाज का उद्धार करनेवाले महान् व्यक्ति ये ही मनु बतलाये गये हैं (१।८।१।१)

इन राजाओं के अतिरिक्त अनेक राजाओं के नाम इन दानस्तुतियों में आदर के साथ लिये गये हैं जिनमें से कुछ नाम ये हैं—पृथुश्रवस् (८।४६।२१) स्वनय भाव्य, ऋणञ्चय, श्रुतरथ, पाकस्थामा, कुरुङ्ग, कशु, चित्र, वरो सुषामन्, इन्द्रोत, श्रुतर्वन् आदि[१]।

---

[१] दानस्तुतियों में उल्लिखित ऐतिहासिक उपादान के लिए देखिए डा० मणिलाल पटेल का एतद्विषयक लेख—भारतीय अनुशीलन पृ० ३४–४२

दाशराज्ञ युद्ध

ऋग्वेद की इन जातियों या जनों में पारस्परिक विरोध की भावना प्रबल दृष्टिगोचर होती है, क्योंकि मन्त्रों में एक जाति के पुरोहित अपनी जाति के प्रभुत्व तथा अन्य जातियों पर आधिपत्य के लिये सन्तत प्रार्थना किया करते थे। ऋग्वेद के युग की सब से महनीय सामरिक घटना है—दाशराज्ञ युद्ध। इस युद्ध के कारण तथा घटना का हमारा ज्ञान सन्देह की कोटि से परे नहीं है। बहुत सम्भव है कि यह संघर्ष ब्रह्मावर्त्त में निवास करने वाले भरतों तथा पश्चिमोत्तर भारत के निवासी जनों के बीच हुआ था। भरतों के राजा सुदास थे जो तृत्सुजन के अधिपति थे। प्रतीत होता है कि सुदास के पूर्व पुरोहित विश्वामित्र थे जिनकी सहायता से भरतों ने विपाश तथा शुतुद्रि नदियों के पास अपने शत्रुओं को आक्रमण कर परास्त किया था। किसी कारण से विश्वामित्र का उन्नत पद वसिष्ठ को प्राप्त हुआ। इस पर बदला लेने की भावना से प्रेरित होकर विश्वामित्र ने दश विभिन्न राजाओं के संघ को भरतों के विरोध में खड़ा किया। सुदास और दस राजाओं की संग्राम-स्थली परुष्णी (वर्तमान रावी) का तट था जहाँ सुदास ने इन संघीभूत शत्रुओं को परास्त किया जिसकी विजयगाथा वसिष्ठ ने तीन सूक्तों (७।१८;३३, ८३) में बड़े ओजस्वी शब्दों में वर्णित की है। इन दश जनों में ये पाँच तो विशेष महत्त्वशाली न थे—अलिन (जो आजकल के काफ़-रिस्तान के उत्तर पूर्व के सम्भवत निवासी थे), पक्थ (जो अफगान पख्तून के पूर्व पुरुष थे), भलनस, शिव (सिन्धु की समीपस्थ जाति) तथा विषाणिन्। अन्य पाँच जातियाँ वे ही थीं जिनका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। अनु तो परुष्णी के तट पर रहती थी और जिनके पुरोहित सम्भवत: भृगु कुल के प्रसिद्ध ऋत्विज् लोग थे। द्रुह्यु इन्हीं के साथ सम्बद्ध थे। तुर्वशु तथा यदु भी इसी प्रकार सम्बद्ध जातियाँ थीं। पाँचवीं जाति पुरु थी जो सरस्वती के उभय किनारों पर बसती

थी और जो इस प्रकार भरतों के पड़ोस में रहती थी। पुरुष्णी के युद्ध में विजय प्राप्ति के बाद सुदास को आगे बढ़ने तथा शत्रुओं के प्रान्तों को अपने राज्य में मिलाने का अवसर सम्भवतः मिल न सका, क्योंकि इसी समय अज, शिग्रु तथा यक्षु नामक तीन जातियों के सेनानायक बनकर भेद नामक राजा ने सुदास पर पूरब से धावा बोल दिया। सुदास ने लौटकर इन जातियों को यमुना नदी के किनारे पर बड़ी वीरता के साथ ध्वस्त कर दिया। इस युद्ध के दृश्य का वर्णन वसिष्ठ ने बड़े ही सुन्दर शब्दों में ऋग्वेद के एक सूक्त (७।८३) में किया है जिससे प्रतीत होता है वसिष्ठ इस युद्ध स्थल में अपने यजमान के रक्षणार्थ स्वयं उपस्थित थे तथा इन्द्रावरुण से श्लाघनीय प्रार्थना करते थे। सुदास का विजय इस दैवी शक्ति के विपुल साहाय्य का परिणत फल था। इस विजय के अनन्तर सुदास की प्रभुता अधिक बढ़ गई और अन्य किसी भी जाति को उनसे छेड़-छाड़ करने का साहस नहीं हुआ। अन्य जातियों में पुरु का प्रभाव आगे चल कर विशेष हुआ और महाभारत काल में तो पुरु और भरत का परस्पर मेल कुरु के रूप में हो गया।

(२)

दस्यु और दास

आर्यों का दस्युओं के साथ भी युद्ध कर अपनी रक्षा करनी पड़ती थी। दस्यु तथा दास के विषय में विद्वानों में एक मत नहीं है। कतिपय विद्वान् इन्हें देवताओं का प्रतिद्वन्द्वी दैत्य ही मानते हैं, मनुष्य नहीं। कई मन्त्रों से तो ऐसा जान पड़ता है कि ये देवताओं के विरोध करनेवाले अतिप्राकृत जगत् के जीव थे, परन्तु अन्य मन्त्रों में ये आर्य लोगों के मानव शत्रु के रूप में चित्रित किये गये हैं जिनके ऊपर विजय

दाशराज्ञ युद्ध

ऋग्वेद की इन जातियों या जनों में पारस्परिक विरोध की भावना प्रबल दृष्टिगोचर होती है, क्योंकि मन्त्रों में एक जाति के पुरोहित अपनी जाति के प्रभुत्व तथा अन्य जातियों पर आधिपत्य के लिये सन्तत प्रार्थना किया करते थे। ऋग्वेद के युग की सब से महनीय सामरिक घटना है—दाशराज्ञ युद्ध। इस युद्ध के कारण तथा घटना का हमारा ज्ञान सन्देह की कोटि से परे नहीं है। बहुत सम्भव है कि यह संघर्ष ब्रह्मावर्त्त में निवास करने वाले भरतों तथा पश्चिमोत्तर भारत के निवासी जनों के बीच हुआ था। भरतों के राजा सुदास थे जो तृत्सुजन के अधिपति थे। प्रतीत होता है कि सुदास के पूर्व पुरोहित विश्वामित्र थे जिनकी सहायता से भरतों ने विपाश तथा शुतुद्रि नदियों के पास अपने शत्रुओं को आक्रमण कर परास्त किया था। किसी कारण से विश्वामित्र का उन्नत पद वसिष्ठ को प्राप्त हुआ। इस पर बदला लेने की भावना से प्रेरित होकर विश्वामित्र ने दश विभिन्न राजाओं के संघ को भरतों के विरोध में खड़ा किया। सुदास और दस राजाओं की संग्राम-स्थली परुष्णी (वर्तमान रावी) का तट था जहाँ सुदास ने इन संघीभूत शत्रुओं को परास्त किया जिसकी विजयगाथा वसिष्ट ने तीन सूक्तों (७।१८;३३, ८३) में बड़े ओजस्वी शब्दों में वर्णित की है। इन दश जनों में ये पाँच तो विशेष महत्त्वशाली न थे—अलिन (जो आजकल के काफ-रिस्तान के उत्तर पूर्व के सम्भवतः निवासी थे), पक्थ (जो अफगान पख्तून के पूर्व पुरुष थे), भलनस, शिव (सिन्धु की समीपस्थ जाति) तथा विषाणिन्। अन्य पाँच जातियाँ वे ही थीं जिनका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। अनु तो परुष्णी के तट पर रहती थी और जिनके पुरोहित सम्भवत भृगु कुल के प्रसिद्ध ऋत्विज् लोग थे। द्रुह्यु इन्हीं के साथ सम्बद्ध थे। तुर्वशु तथा यदु भी इसी प्रकार सम्बद्ध जातियाँ थीं। पाँचवीं जाति पुरु थी जो सरस्वती के उभय किनारों पर बसती

थी और जो इस प्रकार भरतों के पड़ोस में रहती थी। पुरुष्णी के युद्ध में विजय प्राप्ति के बाद सुदास को आगे बढ़ने तथा शत्रुओं के प्रान्तों को अपने राज्य में मिलाने का अवसर सम्भवतः मिल न सका, क्योंकि इसी समय अज, शिग्रु तथा यक्षु नामक तीन जातियों के सेनानायक बनकर भेद् नामक राजा ने सुदास पर पूरब से धावा बोल दिया। सुदास ने लौटकर इन जातियों को यमुना नदी के किनारे पर बड़ी वीरता के साथ ध्वस्त कर दिया। इस युद्ध के दृश्य का वर्णन वसिष्ट ने बड़े ही सुन्दर शब्दों में ऋग्वेद के एक सूक्त (७।८३) में किया है जिससे प्रतीत होता है वसिष्ठ इस युद्ध स्थल में अपने यजमान के रक्षणार्थ स्वयं उपस्थित थे तथा इन्द्रावरुण से श्लाघनीय प्रार्थना करते थे। सुदास का विजय इस दैवी शक्ति के विपुल साहाय्य का परिणत फल था। इस विजय के अनन्तर सुदास की प्रभुता अधिक बढ़ गई और अन्य किसी भी जाति को उनसे छेड़-छाड़ करने का साहस नहीं हुआ। अन्य जातियों में पुरु का प्रभाव आगे चल कर विशेष हुआ और महाभारत काल में तो पुरु और भरत का परस्पर मेल कुरु के रूप में हो गया।

(२)

दस्यु और दास

आर्यों का दस्युओं के साथ भी युद्ध कर अपनी रक्षा करनी पड़ती थी। दस्यु तथा दास के विषय में विद्वानों में एक मत नहीं है। कतिपय विद्वान् इन्हें देवताओं का प्रतिद्वन्द्वी दैत्य ही मानते हैं, मनुष्य नहीं। कई मन्त्रों से तो ऐसा जान पड़ता है कि ये देवताओं के विरोध करनेवाले अतिप्राकृत जगत् के जीव थे, परन्तु अन्य मन्त्रों में ये आर्य लोगों के मानव शत्रु के रूप में चित्रित किये गये हैं जिनके ऊपर विजय

प्राप्त करने के लिए देवताओं से सन्तत प्रार्थना की गई है। ये वस्तुतः कौन थे ? और आर्यों के साथ इनका सम्बन्ध किस प्रकार का था ? इस प्रश्न के उत्तर में विद्वानों में गहरा मतभेद दीख पड़ता है। पाश्चात्य विद्वानों की यह दृढ़ धारणा है कि ये अनार्य जातियाँ इस भूभाग की आदिम निवासी थीं जिन्होंने विजयी आर्यों के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने के लिए जी तोड़कर प्रयत्न किया। इनके घोरतर विरोध तथा अदम्य उत्साह ने आर्यों को अनेक अवसरों पर पगु बना डाला। इनके लड़ाकू जोश के सामने आर्यों को विचलित होने का अवसर आया और उन समयों पर आर्यों ने भक्तिपूरित हृदय से अपने प्रतापशाली देवताओं का आह्वान किया तथा उनकी दैवी सहायता से ही वे दस्युओं के उत्साह तथा दासों के किलो को तोड़ने में कृतकार्य हो सके। भारत में भी इस मत के अनुयायी विद्वानों की कमी नहीं है, परन्तु ऋग्वेद के अनुशीलन से इस धारणा को बदलने की जरूरत जान पड़ती है।

निरुक्त में यास्क ने दास तथा दस्यु शब्दों का निर्वचन प्रस्तुत किया है। इन दोनों शब्दों का सम्बन्ध दस् (उपक्षये) धातु है जिसका अर्थ होता है नुकसान पहुँचाना, या नाश करना। 'दस्यु' की व्याख्या में निरुक्त का कहना है—दस्यतेः क्षयार्थात् उपदस्यन्ति अस्मिन् रसा, उपदासयति कर्माणि वा (नि० ७।२३) अर्थात् जिसके कारण रस को नुकसान पहुँचता है या जो कृषि आदि कर्मों को हानि पहुँचाता है। 'दास' की निरुक्ति भी इसी प्रकार है—दासो दस्यतेरुपदासयति कर्माणि, जिसको विशद करते हुए दुर्गाचार्य ने लिखा है—उपदासयति उपक्षयति कृष्यादीनि कर्माणि। अत इस प्राचीन व्याख्या के अनुसार दास तथा दस्यु का प्रयोग खेती आदि कामों में हानि पहुँचानेवाले शत्रु के लिए उचित प्रतीत होता है। इन शब्दों का यही मौलिक व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है।

दास

ऋग्वेद के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि आर्यों तथा दासों के बीच में धार्मिक मतभेद की एक चौड़ी दीवाल खड़ी थी। आर्य लोग यज्ञ करने वाले थे, अग्नि की पूजा करते थे तथा इन्द्रादि विविध देवों की उपासना में दत्तचित रहते थे। इसके विपरीत दास लोग न अग्नि में हविर्दान करते थे और न इन्द्र-वरुण की अर्चा के ही पक्षपाती थे। इसी कारण धार्मिक भावना से विहीन व्यक्ति के लिए, उसके पक्का आर्य होने पर भी. 'दास' शब्द का प्रयोग न्याय्य माना जाता था। यदु तथा तुर्वश जाति निःसन्देह आर्य पञ्च मानुषों में परिगणित की जाती थी, तथापि वैदिक धर्म के प्रति किसी प्रकार की अनास्था तथा अश्रद्धा रखने के हेतु इन्हें 'दास' कहा गया है (ऋ० १०।६२।१०)। अयाजक मात्र के लिए 'दास' का प्रयोग ऋग्वेद में किया गया है (ऋ० ५।३४।६) ऋग्वेद के एक दूसरे मन्त्र[१] में आर्य तथा दास में विवेचन करते हुए इन्द्र के आने की सूचना दी गई है जिससे प्रतीत होता है कि आर्यों तथा दासों में इतना रूपसाम्य था कि इन्द्र को उनकी पूजा-पद्धति के विभेद से ही उनमें पार्थक्य करने का अवसर मिला था। इस प्रकार दास लोग धार्मिक विभिन्नता के बल पर आर्यों से पृथक् स्वतन्त्र जाति के रूप में अङ्कित किये गये हैं। ये लोग बड़े पराक्रमी, उत्साही तथा पुरुषार्थी थे। इनके पास बहुत से किले थे (पुरः २।२०।८) तथा कई भिन्न भिन्न उपजातियों में (विश.) भी वे विभक्त थे (२।११।४ अस्मे दाशीर्विशः सूर्येण सह्याः) इनके परकोटों से घिरे किलों के लिए 'शारदीः' शब्द का प्रयोग मिलता है जिससे प्रतीत होता है

---

१ अयमेति विचाकशद् विचिन्वन् दासमार्यम्।
पिबामि पाकसुत्वनोऽभिधीरमचाकशं
विश्वस्मादिन्द्र उत्तर.॥ ऋ० १०।८६।१९।

दस्यु—

दास के समान दस्यु लोग किन्हीं-किन्ही मन्त्रों में देवताओं के शत्रु वतलाये गये हैं, जिनसे उनके आधिदैविक जगत् के जीव होने की प्रतीति होती है, परन्तु अन्य मन्त्रों में आर्यों का दस्युओं से विरोध की वार्ता इतने स्पष्ट शब्दों में अङ्कित है कि इन्हें मानव प्राणी होने मे किसी प्रकार के सन्देह करने का अवकाश नही रह जाता। आर्य तथा दस्यु जनों में विरोध की मूल भित्ति है धर्म-सम्वन्धी मतभेद। ऋग्वेदीय वर्णन के झीने आवरण से दस्युओं का आर्यत्व फूट निकलता है। दासों के अलग-अलग जनों के होने की बात कही गई है जिससे उनके आर्यों मे पृथक् एक स्वतन्त्र जाति होने का आभास मिलता भी है, परन्तु दस्युओं के विषय में तो यह भा बात चरितार्थ नहीं होती। आर्यों से विपरीत दस्यु लोग थे अदेवयु, देवताओं में श्रद्धा न रखनेवाले (ऋ० ८।७०।११), अब्रह्मन् , वेदो को न माननेवाले (४।१६।९) अयज्वन् (यज्ञ करनेवाले—ऋ० ८।७०।११) अव्रत (व्रत या नियम के पालन न करनेवाले, १।५१।८, ६।१४।३, ९।४१।२) तथा अन्यव्रत (विचित्र व्रतों का अनुसरण करनेवाले ८।७०।११)। ऋग्वेद के मन्त्रों में दस्युओ के विषय में एक-दो विशेषण ऐसे पाये जाते हैं जिनको लेकर वैदिक विद्वानों में गहरा मतभेद दृष्टिगोचर होता है। ऐसा एक विचित्र विशेषण है— अनासः जो ऋग्वेद में एकही बार उपलब्ध होता है (ऋ० ५।२९।१०)[1]। पश्चिमी विद्वानों[2] ने इसका एक स्वर से अर्थ किया है नासिका रहित अर्थात् चपटी नाकवाले इस अर्थ के सहारे वे लोग दस्युओ को चपटी नाकवाले द्रविड जातीय मानते हैं, परन्तु यह अर्थ भारतीय परम्परा से परिचित सायण के ही भाष्य से ही विरुद्ध

१ वैदिक इन्डेक्स भाग १

२ अनासो दस्यूँरमृणो वधेन नि दुर्योण आवृणङ् मृध्रवाच

नहीं है, बल्कि अतिप्राचीन तथा नितान्त प्रामाणिक शौनक-कृत पदपाठ से भी मेल नहीं खाता। 'अनासः' का पदपाठ है अन् + आसः, जिसका सायण ने अर्थ किया है मुख से रहित अर्थात् शोभन बोली न बोलने वाले। सभ्यता की दृष्टि से अतिहीन दशा में जीवन बितानेवाले दस्युओं की बोली सभ्य तथा शिष्ट आर्यों की बोली के समान विशुद्ध तथा शोभन न थी, इसमें अचरज करने की कोई जगह नहीं है। उसी मन्त्रों में एक पेचीदा शब्द है—मृध्रवाचः जिसका प्रयोग दस्युओं के समान पणियों के लिए भी होता था, (ऋ०७।६।३) साथ ही साथ आर्य पूरु के लिए प्रयुक्त किया गया है[1] (ऋ० ७।१८।१३।)। इस शब्द की व्याख्या यास्क के अनुसार 'मृदुवाचः' है (नि० ६।३१) अतः इस शब्द का अर्थ 'मीठा वचन बोलनेवाला' ही उपयुक्त जान पड़ता है। भिन्न-भिन्न स्थानों की बोली में उच्चारण का भेद होना नैसर्गिक है। यही कारण था कि दस्युओं की बोली का उच्चारण-प्रकार किसी अंश में अन्य आर्यों की बोली से भिन्न ठहरता था।

दास तथा दस्यु के वर्णन की तुलना करने पर दास लोग दस्युओं से कुछ अधिक सभ्य जान पड़ते हैं। दस्यु लोगों की एकमात्र जीविका राहचलतों को लूटना, डाका मारना जान पड़ता है। इसीलिए ये लोग नगरों से दूर भीषण जंगलों तथा विकट पार्वत्य प्रदेशों में रहने के अभ्यस्त बन गये थे। इन्हीं कारणों से आर्यों के हृदय इनके प्रति भय तथा घृणा के भाव से सदा आप्लुत रहते थे। एक स्थल में एक ऋषि ने इनके लिए 'अमानुषः' का प्रयोग किया है[2]। 'अमानुष' से तात्पर्य

---

१ व्यानवस्य तृत्सवे गय भाग् जेष्म पूरुं विदथे मृध्रवाचम् ॥
ऋ० ७।१८।१३

२—अकर्मा दस्युरभि नो अमन्तुरन्यव्रतो अमानुषः।
त्वं तस्यामित्रहन् वधर्दासस्य दम्भय ॥
—ऋ० १०।२२।८

मनुष्य से उच्चकोटि का न होकर हीनकोटिका मानना ही प्रकरण संगत है। अपने बुरे कर्मों के कारण दस्युओं की गणना नितान्त नीच, ओछी बुद्धिवाले मनुष्यों में की जाती थी। ब्राह्मणयुग में 'दस्यु' शब्द का प्रयोग असभ्य लोगों के लिए ही होता रहा। ऐतरेय में (७।१८) इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया गया है। हमारे स्मृतिकार दस्युओं के स्वरूप से भलीभाँति परिचित थे। मनु ने स्पष्ट ही लिखा है,[1] कि जो लोग ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि चारों वर्णों से बहिर्भूत थे वे ही 'दस्यु' कहलाते थे, चाहे वे आर्य भाषा बोलते हों अथवा म्लेच्छ भाषा। जान पड़ता है कि कुछ दस्यु लोग तो आर्य भाषा ही बोलते थे, परन्तु कुछ लोग आर्यमण्डल से दूर हटाने जाने से अपने पड़ोसियों की बोली ग्रहण कर म्लेच्छ भाषा बोलने लग गये थे। अतः दास या दस्युओं के स्वरूप की जानकारी के वास्ते इन प्राचीन ग्रन्थकारों के मन्तव्यों को भुलाया नहीं जा सकता। ऊपर उपन्यस्त प्रमाणों से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि दास लोग आर्यों के अपने ही बन्धु-बान्धव थे। दोनों में अन्तर इतना ही था कि दास लोग आर्यधर्म के अनुयायी न थे, सभ्यता की दौड़ में पिछड़े हुए थे, नगरों से दूर जंगलों तथा पर्वतों में रहने लगे थे तथा आर्यों की ही बोली को मृदु तथा अव्यक्त स्वर से बोला करते थे जिससे वे सभ्य तथा शिष्ट आर्यों के अनादर तथा घृणा के भाजन बन गये थे।

पणि कौन थे ?—

ऋग्वेद काल में दस्युओं से अनेक बातों में समता रखनेवाले पणि लोगों की सत्ता मन्त्रों के अध्ययन से स्पष्ट

१—मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहिः
म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः।

—मनु० १०।४५

प्रतीत होती है। पणि लोग कौन थे? इस प्रश्न के उत्तर में, इनके स्वरूप से परिचित होने के लिए, इस शब्द की व्युत्पत्ति पर ध्यान देना जरूरी है। पणि शब्द व्यवहार्थक पण् धातु (पण् व्यवहारे स्तुतौ च) से निष्पन्न हुआ है जिससे इसका निरुक्तिगम्य अर्थ है—व्यवहार करनेवाला, व्यापार से जीविका चलानेवाला। इस धातु से निष्पन्न अनेक शब्द आजकल भी व्यवहृत होते हैं। विविध लोग जिस जगह खरीद-फरोख्त, क्रय-विक्रय किया करते हैं उसे कहते हैं 'विपणि' या 'आपण' = बाजार। पणि शब्द ही अक्षर परिवर्तन से आज वणिक् (बनिया) के रूप में दिखलाई पड़ता है। अतः आज कल के वणिक् जन वैदिक पणियों के भाई-बन्धु ही नहीं, बल्कि साक्षात् उत्तराधिकारी हैं, इसे मानने में भाषाशास्त्र किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति उपस्थित नहीं करता। इस प्रकार ये ऋग्वेद काल में जमीन तथा समुद्र के रास्ते व्यापार करनेवाले लोग थे। व्यापार से धन-प्राप्ति को ही जीवन का लक्ष्य माननेवाले लोभी बनियों में जितने सद्गुण तथा दुर्गुण विद्यमान रहते हैं, वे सब इन पणियों में भी वर्तमान थे। वे धनसम्पन्न थे, परन्तु न तो देवताओं के लिए होम का दान किया करते थे और न मेधावी विप्रों को दक्षिणा दिया करते थे। इसलिए वे वैदिक ऋषियों के समधिक घृणा तथा अनादर के भाजन थे।

पणि लोग नितान्त स्वार्थी थे—अपने ही सुख के लिए धन खर्च करना जानते थे, किसी सत्कार्य में धन व्यय करने से सदैव विमुख रहते थे (या शश्वन्तमाचखादावस पणि) ऋ० ८।६४।२ मन्त्र में इनके लिए 'अराधसः' का प्रयोग मिलता है जिससे प्रतीत होता है कि धन-सम्पन्न होने पर भी वे इसका उपयोग यज्ञानुष्ठान के लिए कभी नहीं

१—पणि का अर्थ यास्क ने वणिक् किया है। पणिर्वणिक् भवति (नि० २।१७) व्याकरणानुसार 'वणिक्' शब्द पण् धातु से इज् प्रत्यय तथा पकार को वकार में परिवर्तन से निष्पन्न माना जाता है। पणेरिज्यादेश्च वः—उणादि सूत्र।

करते थे। इसीलिये वे यज्ञकर्ता की दृष्टि में अत्यन्त कृपण थे। भेड़िया से उनकी तुलना की गई है, जो शत्रुत्व का प्रतीक माना जाता है। ये आर्यों के देवताओं के प्रति भी श्रद्धा नहीं रखते थे। जब इन्द्र ने 'सरमा' नामक देवशुनी को छिपाकर रखी हुई गायों के उद्धार के लिए पणियों के पास भेजा था (ऋ० १०।१०८), तब पणियों ने स्पष्ट शब्दों में इन्द्र के अस्तित्व में अपना अविश्वास प्रकट किया। वे पूछने लगे[1] कि हे सरमा, जिसकी दूती बनकर हमारे पास आई हो, वह इन्द्र कैसा है? उनका रूप कैसा है? यदि वे हम लोगों में आ जायँ, तो हम उन्हें अपना मित्र बना लेंगे और हमारी गायों के वे स्वामी बन जायँगे।' इस कथन से स्पष्टतः ज्ञात होता है कि आर्यों के प्रधानतम देव इन्द्र को वे बिल्कुल मानते—जानते न थे। इसीलिए एक ऋषि पूषन् से प्रार्थना कर रहा है कि वे पणियों के निर्दय मन को मृदु बनावें[2]। एक दूसरे मन्त्र में अग्नि के अनुग्रह से मेधावी ब्राह्मण के पणि के धन को ग्रहण करने का उल्लेख किया गया है। (६।१३।३) इस प्रकार ऋषियों की दृष्टि में पणि लोग थे[3] अक्रतु (शोभन कर्मों से विहीन), ग्रथिन् (बकवादी) मृध्रवाक् (मीठबोला), अश्रद्ध (यागादिकों में श्रद्धा-हीन), अवृध (देवताओं को स्तुतियों के द्वारा वर्धन न करनेवाले) तथा अयज्ञ (यज्ञों का अनुष्ठान न करनेवाले)। इसी मन्त्र में वे 'दस्यु' भी कहे गये हैं। इनके व्यापक सामाजिक तिरस्कार का यह भी एक

१—कीदृङ्ङिन्द्र सरमे का दृशीका यस्येदं दूतीरसरः पराकात्
आ च गच्छान्मित्रमेना दधामाऽथा गवां गोपतिर्नो भवाति ॥
—ऋ० १०।१०८।३

२—अदित्सन्तं चिदाघृणे पूषन् दानाय चोदय ।
पणेश्चिद् वि म्रदा मनः ॥
—ऋ० ६।५३।३

३ न्यक्रतून् ग्रथिनो मृध्रवाचः पणींरश्रद्धाँ अवृधाँ अयज्ञान् ।
प्र प्र तान् दस्यूँरग्निर्विवाय पूर्वश्चकारापराँ अयज्यून् ॥ —ऋ० ७।६।३

प्रधान कारण था कि ये लोग बडे सूदखोर थे। अधिक सूद पर कम रुपया देकर उसे द्विगुणित करने की स्पृहा इनके चित्त में सदा जागती रहती थी। इस भाव को सूचित करने के लिए इनके वास्ते एक वार 'वेकनाट' शब्द का प्रयोग किया गया है[1] जिसकी यास्ककृत व्याख्या है—सूद खाने वाला व्यक्ति[2]। पणियों के व्यापारजीवी होने की वात पहले ही कही गई है। व्यापार के सामान तथा गायों को भी साथ लेकर पणियों के सार्थ (काफिले) एक स्थान से दूसरे स्थान पर आया जाया करते थे तथा कभी-कभी जिस देश से होकर ये जाते थे, उस देश के निवासियों की गायें चुरा कर अपनी गायों में मिला लिया करते थे। इस कारण पणियों तथा आर्यों में प्रायः लडाइयाँ हुआ करती थीं जिनमें इन्द्र की सहायता से आर्य लोग विजय पाते थे।

पणियों के सरदार कभी कभी वडे भलेमानुप हुआ करते थे। ऐसे सद्गुणमण्डित एक पणि-सरदार की प्रशस्त प्रशसा ऋग्वेग में एक स्थान पर की गई है (६।४५।३१-३२) इसका नाम था वृबु जो निश्चय ही पणियों में मूर्धन्य था तथा अपनी महती कीर्ति के कारण गङ्गा के तीर पर उगने वाले विशाल वृक्ष के समान वतलाया गया[3] है। शाङ्खायन श्रौत सूत्र (१६।११।११) के अनुसार भरद्वाज ऋषि ने वृबु से दक्षिणा में विशेप दान प्राप्त किया था। इस कारण यह सूरि (विद्वान्)

---

१ इन्द्रो विश्वान् वेकनाटों अहर्दृश उत क्रत्वा पर्णीँरभि।

—ऋ० ८।६६।१०

२ वेकनाटा खलु कुसीदिनो भवन्ति, द्विगुण-कारिणो वा द्विगुणदायिनो वा द्विगुणं कामयन्ते इति वा।

—निरुक्त ६।२६

३ अधि बृबुः पणीनां वर्षिष्ठे मूर्धन्नस्थात्
उरुः कक्षो न गाङ्ग्यः।

—ऋ० ६।४५।३१

तथा सहस्रदातम (सहस्रसंख्यक धन का देनेवाला) माना गया है (ऋ० ६-४५।३३)। नीतमञ्जरी (पृष्ठ २१०–२१२) में था द्विवेद ने वृबु के विषय में एक रोचक आख्यान का उल्लेख कर उससे सुन्दर उपदेश ग्रहण किया है[1]। एक बार भूख-प्यास से व्याकुल भरद्वाज ऋषि ने जगल में तक्षण् कर्म (बढ़ई का काम) करते हुए वृबु को देखा। ऋषि को अतिथि देखकर वृबु ने उनका सत्कार करना चाहा, परन्तु अपनी हीन जाति का खयाल कर चित्त में ग्लानि करने लगा। परन्तु ऋषि के आश्वासन देने पर कि वह उसके दान का प्रत्याख्यान न करेंगे हज़ार गायें दान में दीं। इस पर प्रसन्न होकर भरद्वाज ने अपने पुत्र तथा भाई शंयु से इस विषय की चर्चा की, तब शयु ने पूर्वोक्त तृच (ऋ० ५।४५।३१, ३२, ३३) के द्वारा वृबु की दानस्तुति की। इस आख्यान में 'वृबु' बढ़ई का काम करनेवाला बतलाया गया है जिससे जान पड़ता है कि पणि लोग जहाज बनाने के काम में निपुण थे। समुद्र से व्यापार करनेवाले के लिए जहाज बनाने का काम भी बहुत जरूरी होता है। पणियों में इन दोनों कलाओं का सयोग अवश्य ही आश्चर्यजनक प्रतीत होता है। पणियों के सरदार वृबु की शिक्षाप्रद कहानी ऋग्वेदों से बहुत काल पीछे भी भारतीयों का मनोरञ्जन करती रही। प्राण-सकट आने पर हीन जाति के अन्न खाने पर भी पुरुष पाप से लिप्त नहीं होता (१०।१०४) इस सिद्धान्त को पुष्ट करने के लिए मानव धर्मशास्त्र में भी मनु ने इस कथानक का उल्लेख अच्छे शब्दों में किया है[2]।

---

१ अनाधैरपि गृह्णीयात् सीदन् प्रतिग्रहं द्विज ।
भरद्वाजो हि तक्ष्णः क्षुत्पीडितो जगृहे वृबोः ।
—नीतिमञ्जरी, श्लोक ६४

२ भरद्वाजः क्षुधार्तस्तु सपुत्रो विजने वने
बह्वीर्गाः प्रतिजग्राह वृबोस्तक्ष्णो महातपाः । —मनु० १०।१०७

पणि तथा फीनिशिया

ऋग्वेद के अनन्तर पणियों की दशा क्या हुई ? वे किस जाति में मिल गये जिससे उनका नाम लुप्त सा हो गया ? इन प्रश्नों का उत्तर प्रामाणिक साधनों के अभाव में ठीक-ठीक नहीं दिया जा सकता। परन्तु वैदिक विद्वानों ने अपनी कल्पना खूब दौड़ाई है। डा० वेबर ने पणियों का सम्बन्ध बाबुल के साथ बतलाया था, परन्तु विद्वानों को यह मान्य न हो सका[1]। इधर डा० अविनाश चन्द्रदास ने इस विषय की बड़ी छानबीन की है[2]। वे इस सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि पणि आर्यों के द्वारा तिरस्कृत किये जाने के कारण सप्तसिन्धु प्रदेश को छोड़ कर जहाजों से गुजरात के पास पहुँचे, जहाँ से ये किनारे-किनारे मालाबार किनारे पर आये और यहीं से ये लोग बाबुल होकर सीरिया (साम) के पास जा बसे और कालान्तर में फीनिशियन जाति के नाम से विख्यात हुए। ये फीनिशियन लोग यूरोप में सब से प्रथम नाविक, समुद्र-व्यवहार-जीवी पुरुषार्थी, व्यापार के लिए नये उपनिवेश बसाने वाले प्रसिद्ध हैं। यूरोपियन लिपियाँ इन्हीं लोगों की लिपि से निकली हुई मानी जाती हैं। डा० दास नाम तथा व्यवहार की समानता के बल पर फीनिशियनों को पणियों का ही प्रतिनिधि मानते हैं। इस विषय के प्रतिपादन में कल्पना की ऊँची उड़ान ली गई है, परन्तु यूनानी ऐतिहासिक हिरोडोटस की उक्ति इस प्रसङ्ग में ध्यान देने योग्य है। उनका कहना है कि ये फीनिशियन लोग मूल निवासी न होकर इरिथ्रिअन समुद्र के किनारे रहने वाले माने जाते थे। यहाँ से इन्होंने सीरिया पार कर भूमध्यसागर के किनारे अपनी बस्ती बनाई। इरिथ्रिअन समुद्र वही है जिसे आजकल 'अरब सागर' के नाम से पुकारते हैं। पणि तथा फनी-

---

१ वैदिक इंडेक्स भाग १ पृष्ठ ६६–७०।

२ ऋग्वैदिक इंडिया परिच्छेद ११, पृष्ठ १८०–१६७।

शियन के नाम में साम्य है ही, साथ-ही-साथ इनके आचरण, जीविका, धर्म में आश्चर्यजनक साम्य है। इस प्रकार दोनों में किसी प्रकार की सम्बन्ध-स्थापना असम्भव कोटि में नहीं आती।

इस प्रसङ्ग में भारत का पश्चिमी एशिया के साथ प्राचीन काल में व्यापार-सम्बन्ध की चर्चा करना असगत न होगा। पिछले काल में दोनों में व्यापारिक सम्बन्ध के अस्तित्व के बारे में सन्देह करने की गुजायश नहीं है, परन्तु प्राचीनकाल में भी दोनों के व्यापार सूत्र से बद्ध होने के भी प्रमाणों की कमी नहीं है। पश्चिमी एशिया के लोग द्रविड लोगों के साथ व्यापार किया करते थे, इसके अनेक प्रमाण मिल चुके हैं। डा० सेस, जो एसीरिया के विषय में प्रमाण माने जाते हैं, का कहना है कि प्राचीन 'उर' नगर की खुदाई में, जिसकी स्थापना तीन हजार वर्ष ईसा पूर्व में 'उरवगश्' नामक राजा के द्वारा हुई थी, चीड़ लकड़ी का एक टुकडा मिला है। यह प्रसिद्ध बात है कि चीड़ का पेड़ दक्षिण भारत के मालाबार प्रान्त में ही पैदा होता है, अन्यत्र कहीं भी नहीं। यहूदियों के विख्यात राजा सुलेमान (१००० ई० पू०) की जहाजें भारत से चन्दन, हाथी दाँत, बन्दर तथा मोर लाती थीं। यहूदी भाषा में इन चीजों के द्योतक शब्द भी तमिळ शब्दों से उत्पन्न बतलाये जाते हैं। चन्दन की लकड़ी तो मालाबार के तीर पर ही होती है, अन्यत्र कहीं भी नहीं। यहूदी भाषा में मोर वाचक शब्द 'टुकियिम' प्राचीन तमिळ शब्द 'टोकई' के साथ मिलता-जुलता है। अत प्राचीनकाल में दक्षिण भारतीय लोग पश्चिमी एशिया के निवासियों के साथ जहाजों के सहारे व्यापार किया करते थे, इस विषय में सशय नहीं है[१]। परन्तु आर्य लोग भी प्राचीनकाल में इस भूभाग से व्यापार किया करते थे। इस विषय में भी प्रमाण मिल रहे हैं। बाबुल

१ डा० सेस (Sayce)—हिबर्ट लेक्चर (१८८७) पृ० १३०, १३७।

की भाषा में मलमल के लिए 'सिन्धु' शब्द मिलता है जिससे निःसन्देह प्रतीत होता है कि बाबुल देश में कपास का बना हुआ मलमल का कपड़ा सिन्धु देश (भारत) से आया था। 'सिन्धु' शब्द के रूप से हम एक विलक्षण सिद्धान्त पर पहुँचते हैं। यदि यह कपड़ा स्थलमार्ग से ईरान होकर आया होता, तो इसके 'स' कार का परिवर्तन 'ह' कार में जरूर ही हो गया होता। अतः 'सिन्धु' का मूल अपरिवर्तित रूप इस बात का साक्षी है कि यह कपड़ा भारत से बाबुल में सीधे जलमार्ग से ही होकर आया था। ऋग्वेद में प्रयुक्त सोने के सिक्के के अर्थ में व्यवहृत 'मना' शब्द का प्रतिनिधि शब्द यूनानी तथा लातीनी भाषाओं में उपलब्ध होता है।

आ नो भर व्यञ्जनं गामश्वमभ्यञ्जनम्।
सचा मना हिरण्यया ॥ (ऋ० ८।७८।२)

इस मन्त्र का सीधा अर्थ है कि 'हे इन्द्र, हमारे लिए गाय, अश्व, व्यञ्जन, अभ्यञ्जन (तैल) को सोने के बने 'मना' के साथ लाइए'। 'मना' शब्द का अर्थ इस मन्त्र में स्पष्टतः विद्यमान है।

द्वादश परिच्छेद

सामाजिक जीवन

वेदकालीन समाज

वेदकालीन समाज पितृमूलक समाज था। पिता ही प्रत्येक घर का नेता तथा पुरस्कर्ता था। पुत्र तथा पुत्री, वधू तथा स्त्री सब लोग उसी की छत्र-छाया में अपना सुखद समय विताते थे। पिता केवल पुत्रों को ही शिक्षा नहीं देता था, प्रत्युत पुत्रियों को भी ललित कला की शिक्षा देकर सुयोग्य गृहिणी बनाता था। उपनयन संस्कार के अनन्तर गुरु के पास जाकर वेदाध्ययन की भी प्रथा थी। प्राचीनकाल में स्त्रियों के भी मौञ्जी-बन्धन का उल्लेख मिलता है। शिक्षा प्राप्त बालिकाओं से कुछ तो विवाह कर गृहस्थी के कार्य में जुट जाती थीं, परन्तु कतिपय आजन्म ब्रह्मचारिणी ('ब्रह्मवादिनी' के नाम से प्रख्यात) बनकर विद्या तथा अध्यात्म की उपासना में अपना जीवन यापन करती थीं। समाज का प्रत्येक व्यक्ति पुत्र की उत्पत्ति के लिए देवताओं से प्रार्थना किया करता था। पुत्र के लिए वैदिक शब्द 'वीर' (= लैटिन वीरुस) है जो अवान्तर काल में शौर्य से मण्डित व्यक्ति के अर्थ में आने लगा।

ऋग्वेद के काल में वर्ण-व्यवस्था विद्यमान थी या नहीं? इस विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। अधिकांश पश्चिमी विद्वानों की सम्मति में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के नाम तथा काम की व्यवस्था तथा परिबृंहण ब्राह्मणयुग की ही महती देन है। ऋग्वेद के काल में ये वर्ण विद्यमान न थे।

पुरुष सूक्त के १० वें मन्त्र में चारों वर्णों की उत्पत्ति पुरुष के भिन्न-भिन्न अंगों से बतलाई गई है। ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य तथा शूद्र का इसी क्रम से उल्लेख यहाँ मिलता है, परन्तु यह दशम मण्डल का सूक्त है जो दशतयी में सर्वथा अर्वाचीन स्वीकृत किया जाता है। यह कतिपय पश्चिमी विद्वानों की मान्यतायें हैं। ऋग्वेदीय समाज में किसी प्रकार की जटिलता न थी। फलतः इन वर्णों का उदय सम्पन्न नहीं हुआ था, परन्तु समाज में जटिलता के साथ-साथ वर्णों के कार्य-कलापों में भी भिन्नता तथा विविधता का जन्म हुआ। प्राचीन सरल याग नाना दिन-स्थायी अनुष्ठानों के रूप में परिणत हुआ जिसके लिए ब्राह्मणों का एक स्वतन्त्र वर्ण ही अलग हो गया। आर्यों के जनाधिपों को अनेक शत्रुओं से सामना करने वाला अवसर आया जिससे सामरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए क्षत्रियों की जाति वंशानुगत हो गई। विशः या वैश्यों का कार्य प्रधानतया कृषि कार्य था। ये भी धीरे-धीरे समाज के कार्यों के निष्पादन के लिए पीछे वंशानुगत हुए।

ये विचार सामान्यतः मान्य हैं, परन्तु विशेषतः भ्रान्त हैं। ऋग्वेद में ब्राह्मण, क्षत्रिय (राजन्य) तथा वैश्य (विशः) तीनों की स्थिति वंशानुगत मानी गई थी। ऋषि के सन्तान ही पुरोहित का काम करते थे तथा क्षत्रिय ही राज कार्य का निर्वाह करते थे और यह नाम वंशानुगत ही हो गया था। वैश्य कृषिकर्म का जात्या सम्पादन करते थे। ऋग्वेद के समय में ही वर्णव्यवस्था उन विशिष्टताओं से मण्डित हो चुकी थी जिसका परिबृंहण पिछले युग में हुआ।

विवाह-प्रथा

ऋग्वेद के युग में विवाह एक सुव्यवस्थित प्रथा के रूप में ही दृष्टि-गोचर होता है। वैदिक आर्य संग्राम-प्रिय जाति थी जो शत्रुओं के साथ समराङ्गण में अपनी भुजाओं का पराक्रम दिखलाने के लिए सर्वदा

उद्यत रहती थी। इसीलिए मन्त्रों में वीर पुत्रों की प्रसूति के लिए देवताओं से भव्य प्रार्थना की गई है (यथाऽहं शत्रुहोऽसान्यसपत्नः सपत्नहा, अथर्व १।२९।५)। विवाह के समय प्रार्थना है कि हे इन्द्रदेव, इस स्त्री को दश पुत्र दो जिससे इसका पति ग्यारहवाँ होवे (दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कृधि—ऋ० १०।८५।४५)। ऋग्वेद के समय में अभ्रातृका कन्या (अर्थात् भ्राता-रहित कन्या) का विवाह बहुशः नहीं होता था, क्योंकि उसका पुत्र अपने पिता की सम्पत्ति का अधिकारी न होकर मातामह की सम्पत्ति का अधिकारी होता था। इसीलिए (ऋ० ३।३१।१) एक मन्त्र में कथन है कि अभ्रातृका कन्या का पिता जामाता को वस्त्र तथा अलंकार आदि से प्रसन्न करके दौहित्र को पौत्र बना लेता है। इसीलिए ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा स्मृति-ग्रन्थों में अभ्रातृमती कन्या के विवाह का निषेध है (मनु-स्मृति ३।११, ९।१२७)।

यह भ्रान्त धारण फैली है कि वेद के युग में कन्या अपने पति का वरण स्वयं कर लेती थी तथा उसके माता-पिता का इस कार्य में किसी प्रकार का नियन्त्रण तथा नियमन नहीं था। सत्य घटना ठीक इससे विपरीत है। स्वयं-वरण का भी प्रसंग वेद में आता है, परन्तु वह केवल क्षत्रिय-कन्याओं के ही लिए विशेषत होता था, कन्या-सामान्य के निमित्त नहीं। ऋग्वेद में उस पिता की प्रसन्नता का उल्लेख है जो अपनी दुहिता के वर का प्रबन्ध कर अपने मन में बड़ा सुखी होता है (पिता यत्र दुहितुः सेकमृञ्जन् संशग्म्येन मनसा दधन्वे, ऋ० ३।३१।१)। शतपथ ब्राह्मण में सुकन्या का निःसन्दिग्ध कथन है कि मेरे माता पिता ने मुझे जिस पति के हवाले किया है उसे मैं जीते जी नहीं छोड़ूँगी ("सा होवाच यस्मै मा पिताऽदान्नैवाहं तं जीवन्तं हास्यामीति"—शतपथ ४।१।५।९)। माता-पिता की इच्छा पर ही कन्या का विवाह निर्भर होता था। इसकी पुष्टि राजा रथवीति के

आख्यान से भी होती है। राजा से श्यावाश्व ऋषि ने उसकी कन्या से विवाह का प्रस्ताव किया। राजा ने अपनी विदुषी रानी शशीयसी की सम्मति से ऋषित्व प्राप्त कर लेने पर ही ऋषि को पुत्री का पाणिग्रहण कराया।[1] फलतः विवाह के विषय में पिता-माता की सम्मति कन्या के लिए सर्वथा मान्य तथा ग्राह्य होती थी।

विवाह सर्वदा युवक तथा युवति का हुआ करता था, बालविवाह का कहीं भी संकेत नहीं मिलता। विवाह का सर्वमान्य सूक्त ऋग्वेद के दशम मण्डल का ८५ वाँ है जिसका अनुशीलन ऋग्वेदीय विवाह की पूर्ण भावना का परिचायक है। सूर्या के दान के प्रसंग में यह मन्त्र आता है—

सोमो वधूयुरभवदश्विना ता उभा वरा
सूर्यां यत् पत्ये शंसन्तीं मनसा सविता ददात्।
(ऋ० १०।८५।९)

इस मन्त्र का 'पत्ये शंसन्ती' सायण-भाष्य के अनुसार 'पतिकामा' तथा 'पर्याप्तयौवना' अर्थ रखता है। इसी सूक्त के ४६ वें मन्त्र में वधू को आशीर्वाद देते समय उसे श्वसुर, सास, ननद तथा देवर के ऊपर सम्राज्ञी होने का जो आशीर्वाद है वह युवति के ऊपर ही चरितार्थ होता है। गृह्यसूत्रों में इस विषय के विपुल प्रमाण मिलते हैं कि विवाह के समय वर-वधू पूर्ण यौवनावस्था को प्राप्त होते हैं, क्योंकि विवाह के अनन्तर चतुर्थी कर्म के बाद वर-वधू के अभिगमन की स्पष्ट आज्ञा है[2]।

---

१ द्रष्टव्य बृहद्देवता ५।५०-८०

२ तासुतुप यथर्तु प्रवेशनम्—पारस्कर गृह्य १।११।७ पर हरिहर-भाष्य देखिए। प्रवेशनम् = अभिगमनम्॥ मिलाइए गोभिल-गृह्यसूत्र २।५।८ से।

सामाजिक जीवन—

वैदिक आर्य लोगों का समाज कृषीवल समाज था जो एक निश्चित स्थान पर अपनी बस्तियाँ बनाकर पशुपालन तथा कृषिकर्म में सन्तत निरत रहता था। आर्य लोगों का जीवन अधिकतर ग्राम्य था, परन्तु नागरिक जीवन की भी सत्ता के प्रमाणों की कमी नहीं है। वेदों में ग्रामों तथा जंगलों में तथा वहाँ उगने वाले पौधों तथा रहनेवाले जानवरों में परस्पर विभेद दिखलाया गया है। देश भर में ग्राम फैले हुए थे, कुछ गाँव नजदीक होते, कुछ दूर परन्तु वे आपस में सड़कों (रथ्या) के द्वारा जुड़े रहते थे। रथ्या का अभिप्राय पगडंडियों से नहीं है, सड़कों से है। सड़कें माललदी गाड़ियों तथा रथों के आवागमन के लिए बहुत चौड़ी हुआ करती थीं। गाँव में केवल मनुष्य ही नहीं रहते, बल्कि गाय, बैल, घोड़े, भैंसे, बकरी तथा भेड़ों के झुण्ड और रखवाली करनेवाले कुत्ते भी रहते थे। कृषीवल समाज होने के कारण आर्यों की जीविका का प्रधान साधन कृषिकर्म तथा पशुपालन था। सवेरा होते ही गायें शाला (गोशाला) से चरागाह (गोष्ठ) में चरने के लिए गोपाल की संरक्षता में भेज दी जाती थीं जहाँ वे दिन भर चरती रहतीं। दोपहर से कुछ पहले उनका दूध दूहा जाता था (संगव)। सायंकाल के समय वे गाँव में लौटती थीं। गायों के दुहने का काम गृहपति की पुत्री के जिम्मे रहता था जो इसी कारण 'दुहिता' (दुहनेवाली) कहलाती थी। सायंकाल में अपने दुधमुहे बछड़ों के लिए धेनुओं का रँभाना वैदिक आर्यों के कानों में इतना सुखद प्रतीत होता था कि उन्होंने इन्द्र के बुलाने के लिए प्रयुक्त अपने प्रार्थनामय वाणियों की इनसे तुलना की है[1]।

---

१ तं वो दस्ममृतीषहं वसोर्मन्दानमन्धस
अभि वत्सं न स्वसरेषु धेनव इन्द्रं गीर्भिर्नवामहे।
—अथर्व २०।९।१

जब सायंकाल बछड़े रस्सियों से खोल दिये जाते, और वे अपनी माताओं के पास दौड़ जाते थे, जब वैदिक गृहपति की दुहिता अपने कोमल हाथों से गृहस्थी के लिए दूध दुहती थी, और घरघों-घरघों की आवाज से वह शाला गूँज उठती थी, तब उस वैदिक काल में सुलभ, सार्वत्रिक, मनोरम दृश्य की स्मृति आज भी हमारे शरीर को पुलकित कर देती है।

दुर्ग

वैदिककाल में नगरों की सत्ता के विषय में पर्याप्त मतभेद है। वैदिक समाज प्रधानतया ग्राम्य समाज था अवश्य, परन्तु नागरिक जीवन की छटा का एकान्त अभाव उस समय मानने के लिए हम तैयार नहीं हैं। 'नगर' शब्द स्वतन्त्र रूप से पीछे आरण्यक (तैत्तिरीय आर० १।११।८) में मिलता है, परन्तु ब्राह्मणकाल में भी 'नगरी जानश्रुतेय' (जनश्रुति की सन्तान) के व्यक्तिवाचक नाम में यह उपलब्ध होता है (ऐतरेय ब्रा० ५।३०)। इसी प्रसङ्ग में 'पुर्' शब्द के अर्थ को समझ लेना जरूरी है। रामायण-काल में 'पूर्' या 'पुर' प्रत्यक्षरूप से नगर का ही बोधक प्रतीत होता है, परन्तु वैदिककाल में यह प्रयोग सार्वत्रिक था या नहीं? यह जानना कठिन है। 'पुर' से अभिप्राय 'किला' लिया जाता है जिसे वेदकालीन राजाओं ने अपने निवास स्थान को शत्रुओं से बचाने के लिए बना रखा था। बड़े बड़े गाँवों में किलाबन्दी की जाती थी। पुर् बहुत विशाल हुआ करते थे, क्योंकि एक मन्त्र में (ऋ० १।१८९।२) इसे पृथ्वी (विस्तृत) तथा उर्वी (विशाल) बतलाया गया है। किले पत्थर के बनाये जाते थे[2] (अश्मन्मयी) लोहे के बने (आयसी) किलों के इन्द्र के द्वारा ध्वस्त किये जाने का उल्लेख

---

[1] सृजा वत्सं न दाम्नो वसिष्ठम् (ऋ० ७।८६।५)।

[2] शतमश्मन्मयीनां पुरामिन्द्रो व्यास्यत।
दिवोदासाय दाशुषे॥ ऋ० ४।३०।२०।

ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में किया गया है[१] (ऋ० १।५८।८, २।२०।८, ४।२७।१, १०।१०१।८)। इन पुरों को गोमती (गो–समन्वित— अथर्व ८।६।२३) कहने प्रतीत होता है कि इनमें मनुष्यों के अतिरिक्त गायें भी रहा करती थीं। दस्युओं के पुरो के लिए शारदी (शरत्कालीन) शब्द का व्यवहार सूचित करता है कि ये लोग आर्यों से युद्ध में अपनी रक्षा के लिए शरत्काल में इनमें निवास किया करते थे। सौ दीवाल वाले (शतभुज) किलों का निर्देश ऋग्वेद के दो स्थलों पर किया गया है[२]। आर्य और दास सरदार अपने प्रवल शत्रुओं से रक्षा करने के उद्देश्य से अनेकों किलों की रचना भिन्न-भिन्न स्थानों पर किया करते थे। पिप्रु, चुमुरि, धुनि आदि दासजातीय सरदारों के विपुल पुरों के उल्लेख करने के अतिरिक्त ऋग्वेद ने स्पष्टः प्रतापी दासराज शम्बर के ९०, ९९ या १०० किलों के इन्द्र के द्वार ध्वस्त किये जाने का वर्णन किया है। पिछली संहिताओं और ब्राह्मणों ने किलों के शत्रुओं द्वारा घेरा डालने की बात लिखी है। ऋग्वेद ने इस कार्य मे अग्नि के प्रयोग करने का उल्लेख किया है। इस वर्णन मे प्रतीत होता है कि वैदिक आर्यों तथा दासों ने आत्मरक्षा के लिए किलों का निर्माण पत्थर आदि कड़े और टिकाऊ साधनों मे किया था।

पुर

वैदिक ग्रन्थों में पुर् तथा पुर दोनों शब्द मिले रहते हैं, परन्तु दोनों अर्थ में तनिक पार्थक्य सा प्रतीत होता है। त्रिपुर (तैत्ति सं० ६।२३, शत० ६।३।३।२५, ऐत० २।११) तथा महापुर (तै० सं० ६।२।३।१ ऐत० १।२३।२) शब्द निःसन्देह किसी बड़े निवास स्थान

---

१ प्रति यदस्य वज्र बाह्वोर्धुर्हत्वी दस्यून् पुर आयसीर्नि तारीत।(ऋ० २।२०।८)।

२ शतभुजिभिस्तमभिहुतेरघात् पूर्भी रक्षता मरुतो यमावत

—ऋ० १।१६६।८

के लिए प्रयुक्त किये गये हैं। 'त्रिपुर' का संकेत उस शहर से जान पड़ता है जिसमें किलाबन्दी की तीन कतारें खड़ी की गई थीं; 'महापुर' तो निश्चय ही किसी बृहद् आकारवाले, किलाबन्दी किये गये नगर को बतलाता है। ये शब्द उस काल में प्रयुक्त किये गये है जब आर्य लोग बड़ी बड़ी जातियों की प्रधान राजधानियों से परिचित हो चले थे। इस युग में वे काम्पिल (पाञ्चालों की राजधानी), आसन्दीवन्त (कुरु-राजधानी) तथा कौशाम्बी नगरियों से भलीभाँति परिचित हो गये थे। 'एकादशद्वारं पुरं' तथा 'नवद्वारं पुरं' का औपनिषद उल्लेख इसी सिद्धान्त को पुष्ट कर रहा है। इन शब्दों में शरीर की उपमा नौ द्वारवाले या इग्यारह द्वारवाले पुर से दी गई है, परन्तु जबतक आर्यों ने इतने दरवाजावाले बड़े नगरों को न देखा होगा, तब तक ऐसी उपमा के प्रयोग करने का अवसर ही न आया होगा। उपमा का प्रयोग वास्तविक आधार से विरहित नहीं हो सकता। प्राचीन काल में (जैसा मेगास्थनीज के वर्णन तथा आजकल उपलब्ध खँडहरों से जान पड़ता है) बड़े नगरों में ४, ८, १२ या चार के द्वारा विभाज्य सख्यावाले मुख्य द्वार हुआ करते थे जो एक दूसरे से सड़कों के द्वारा मिले रहते थे। इन चारों नगर-द्वारों के एकत्र मिलने का स्थान 'चतुष्पथ' (चौक) कहलाता था। उपनिषत्काल में ऐसे पुरों की सत्ता सर्वतोभावेन विद्यमान थी जिनके नमूने पर शरीर की समता अधिक दरवाजे वाले पुरों से की गई है।

'नगर' का प्रयोग आजकल साधारण रीति से बड़े-बड़े शहरों के लिए किया जाता है, परन्तु महाभारत-काल में इसका मुख्य अभिप्राय राज्य की राजधानी से ही था। और यह विशिष्ट अर्थ प्राचीनकाल से चला आता प्रतीत होता है। आरण्यक ग्रन्थ में नगर शब्द की उपलब्धि से यह अनुमान लगाना कि संहिताकाल में नगरों का अभाव था सुसंगत नहीं प्रतीत होता। जब जंगल में रहने वाले (आरण्यक)

ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में किया गया है[1] (ऋ० १।५८।८, २।२०।८, ४।२७।१, १०।१०१।८)। इन पुरों को गोमती (गो-समन्वित— अथर्व ८।६।२३) कहने प्रतीत होता है कि इनमें मनुष्यों के अतिरिक्त गायें भी रहा करती थीं। दस्युओं के पुरों के लिए शारदी (शरत्कालीन) शब्द का व्यवहार सूचित करता है कि ये लोग आर्यों से युद्ध में अपनी रक्षा के लिए शरत्काल में इनमें निवास किया करते थे। सौ दीवाल वाले (शतभुज) किलों का निर्देश ऋग्वेद के दो स्थलों पर किया गया है[2]। आर्य और दास सरदार अपने प्रबल शत्रुओं से रक्षा करने के उद्देश्य से अनेकों किलों की रचना भिन्न-भिन्न स्थानों पर किया करते थे। पिप्रु, चुमुरि, धुनि आदि दासजातीय सरदारों के विपुल पुरों के उल्लेख करने के अतिरिक्त ऋग्वेद ने स्पष्ट, प्रतापी दासराज शम्बर के ९०, ९९ या १०० किलों के इन्द्र के द्वार ध्वस्त किये जाने का वर्णन किया है। पिछली संहिताओं और ब्राह्मणों ने किलों के शत्रुओं द्वारा घेरा डालने की बात लिखी है। ऋग्वेद ने इस कार्य मे अग्नि के प्रयोग करने का उल्लेख किया है। इस वर्णन से प्रतीत होता है कि वैदिक आर्यों तथा दासों ने आत्मरक्षा के लिए किलों का निर्माण पत्थर आदि कड़े और टिकाऊ साधनों से किया था।

पुर

वैदिक ग्रन्थों में पुर् तथा पुर दोनों शब्द मिले रहते हैं, परन्तु दोनों अर्थ में तनिक पार्थक्य सा प्रतीत होता है। त्रिपुर (तैत्ति सं० ६।२।३, शत० ६।३।३।२५, ऐत० २।११) तथा महापुर (तै० सं० ६।२।३।१ ऐत० १।२३।२) शब्द निःसन्देह किसी बड़े निवास स्थान

१ प्रति यदस्य वज्र बाह्वोर्धुर्हत्वी दस्यून् पुर आयसीर्नि तारीत।(ऋ० २।२०।८)।

२ शतभुजिभिस्तमभिह्रुतेरघात् पूर्भी रक्षता मरुतो यमावत

—ऋ० १।१६६।८

के लिए प्रयुक्त किये गये हैं। 'त्रिपुर' का संकेत उस शहर से जान पड़ता है जिसमें किलाबन्दी की तीन कतारें खड़ी की गई थीं; 'महापुर' तो निश्चय ही किसी बृहद् आकारवाले, किलाबन्दी किये गये नगर को बतलाता है। ये शब्द उस काल में प्रयुक्त किये गये हैं जब आर्य लोग बड़ी बड़ी जातियों की प्रधान राजधानियों से परिचित हो चले थे। इस युग में वे काम्पिल (पाञ्चालों की राजधानी), आसन्दीवन्त (कुरु-राजधानी) तथा कौशाम्बी नगरियों से भलीभाँति परिचित हो गये थे। 'एकादशद्वारं पुरं' तथा 'नवद्वारं पुरं' का औपनिषद उल्लेख इसी सिद्धान्त को पुष्ट कर रहा है। इन शब्दों में शरीर की उपमा नौ द्वारवाले या इग्यारह द्वारवाले पुर से दी गई है, परन्तु जबतक आर्यों ने इतने दरवाजावाले बड़े नगरों को न देखा होगा, तब तक ऐसी उपमा के प्रयोग करने का अवसर ही न आया होगा। उपमा का प्रयोग वास्तविक आधार से विरहित नहीं हो सकता। प्राचीन काल में (जैसा मेगास्थनीज के वर्णन तथा आजकल उपलब्ध खँडहरों से जान पड़ता है) बड़े नगरों में ४, ८, १२ या चार के द्वारा विभाज्य सख्यावाले मुख्य द्वार हुआ करते थे जो एक दूसरे से सड़कों के द्वारा मिले रहते थे। इन चारों नगर-द्वारों के एकत्र मिलने का स्थान 'चतुष्पथ' (चौक) कहलाता था। उपनिषत्काल में ऐसे पुरों की सत्ता सर्वतोभावेन विद्यमान थी जिनके नमूने पर शरीर की समता अधिक दरवाजे वाले पुरों से की गई है।

'नगर' का प्रयोग आजकल साधारण रीति से बड़े-बड़े शहरों के लिए किया जाता है, परन्तु महाभारत-काल में इसका मुख्य अभिप्राय राज्य की राजधानी से ही था। और यह विशिष्ट अर्थ प्राचीनकाल से चला आता प्रतीत होता है। आरण्यक ग्रन्थ में नगर शब्द की उपलब्धि से यह अनुमान लगाना कि संहिताकाल में नगरों का अभाव था सुसंगत नहीं प्रतीत होता। जब जंगल में रहने वाले (आरण्यक)

ब्राह्मणों के हृदय में भी नगरों के लिए पक्षपात था, तब तो निश्चित ही यह एक प्राचीन संस्था जान पड़ती है। व्यक्ति-वाचक नाम में 'नगरिन्' शब्द का ब्राह्मण ग्रन्थ में किया गया उल्लेख इस बात का प्रत्यक्ष साक्षी है कि ब्राह्मण युग में नगर—राजकीय राजधानी—या कम-से-कम बड़े शहर—की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। राजाओं ने अपने तथा राजकर्म में सहायक 'वीरों' अथवा 'रत्नियों' के उपयुक्त बड़े-बड़े मकानों को बनाकर नगर को सुसज्जित किया था। राजा के लिए अपना विशिष्ट महल हुआ करता था जिसमें अनेक खम्भे हुआ करते थे। ऋग्वेद में राजा वरुण के बृहदाकार प्रासादों का वर्णन स्पष्ट शब्दों में किया गया है। राजा वरुण का महल (सदस् तथा गृह) बहुत ही बड़ा विशालकाय प्रतीत होता है, क्योंकि उसमें हजार खंभे (सहस्र-स्थूण) लगे थे[1] और वह सहस्र द्वारों से अलङ्कृत किया गया था[2]। यह कल्पना निराधार नहीं हो सकती। वैदिक राजाओं के महल भी इसी प्रकार लम्बे-चौड़े हुआ करते थे। ऐसे महलों के वास्ते 'हर्म्य' शब्द प्रयुक्त किया गया है। ऋग्वेद (७।५६।१६) ने महल की अटारी पर खड़े होने वाले (हर्म्येष्ठा) राजा का उल्लेख किया है जो सम्भवतः पिछले राजाओं के समान अपने महल के झरोखे से अपनी प्रजाओं को दर्शन दिया करता था। 'प्रासाद' शब्द तो अवान्तर-वैदिककाल के ग्रन्थों में मिलता है, परन्तु राजमहल की विशिष्टता की पर्याप्त सूचना ब्राह्मण-ग्रन्थों में मिलती है। शतपथ (१, ३, २, १४) में उल्लिखित 'एक-वेश्मन्' (प्रधान गृह) शब्द से प्रगट होता है कि राजा का महल

१ राजानावनभिद्रुहा ध्रुवे सदस्युत्तमे।
सहस्रस्थूण आसाते —ऋ० २।४१।५।

२ बृहन्तं मानं वरुण स्वधावः
[illegible]

साधारण लोगों के घरों की अपेक्षा अधिक ऊँचा, भड़कीला तथा प्रभावशाली हुआ करता था। इतने स्पष्ट प्रमाणों के रहते यह अनुमान करना कि वैदिककाल में बड़े-बड़े नगरों की सत्ता न थी सगत नहीं प्रतीत होता। वैदिक युग में ग्राम्य जीवन की सादगी के साथ-साथ नागर जीवन की मनोरम आभा हमारे विस्मय-मिश्रित आनन्दोल्लास की जननी है।

वैदिक ग्राम

वैदिक ग्राम आवश्यक सामग्रियोंसे परिपूर्ण रहता था। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसे अन्य ग्रामों की किसी प्रकार की अपेक्षा नहीं थी। ग्राम के निवासी आर्य लोग अन्नादि भोज्य पदार्थ कृषि-कर्म से तथा दूध घी दही आदि पदार्थ पशुपालन से उत्पन्न करते थे। गावों में भेड़ें तथा बकरियाँ पाली जाती थीं जिनके ऊन के कम्बल जाड़े में शीत-निवारण के लिए ओढ़े जाते थे। रूई की पैदावार भी खूब होती थी, रूई के सूत से बढ़िया से बढ़िया कपड़े बुने जाते थे। बुनने का काम अधिकतर स्त्रियों के ही सुपुर्द रहता था[1]। प्रेममयी माता अपने पुत्र के लिए कपड़ा बुन कर पहनाया करती थी[2]। बढ़ई लोग युद्ध-यात्रा के तथा मनोविनोद के प्रधान सहायक रथ को बनाते थे तथा आर्यों की गृहस्थी की उपयोगी काठ की चीजें तैयार करने में लगे रहते थे। लोहार

---

१ तन्तु तत सवयन्ती समीची यज्ञस्य पेशः सुदुघे पयस्वती।

—ऋ० २।३।६

२ वितन्वते धियो अस्मा अपांसि

वस्त्रा पुत्राय मातरो वयन्ति॥

—ऋ० ५।४७।६

(कार्मार) हल तथा फाल की तैयारी में व्यस्त रहता था। कुम्हार (कुलाल) कलश, कुम्भ, उखा (रसोई का बरतन) आदि मिट्टीकी चीजें बनाता था। पानी तथा मधु रखने के लिए कुछ लोग चाम (अजिन) को साफ करके उससे बड़े-बड़े बर्तन बनाते थे जो 'दृति' कहे जाते थे। ऐसे लोगों का नाम चर्मम्न (ऋ० ८।५।३८) दिया गया है। प्रत्येक ग्राम में हजाम (वप्ता, ऋ० १०।१४२।४) होते थे जो आर्य लोगों की हजामत बनाया करते थे। इन अत्यावश्यक पेशावाले लोगों के सिवाय दवा देकर रोगों को दूर करनेवाले डाक्टरों (भिषक् ऋ० २।३३।४) उल्लेख अनेक स्थलों पर मिलता है। एक मन्त्र में ऋषि ने हँसी में कहा है कि वैद्य लोग बीमार की ही खोज में लगे रहते हैं— यह कथन उस समय सत्य भले ही न हो, परन्तु आज कल के वैज्ञानिक युग में तो यह नितान्त सत्य है। वैदिक काल में आयुर्वेद ने जितनी उन्नति कर ली थी, वह आज कल के युग के लिए भी निःसन्देह आश्चर्य जनक है। वैदिक ग्रामों में जीवन को रसमय बनानेवाले साधनों की कमी न थी। सामवेद इस बात का प्रधान साक्षी है कि उस समय आर्य-लोग सङ्गीत-विद्या से सर्वथा परिचित थे। सोमयाग के अनुष्ठान के अवसर पर वैदिक ऋषियों के कलकण्ठ से निकला हुआ सामगान मण्डप भर में गूँज उठता था तथा वायुमण्डल को मनोरम स्वर-लहरी से सङ्गीतमय बनाता हुआ प्रस्तुत देवता को प्रसन्न करने में सर्वथा समर्थ बनता था। ऋग्वेद के मण्डलों में कथनोपकथन से सवलित अनेक सूक्त उपलब्ध होते हैं जिन्हें 'सवादसूक्त' कहते हैं। जर्मन विद्वान् डा० श्रोयडेर की सम्मति में ये वस्तुत नाटकीय संवाद हैं जिनका यज्ञों के अवसर पर आवश्यक सामग्री जुटाकर सचमुच अभिनय किया जाता था। इस प्रकार वैदिक ग्राम जीवन की आवश्यक सामग्रियों के लिए किसी दूसरे पर अवलम्बित न रहकर पूर्णतया स्वावलम्बी था।

वैदिककालीन गृह

वैदिक मन्त्रों में घर के अर्थ को सूचित करनेवाले गृह, आयतन, पस्त्या, वास्तु, हर्म्य, दुरोण आदि अनेक शब्द उपलब्ध होते हैं जो गृह की विशिष्टता को लक्ष्य कर प्रयुक्त किये गये हैं। चारों ओर दीवालों से घिरे रहने के कारण घर 'आयतन' कहलाता है तथा दरवाजा होने के कारण उसे 'दुरोण' के नाम से पुकारते थे। निवास स्थान के अर्थ में वास्तु तथा पस्त्या का प्रयोग किया जाता था। 'सुवास्तु' तथा 'वास्तोष्पति' शब्दों में वास्तु घर बनाने के स्थान को भी लक्षित करता है जो इस शब्द का कालान्तर में गृहीत अर्थ है। इन घरों में वैदिक आर्यों के कुटुम्ब रहते थे और रात के समय गायें और भेड़ें भी रहती थीं। घरों में बहुत से कमरे हुआ करते थे तथा आने जाने के लिए दरवाजा (द्वार) भी बने रहते थे जिनके कारण घर की ही 'दुरोण' संज्ञा हो गई थी। आर्यों के रहने के निमित्त निर्मित गृहों के अतिरिक्त राजाओं के महल, 'सभा' के भवन, अध्यापन कार्य के लिए आचार्यों के परिषद् के भवन की स्वतन्त्र स्थिति तथा विशिष्ट रचना के द्योतक अनेक निर्देश मन्त्रों में पाये जाते हैं।

गृह-निर्माण

घरों के बनाने के लिए बाँस, मिट्टी, लकड़ी, पत्थर और पके हुए ईंट प्रधान सामान थे। अथर्व वेद के दो सूक्तों (३।१२, ९।३) गृह-निर्माण की प्रक्रिया का वर्णन बड़े विस्तार के साथ किया गया है, परन्तु इन मन्त्रों में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों की दुर्ज्ञेयता के कारण रचना-पद्धति का यथार्थ विवेचन करना कठिन प्रतीत होता है। तथापि वैदिक गृहों की विशिष्टताओं से हम भलीभाँति परिचित हो जाते हैं। वैदिककालीन गृहों की विशिष्टता इस प्रकार है—(१) घर बनाने के लिए लकड़ी के खम्भे (उपमित) गाड़े जाते थे जिनपर

सीधी या आडी धरनें (प्रतिमित और परिमित) रखी जाती थीं इन धरनो के ऊपर बाँस (वश) के बडे बडे लट्ठे रखे जाते थे और इन वासो के ऊपर 'अक्षु' रखा जाता था। बाँस के टुकडे काटकर छाजन बनाने का काम लिया जाता था। इन टुकडों से ऊपर का छत पाट दिया जाता था। इन्हीं को 'अक्षु' कहा जाता था। अक्षु को (सहस्र चक्षु) हजार आँखोवाला कहने का अभिप्राय यही जान पड़ता है कि इनमें बहुत से छेद हुआ करते थे। आज कल की भाषा में 'अक्षु' को पाटन कह सकते हैं। इसके ऊपर छाजन (छदिः) के लिए 'पलद' तथा 'तृण' (घासफूस) रखे जाते थे। इसके अनन्तर पूरे ठाट को तरह-तरह की रस्सियो से बाँध दिया जाता था जिसे 'नहन', 'प्राणाह' 'संदंश', 'परिष्वञ्जल्य' नामो से पुकारते थे। इस प्रकार के घरों में बाँस और घास-फूस ही का अधिक प्रयोग किया जाता था, दूसरे प्रकार के घरो में लकड़ी का विशेष उपयोग किया जाता था। लकड़ी के मकानो में खभो (स्कम्भ, स्थाणु, स्थूणा) की बहुलता एक विशिष्ट चीज थी। वैदिक काल में राजमहलो में हजार खभे तक होते थे तथा इतने विशाल प्रासाद में आने जाने के लिए हजार दरवाजे तक बनाये जाते थे। मिट्टी के गृह (मृन्मय गृहम्) भी बनाये जाते तथा पत्थरों और ईंटों का भी उपयोग कर वैदिक आर्य लोग विविध आकार के लम्बे-चौड़े मकान बनाने में कभी नहीं चूकते थे।

वैदिक घरों में आवश्यकतानुसार अलग अलग कमरे हुआ करते थे। इस प्रसग में हविर्धान, अग्निशाला, पत्नीना सदन, तथा सदस्— इन चार शब्दो का उल्लेख मिलता है जो यज्ञ के प्रसङ्ग में मुख्यतया निर्दिष्ट होने पर भी साधारण घरो के सम्बन्ध में भी प्रयुक्त किये जा सकते हैं। इससे प्रतीत होता है कि उस काल में घरों के चार विभाग हुआ करते थे —(१) अग्निशाला—वह कमरा जिसमें अग्नि जलाई

जाती, तथा विभिन्न अग्नि कुण्डों में देवताओं के लिए होम किया जाता था, (२) हविर्धान=भाण्डार गृह जिसमें घर गृहस्थी के नित्य खर्च तथा यज्ञ याग की चीजें एकत्र रखी जाती थीं। (३) पत्नीनां सदन=अन्तःपुर, जनाना। यह बहुत ही भीतर हुआ करता जिनमें स्त्रियाँ स्वच्छन्दतापूर्वक अन्य घरवालों की आँख से ओझल होकर रह सकती थीं (गुहा चरन्ती योपा—ऋ० १।१६७।३)। दूसरे कमरों में आने-जाने में स्त्रियों के लिए कोई रुकावट न थी, परन्तु बाहर जाने के समय विवाहित स्त्रियाँ चादर या दुपट्टे से अपने शरीर को ढक लिया करती थीं[1]। (४) सदस्=बैठने का स्थान, बाहरी दालान जिसमें पुरुषवृन्द एकत्र होकर सोते, बैठते या बातचीत किया करते थे। इनके कमरों के सिवाय पशुओं के रहने के भी अलग कमरे होते थे जो 'शाला' या 'गोत्र' कहे जाते थे। उत्सव तथा यज्ञों में आने वाले अतिथियों और निमन्त्रित व्यक्तियों, विशेषतः ब्राह्मणों, के रहने के लिए भी अलग घर होता था जो 'आवसथ' =अतिथि शाला) कहलाता (अथर्व० ९।६।५)। आजकल की धर्मशाला के समान 'आवसथ' में यात्रियों के रहने तथा आराम करने का पूरा प्रबन्ध रखा जाता था। इस का विस्तृत वर्णन सूत्र-ग्रन्थों (आपस्तंब श्रौतसूत्र ५.९।३; धर्मसूत्र २।९।२५।४) में दिया गया है। ऋग्वेद (६।४६।९) मन्त्र[2] के सायणभाष्य के आधार पर उस समय घरों में तीन आँगन या खण्ड हुआ करते थे। इस मन्त्र के 'त्रिधातु' का अर्थ सायण ने 'त्रिभूमिकं'

---

१ अवक्रुष्या विचरदी पत्नीरिव निमृत प्र नोन इन्द्र सर्पतु।
—ऋ० ८।१७।७

२ इन्द्र त्रिधातु शरणं त्रिवरूथं स्वस्तिमत्।
छर्दिर्यच्छ मघवद्भ्यश्च मह्यं च यावया दिद्युमेभ्यः॥
—ऋ० ६।४६।९

किया है। इससे वैदिक गृहों के विस्तृत तथा लम्बे चौड़े होने
बात पुष्ट होती है।

अपने गृहों की रक्षा करने के निमित्त ऋग्वेद में 'वास्तोष्प
देवता की कल्पना की गई है और उनकी स्तुति दो सूक्तों (७।५४, ५
में की गई है। वास्तोष्पति से प्रार्थना की गई है कि आर्यों का निव
शोभन तथा रोगहीन हो, द्विपद तथा चतुष्पद का कल्याण हो, ग
तथा घोड़ों के द्वारा समृद्धि को बढ़ावो तथा सदा जवानी का अनु
करते हुए हमलोग आपके मित्र बने रहें और पुत्रों के प्रति पिता
समान तुम हम लोगों पर सदा प्रतियुक्त बने रहो[1]।

घरेलू सामान

वैदिक घरों में नित्य काम में आने वाली चीजें सीधी-सादी उ
योगी तथा नाना प्रकार की हैं। उनके प्रयोग करने से उस समय
उन्नत भौतिक दशा का परिचय भलीभाँति लगता है। बैठने त
लेटने के अनेक आसनों का वर्णन मिलता है जो सामाजिक अव
की उन्नति के साथ-साथ सीधे-सादे से अलङ्कृत और परिष्कृत ह
गये हैं। याज्ञिक अनुष्ठान के अवसर पर कुश के बने हुए 'प्रस्तर', 'ब
तथा 'कूर्च' का उपयोग किया जाता था। बैठने और लेटने के लि
चटाइयाँ बनाई जाती थीं। 'कशिपु' (सेज) पत्थर से कूट कर तैय
नरकट (नड) से तथा 'कट' (बेंत) से बनाई जाती थी। समाज
धन सम्पन्न होने पर इन चटाइयों में सोने-चाँदी की सम्भवत: झा
लगाने की चाल पीछे चल पड़ी थी। राजा के 'अश्वमेध' के अवसर

---

१ वास्तोष्पते प्रतरणो न एधि गयस्फानो गोभिरश्वेभिरिन्दो।
अजरासस्ते सख्ये स्याम पितेव पुत्रान् प्रति नो जुषस्व॥
—ऋ० ७।५४।२

जिस 'हिरण्यकशिपु' (सोने की चटाई) पर बैठने की चाल थी वह अवश्य ही सोने के सूतों से बनी हुई बहुत ही चमकीली होती थी।

तल्प—वैदिक कालके अन्तः पुर में स्त्रियों के वास्ते अनेक प्रकार के बिस्तर और आसन काम में लाये जाते थे। ऋग्वेद के एक मन्त्र में 'तल्प', 'प्रोष्ठ' तथा 'वह्य' पर लेटकर आराम करनेवाली स्त्रियों का उल्लेख किया गया है। ये तीनों आसन थे जो अपनी रचना और सजावट के कारण भिन्न भिन्न हुआ करते थे। 'तल्प' साधारण खटिया न होकर वह बेशकीमती पलँग है जिस पर वर-वधू नव समागम के शुभ अवसर पर सोते बैठते थे। अथर्व-वेद के विवाह सूक्त (१४।२।३१) में[1] वधू को प्रसन्न चित्त होकर 'तल्प' पर आरोहण करने तथा पति के लिये प्रजा उत्पन्न करने का मङ्गलमय उपदेश दिया गया है। शतपथ ब्रा० (१३।१।६।२) में नियमतः उत्पन्न पुत्र की 'ताल्प' संज्ञा दी गई है तथा छान्दोग्य (५।१०।९) में पञ्च पातकियों में गुरुतल्प-सेवी की भी गणना है[2]। इससे स्पष्ट है कि 'तल्प' वैवाहिक शय्या है जिस पर आरोहण करने का अधिकार वर-वधू को ही है। पवित्र उदुम्बर (गूलर) की लकड़ी से इसके रचना-विधान से भी इसी बात की पुष्टि होती है।

प्रोष्ठ—ऋग्वेद बड़े महल (हर्म्य) में 'प्रोष्ठ' पर लेटने वाली स्त्रियों का उल्लेख करता है (प्रोष्ठशया—ऋ० ७।५५।८)। यह बड़ा, ऊँचा, काठ का बना बेंच जान पड़ता है। इसके सुडौल बने दो पैर होते थे और सम्भवतः दीवाल का सहारा लेकर यह खड़ा किया जाता था। अथर्व के एक मन्त्र से जान पड़ता है कि वधू को अपने पति के

---

[1] आरोह तल्पं सुमनस्यमानेह प्रजां जनय पत्ये अस्मै।

[2] स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबंश्च गुरोस्तल्पमावसन् ब्रह्महा च।
एते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाचरंस्तैरिति॥

—छा० ५।१०।९

घर जाने के समय तकिया तथा तैल के साथ एक पेटी दी जाती थी[1]। बहुत सम्भव है कि वह कोश (पेटी) इसी प्रोष्ठ के रूप में होती हो जो पेटी और तकियादार पलग दोनों का समिश्रण सा जान पड़ता है।

वह्य—यह स्त्रियोपयोगी सुखद आसन था। 'वह्य' शब्द से प्रतीत होता है कि यह एक स्थान से दूसरे स्थान पर ढोकर लाया जाता था। बहुत सम्भव है कि इसके दोनों ओर बाँस लगे रहते थे और ऊपर चँदवे से ढका रहता था। आज कल की 'डोली' या 'पालकी' वैदिक 'वह्य' की अर्वाचीन प्रतिनिधि जान पडती है। अथर्ववेद के अनुसार वधू थक जाने पर 'वह्य' पर चढ़ती थी[2]। एक दूसरे सूक्त में 'वह्य' का उपयोग विवाह के अवसर पर किये जाने का उल्लेख है। वह्य लकडी की बनी होती जिस पर नाना प्रकार की रमणीय आकृतियाँ खोदी जाती थीं और सुनहली कलाबत्तू की गई चादर बिछाई जाती थी[3]। इतनी कीमती शय्या पर वधू-वर के साथ विवाह अवसर पर सोती थी। आसन्दी का भी विवाह के अवसर पर उल्लेख मिलता है, परन्तु 'वह्य' आसन्दी तथा तल्प दोनों से भिन्न बेशकीमती तथा सुसज्जित पलँग जान पड़ता है जो आवश्यकतानुसार एक स्थान से दूसरे स्थान पर भी डोली के समान लाया जाता था।

आसन्दी—ऋग्वेद में आसन्दी का उल्लेख नहीं है, परन्तु पिछली संहिताओं (अथर्व १५।३, वाज० सं० ८।५६) और ब्राह्मणों (विशेषत. ऐतरेय और शतपथ) में इसका विस्तृत वर्णन तथा उपयोग उपलब्ध

---

१ चित्तिरा उपबर्हणं चक्षुरा अभ्यञ्जनम्।
द्यौर्भूमिः कोश आसीद् यदयात् सूर्या पतिम्॥—अथर्व १४।१।६।

२ [illegible] भूमिना [illegible] आन्ता [illegible]।—अथर्व ८।२०।३।

३ प्रोष्ठेशया वह्येशया नारीर्यास्तल्पशीवरीः।
स्त्रियो याः पुण्यगन्धास्ताः सर्वाः स्वापयामसि॥—ऋ० ७।५५।८।

होता है। इन ग्रन्थों के अनुशीलन से राजा-महाराजाओं के द्वारा अभिषेक आदि विशेष अवसरों पर प्रयुक्त यह एक आराम देने वाली गद्दी या गद्दादार आराम-कुर्सी जान पड़ती है। पर्यङ्क आसन्दी का ही विस्तृत रूप था जिसे धनाढ्य लोग—शासक वर्ग—बैठने और सोने दोनों काम के लिए प्रयोग में लाते थे। 'आसन्दी' राज्यसिंहासन सी प्रतीत होती है और वैदिक निर्देशों के अनुशीलन से उसकी निर्माण-विधि का भी पर्याप्त परिचय मिल जाता है।

अथर्व (१५।३) में व्रात्यों (वैदिक धर्म से बहिष्कृत आर्यों) की आसन्दी का विशिष्ट वर्णन मिलता है—उसके चार पैर होते थे = दो आगे और दो पीछे; लम्बे तौर से दो काठ लगाये जाते थे, दो तिरछे तौर पर; लम्बाई और चौड़ाई में वह तन्तुओं से बिनी जाती थी। और उसके ऊपर होती थी एक चादर (आस्तरण), तकिया (उपबर्हण), गद्दीदार आसन (आसाद) और सहारा लेने की जगह (उपश्रय)। विवाह में प्रयुक्त 'आसन्दी'[1] का विशेष वर्णन नहीं मिलता। शुक्ल-यजुर्वेद में भी आसन्दी का सम्बन्ध राजाओं के साथ है, 'राजासन्दी' शब्द से जान पड़ता है कि साधारण जनता भी अपने बैठने के लिए साधारण 'आसन्दी' का प्रयोग किया करती थी। ऐतरेय ब्रा० (८।५, ६) और शतपथ (५।४।४।१) में राज्याभिषेक के अवसर पर 'आसन्दी' के अंगप्रत्यङ्ग का विस्तृत सूक्ष्म वर्णन मिलता है जिसमें अलङ्कारों से सुसज्जित राज्य-सिंहासन की विशिष्टता तथा गौरव का परिचय भलीभाँति हमें मिलता है।

नाना प्रकार की घरेलू वस्तुओं के रखने के लिए मिट्टी और धातु के

---

१ रुक्मप्रस्तरणं वह्यं विश्वा रूपाणि बिभ्रतम्।
आरोहत् सूर्या सावित्री बृहते सौभगाय कम्॥
—अथर्व० १४।२।३०।

बने 'कलश', लकड़ी के बने 'द्रोण', चाम के बने 'दृति' का प्रयोग प्रत्येक घर में होता था। सोने तथा चाँदी के बने चपकों (प्यालों) का प्रयोग धनाढ्य आर्यजनों के महलों में किया जाता था। यज्ञ के अवसर पर हविष्य के पकाने के लिए 'उखा' तथा घरेलू अवसरों पर पकाने के लिए 'स्थाली' काम में लाई जाती थी। जाँत (दृषत् तथा उपल) से अनाज पीसे जाते थे। काठ के बने हुए ओखल (ऊलूखल) तथा मूसर (मूषल) से अनाज को या सोमलता के कूटने का काम लिया जाता था। सूप (शूर्प) तथा चलनी (तितउ) से भूसी से नाज को अलग किया जाता था। तैयार नाज को नापने वाला बर्तन 'ऊर्दर' कहलाता और उसकी सहायता से मापा गया नाज भाण्डार (स्थीवि) में रखा जाता। आवश्यकता के अनुसार स्थीवि से अनाज निकाला जाता और काम में आता। चीजों को बचाने के लिए उन्हें शिक्य (छीका) पर लटका कर रखने की चाल उस समय में भी थी (अथर्व० ९।३ ६) धातु या मिट्टी के बर्तनों में सोने या चाँदी के सिक्के भर कर रखे जाते और रक्षा के लिए उन्हें जमीन के नीचे गाड़ा भी जाता था (हिरण्यस्येव कलशं निखातम् ऋ० १।११७।१२)। इन वस्तुओं के अतिरिक्त स्रुव्, जुहू आदि यागोपयोगी वस्तुयें भी प्रत्येक घरमें याज्ञिक अनुष्ठान के निमित्त रखी जाती थीं। आर्य घरों में दास दासियों की भी कमी न रहती थी जो अपने मालिक के लिए जरूरी काम करने में लगे रहते थे। दासियां आर्य गृहपत्नियों को उनके घरेलू कामों में सहायता दिया करती थीं। वैदिक आर्यों के घरेलू चीजों तथा सामान को सरसरी निगाह से भी देखने वालों के लिए यह स्पष्ट है कि जीवन को सुखमय, सरस बनाने वाली आवश्यक सामग्री वैदिक घरों में नित्य सन्निहित रहती थी जिससे आर्यों का जीवन सादगी के साथ-साथ आनन्दोल्लास से भरा रहता था। वैदिक घर सादगी के पुतले थे, इसे मानने में किसी को आपत्ति न होनी चाहिए।

भोजन

वैदिक आर्यों का भोजन सीधा-सादा, स्वास्थ्यवर्धक तथा सात्विक होता था जिसमें दूध और घी की प्रचुरता रहती थी। ऋग्वेद के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि भारतीयों का सबसे प्राचीन भोजन था जव की रोटी और चावल (धान) का भात। यव का उल्लेख ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर किया गया है। 'व्रीहि' (चावल) शब्द ऋग्वेद में न आकर यजुर्वेद आदि संहिताओं में उल्लिखित मिलता है, तथापि प्राचीन आर्यों को हम चावल से अपरिचित नहीं मान सकते, क्योंकि इसका वाचक धाना या धान्य शब्द ऋग्वेद में अवश्य ही उपलब्ध होता है। आजकल तर्पण आदि धार्मिक कृत्यों में तिल के साथ यव तथा धान के ही एकमात्र प्रयोग से यही सिद्ध होता है कि आर्यों के आदिम भोज्य पदार्थ होने के कारण ही इनमें हमारी पूज्य भावना अक्षुण्ण बनी हुई है। जव को जाँत (उपल) में पीसकर रोटी (पक्ति ऋ० ४ २४।५) बनाई जाती थी तथा धान को कूटकर तथा पानी में उबाल कर भात (ओदन)। नाना प्रकार के स्वादिष्ट भोजन प्रकारों के भी पर्याप्त निर्देश मिलते हैं। जव के आटा में दही मिलाकर 'करम्भ' तैयार किया जाता था जो पूषन् (आर्यों की पशुसम्पत्ति की रक्षा करनेवाले देवता) को उपहार के रूप में समर्पण किया जाता था। अपूप (पूआ) आटा तथा दूध से तैयार किया गया नितान्त स्वादु भोजन है।

भात के भी तरह तरह के प्रकार थे। दूध के साथ पका हुआ चावल अत्यन्त स्वादिष्ट माना जाता तथा समय समय पर यज्ञों में विशिष्ट देवताओं को भी अर्पित किया जाता था। आज कल की 'खीर' इसी वैदिक 'क्षीरौदन' की प्रतिनिधि है। दही डालकर चावल पकाया जाता, जिसे 'दध्योदन' कहते थे। मूंग की खीचड़ी (मुद्गौदन)

वैदिक आर्यों को भी हितकर और रुचिकर प्रतीत होती थी। नाना प्रकार की दालों से आर्य लोग अपरिचित न थे। दालों में तीन दाल विशेष काम में आती थी—मूँग (मुद्ग), उड़द (माप) तथा मसूरी (मसूर)। एक बात ध्यान देने की है कि अधिकांश भारतीयों का प्रधान खाद्य गेहूँ (गोधूम) ऋग्वेद में उल्लिखित नहीं है। इसका नाम पहले पहल वाजसनेयी संहिता (१८।१२) तथा तत्सबद्ध शतपथ और तैत्तिरीय ब्राह्मणों में आता है। जान पड़ता है कि ऋग्वेद काल में सप्तसिन्धु प्रदेश इतना अधिक ठंढ़ा था कि गेहूँ की पैदावार उसमें हो नहीं सकती। अवान्तर ब्राह्मणयुग में आर्यों के पूरब ओर बढ़ने पर इसकी खेती की जाने लगी। गोधूम के साथ ही व्रीहि का भी नाम पिछले ग्रन्थों में सर्वत्र मिलता है। जौ को आग में भूँजकर सातू (सक्तु) बनाया जाता था जिसे दूध में मिलाकर पीने की प्रथा उस समय प्रचलित थी।

वैदिक काल में दूध, दही और घी का महती प्रचुरता थी। हमने देखा है कि आर्यों के घर में सैकड़ों गायें पाली जाती थीं। अग्निहोत्र के लिए प्रत्येक ऋषि के दरवाजे पर गायें रहती थीं जिन्हें 'होम-धेनु' के नाम से पुकारते थे। ब्राह्मणों को दानशील सरदार और उदार राजाओं के घर से हजारों गायें दक्षिणा के रूप में मिलती थीं। अतः पशुपालन के उस जमाने में दूध की कहीं कमी न थी। दूध को सोमरस में मिलाकर पीने की भी चाल थी। दही का उपयोग स्वतन्त्र रूप से भी भोजन में किया जाता था और सोमरस में इसे मिलाकर भी पीते थे। ऐसा दधिमिश्रित सोम 'दध्याशीर' कहलाता था। दही को मथकर छाछ या मट्ठा (मन्था) बनाया जाता था जो खाने या पीने के लिए व्यवहार में आता था। घी (घृत) का प्रचुर प्रयोग आर्यों के भोजन में हुआ करता था। घृतके नाना अवस्थाओं के बोधक शब्द वैदिक ग्रन्थों में मिलते हैं। दही से मथकर सद्यः निकाला गया घी कहलाता

या 'नवनीत' (नैनू या लैनू), कुछ पिघला हुआ घी 'आयुत', बिल्कुल पिघला हुआ घी (विलीन) 'आज्य' तथा जमा हुआ (घनीभूत) घी 'घृत'। इनकी विशिष्टता का भी निर्देश मिलता है। ऐतरेय (१।३) के कथनानुसार आज्य देवताओं के लिए सुरभि (प्रिय) होता है, घृत मनुष्यों के लिए, आयुत पितरों के लिए और नवनीत गर्भ के लिए।[1] भोजन में आवश्यक होने के अतिरिक्त घृत यागानुष्ठानों में आहुति के लिए भी उपादेय था। भिन्न-भिन्न देवताओं के उद्देश्य से घी की आहुति आग में दी जाती थी इसलिए अग्नि ऋग्वेद में 'घृतप्रतीक' (घी का रूपवाला), 'घृतपृष्ठ', घृत-प्रसत्त (घी से प्रसन्न) कहा गया है।

मांस भोजन—उस समय आर्य लोग कतिपय जानवरों के मांस भी पकाकर खाते थे। सर्द मुल्क के रहनेवालों के लिए मांस का भक्षण नितान्त आवश्यक हो जाता है। वैदिक काल में आर्यों की निवास-भूमि का जलवायु अत्यन्त शीत-प्रधान था, इसलिए 'वर्ष' की सूचना देने के लिए ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों[2] (१।६४।१० ; २।१।११।५।५४।१५) में 'हिम' (पाला, शीत) का प्रयोग किया गया है। अतः जलवायु की विशिष्टता पर ध्यान देनेवालों को यह जानकर आश्चर्य न होगा कि विषम ऋतु के प्रभाव से अपनी रक्षा के निमित्त आर्य लोग कभी-कभी घृतपक्व भोजन के साथ-साथ मांस का भी सेवन करते थे।

फल—वैदिक लोग फलों को भी खाया करते थे, परन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि ये फल बागीचों में पैदा किये जाते थे अथवा स्वयं

---

१ आज्यं वै देवानां सुरभि, घृतं मनुष्याणामायुतं पितॄणां
नवनीतं गर्भाणाम्। —ऐत० ब्रा० १।३

२ तद्वो यामि द्रविणं सद्य ऊतयो येना स्वर्ण ततनाम नॄँरभि।
इदं सु मे मरुतो हर्यता वचो यस्य तरेम तरसा शतं हिमाः॥
—ऋ० ५।५४।१५

जंगलों में उगा करते थे। ऋग्वेद के एक मन्त्र में इन्द्र के द्वारा कामनाओं को पूर्ण करनेवाले धन देनेकी तुलना अंकुश लेकर पक्के फलों को गिराने से दी गई है। जंगलों में स्वादिष्ट फलों के उगने का वर्णन मिलता है। ऋग्वेद दोनों प्रकार की—फूलने फलनेवाली और न फूलने न फलनेवाली ओषधियों से परिचित है। किन्हीं ओषधियों में रोग निवारण की शक्ति थी और इस काम के लिए उनका प्रयोग किये जाने का उल्लेख है। वैदिक आर्यों को बेर का फल प्यारा जान पड़ता है, क्योंकि इसके अनेक प्रकारों का उल्लेख मिलता है। बेर के साधारण शब्द है बदर और कर्कन्धू, पर कोमल बदरी-फल को 'कवल' के नाम से पुकारते थे (वाज० स० १९।२२)। पिप्पल के स्वादिष्ट फल के खाने का भी स्पष्ट उल्लेख है (ऋ० १६।१६४।२०)।

भोजन को मीठा बनाने के लिए 'मधु' का प्रयोग किया जाता था। मधु देवताओं को भी समर्पित किया जाता था। आर्य लोग गन्ने से भलीभाँति परिचित थे। इक्षु (ईख) का उल्लेख ऋग् (९।८६।१८) अथर्व (१।३४।५) में और इक्षु-काण्ड का मैत्रायणी संहिता (४।२।९) में मिलता है, परन्तु इसकी खेती होती या यह प्राकृतिक रूप से पैदा होता, ठीक ठीक कहा नहीं जा सकता। परंतु शर्करा (चीनी) शब्द के उल्लेख न होने से बहुत संभव है कि ईख का काम चूसने में ही आता था, उसका रस निकाल कर गुड या चीनी नहीं बनाया जाता था। ऋग्वेद में 'लवण' का उल्लेख न पाकर कतिपय विद्वान् आर्यों को नमक से अनभिज्ञ बतलाते हैं, परन्तु इस अनुल्लेख से अभाव का अर्थ निकालना उचित नहीं प्रतीत होता। आर्यों का निवास उस प्रदेश में था जहाँ नमक का पहाड़ विद्यमान था। नमक उस देश में

---

[1] वृक्षं पक्वं फलमङ्कीव धूनुहीन्द्र सम्पारणं वसु ॥

ऋ० ३।४५।४

एक साधारण सी चीज थी—इतनी साधारण कि इसके साहित्यिक उल्लेख की योग्यता ही नहीं समझी गई। यह आवश्यक नहीं कि समस्त ज्ञात वस्तुओं की सत्ता ग्रन्थ-निर्दिष्ट होने पर ही स्वीकृत की जाय। ऋग्वेद कोई भोज्य पदार्थों का रजिस्टर नहीं ठहरा कि उसमें आटा-दाल, नमक-मिर्च का उल्लेख होना ही चाहिए। अतः ऋग्वेदीय आर्यों को लवण से अपरिचित बतलाना प्रामाणिक नहीं प्रतीत होता। लवण का उल्लेख अथर्व (७।७६।१) शतपथ (५।२।१।१६), छान्दोग्य (४।१७।७) तथा बृहदारण्यक (२।४।१२) में अनेकशः किया गया है।

पेय—सोम और सुरा

वैदिक आर्यों का प्रधान पेय सोमरस था जिसे वे अपने इष्ट देवता को अर्पित कर स्वयं पीते थे। यज्ञों के अवसर पर सोम रस का सवन तथा भिन्न भिन्न देवताओं को समर्पण एक महत्त्वपूर्ण व्यापार था। सोम पर्वतों पर, विशेषतः मूजवत् पर्वत पर, उगता था। वहाँ से यह लाया जाता था तथा पत्थरों (ग्रावा) से कूट कर इसका रस निकाला जाता था। कभी कभी इस काम में ओखल तथा मूशल की भी सहायता ली जाती थी। तब पानी मिलाकर उसे भेड़ों के ऊन के बने 'पवित्र' से छाना जाता था। सोमरस का रंग भूरा (बभ्रु), लाल (अरुण, अरुष) बतलाया गया है और इसका गन्ध नितान्त सुरभि। मधुरता की प्रचुरता के लिये इसमें दूध मिलाते थे जिसे 'गवाशीर' कहते थे, कभी कभी दही (दध्याशीर) या जव का सत्तु (यवाशीर) भी मिला कर देवार्पण करने की चाल थी। इसके पीने से शरीर भर में विचित्र उत्साह आ जाता और मन में एक प्रकार की मोहक मस्ती छा जाती थी। यही कारण है कि ऋषियों ने सोमकी स्तुति में सैकड़ों शोभन सूक्तों की रचना की है। ऋग्वेद के नवम मण्डल में सोम के

प्रशंसा-परक सूक्तो का अभिराम समुच्चय है। इस कारण इसे 'पवमान मण्डल' की सज्ञा प्राप्त है। सोमरस के पानसे उत्पन्न उल्लास की अभिव्यक्ति अनेक मन्त्रों में बड़ी रमणीय कल्पना के सहारे की गई है। सोमपान से इन्द्र के आनन्दोल्लास का कमनीय वर्णन ऋग्वेद के एक समूचे सूक्त (१०।११९) में किया गया है। "जिस प्रकार वेग से चलनेवाले घोड़े रथ को दूर तक खींच ले जाते हैं, उसी प्रकार ये सोम की घूँटे मुझे दूर तक खींचे ले जा रही हैं; क्या मैंने सोम का पान नहीं किया है? हन्त! मैं इस पृथ्वी को यहाँ रखूँगा। मै बड़ों में बड़ा हूँ (महामह), मै इस ससार के नाभि (अन्तरिक्ष) तक उठा हुआ हूँ, क्योंकि मैंने सोम रस का पान किया है। इन्द्र के ये हृदयोद्गार प्रचुर सोमरस पान के सुखद परिणाम हैं। आर्यों के भी अपने उद्गार कम अभिराम नहीं है। प्रगाथ काण्व ऋषि आनन्द की मस्ती में कह रहे हैं—हमने सोम का पान किया है, हमने अमरत्व पा लिया है, ज्योतिर्मय स्वर्ग की प्राप्ति हमने कर ली है तथा वहाँ हमने देवताओ को जान लिया है:—

अपाम सोममभृता अभूमा-
गन्म ज्योतिरविदाम देवान्।
— ऋ० ८।४८।३)

उपास्य और उपासक, देवता और यजमान के इन मनोरम उद्गारों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि सोमरस के पीने से मानसिक उल्लास तथा शारीरिक स्फूर्ति की अवश्य उत्पत्ति होती थी। इसीलिए आर्य सैनिक लोग सोम रस का पान कर समराङ्गण में उतरा करते थे (ऋ० ९।१०६।२)।

---

[1] अहमस्मि महामहोऽभिनभ्यमुदिषित
कुवित् सोमस्यापामिति।
—ऋ० १०।११९।१२

सोमरस जितना ही उत्साहवर्धक होने से श्लाघनीय था, सुरा मादकता उत्पन्न करने के कारण उतनी ही गर्हणीय थी। सुरा बहुत तेज मादक मद्य सी प्रतीत होती है। साधारण जनता का यह पेय भले हो, परन्तु समाज के लिए यह सर्वथा अहितकारिणी मानी गई है, क्योंकि इसके प्रभाव से मनुष्य अपराध और अनिष्ट कर बैठते थे। इसीलिए सुरा की गणना मन्यु (क्रोध), विभीदक (जूआ) तथा अचित्ति (अज्ञान) के साथ अनिष्टोत्पादक वस्तु के रूप में की गई है (ऋ० ७।८६।६)[1]। वैदिक समाज ने सोम पान को उत्तेजना दी और सुरा-पान की पर्याप्त निन्दा की।

आर्यों की अन्न के प्रति भव्य भावना का पता हमें ऋग्वेद के एक सूक्त (१।१८७) से चलता है जिसमें 'पितु' (अन्न-पान) की प्रशंसा स्मरणीय शब्दों में की गई है। अन्न की महिमा गाते हुए अगस्त्य ऋषि का यह कथन[2] कितना सारगर्भित है कि हे अन्न! तुम्ही में बड़े से बड़े देवताओं का मन स्थित है, तुम्हारे ही केतु के नीचे शोभन कार्यों का संपादन किया गया है; तुम्हारी सहायता से उन्हों (इन्द्र) ने सर्प को मारा है।" अन्न ही सुख देनेवाला है, (मयोभू:) द्वेष रहित (अद्विषेण्यः) सुखोत्पादक, अद्वितीय मित्र (सखा सुशेवो अद्वयाः) है। अतः आर्यों ने अन्न से रक्षक बनने की बारम्बार प्रार्थना की है। सचमुच अन्न की महिमा अतुलनीय है!

---

१ न स्वो दक्षो वरुण ध्रुति सा।
सुरा मन्युर्विभीदको अचित्ति.॥

२ त्वे पितो महानां देवानां मनो हितम्।
अकारि चारु केतुना तवाहिम वसाऽवधीत।
—ऋ० १।१८७।७

वस्त्र और परिधान—

वैदिक ग्रन्थों में परिधान के विषय में जो उल्लेख उपलब्ध होते हैं वे इतने स्वल्प तथा विरल हैं कि उस समय की दशा का पूरा परिचय नहीं मिलता, परन्तु इधर-उधर बिखरे हुए निर्देशों को एकत्र कर इस विषयका साधारण ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। वैदिक आर्यों के वस्त्र और परिधान ऊनी, सूती और रेश्मी के हुआ करते थे। अजिन तथा कुश के बने वस्त्रों के पहनने की चाल यज्ञ के पवित्र अवसर पर थी जरूर, परन्तु यह वैदिक काल का साधारण परिधान न था। किसी प्राचीनकाल के परिधान की बहुमूल्य स्मृति के रूप में ही अजिन और कौश वस्त्र व्यवहृत किये जाते थे—साधारण अवसरों पर नहीं, प्रत्युत देवपूजा तथा अभिषेक सम्बन्धी दीक्षा के विशिष्ट, असाधारण और पवित्र अवसरों पर ही।

अजिन—किसी सुदूर प्राचीन काल में व्यवहृत होता। सम्भवतः प्रथम अजिन वस्त्र बकरों के चर्म का बनता था, पीछे हरिणचर्म की चाल चली। ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में अजिन-परिधान का उल्लेख है। मरुद्गण मृगाजिन पहने हुए वर्णित किये गये हैं (ऋ० १।६६।१०) मुनि लोग भी इस परिधान का प्रयोग करते थे। बालखिल्य सूक्तों में एक स्थान (७।२।३) पर ऋषि कृश ने प्रस्कण्व राजा की दानस्तुति की है जिसमें सौ सफेद बैलों, सौ बाँसो, सौ कुत्तों, चार सौ लाल घोड़ियों के साथ-साथ एक सौ विशुद्ध (कमाए हुए—म्लात) अजिन के दान की चर्चा की गई है। शतपथ ब्राह्मण के समय में अजिन पहननेवाले (अजिन वासिन्) पुरुषों का उल्लेख है। ऐतरेय (१,१,३) का कहना है कि दीक्षित पुरुष को दीक्षा के अवसर पर अपने वस्त्र के ऊपर मृगचर्म (कृष्णाजिन) धारण करना चाहिये। वस्त्र के ऊपर भी शरीर के ढक जाने पर भी, कृष्णाजिन पहनने के विधान से

यही सूचित होता है कि प्राचीनता तथा पवित्रता का खयाल कर शुभ अवसरों पर इस पवित्र वस्त्र का व्यवहार वैदिक समाज को उसी प्रकार अभीष्ट था जिस प्रकार सोमयाग के अवसर पर दीक्षित यजमान को बाँस के बने मण्डप (प्राग्वंश) में रहने की तथा दीक्षिता यजमान पत्नी को अधोवस्त्र के ऊपर कुश के बने वस्त्र (कौशं वासः)[1] पहनने की विधि ब्राह्मणों में दी गई है।

वैदिक आर्यों के साधारण वस्त्र ऊन (ऊर्णा), रेशम तथा सूत के बुने हुये रहते थे। सप्तसिन्धव के शीत-प्रधान भाग में ऊनी वस्त्र और इतर भाग में सूती वस्त्रों के पहनने की चाल थी, इसका पता भली भाँति चलता है। हमने पहले दिखलाया है कि परुष्णी तथा सिन्धु नदियों का प्रदेश ऊन की पैदावार तथा ऊनी शिल्प के लिए उस समय विशेष विख्यात था। मरुद्गण परुष्णी के बने शुद्ध या रंगे हुये ऊनी वस्त्र पहने वर्णित किये गये हैं (उत स्म ते परुष्ण्यामूर्णा वसत शुन्ध्यवः—ऋ० ५।५२।९) जिससे स्पष्ट है कि परुष्णी के काँठे में बारीक और रँगीन ऊनी वस्त्रों के बनाने का काम होता था। सिन्धु नदी अनेक स्थानों पर सुवासा (सुन्दर वस्त्रवाली) और ऊर्णावती (ऊन वाली) विशेषणों से अलङ्कृत की गई है। गान्धार के रोवांदार भेड़ों का ऊन उस समय सब जगह मशहूर था। इससे सम्बद्ध शिल्प का भी प्रचार इन प्रदेशों में जरूर था।

रेशमी वस्त्र—रेशमी वस्त्रों का व्यवहार वैदिक यागानुष्ठान के अवसरों पर विशेष रूप से किया जाता था। अथर्ववेद (१८।४।३१) का आदेश है कि मृतक के शरीर में तार्प्य वस्त्र पहना देना चाहिए जिससे यम के घर में जाने के समय मृतक अच्छी तरह कपड़ा पहने हुए जाय। शतपथ दीक्षा ग्रहण करने के अवसर पर तार्प्य

---

१ कौशं वासः परिधापयति —शतपथ ५।३।२।८

वस्त्र के परिधान का नियम बतलाता है। पर यह 'तार्प्य' था किस चीज का बना हुआ? सायण भाष्य के अनुसार यह तृण या त्रिपर्ण नामक लताओं के सूत का बना हुआ क्षौम (रेशमी) वस्त्र था। आजकल का 'तस्सर' इसी का वर्तमान प्रतिनिधि प्रतीत होता है। 'क्षमा' से बना हुआ क्षौम वस्त्र भी एक प्रकार का रेशमी वस्त्र था जिसका वैदिक लोगों में अक्सर प्रचार था। केसरिया रंग में रंगा हुआ रेशमी परिधान (कौसुम्भ परिधान) नितान्त पवित्र माना जाता था (शाखा० आर० ११।४)।

सूती वस्त्र—वैदिक ग्रन्थों में वर्णित वासस् (= वस्त्र) सूत का बुना हुआ कपड़ा होता था। इसमें ताना-बाना (ओतु-तन्तु अथवा पर्यास-अनुछाद) के रूप में सूत बुने गये रहते थे। वैदिक काल में बुनकारी की कला बड़े ऊँचे दर्जे तक पहुँची हुई थी, क्योंकि मन्त्रों के अध्ययन से जान पड़ता है कि मर्दानी धोतियों के अतिरिक्त बेशकीमती जनानी साड़ियाँ भी तैयार की जाती थीं जिनमें बढ़िया किनारा, झालर और कारचोबी का काम किया रहता था। साड़ियों के ऊपर सूई से फूल, बेल-बूटे काढ़े गये रहते थे जिससे इस शिल्प की विशिष्ट उन्नति का पता चलता है। धार्मिक कृत्यों के अवसर पर बिल्कुल नये कोरे (अनाहत वास) वस्त्र धारण करने की चाल थी, परन्तु प्रतिदिन के व्यवहार में धुले हुए सफेद कपड़े पहने जाते थे। कमनीय कलेवर वाली युवतियाँ सुनहले तार के बने जरी के काम वाले रंगीन साड़ियाँ पहना करती थीं। 'पुराणी युवति' उषा के वस्त्र के निरीक्षण करने से इस बात का पता भलीभाँति चलता है (ऋ० १।९२।४; १०।१।६)।

---

१ तृपा नाम ओषधिविशेषः तत्तन्तुनिर्मितं क्षौमं वस्त्रं तार्प्यम्—सायणभाष्य।
एतत्ते देव सविता वासो ददाति भर्तवे।
तत्त्वं यमस्य राज्ये वसानस्तार्प्यं चर॥
—अथर्व १८।४।३१।

परिधान विधि

साधारण रूप में प्राचीन भारतीय दो वस्त्रों का व्यवहार करते थे—अधोवस्त्र (निचले भाग को ढकनेवाला कपड़ा, धोती या साड़ी) तथा अधिवास (ऊपरी भाग को ढकने के लिए चादर या दुपट्टा) कपड़ों के पहनने के विषय में वैदिक ग्रन्थों से आवश्यक सूचना का संग्रह किया जा सकता है। कमर के पास धोती को बाँधने की चाल थी जिसे 'नीविं करोति' वाक्य के द्वारा अभिव्यक्त करते थे। नीवि आगे की तरफ एकही जगह बाँधी जाती थी (जैसा आजकल हिन्दू पुरुष और स्त्रियाँ करती हैं) कभी-कभी इसे दोनों ओर बाँधने का रिवाज था (जैसा आजकल पुरुषों के द्वारा किया जाता है)। कच्छ (काछा) बाँधने की चाल नहीं दीख पड़ती। स्त्रियाँ कमर के दाहिनी ओर नीवि बाँधती थीं। नीवि के ऊपर वस्त्र ओढ़कर उसे छिपाया भी जा सकता था।

शरीर के ऊपरी भाग को दो प्रकार से आच्छादित करने की प्रथा थी, कभी-कभी उसे ढीले-ढाले लम्बे रैपर (उपवासन, पर्यागहन या अधिवास) से ढकते थे और कभी-कभी दर्जी के द्वारा सिले हुए, शरीर से चपकने वाले कुर्ता (चपकन) या कुर्ती (जेकट) पहनते थे जिसे वैदिक ग्रन्थों में 'प्रतिधि' 'द्रापि' और 'अत्क' नाम से पुकारते थे। अथर्व (१४।२।४९) में वर्णित दुलहिन का 'उपवासन' चादर ही जान पड़ता है तथा मुद्गलानी का जो वस्त्र (वासः) हवा के झोंकों से उड़ता था वह भी 'उत्तरीय' प्रतीत होता है (उत स्म वातो वहति वासो अस्याः—ऋ० १०।१०२।२)। 'पर्यागहन' भी एक हलकी चादर ओढ़ने के काम में आती थी। 'अधिवास' के वर्णन से (शत० ५।४।४।३) प्रतीत होता है कि वह लम्बा ढीला-ढाला चोगा था जिसे राजा लोग धोती तथा कुर्ते के ऊपर पहना करते थे। अधिकतर सम्भव है कि यह शरीर के ऊपरी

भाग को ढकने वाला दुपट्टा था, अरण्य को पृथ्वी के अधिवास रूप में वर्णित करने से इसी अर्थ की पुष्टि होती है। (ऋ० १।१४०।९)।

सिले हुए कपड़े पहनने की चाल वैदिक काल में अवश्य थी। प्रतिधि (अथर्व १४।१।८) दुलहिन के वस्त्रों में वर्णित है, प्रसङ्गानुसार यह कन्चुकी (चोली) जान पड़ती है। धन-सम्पन्न ऊँचे दर्जे के पुरुष तथा स्त्रियाँ शरीर में सटनेवाली सोनहले तारों से बुने जरी के कामवाले 'द्रापि' पहना करते थे। 'द्रापि' शब्द के अर्थ के विषय में पर्याप्त मत-भेद है, परन्तु सन्दर्भानुसार इसका सिला वस्त्र (जाकेट) अर्थ करना उचित जान पड़ता है। यह सोना का (सुनहले तारों का) बना हुआ बतलाया गया है। वरुण के हिरण्यमय द्रापि पहनने का उल्लेख मिलता है[1] (ऋ० १।२५।१३) और सविता के पिशङ्ग (पीले रँगवाली) द्रापि पहनने का स्पष्ट निर्देश है (ऋ० ४।५३।२)[2]। अथर्व वेद (५।७।१०)[3] हिरण्यमय द्रापि का उल्लेख स्त्रियों के प्रसङ्ग में करता है जिससे प्रतीत होता है कि आजकल के वेस्टकोट की तरह यह एक कीमती सिला हुआ कपड़ा था जिसे उच्चकोटि के स्त्री-पुरुष समानभाव से पहनने के काम में लाते थे।

पेशस्—वैदिककाल का एक बहुत बढ़िया कीमती कपड़ा जान पड़ता है। इस पर सुनहले जरी का काम किया रहता था। इनका उल्लेख अनेक प्रसङ्गों में आया है। इसके ऊपर बढ़िया कलाबत्तू का काम किया जाता था जिसका सोना चमकता रहता था। दम्पती सुनहले पेशस् को

१ बिभ्रद् द्रापिं हिरण्ययं वरुणो वस्त निर्णिजम्।
२ दिवो धर्ता भुवनस्य प्रजापतिः पिशङ्गं द्रापिं प्रति मुञ्चते कविः।
३ हिरण्यवर्णा सुभगा हिरण्यकशिपुर्मही।
तस्यै हिरण्यद्राप्येऽरात्या अकरं नमः॥

पहनते थे (ऋ० ८।२१।८)[1]। सूर्य की किरणों के पड़ने पर नदी का जल जिस प्रकार चमकता है, पेशस् भी उसी भाँति चम-चमाता है (ऋ० ७।३४।११)। अश्विन् के विषय में सफेद तथा काले पेशस् पहनने का उल्लेख मिलता है[2]।

वस्त्रों तथा उनके पहनने के ढंग से किसी भी आलोचक से यह परोक्ष नहीं है कि वैदिक समाज नितान्त सभ्य, समुन्नत तथा सुरुचि-पूर्ण था। वह सभ्यता की उस कोटि में पहुँच चुका था जब मानव समाज प्रत्येक वस्तु के सौन्दर्य तथा माधुर्य को बढ़ाने के विचार से उन्नत कलाओं की सहायता लिया करता है।

पगड़ी—इन वस्त्रों के अतिरिक्त वैदिक आर्य लोग माथे पर पगड़ी (उष्णीष) पहना करते थे। अवसरों की भिन्नता के कारण उष्णीष के बाँधने के ढंग भी भिन्न-भिन्न प्रकार के होते थे। व्रात्यों के प्रसङ्ग में उनके उष्णीष की भी विशिष्टता दिखलाई गई है। व्रात्यों के उष्णीष दिन की भाँति चमकने वाले, उज्ज्वल और प्रकाश-मान होते थे और उनके रात के समान नितान्त काले-काले केशों पर अत्यन्त सजते थे (अहरुष्णीषं रात्री केशा—अथर्व १५।२)। यज्ञ के अवसर पर राजाओं के उष्णीष धारण का सुन्दर उल्लेख है। राजाओं की पगड़ियों के, ऐसे अवसर पर, दोनों छोर खींचकर आगे की ओर एक जगह खोंस दिये जाते थे जिससे पगड़ी ढकसी जाती थी (संहृत्य पुरस्ताद् अवगुहति—शत० ५।३।५।२०)। शतपथो-ल्लिखित इस विशेषता से अनुमान निकाला जा सकता है कि अन्य अवसरों पर पगड़ियों के दोनों छोर अलग-अलग लटका करते थे (जैसा

---

१ पुरुप्रिया ता कुमारेण्या विभ्रतावुर्व्यस्तुनः ।
उभा हिरण्यपेशसा ॥ —ऋ० ८।३१।६ ।

२ पेशो न शुक्रमसितं वसाते । —वाज० सं० १९।८९ ।

आजकल राजपूती पगड़ियों के बाँधने में देखा जाता है)। यजमान के समान ऋत्विग् लोग भी पगड़ियाँ (विशेषत: लाल रंग की) पहन कर अपने याजन-कृत्य में प्रवृत्त हुआ करते थे (रक्तोष्णीपाः प्रचरन्ति ऋत्विजः)। उष्णीष सूक्त के बने हुए होते थे और सूत्र-ग्रन्थों के आधार पर ये सिर पर तिरछे, टेढ़े ढंग के बाँधे जाते थे (तिर्यङ् नद्धं- कात्या० श्रौत सूत्र २१।४)। पुरुषों के अतिरिक्त विशेष अवसरों पर स्त्रियों के सिर पर भी उष्णीष बाँधने की चाल सी थी। इन्द्र की पत्नी इन्द्राणी के उष्णीष धारण करने का वर्णन मन्त्रों में मिलता है।

जूता—वैदिककाल में पैर को सरदी-गरमी से बचाने के लिए पादत्राण पहनने का अनेक बार उल्लेख मिलता है। युद्ध के अवसर पर सैनिकों के लिए पादत्राण पहनने की चाल थी। सेनानी लोग पैर से लेकर जंघा तक की रक्षा करने के लिए एक विशिष्ट प्रकार के पादत्राण पहनते थे (वट्टूरिणा पदा ऋ० १।१३३।२)। अथर्व (५।२१।१०) में उल्लिखित 'पत्सङ्गिणी' एक प्रकार का पादत्राण प्रतीत होती है जिसे सैनिक लोग दूर जाने के लिए या शत्रु पर आक्रमण करने के अवसर पर पहना करते थे। पिछले समय में जूता का बोधक 'उपानह्' शब्द यजुर्वेद की संहिता और ब्राह्मण में (तै० सं० ५।४।४।४; शत० ब्रा० ५।४।३।१९) उपलब्ध होता है। जूता मृग या शूकर के चाम का बनाया जाता था (वाराही उपानद्; शत०)। व्रात्यों के जूते कुछ विलक्षण प्रकार के होते थे। उनके जूते काले और नुकीले हुआ करते थे (कर्णिन्यौ कात्या० श्रौ० सू० २२।४)। वैदिक ग्रन्थों के उल्लेख से स्पष्ट है कि माथे पर चमकीली पगड़ी और पैर में काले नोकदार जूता पहनने वाले व्रात्य लोग उस समय शौकीनों में गिने जाते थे। छाता (छत्र) और छड़ी (दण्ड) आर्यों के नित्य सहचर थे, छाता घाम से बचाने के लिए और छड़ी अनिष्टकारी जानवरों से अपनी रक्षा के निमित्त।

भूषा-सज्जा

आर्य लोग आभूषण धारण करने के प्रेमी थे। ऋग्वेद में अनेक आभरणों के धारण करने का उल्लेख मिलता है। सब से प्रसिद्ध गहना था सुवर्ण-निर्मित निष्क जो गले में पहना जाता था (ऋ० २।३३।१०; ५।१९।३)। निष्क मुद्रा के रूप में भी प्रचलित था। अतः यह अनुमान असंगत नहीं प्रतीत होता कि सम्भवतः ये आकार में वर्तुल (गोला) या चतुष्कोण (चौकोर) थे। आजकल भी तो सोने या चाँदी के सिक्कों को डोरे में गूँथ कर गले में पहनने की चाल है ही। दूसरे प्रकार का आभूषण सुनहला रुक्म था जो गले से लटक कर छाती को सुशोभित किया करता था (रुक्मवक्षस —ऋ० २।३४।२)। यह डोरे से लटका करता था जो 'रुक्मपाश' कहलाता था (शत० ६।७।१।७)। सुवर्ण के बने कर्णाभरण (एअरिंग) को 'कर्णशोभन' की संज्ञा प्राप्त थी (ऋ० ८।७८।३)। मोती और कीमती रत्नों के पहनने की भी प्रथा उस समय विद्यमान थी। उस समय मोतियों की प्रचुरता सी प्रतीत होती है। जब इसका उपयोग घोड़ों तथा रथों को अलङ्कृत करने के लिए किया जाता था, तब बहुत सम्भव है कि स्त्रियाँ भी शरीर को मुक्ताभूषण—मोतियों की मालाओं—से अलङ्कृत करने में कभी न चूकती होंगी। मणि को अलङ्कार रूप से धारण किया जाता था। वृत्र के अनुयायियों को सोने तथा मणियों से चमकते हुए बतलाया गया है (हिरण्येन मणिना शुम्भमानाः, ऋ० १।३३।८)। 'मणिग्रीव' शब्द इस बात का प्रमाण है कि मणि गले में पहना जाता था (ऋ० १।१२२।१४)। दुलहा विवाह के शुभ अवसर पर सुनहले गहनों को पहन कर अपने शान-शौकत को दिखलाता था (ऋ० ५।६०।४)। इस प्रकार रमणीय, बहुमूल्य आभूषणों के प्रचलन होने से वैदिक सभ्यता की महत्ता भली भाँति आँकी जा सकती है।

मन्त्रों के अनुशीलन से वैदिक कालीन केशरचना की पद्धति का थोड़ा-बहुत परिचय मिल सकता है। पुरुष लोग केशों की रचना में चतुर थे, परंतु आभरणप्रिय स्त्रियाँ अपने बालों की अभिराम और नाना प्रकार की रचनाएँ प्रस्तुत करने में नितान्त दक्ष थीं। पुरुष लोग अपने बालों को जटाजूट (कपर्द) के रूप में बाँधते थे। रुद्र तथा पूषन्—दोनों देवता कपर्द धारण करते थे। वसिष्ठ ऋषि तथा उनके अनुयायियों की वेषभूषा अन्य ऋषि-लोगों से इतनी विलक्षण थी कि इसका उल्लेख अनेक बार मन्त्रों में किया गया है। ये लोग सफेद कपड़ा पहनते थे (श्वित्यञ्चः) और अपना कपर्द सिर के दक्षिण ओर धारण करते थे जिससे वे दक्षिणतस्कपर्दा. (ऋ० ७।३३।१) कहे गये हैं। स्त्रियाँ भी कपर्द धारण करती थीं। ऋग्वेद (१०।११४।३) में चार कपर्द धारण करनेवाली युवति—चतुष्कपर्दा युवति सुपेशा—का स्पष्ट उल्लेख है जिससे प्रतीत होता है कि यह युवति अपने केशपाश को चार प्रकार की वेणी बनाकर सज्जित किया करती थी। स्त्रियों के केशपाश की रचना के अन्य प्रकारों के बोधक 'ओपश', 'कुरीर' और 'कुम्ब' शब्द वैदिक ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं, परन्तु इन शब्दों के विशिष्ट अर्थ का पता भाष्यकारों के अनेक प्रयत्न करने पर भी भली-भाँति नहीं चलता। यजुर्वेद (वाज० स० ११।५०)[१] में सिनीवाली देवी सुकपर्दा (सुन्दर कपर्दवाली), सुकुरीरा और स्वौपशा (शोभन ओपशवाली) वर्णित की गई है। अथर्व वेद (६।१३८।३)[२] में जहाँ शत्रु को क्लीब (नपुंसक) बनाने के औषध का विधान किया गया है वहाँ ओपश, कुरीर और कुम्ब स्त्रियोपयोगी वेशभूषा के सूचक चिह्न माने गये हैं।

---

१ सिनीवाली सुकपर्दा सुकुरीरा स्वौपशा —यजु० ११।५०

२ क्लीबं कृध्योपशिनमथो कुरीरिणं कृधि। २।
कुरीरमस्य शीर्षणि कुम्बं चाधिनिदध्मसि ॥ ३।

ओपश—पुरुष लोग भी इसे धारण करते थे, परन्तु स्त्रियाँ विशेष रूप से। सायण ने इसका अर्थ 'स्त्री-व्यञ्जन' किया है। यह शब्द ऋग्वेद (१०।८५।८), अथर्व (६।१३८।३) तथा वाज० स० (११।५०) और अन्य ग्रन्थों में पाया जाता है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में (१।१७३।६) आकाश की तुलना ओपश से की गई है जिससे प्रतीत होता है कि जब केशों को एक गोलाकार रूप में लपेट दिया जाता है और ऊपर एक गाँठ बाँध दी जाती है, तब इस केश रचना को 'ओपश' कहते थे।

कुरीर—ऋग्वेद के विवाह-सूक्त (१०।८५) में इस शब्द[1] का प्रयोग किया गया है। सायण के भाष्यानुसार यह एक प्रकार का शिरोभूषण था जिसे वधू अपने उद्वाह के समय पहनती थी। उव्वट ने 'कुरीर' का अर्थ मुकुट तथा महीधर ने सिर को सुशोभित करनेवाला सुनहला गहना किया है (स्त्रीभिः शृङ्गारार्थं धार्यमाणं कनकाभरणं—वाज० सं० ११।५०)। अथर्व वेद (५।३१।२) में अज (बकरा) को 'कुरीरी' कहा गया है जो प्रसंगानुसार सींगवाले के अर्थ में प्रयुक्त दीखता है। मुकुट की शृंगाकार रचना से सम्भव है कि अज को यह संज्ञा प्राप्त थी। बहुत से विद्वानों ने शृंगाकृति केश-रचना को 'कुरीर' माना है।

कुम्ब—किसी प्रकार की रचना का नाम था, हम भले भाँति नहीं जानते परन्तु यदि यह शब्द कुम्भ या कम्बु के साथ सम्बद्ध हो, तो यह कुम्भाकृति, सिर के पीछे विरचित, केश-रचना (जूड़ा) के लिए आ सकता है जिसे स्त्रियाँ आज कल भी धारण किया करती हैं। कुरीर तथा कुम्ब का मुख्य सम्बन्ध स्त्रियों के साथ था, क्योंकि सूत्र-ग्रन्थों में पत्नी के सिर पर इनकी रचना का विधान मिलता है (आप०

---

१ स्तोमा आसन् प्रतिधय. कुरीर छन्द ओपश. ।
सूर्याया अश्विना वराऽग्निरासीत् पुरोगव. । १०।८५।८

श्रौतसूत्र)। वैदिक समाज केश-वर्धन करनेवाली ओषधियों से परिचित था। उस समय भी केश को लम्बा और सुन्दर बनानेवाली ओषधियों का आविष्कार किया जा चुका था। जमदग्नि ऋषि ने अपनी पुत्री के केश-वर्धन के लिए जमीन से खोदकर एक ओषधि निकाली थी (अथर्व० ६।१२७) जिसके प्रयोग करने से छोटे-छोटे बाल लम्बे-लम्बे बन गये। अंगुलिमेय बाल व्याममेय बन गये थे अर्थात् फैलाये गये दोनों हाथों के बराबर बन गये। इन वैदिक शब्दों के अर्थ को समझने के लिए भारतीय पुरातत्त्व-विभाग के द्वारा खुदाई में मिली मूर्तियों के केशसज्जा की परीक्षा आवश्यक है। मोहनजोदड़ो और बक्सर की मृण्मयी मूर्तियों के सिर पर जो केशरचना दीख पड़ती है वह इस वैदिक विधि की परम्परा से बहुशः साम्य रखती है।

---

१ अभीशुना मेया आसन् व्यामेनानुमेया ।
केशा नडा इव वर्धन्तां शीर्ष्णस्ते असिताः परि ॥
—अथर्व० ६।१३७।२

त्रयोदश परिच्छेद

आर्थिक जीवन

वैदिक आर्य उस अवस्था को पार कर चुके थे जिसमें मनुष्य अपनी क्षुधा-शांति के लिये फल-मूल पर ही निर्भर रहा करता है अथवा पशुओं का शिकार कर मास से अपनी उदराग्नि की ज्वाला को शान्त किया करता है। वे लोग एक सुव्यवस्थित तथा एक स्थान पर रहने वाले समाज में सुसंघटित हो गए थे, खानाबदोश फिरकों की तरह एक जगह से दूसरी जगह पर अपना निवास-स्थान बदला नहीं करते थे। उनकी जीविका का प्रधान साधन था खेती तथा पशु-पालन। वे कृषी-वल समाज के रूप मे ऋग्वेद में चित्रित किए गए हैं। आर्य कृषि को बड़ा महत्त्व देते थे। जूए में पराजित द्यूतकर को ऋषि ने उपदेश दिया है कि जूआ खेलना छोड दो और खेती करने का अभ्यास करो (अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व, ऋ० १०।३४।७)। ऋग्वेद के अनुसार अश्विन् ने सर्वप्रथम आर्य लोगों को हल (वृक) के द्वारा बीज बोने की कला सिखलाई[1]। इस प्रकार अश्विन् देवों का संबंध कृषि-कला के साथ नितान्त घनिष्ट है। अथर्व (८।१०।२५) में पृथी वैन्य नामक राजा को हल से भूमि जोतने की विद्या का आविष्कारक माना गया है। वेनुपुत्र पृथी या पृथु का वर्णन पुराणों में बडे विस्तार के साथ किया गया है तथा इनकी सेवाओं का उल्लेख मार्मिक ढग से किया

---

[1] दशस्यन्ता मनवे पूर्व दिवि यवं वृकेण कर्षथः (ऋ० ८।२२।६), यवं वृकेणा-श्विना वपन्तेष दुहन्ता मनुषाय दस्रा (ऋ० १।११७।२१)।

हुआ मिलता है[१]। ये ही प्रथम राजा थे जिन्होंने कृषिकर्म के अयोग्य पथरीली भूमि को जोतकर समतल बनाया और इसीलिये उसका 'पृथ्वी' नामकरण हुआ।

कृषि-कर्म

खेत—ऋग्वेद तथा पिछले ग्रंथों में खेत के लिये 'उर्वर' तथा 'क्षेत्र' शब्द साधारणतया प्रयुक्त किए गए हैं। खेत दोनों प्रकार के होते थे—उपजाऊ (अप्नस्वती) तथा पड़ती (आर्तना, ऋ० १।१२७।६)। खेतों के माप का भी वर्णन ऋग्वेद में मिलता है। खेत बिलकुल एक चकला ही नहीं होता था, बल्कि उन्हें नाप-जोखकर अलग-अलग टुकड़ों में बाँट दिया करते थे, जो विभिन्न कृषकों की जोत में आते थे[२]। खेतों के स्वामित्व के विषय में विद्वानों में काफी मतभेद है। परंतु ऋग्वेद के अनुशीलन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि खेत पर किसी जाति का अधिकार नहीं होता था, वह वैयक्तिक अधिकार का विषय था। इसकी पुष्टि में उस मन्त्र का प्रामाण्य दिया जा सकता है जिसमें अपाला ने अपने पिता के खेत (उर्वरा) को उनके सिर की समान-कोटि में उल्लिखित किया है[३]। वैयक्तिक अधिकार का यह तात्पर्य नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति उस समय अपने लिये अलग-अलग जोत रखता था, प्रत्युत उससे खेत पर एक कुटुम्ब का अधिकार समझना चाहिए। राजा ही समग्र खेत तथा भूमि का एकमात्र स्वामी है, यह कल्पना वैदिक युग में प्रबल नहीं जान पड़ती। आगे चलकर सूत्र-काल में यह भावना बद्धमूल हो सकी थी।

---

१ श्री मद्भागवत, स्कन्ध ४, अध्याय १६–२३।

२ क्षेत्रमिव विममुस्तेजनेन (ऋ० १।११०।५)।

३ इमानि त्रीणि विष्टपा तानीन्द्र वि रोहय।
शिरस्ततस्योर्वरामादिदं म उपोदरे॥ (ऋ० ८।९१।५)।

वैदिक काल के कृषि-कर्म के प्रकारों पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस समय खेती आज की भाँति ही होती थी। खेत (उर्वर, क्षेत्र) को हलों से जोतकर बीज बोने के योग्य बनाया जाता था। हल का साधारण नाम 'लांगल' या 'सीर' था जिसके अगले नुकीले भाग को 'फाल' कहते थे। फाल (फार) बड़ा ही नुकीला तथा चोखा होता था। हल की मूँठ बड़ी चिकनी होती थी (सुमतित्सरु, अथर्व, ३।१७।३)। हल में एक लम्बा मोटा बाँस बाँधा जाता था (ईषा), जिसके ऊपर जूआ (युग) रखा जाता था, जिसमें रस्सियों (वरत्रा) से बैलों का गला बाँधा जाता था। हल खींचने वाले बैलों की संख्या छः, आठ, बारह अथवा चौबीस तक होती थी, जिससे हल के भारी तथा बृहदाकार होने का अनुमान किया जा सकता है। हलवाहा (कीनाश) अपने पैनो (अष्ट्रा, तोद या तोत्र) से इन बैलों को हाँकता था। वैदिक काल में वैश्य लोग ही अधिकतर खेती किया करते थे, क्योंकि अष्ट्रा उनका चिह्न बतलाया गया है। खेत उपजाऊ होते थे। उनके उपजाऊ न होने पर खाद डालने की व्यवस्था थी। खाद के लिये गाय का गोबर (करीष) काम में लाया जाता था।

पक जाने पर खेतों को हँसुआ (कटनी, ऋ० १०।१०१।३, दात्र, ऋ० ८।७८।१०) से काटते थे; अनाज को पुलियों (पर्ष) में बाँधते थे तथा खलिहान (खल, ऋ० १०।४८।७) में लाकर भूमि पर माँड़ते थे जिससे अनाज डंठल से अलग हो जाता था। शतपथ ने कर्षण (जोतना), वपन (बोना), लवन (काटना) तथा मर्दन (माँड़ना)—चार ही शब्दों में कृषिकर्म की पूरी प्रक्रिया का वर्णन कर दिया है। मर्दन के बाद चलनी (तितउ) अथवा सूप (शूर्प) से अनाज भूसे से अलग किया जाता था (ऋ० १०।७१।२)। इसे करनेवाले व्यक्ति को धान्यकृत् कहते थे (ऋ० १०।९४।१३)।

अनाज को वर्तनों से नापकर कोठिलों में रखते थे। नापनेवाले बर्तन को 'ऊर्दर' कहते थे (तमूर्दरं न पृणता यवेन, ऋ० २।१४।११) तथा उस बडे घर को जिसमें अनाज इकट्ठा कर रखा जाता था, 'स्थिवि' कहते थे[1]।

अनाज—बोए जानेवाले अनाजों के नाम मन्त्रों में मिलते हैं। ऋग्वेद में यव तथा धाना का उल्लेख है, परतु इनके अर्थ पर मतभेद है। ये अनाज के साधारण नाम माने जाते हैं। बोए जानेवाले अनाजों के नाम है—व्रीहि (धान), यव (जौ) मुद्ग (मूँग), मास (उड़द), गोधूम (गेहूँ), नीवार (जगली धान), प्रियंगु, मसूर, श्यामाक (साँवा), तिल (वाज० स०, १८।१२)। खीरे (उर्वारु या उर्वारुक) का भी नाम मिलता है। इनमें अनेक अनाजों के नाम ऋग्वेद में नहीं मिलते, प्रत्युत पिछली संहिताओं तथा ब्राह्मणों में उपलब्ध होते है। व्रीहि ऋग्वेद में न होकर पिछले ग्रन्थों में उल्लिखित है।

तैत्तिरीय सहिता में काले तथा सफेद धान में अन्तर किया गया है तथा धान के तीन मुख्य प्रकार बतलाए गए हैं—कृष्ण (काला), आशु (जल्दी जमनेवाला) तथा महाव्रीहि (अर्थात् बड़े दानोंवाला, तै०स० १।८।१०।१)। इन भेदों में आशु 'साठी' नामक धान को लक्षित करता है, क्योंकि यह धान केवल साठ ही दिनों में पककर तैयार हो जाता है (पष्टिका पष्टिरात्रेण पच्यन्ते)। धान का साहचर्य सदा यव के साथ बतलाया गया है। फलों की पैदावर के बारे में हम अधिक नहीं जानते। बेर का नाम विशेषत आता है, परन्तु यह जगली था या लगाया जाता था, यह कहना कठिन है।

---

१ बृहस्पति पर्वतेभ्यो वितूर्या निर्गा ऊपे यवमिव स्थिविभ्य ॥
(ऋ० १०।६८।३)

ऋतु—अनाज बोने की भिन्न-भिन्न ऋतुओं का विशिष्ट वर्णन तैत्तिरीय संहिता (७।२।१०।२) में किया गया है। इसके देखने से बीज बोने का समय आजकल के समान ही जान पड़ता है। जौ हेमंत में बोया जाता था, ग्रीष्मकाल में पकता था। धान वर्षा में बोया जाता तथा शरद् में पकता था। तिल तथा दालवाले अनाज शीतकाल में बोए जाते थे। फसल (शस्य) साल में दो बार बोई जाती थी। कौषीतकि ब्राह्मण (२१।३) के अनुसार शीतकाल में बोई गई फसल चैत के महीने में पक जाती थी।

आजकल की भाँति उस समय भी किसानों के सामने हानि पहुँचानेवाले कीड़ों से खेती को बचाने की समस्या उपस्थित थी। अवर्षण तथा अतिवर्षण से भी खेती को हानि पहुँचती थी, परन्तु कीड़ों से इनकी अपेक्षा कहीं अधिक। अथर्व में कृषि-नाशक कीड़ों में उपक्वस, जभ्य तथा पतंग के नाम दिए गए हैं, जिनसे खेती की रक्षा के लिये अनेक मंत्र तथा उपाय बतलाए गए हैं। छांदोग्य के प्रामाण्य पर टिड्डियों (मटची) से भी बड़ी हानि होती थी। कभी-कभी ये पूरा देश का देश साफ कर डालती थीं। एक बार टिड्डियों के कारण समग्र कुरु जनपद के नष्ट होने की घटना का उल्लेख किया गया है (मटचीहतेषु कुरुषु, छा० १।१०।१)।

वैदिक-कालीन कृषि के इस संक्षिप्त वर्णन से विदित होता है कि हमारी कृषि-पद्धति वैदिक ढंग पर आज भी चल रही है।

वैदिक आर्यलोग अपने कृषि-कर्म के लिये वृष्टि पर ही अवलंबित रहते थे। वृष्टि के देवता का इसी कारण वेद में प्राधान्य माना गया है। वृष्टि को रोकनेवाले दैत्य का नाम था वृत्र (आवरणकर्ता), जो अपनी प्रबल शक्ति से मेघों के गर्भ में होनेवाले जल को रोक रखता था। इन्द्र अपने वज्र से वृत्र को मारकर छिपे हुए जल को बरसा देना

था तथा नदियों को प्रगतिशील बनाना था। वैदिक देवतामंडल में इन्द्र की प्रमुखता का रहस्य आर्यों के कृषिजीवी होने की घटना में छिपा हुआ है।

सिंचाई—उस समय खेतों की सिंचाई का भी प्रबंध था। एक मन्त्र में जल दो प्रकार का बतलाया गया है—खनित्रिमा (खोदने से उत्पन्न होनेवाला) तथा स्वयंजा[1] (अपने आप होनेवाला, नदी-जल आदि)। कूप (कुआँ) तथा अवट (खोदकर बनाये गए गड्ढे) का उल्लेख ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर मिलता है (कूप, ऋ० १०।१०५।१७, अवट, १।५८।८, १०।२५।४)। ऐसे कुओं का जल कभी कम नहीं होता था (अक्षित, ऋ० १०।१०१।६)। कुओं से पानी पत्थर के बने चक्के (अश्मचक्र) से निकाला जाता था जिनमें रस्सियों (वरत्रा) के सहारे जल भरनेवाले कोश (छोटी-मोट) बँधे रहते थे (ऋ० ११।२५।४)। पानी कुएँ से निकालने के बाद लकड़ी के बने पात्र (आहाव) में उड़ेला जाता था। कूपों का उपयोग मनुष्यों तथा पशुओं के निमित्त जल निकालने के लिये ही नहीं किया जाता था, बल्कि कभी-कभी इनसे सिंचाई भी होती थी। कुओं का जल बड़ी-बड़ी नालियों से बहता हुआ खेतों में पहुँचता (सूर्मि सुषिरा, ऋ० ८।६९।१२) और उनको उपजाऊ बनाता था। कुओं से जल निकालने का यह ढंग अब तक पंजाब तथा दिल्ली के आसपास प्रचलित है।

वैदिक आर्यों के जीवन निर्वाह के लिये कृषि का इतना अधिक महत्त्व तथा उपयोग था कि उन्होंने 'क्षेत्रपति' नामक एक देवता की स्वतन्त्र सत्ता मानी है तथा उनसे क्षेत्रों के शस्य-संपन्न होने की प्रार्थना

---

[1] या आपो दिव्या उत वा स्रवन्ति
खनित्रिमा उत वा या स्वयंजाः॥ (ऋ० ७।४९।२)

की है। क्षेत्रपति का वर्णन ऋग्वेद के चतुर्थ मंडल के सत्तावनवें सूक्त में उपलब्ध होता है। इस सूक्त के एक-दो मन्त्र यहाँ दिए जाते हैं—

इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु तां पूषानु यच्छतु।
सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम्॥
शुनं नः फाला विकृषन्तु भूमिं
शुनं कीनाशा अभि यन्तु वाहैः।
शुनं पर्जन्यो मधुना पयोभिः
शुनासीरा शुनमस्मासु धत्त॥ ७-८॥

[भावार्थ—हमारे फाल (हल के नुकीले अग्रभाग) सुखपूर्वक पृथ्वी का कर्षण करें। हलवाहे (कीनाश) सुखपूर्वक बैलों से खेत जोतें। मेघ मधु तथा जल से हमारे लिए सुख बरसाए तथा शुनासीर हमलोगों में सुख उत्पन्न करें।]

पशु-पालन

वैदिक आर्यों के लिये कृषि-कर्म के अतिरिक्त पशु-पालन जीवन-निर्वाह का प्रधान साधन था। कृषीवल समाज के लिए पशुओं की और विशेषतः गाय-बैलों की कितनी महत्ता है, इसे प्रमाणों से सिद्ध करने की यहाँ आवश्यकता नहीं। आर्यों के जीवन में गायों का विशेष स्थान इसी कारण है। बैलों से खेती का काम लिया जाता था। गाय का दूध आर्यों के भोजनालयों की एक प्रधान वस्तु था। यह शुद्ध अमिश्रित रूप में आर्यों का प्रधान पेय था। सोमरस में मिलाने के काम आता था तथा क्षीरौदन (खीर) बनाने में भी नितांत उपयोगी था। इससे दही और घी तैयार किया जाता था। उस समय किसी व्यक्ति की धन-सम्पत्ति का माप उसके पास होनेवाली गायों की संख्या से होता था। यज्ञों में ऋत्विजों के लिये दक्षिणा रूप में गाय ही देने का विधान था। यहाँ तक कि 'दक्षिणा' शब्द अनेक

स्थलों पर 'गो' का पर्यायवाची बन गया था[1]। राजा लोग प्रसन्न होकर ब्राह्मणों को सौ या हजार गायों का दान दिया करते थे, जिसका ऋषियों ने दानस्तुतियों में आभार प्रदर्शन करते हुए उल्लेख किया है। वैदिक काल में सिक्कों का प्रचलन बहुत ही कम था। अतः लेन-देन, व्यवहार-बट्टा, क्रय-विक्रय के कार्य के लिये विनिमय का मुख्य माध्यम गाय ही थी। गाय के ही बदले में वस्तुएँ खरीदी जाती थीं। पदार्थों का मूल्य गाय के ही रूप में विक्रेता को दिया जाता था। ऋग्वेद के एक मन्त्र में (३।२४।१०) वामदेव ऋषि का कथन है कि कौन मनुष्य ऐसा है जो मेरे इस इन्द्र (इन्द्र की मूर्ति) को दस गायों से खरीद रहा है[2]। अन्य मन्त्र में सौ, हजार या दस हजार भी गाएँ इन्द्र को खरीदने के लिये पर्याप्त नहीं मानी गई है[3]। भारत में ही नहीं, पश्चिमी देशों में भी प्राचीन काल में संपत्ति की कल्पना का आधार गाय ही थी। लातिनी भाषा का 'पेकुस' (pecus) शब्द, जिसका अर्थ संपत्ति है और जिससे अंग्रेजी का 'पेक्यूनियरी' (pecuniary) शब्द बनता है, भाषाशास्त्र की दृष्टि में संस्कृत 'पशु' (पशुस्) शब्द से सम्बन्ध रखता है। इस प्रकार खेती, भोजन तथा द्रव्य-विनिमय का मुख्य साधन होने के कारण गाय वैदिक आर्यों के लिये नितांत उपादेय तथा आवश्यक पशु थी। वैदिक काल में गाय के गौरव का रहस्य इसी सामाजिक अवस्था की सत्ता में अंतर्निहित है। इसी कारण वैदिक आर्यगण गाय को 'अघ्न्या' (न मारने योग्य) के नाम से पुकारते थे तथा उसे समधिक श्रद्धा एवं

---

१ तं ह कुमारं सन्तं 'दक्षिणासु' नीयमानासु श्रद्धाविवेश (कठोपनिषद् १।१।२)।

२ क इमं दशभिर्ममेन्द्रं क्रीणाति धेनुभिः (४।२४।१०)।

३ महे चन त्वामद्रिवः परा शुल्काय देयाम्।
न सहस्राय नायुताय वज्रिवो न शताय शतामघ ॥ (ऋ० ८।१।५)

आदर की दृष्टि से देखते थे। ऋग्वेद के अनेक सूक्तों में गाय को देवता के रूप में अंकित किया गया है। ऋग्वेद का एक सुंदर सूक्त (६।२८) धेनु की प्रचुर प्रशंसा से ओतप्रोत है तथा वैदिक आर्यों की गो-भक्ति का स्पष्टाक्षरों में प्रतिपादक है।

गाय—ऋषि भरद्वाज के शब्दों में गाय 'भग' (देवता) है, गाय ही मेरे लिये इन्द्र है, गाय ही सोमरस की पहली घूँट है; ये जितनी गाएँ हैं वे, हे मनुष्यों, इन्द्र की साक्षात् प्रतिनिधि है। मैं हृदय से, मन से, उसी इन्द्र को चाहता हूँ'—

> गावो भगो गाव इन्द्रो मे अच्छान्
> गावः सोमस्य प्रथमस्य भक्षः।
> इमा या गावः स जनास इन्द्र
> इच्छामीद्धृदा मनसा चिदिन्द्रम्॥ ६।२८।५

इस मन्त्र में गाय के देव स्वरूप की अभिव्यक्ति नितान्त स्पष्ट शब्दों में की गई है। गो का देवत्व काल्पनिक न होकर आर्यों के लिये वास्तविक है; क्योंकि गाएँ कृश (दुबले-पतले आदमी) को स्थूल बना देती हैं, शोभाहीन (अश्रीर) पुरुष को सुभग सुन्दर रूप प्रदान करती हैं, और उनकी बोली अत्यन्त कल्याणकारक है। सभाओं में गाय के विपुल सामर्थ्य का वर्णन बहुशः किया जाता था (६।२८।६)। ऋग्वेद के एक दूसरे सूक्त (१०।१६९) में शबर काक्षीवत ऋषि ने गायों की उत्पत्ति को अङ्गिरस् ऋषि की तपस्या का सुखद परिणाम बतलाया है[1] तथा भिन्न-भिन्न देवताओं (रुद्र, पर्जन्य तथा इन्द्र) से

---

[1] याः सरूपा विरूपा एकरूपा यासामग्निरिष्टया नामानि वेद।
या अङ्गिरसस्तपसेह चक्रुस्ताभ्यः पर्जन्य महि शर्म यच्छ॥
(ऋ० १०।१६९।२)

प्रार्थना की है कि वे लोग हमारी परम उपकारक गायों का सतत कल्याण-साधन किया करें। इस प्रकार गायों के प्रति वैदिक आर्यों की अटूट श्रद्धा का भाव आज भी उनके वंशजों में जाग्रत् रूप से यदि पाया जाता है, तो इसमें आश्चर्य क्या है?

गाएँ वैदिक काल में दिन में तीन बार दुही जाती थीं—प्रातःकाल (प्रातर्दोह), दोपहर से कुछ पहले (सङ्गव) तथा सायंकाल (सायं-दोह—तै० सं० ७।५।३।१)। तीन वार वे चरने के लिये चरागाह में भेजी जाती थी। पहली वार की दुहाई में दूध प्रचुर मात्रा में होता था, परन्तु अन्य दोनों समय कुछ कम। जो गाएँ दूध देनेवाली होती थीं वे सायंकाल घर चली आती थीं तथा 'शाला' में रखी जाती थीं, परन्तु अन्य पशु बाहर मैदान में ही रहा करते थे। परन्तु दोपहर के समय जब गर्मी अधिक होती तो सभी पशु छप्पर के नीचे रखे जाते थे (ऐतरेय ३।१८।१४ पर सायण भाष्य)। पशुओं के रहने के स्थान को 'शाला' तथा चरने के मैदान को 'गोष्ठ' कहा जाता था। चरने जाने के समय बछड़े शाला में ही रहते, परन्तु संगव या सायंकाल वे अपनी माताओं के साथ रहते थे। वैदिक काल में गाएँ भिन्न-भिन्न रंगों की होती थीं—लाल (रोहित), सफेद (शुक्र), चित्रित (पृश्नि) तथा काली (कृष्ण)। चरागाह में गाएँ गोप या गोपाल (ग्वाले) की देख-रेख में चरती थीं, जो उन्हें अपने पैने (अष्ट्रा) से उन्हें हाँकता था। ग्वालों के सजग रहने पर भी गाएँ कभी-कभी संकट तथा विप-त्तियों में पड़ जाती थीं। कभी वे कुओं या गड्ढों में गिर जातीं, कभी उनका अंग-भंग हो जाता, कभी वे भूल जाया करतीं और कभी दस्यु या पणि लोग उन्हें चुरा लिया करते थे (ऋ० १।१२०।८)। इन विपत्तियों से पशुओं की रक्षा करनेवाले वैदिक देवता का नाम 'पूषन्' था, जो इसीलिये 'अनष्टपशु' (गोरक्षक) विशेषण से विभूषित किए

गए हैं[1]। गाएँ इतनी अधिक होती थीं कि उनकी पहिचान के लिये उनके कानों के ऊपर नाना प्रकार के चिन्ह बनाए जाते थे। जिन गायों के कानों पर अंक आठ का चिन्ह बना रहता वे 'अष्टकर्णी' कहलाती थीं (ऋ० १०।६२।७)। मैत्रायणी संहिता (४।२।९) में उल्लिखित चिन्ह हैं—वंशी (कर्करिकर्ण्यः), हँसुआ (दात्रकर्ण्यः), खंभा (स्थूणाकर्ण्यः)। कभी-कभी गायों के कान छेदे भी जाते थे (छिद्रकर्ण्यः)। अथर्व में मिथुन के चिन्ह का निर्देश है जो सम्भवतः प्रजनन-शक्ति के उत्पादन का प्रतीक जान पड़ता है। गायों के कानों को चिन्हित करने की यह प्रथा बहुत दिन पीछे तक भारत में प्रचलित रही, क्योंकि पाणिनि के सूत्रों में ऐसे चिन्हों का उल्लेख मिलता है (अष्टा० ६।३।११५)।

गायों की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के द्योतक अनेक शब्द वैदिक ग्रंथों में मिलते हैं, जिनसे आर्यों का इस पशु के साथ गाढ़ परिचय अभिव्यक्त होता है। सफेद गाय को 'कर्की', बच्चा देने वाली जवान गाय को 'गृष्टि', दुधारी गाय को 'धेना' वा 'धेनु', बाँझ गाय (वहिला) को 'स्तरी', 'धेनुष्टरी' वा 'वशा', बच्चा देकर बाँझ होने वाली गाय को 'सूतवशा' तथा अकाल में जिसका गर्भ गिरकर नष्ट हो जाता उस गाय को 'वेहत्' कहते थे। वह गाय जिसे अपना बछड़ा मर जाने पर नए बछड़े के लिये मनाने की आवश्यकता होती थी, 'निवान्यवत्सा' या 'निवान्या' (शत० २।६।१।६), 'अभिवान्यवत्सा' (ऐत० ७।२), 'अभिवान्या' या केवल 'वान्या' शब्द से अभिहित की जाती थी। वैदिक ऋषियों को गाय का अपने बछड़े के लिये रंभाना इतना कर्ण-सुखद प्रतीत होता था कि वे देवताओं को बुलाने के लिये

---

[1] पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्रविद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपा।

(ऋ० १०।१७।३)

प्रयुक्त अपने शोभन गानों की इनसे तुलना करने में तनिक भी नहीं सकुचाते थे[1]।

वैदिक समाज में बैलों का उपयोग अनेक प्रकार से किया जाता था। वे हल जोतने के लिये तथा बोझवाली गाड़ी खींचने के लिये नियमतः काम में लाए जाते थे। वैदिक ग्रन्थों में बैलों की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को सूचित करने वाले अनेक शब्द पाए जाते हैं। बैल के लिये प्रयुक्त साधारण शब्द 'ऋषभ', 'उक्ष' तथा 'उस्रिय' है, दुधमुँहे बछड़े को 'धरुण', डेढ़ साल के बछड़े को 'त्र्यवि', दो साल के बछड़े को 'दित्यवाह्' ढाई साल वाले को 'पञ्चावि', तीन साल वालेको 'त्रिवत्स', साढ़े तीन साल वाले को 'तुर्यवाह्', चार साल वाले को 'पष्ठवाह्' कहते थे। इतनी ही अवस्थाओं वाली गायों के लिये क्रमशः 'त्र्यवी', 'दित्यौही', 'पञ्चावी', 'त्रिवत्सा', तुर्यौही', 'पष्ठौही' शब्दों का प्रयोग किया जाता था (वाज सं० १८।२६, २७)। जवान बैल को 'वृष' तथा 'ऋषभ', गाड़ी खींचने में समर्थ बैल को 'अनड्वान्' और वधिया किए गए बड़े बैल को 'महानिरष्ट' नाम से पुकारते थे।

अन्य उद्यम

वैदिक आर्य खेती तथा पशु-पालन के अतिरिक्त अन्य भी अनेक प्रकार के उद्यम करते थे, जिनमें हाथ के कौशल और कारीगरी की विशेष आवश्यकता पड़ती थी। बढ़ई (तक्षन्), लोहार (कर्मार), वैद्य (भिषक्), स्तोत्र बनाने वाले (कारु), कुम्हार (कुलाल), रथ बनाने वाले (रथकार), मल्लाह (कैवर्त, निषाद) तथा बुनकर (वाय) आदि का उल्लेख अनेक स्थलों पर किया गया है। इन धंधों को करने में आर्यजनों को पर्याप्त स्वतन्त्रता थी। अपनी स्वाभाविक रुचि तथा

१—अभि विप्रा अनूषत गावो वत्सं न मातरः।
इन्द्रं सोमस्य पीतये॥ (ऋ० ६।१२।२)

प्रवृत्ति के अनुसार वे लोग अपने लिये पेशे चुन लिया करते थे। अतः यह कथन कि बढ़ई-लुहार नीच जाति के लोग थे या इन्होंने अपनी अलग एक जात बना रखी थी, वैदिक काल के लिये नितान्त निराधार है। ऋग्वेद के एक सूक्त (९।११२) में विभिन्न पेशेवालों की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का सुन्दर नैसर्गिक वर्णन किया गया है। यह वर्णन स्पष्टवादिता और सादगी के लिये बड़े महत्त्व का है। ऋषि का कथन है कि "बढ़ई टूटी हुई वस्तु को चाहता है, वैद्य रोगी को; ऋत्विक् यज्ञ में सोम का रस निकालने वाले यजमान को, कर्मार धनाढ्य को। मैं स्वयं (कारु) हूँ, मेरे पिता वैद्य हैं, मेरी माता (नना) जाँत पीसने वाली (उपलप्रक्षिणी) है। हमारे विचार नाना प्रकार के हैं और हम अपनी अभीष्ट वस्तु की ओर उसी प्रकार दौड़ रहे हैं जिस प्रकार गायों की ओर।[1]"

बढ़ई—यह लकड़ी से सब प्रकार की चीजें, विशेषकर रथ तथा गाड़ी (अनस्) बनाने का काम करता था और लकड़ी की चीजों पर नक्काशी का भी काम करता था। कुलिश तथा परशु उसके औजार थे।

रथकार—रथकार का वैदिक समाज में बहुत आदरणीय स्थान था। रथ ही युद्ध में लड़ने वाले आर्य शूर-वीरों की प्रधान सवारी थी, अतः उसे बनाने वालों के प्रति आदर की भावना होना स्वाभाविक था।

लोहार—लोहार का उल्लेख अनेक वैदिक संहिताओं में (ऋ० १०।७२।२; अथर्व २१५।६ आदि) आदर के साथ किया गया मिलता है। अथर्ववेद में लोहार मल्लाह (धीवानः) और रथकार के साथ

१—कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना।
नानाधियो वसूयवोऽनुगा इव तस्थिमे-
न्द्रायेन्दो परिस्रव ॥ (ऋ० ९।११२।३)

कारीगरों की सूची में गिना गया है (अ० ३।५।६)। लोहार आग में लोहे को गलाता था, इसलिये उसे 'ध्मातृ' के नाम से पुकारा जाता था। उसकी धौंकनी पक्षियों के पंखों की बनी बताई गई है। वह नित्य के काम के लिये धातु के बर्तन बनाता था। कभी-कभी सोमरस पीने के लिये धातु के प्याले भी हथौड़े से पीटकर बनाए जाते थे। इस प्रकार लोहार की उपयोगिता वैदिक समाज में बहुत अधिक थी।

बुनकर—लोहार की भांति बुनकर का पेशा भी महत्त्वपूर्ण था। वैदिक मंत्रो में इस पेशे से आर्यों का गहरा परिचय दिखाई पड़ता है। पहले रूई को कातकर सूत तैयार किया जाता था। बुनकर का नाम 'वाय' था। ऋग्वेद (१०।२६।६) में प्रयुक्त 'वासो-वाय' (धोती बुननेवाला) शब्द से जान पड़ता है कि उस समय धोती बुननेवालों तथा अन्य वस्त्रों—जैसे चादर, दुपट्टा, कम्बल आदि—के बुननेवालों में भेद माना जाता था। बुनकर के पेशे से सम्बद्ध पारिभाषिक शब्द साधारण व्यवहार के विषय थे। तन्तु (ताना), ओतु (बाना, ऋ० ६।६।२)[1], तन्त्र, (करघा, ऋ० १०।७१।९), प्राचीनातान (आगे खींचकर बाँधा गया ताना, तैत्ति० सं० ६।१।१।४) आदि अनेक बार प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द आर्यों के इस कला से गाढ़ परिचय के द्योतक हैं। बुनने की प्रक्रिया भी बहुत कुछ आजकल की सी जान पड़ती है। सूत खूँटियों (मयूख) की सहायता से ताना जाता था (वाज० सं० १९।८०)। बुनने में सहायता देनेवाली ढरकी का नाम 'तसर' था (ऋ० १०।१३०।२)। करघे के लिये 'वेमन्' शब्द का प्रयोग होता था। बुनने का काम विशेषतः स्त्रियों के जिम्मे रहता था, जिन्हें 'वयित्री' कहते थे। अथर्व (१०।७।४२) में इसकी पोषक एक अनूठी उपमा का प्रयोग मिलता है। रात्रि और दिन को दो बहिनें कहा

---

[1] नाहं तन्तु न वि जानाम्योतुं न यं वयन्ति समरेऽतमानाः।

गया है, जो वर्षरूपी वस्त्र को बुनकर तैयार करती हैं। इनमें रात्रि है ताना तथा दिन है बाना।

सूती धोती (वासस्), रेशमी कपड़े (तार्प्य और क्षौम) तथा ऊनी (वस्त्र कंबल, परिधान आदि)—ये ही बुनने की मुख्य वस्तुएँ थीं। ऋग्वेद के अनुशीलन से पता चलता है कि परुष्णी तथा सिंधु नदियों का प्रदेश और गांधार बढ़िया ऊनी वस्त्रों के लिये विख्यात थे। परुष्णी नदी के तीर पर बहुत ही बढ़िया रंगीन ऊनी वस्त्र तैयार होते थे। मरुत् की स्तुति में उनके परुष्णी ऊन के बने शुद्ध पहनावे का उल्लेख किया गया है[1]। सिंधु नदी के वर्णन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उसका प्रदेश वैदिक काल में व्यापार का, विशेषतः सूती तथा ऊनी वस्त्रों के व्यापार का, बड़ा जीता-जागता केन्द्र था। सिंधु देश केवल बढ़िया घोड़ों तथा सुन्दर रथों के ही लिये प्रसिद्ध न था, प्रत्युत सूत तथा ऊन की पैदावार भी वहाँ बहुतायत से होती थी[2]। ऋषि ने इसी लिये सिंधु को 'सुवासा' तथा 'ऊर्णावती' विशेषणों से अलंकृत किया है। गांधार की भेड़ें अपने चिकने ऊन के लिये ऋग्वेद-काल में चारों ओर प्रसिद्ध थीं (सर्वाहमस्मि रोमशा गंधारीणामिवाविका, ऋ० १।१२६।७)। इस प्रकार ऋग्वेद के समय में सप्तसिंधव प्रदेश का पश्चिमोत्तर भाग सूत तथा ऊन के व्यवसाय से चमक उठा था। उसके करघों से निकले हुए वस्त्रों की ख्याति आर्यों के घर-घर में फैल गई थी। इस सम्बन्ध में यह बात बड़े महत्त्व की है कि वैदिक काल में भारत का जो पश्चि-

[1] उतस्म ते परुष्ण्यामूर्णा वसत शुन्ध्यवः। इस मन्त्र में 'शुन्ध्यव' शब्द से तात्पर्य स्वच्छ अथवा रंगीन ऊनी वस्त्र माना जाता है।

[2] स्वश्वा सिन्धुः सुरथा सुवासा हिरण्ययी सुकृता वाजिनीवती।
ऊर्णावती युवतिः सीलमावत्युताधि वस्ते सुभगा मधुवृधम् ॥
—ऋ० १०।७५।८

मोत्तर प्रदेश रुई तथा ऊन की बढ़िया उपज तथा औद्योगिक कलाओं के लिये विशेष रूप से विख्यात था, उसमें आज भी यह औद्योगिक परम्परा अटूट दिखाई पड़ती है। आज भी पंजाब के अनेक नगर—लुधियाना, धारवाल, अमृतसर आदि—सूती तथा ऊनी वस्त्र तैयार करनेवाली मिलों से गूँज रहे हैं और अपनी बढ़िया उपज के लिये भारत भर में प्रसिद्ध हैं।

व्यापार

वैदिक काल में कृषि कर्म तथा औद्योगिक शिल्पों से उत्पन्न वस्तुओं का क्रय-विक्रय हुआ करता था। व्यापार की उस प्रारम्भिक अवस्था में उसका एकमात्र रूप वस्तु-विनिमय ही था। चीज के बदले दूसरी चीज खरीदी जाती थी और इसी अदला-बदली के रूप में वैदिक व्यापार चलता था। हमने सप्रमाण दिखलाया है कि वैदिक काल में गाय ही 'क्रय-विक्रय' की मुख्य माध्यम थी। पर जैसा कि हम देखेंगे, एक प्रकार के सिक्के का भी चलन था। व्यापार करनेवाले को 'वणिक्' कहते थे, और उसके कर्म को 'वाणिज्या'। मूल्य के लिये 'शुल्क' तथा 'वस्न' शब्द प्रयुक्त हुए हैं। वैदिककाल में पणि लोग (व्यापारियों का एक वर्ग) जल-मार्ग तथा स्थलमार्ग से वस्तुओं का आदान-प्रदान किया करते थे। क्रेय सामग्री में खेती तथा उद्योग-धन्धों से उत्पन्न वस्तुएँ होती थीं। सिंधु तथा परुष्णी के प्रदेश के करघों से तैयार सूती तथा ऊनी माल उस समय सप्तसिंधव के अन्य भागों में अवश्य भेजा जाता रहा होगा और उसका व्यापार जोरों से चलता रहा होगा। अथर्ववेद में दूर्श (वस्त्र), पवस्त (चादर) तथा अजि (चर्म) खरीदने का उल्लेख मिलता है (अथर्व० ४।७।६)।

भौतिक जीवन की आवश्यक वस्तुओं के सिवा यागानुष्ठान की भी दो-एक उपयोगी वस्तुओं का क्रय विक्रय उस समय होता था।

वैदिक काल में मूर्ति-पूजा का प्रचलन था या नहीं ? इस विषय में यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि ऋग्वेद—मंत्रों (४।२४।१०, ८।१।५) की छानबीन से देवताओं की मूर्तियों के खरीदने और बेचने की बात प्रमाणित की जा सकती है। इतना ही नहीं, सोमलता का भी व्यापार अवान्तर काल में होने लगा था। सोम का मूल निवास 'मूजवत्' पर्वत माना गया है जो सप्तसिंधव के उत्तर पश्चिम में अवस्थित था। ज्यों-ज्यों आर्यों का निवास पूरब की ओर बढ़ता गया, त्यों-त्यों मूजवत् पर्वत दूर होता गया और सोमयाग के लिये सोमलता का ले आना कठिन होता गया। इस कार्य के संपादन के लिये अनेक व्यक्ति सोमलता का व्यापार करने लगे थे। सोमयाग के आरम्भ में गाएँ देकर सोम खरीदने की विधि है, जो ऐतिहासिक पर्यालोचन से बहुत ठीक जमती है।

वैदिक काल में बाजार अवश्य थे, क्योंकि अनेक स्थलों पर वस्तुओं को खरीदने के समय भाव-ताव करने का निःसंशय उल्लेख मिलता है। जो शर्त दूकानदार और ग्राहक के बीच एक बार निश्चित हो जाती थी वह कथमपि तोड़ी नहीं जाती थी। ऋग्वेद (४।२४।९) के एक मन्त्र में भाव-ताव करने और शर्त न तोड़ने का वर्णन बहुत स्पष्ट है। मन्त्र का आशय यह है कि एक मनुष्य ने बड़े दाम की चीज कम मूल्य पर एक गाहक के हाथ बेच डाली। पता चलने पर वह गाहक के पास आया और यह कहकर कि मेरी चीज बिना बिकी (अविक्रीत) समझी जानी चाहिए, अपनी चीज वापस लेने पर उतारू हो गया। परन्तु गाहक अड़ गया और चीज नहीं लौटाई। निर्धन (दीन) तथा धनिक (दक्ष) दोनों प्रकार के मनुष्यों को अपनी की हुई शर्तों को मानना ही पड़ता था[1]।

---

[1] भूयसा वस्नमचरत् कनीयोऽविक्रीतो अकानिषं पुनर्यन्।
स भूयसा कनीयो नारिरेचीद् दीना दक्षा वि दुहन्ति प्र वाणम्।
(ऋ० ४।२४।९)

स्थल-व्यापार—वैदिक काल में बहुत से पशु माल असबाब ढोने के काम में लाए जाते थे। आर्यों ने अपनी चातुरी से इन्हें पाल-पोस कर घरेलू बना लिया था। ऐसे पशुओं में बैल (बधिया, 'वध्रयः', ऋ० ८।४६।३०), घोड़े, ऊँट (उष्ट्र, १।१०४), गदहे (रासभ, ऋ० १।३४।९), कुत्ते (ऋ० ८।४६।२८) तथा भैंसे (महिष, ऋ० ८।१२।८) प्रधान थे। बैल हल जोतने के काम में तो आते ही थे, साथही वे गाडी खींचते तथा बोझ भी लादते थे। घोड़ों का भी उपयोग रथ तथा बोझ दोनों के लिये होता था। गदहे रथ में जोते जाते तथा बोझा ढोते थे। सप्तसिंधव के आसपास जो अनेक मरुस्थल (धन्व) थे उनमें माल ढोने का काम ऊँटों से लिया जाता था। कुत्तों से यह काम लिए जाने की बात सुन कुछ आश्चर्य होता है (अश्वेपितं रजेपितं शुनेपितं, ऋ० ८।४६।२८), परन्तु कुत्ता कृषक आर्यों के लिये बड़े काम का जानवर था। वह चोरों तथा दूसरे आक्रमणकारियों से घर की रक्षा करता और उसके द्वारा सुअर का शिकार भी किया जाता था। वह बहुत बलवान् होता था, अत. बहुत संभव है कि पणियों का 'सार्थ' (काफिला) कुत्तों की पीठ पर माल लादकर व्यापार के लिए सप्तसिंधव प्रदेश में एक जगह से दूसरी जगह ले जाता था।

सामुद्रिक व्यापार—वैदिक काल में समुद्र से व्यापार होता था या नहीं, इस प्रश्न की पाश्चात्य विद्वानों ने गहरी छानबीन की है। उनकी यह निश्चित धारणा है कि ऋग्वेद के समय में आर्यों को समुद्र की जानकारी न थी तथा उस समय सामुद्रिक व्यापार का सर्वथा अभाव था। परन्तु ऋग्वेद के अनुशीलन से इस धारणा को उन्मूलित करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। ऋग्वेद के मन्त्रों में साधारण नावों के अतिरिक्त सौ डाँड वाली (शतारित्रा) बड़ी नाव का स्पष्ट उल्लेख है[१]। उसके पंख (पतत्रि) भी कहे गए हैं। वहाँ पंखों से

---

१ शतारित्रां नावमातस्थिवांसम्। (ऋ० १।११६।५)

मतलब पालों से है[1]। नासत्यों (अश्विन्) के अनुग्रह से 'शतारित्र' नाव पर चढ़कर समुद्र-यात्रा करनेवाले तुग्र-पुत्र भुज्यु के उद्धार का उल्लेख ऋग्वेद के अनेक मंत्रों (१।११२।६, ६।६२।७, १०।४०।७, १०।६५।१२ आदि) में किया गया है। जान पड़ता है कि इन देवों ने भुज्यु को समुद्र के बीच जहाज में डूबने से बचाया था। वरुण देव की स्तुति में शुनःशेप ऋषि का कहना है कि वे आकाश में जानेवाले पक्षियों के ही मार्ग को नहीं जानते, अपि तु समुद्र पर चलनेवाली नावों के मार्ग से भी वे परिचित हैं[2]। इन निर्देशों से ऋग्वेद-काल में ही वैदिक आर्यों के समुद्र से परिचित होने तथा जहाजों द्वारा उनके उसे पार करने के उद्योग का भलीभाँति पता चल जाता है।

समुद्र-मार्ग से व्यापार होने की बात भी अनेक मंत्रों से आभासित होती है। आर्यजन मोती से भली-भाँति परिचित थे। ऋग्वेद में मुक्ता का नाम है 'कृशन', जिससे सविता के रथ के अलंकृत किए जाने का उल्लेख है[3]। घोड़ों के अलंकरण के लिये मोतियों का प्रयोग होता था; ऐसे अलंकृत घोड़ों को 'कृशनावन्त' कहते थे[4]। अथर्ववेद (४।१०।१, ३) मोती पैदा करने वाले शंख (शंखः कृशनः) को जानता है, जो समुद्र से लाए जाते और तावीज बनाने के काम में प्रयुक्त होते थे। मोती दक्षिण-भारत के समीपस्थ सागर के किनारे पैदा होता है। अतः

---

१ युवं भुज्युं समुद्र आ रजसः पार ईङ्खितम्।
यातमच्छा पतत्रिभिर्नासत्या सातये कृतम्॥
(ऋ० १०।१४३।५)

२ वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम्, वेद नावः समुद्रियः।
(ऋ० १।२५।७)

३ अभीवृतं कृशनैर्विश्वरूपं हिरण्यशम्यं यजतो बृहन्तम्। (ऋ० १।३५।४)

४ नरस्तुत कृशनावतो अत्यान् कक्षीवन्त उदमृक्षन्त पज्राः। (ऋ० १।१२६।४)

यदि कहा जाय कि आर्य लोग समुद्र के रास्ते आकर इस मूल्यवान् वस्तु को खरीदते थे, तो अत्युक्ति न होगी।

सिक्के—व्यापार के लिये विनिमय-कार्य के निमित्त गाय की महती उपयोगिता थी, परन्तु किसी प्रकार के सिक्कों का भी चलन उस समय अवश्य था, इसके अनेक प्रमाण वैदिक ग्रन्थों में मिलते हैं। एक प्रकार का सिक्का 'निष्क' था। निष्क का मूल अर्थ तो सुवर्ण का आभूषण था, क्योंकि इसी अर्थ में निष्कग्रीव (ऋ० ५।१९।३) तथा निष्ककंठ शब्दों में इसका प्रयोग मिलता है। व्रात्य लोगों के चाँदी के निष्क पहिनने का उल्लेख पञ्चविंश-ब्राह्मण (१७।१।१४) करता है। कक्षीवान् ऋषि ने किसी दानी राजा से सौ निष्क तथा सौ घोड़े पाने की बात लिखी है[1], जिससे निष्क के एक प्रकार का सिक्का होने के सिद्धान्त की पुष्टि होती है। पिछले ग्रन्थों में तो निष्क निश्चित रूप से विशिष्ट प्रकार की मुद्रा का ही बोधक है (अथर्व २०।१२७।३, शतपथ १०।४।१।१, गोपथ १।३।६)। एक मन्त्र में प्रयुक्त 'मना' भी किसी प्रकार का सिक्का ही जान पड़ता है। वैदिक 'मना', ग्रीक 'मना' तथा रोमन 'मिना' के परस्पर सम्बन्ध के विषय में जानकारों में काफी मतभेद है।

अनेक वैदिक ग्रन्थों में 'हिरण्य शतमान' शब्द उपलब्ध होते हैं, जिनमें सोना तौलने के किसी 'मान' की ओर संकेत किया गया है। वैदिक ग्रन्थों से जान पड़ता है कि सोना तौलने का एक मान था 'कृष्णल'। मनु के अनुसार चार कृष्णलों का एक माष (माशा) होता था। अवान्तर काल में कृष्णल का नाम रक्तिका (रत्ती) तथा गुंजा है, जो रत्ती नामक लता का लाल बीज होता है, जिसके ऊपर एक काला

---

१ शतं राज्ञो नाधमानस्य निष्काञ्छतमश्वान् प्रयतान् सद्य आदम्।
(ऋ० १।१२६।२)

धब्बा रहता है। इस प्रकार वैदिक काल में सोने को तौलने का रिवाज था।

ऋण—उस समय ऋण लेने की भी प्रथा थी, विशेषतः जूआ खेलने के अवसर पर। ऋण चुका देने के लिये ऋग्वेद में 'ऋण सनयति' वाक्य का प्रयोग मिलता है। ऋण न चुकाने का फल बड़ा बुरा हुआ करता था। द्यूत में ऋण-परिशोध न करने पर द्यूतकर को जन्म भर दासता स्वीकार करनी पड़ती, अथवा चोरों के समान ऋणियों को खम्भों (द्रुपद) में बांधा जाता था (अथर्व ६।११५।२-३)। ब्याज की दर का पता ठीक नहीं चलता। एक जगह (ऋ० ८।४७।१७, अथर्व ६।४६।३) ऋण के आठवें भाग (शफ) तथा सोलहवें भाग (कला) को चुकाने की बात मिलती है, परन्तु यह स्पष्ट रूप से नहीं ज्ञात होता कि यह ब्याज का भाग था या मूलधन का। पूर्वजों द्वारा लिए गए ऋण उनके वंशजों द्वारा चुकाए जाते थे। ऋग्वेद के एक मार्मिक मन्त्र में ऋषि इस प्रकार के ऋण-परिशोध के लिये वरुण से प्रार्थना करता है—'हे वरुण पूर्वजों द्वारा लिए गए ऋणों को हटा दीजिए तथा मेरे द्वारा लिए गए ऋणों को भी दूर कर दीजिए। दूसरे के द्वारा उपार्जित धन (या ऋण) से मैं जीवन-निर्वाह करना नहीं चाहता। बहुत सी उषाएँ मेरे लिये उषाएँ ही नहीं है (अर्थात् उदित ही नहीं होतीं)। हे वरुण! आप आज्ञा दीजिए और मुझे उन उषाओं में जीवित रखिए।' यह मन्त्र[1] ऋणकर्ता की गहरी मानसिक वेदना तथा चिन्ता प्रकट करता है। पूर्व दिशा में नित्य प्रभात होता था तथा उषाएँ अपनी सुनहली प्रभा से जगत् को रञ्जित करती थीं, किन्तु ऋण के बोझ से दबे चिन्तित पुरुष के लिये उनका उदित होना न होना बराबर था।

---

१ पर ऋणा सावीरध मत्कृतानि माहं राजन्नन्यकृतेन भोजम्।
अव्युष्टा इन्नु भूयसीरुषास आ नो जीवान् वरुण तासु शाधि॥
—ऋ० २।२८।९

पणि लोग उस समय व्यापार के लिये विशेष प्रसिद्ध थे। वे ऋण दिया करते थे, परन्तु व्याज वहुत अधिक खाते थे। इसीलिये वे ऋग्वेद में 'वेकनाट' कहे गए हैं[1]। निरुक्त के अनुसार 'वेकनाट' सूदखोरों को कहते थे, जो अपने रुपयों को दुगुना वनाने की कामना किया करते थे—'वेकनाटाः खलु कुसीदिनो भवन्ति द्विगुणकारिणो वा द्विगुणदायिनो वा, द्विगुणं कामयन्ते इति वा' (निरुक्त, ६।२७)।

इस प्रकार वैदिक आर्यों के आर्थिक जीवन का इतिहास उन्हें शिष्ट, सभ्य तथा सम्पन्न सिद्ध करने के लिये पर्याप्त माना जा सकता है।

---

[1] इन्द्रो विश्वान् वेकनाटाँ अहर्दृश उत क्रत्वा पणीँरभि ॥

चतुर्दश परिच्छेद

राजनैतिक दशा

वेदों के अनुशीलन से उस युग की राजनैतिक दशा तथा शासन-सम्बन्धी धारणाओं का परिज्ञान हमें भलीभाँति होता है। ऋग्वेद काल के प्रत्येक जन (जाति) का आधिपत्य राजा के हाथ में होता था। राजसत्ता का प्रादुर्भाव वेद की दृष्टि में युद्धकाल से सम्बन्ध रखता है। ऐतरेय ब्राह्मण (१।१४) की मान्यता के अनुसार देवों ने विचार किया था कि असुरों के हाथों हमारे पराजय का यही कारण है कि हम लोग राजा से विहीन हैं। अतएव उनलोगों ने एक बलिष्ट तथा ओजिष्ट इन्द्र को अपना राजा बनाया। इससे स्पष्ट है कि वैदिक काल में राजपद निर्वाचन का विषय था और इसकी उत्पत्ति युद्धकाल में हुई। 'समिति' में एकत्र होनेवाली प्रजा के द्वारा राजा चुना जाता था। उपस्थित प्रजा एक राय होकर राजा को उसके महनीय पद के लिए चुनती थी और इससे विश्वास किया जाता था कि वह अपने पद से कभी भ्रंश को न पावेगा। अथर्व वेद (७।८७–८८) तथा ऋग्वेद (१०।१७३) में पूरा सूक्त ही राजा के निर्वाचन के लिए प्रयुक्त हुआ है। इस मन्त्र में समिति के द्वारा राजपद के निर्माण की धारणा स्पष्टतः घोषित की गई है—

> ध्रुवोऽच्युतः प्र मृणीहि शत्रून्
> शत्रूयतोऽधरान् पादयस्व।
> सर्वा दिशः संमनसः सध्रीची
> ध्रुवायते समितिः कल्पतामिह ॥

अपने कर्तव्य से च्युत होने पर राजा अपने पद तथा देश से च्युत कर दिया जाता था तथा अपने दोषों को स्वीकार करने पर वह फिर से चुना जाता था। इस पुन स्थापन तथा प्रजा के द्वारा राजा के सवरण का उल्लेख अथर्व के दो सूक्तों में (३।३, ३।४) विशदतया किया गया है। विश् के द्वारा राजा के सवरण का निर्देश यह मन्त्र करता है—

त्वां विशो वृणतां राज्याय
त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः।
वर्ष्मन् राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व
ततो न उग्रो विभजा वसूनि ॥
(अथर्व ३।४।२)

राज सिंहासन पर बैठने के बाद राजा के बनाने वालों से (राजकृत) जो पिछले युग के प्रमाणों पर राज्य के उच्च अधिकारी या मन्त्री हुआ करते थे, अपने प्रभुशक्ति के प्रतीकात्मक 'मणि' को प्राप्त किया करता था। अथर्व ३।५ में ऐसे अवसर पर राजा के द्वारा कहे गए वाक्यों का निर्देश है जिसमें वह पलाश-पर्ण या मणि से अपने प्रजा को अनुकूल तथा सहायक बनाने की प्रार्थना करता है। राजा अपने जीवन-काल के लिए निर्वाचित होता था। उसकी सहायता के निमित्त दो विशिष्ट जनसभों का निर्देश ऋग्वेद में मिलता है जिसमें एक का नाम था समिति तथा दूसरी का नाम था सभा। इन सभदों का पृथक् पृथक् क्या कार्य था? इसके विषय में विद्वानों में एकवाक्यता नहीं है, परन्तु अधिकांश वेदज्ञों की सम्मति में समिति पूरे राष्ट्र की संस्था थी जिसमें राष्ट्र की समस्त जनता एकत्र होकर राजा का निर्वाचन किया करती थी तथा निर्वासित राजा को बुलाकर उसका पुन निर्वाचन करती थी। समिति में राजा की उपस्थिति अनिवार्य थी। राजा का यह

कर्तव्य था कि वह समिति में अवश्य जाय। ऋग्वेद में समिति में जाने वाले सच्चे राजा का निर्देश उपमानरूपेण किया गया है (राजा न सत्यः समितीरियानः ऋ० ९।९२।६)। छान्दोग्य के अनुसार जब श्वेतकेतु आरुणेय गौतम पञ्चालों की समिति में गये थे, तब उनके राजा प्रवाहण जैवलि वहाँ उपस्थित थे तथा उनसे पाँच अध्यात्मविषयक प्रश्नों को पूछा (छान्दोग्य ५।३)। इस घटना का तात्पर्य यह है समिति जातीय राष्ट्रसभा ही न थी, प्रत्युत एक जातीय साहित्य-सभा के भी समान थी।

सभा—समिति के समान तथा समकक्ष एक अन्य राजनैतिक संगठन था जो सभा के नाम से विख्यात था। सभा और समिति दोनों ही प्रजापति की पुत्रियाँ मानी गई हैं (सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने—अथर्व० ७।१२।१)। दोनों ही जनता के द्वारा चुनी गई संस्थायें थीं; अथर्व के एक मन्त्र में सभा 'नरिष्टा' के नाम से मण्डित है[1]। सायण भाष्य[2] के अनुसार इस शब्द का तात्पर्य यह है कि सभा में अनेक लोग मिलकर जिस निर्णय पर पहुँचते थे वह सब के लिए अलंघनीय होता था। सभा में सभासदों के बीच किसी विशेष प्रश्न के ऊपर स्वतन्त्रतापूर्वक विवाद होता था तथा निर्णीत सिद्धान्त सब के लिए मान्य तथा अनिवार्य होता था। इसीलिए शुक्लयजुर्वेद की सांस्कृतिक प्रार्थना (२२।२२) में युवा पुरुषों को सभा के योग्य होने की मनीषा प्रकट की गई है (सभेयो युवा)।

---

१ विद्म ते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि

(अथर्व० ७।१२।२)

२ नरिष्टा अहिंसिता परैरनभिभाव्या। यद्वा बहवः सम्भूय यदेकं वाक्यं वदन्ति, तद्धि न परैरतिलङ्घ्यम्। अतः अनतिलङ्घ्यवाक्यत्वात् नरिष्टेति नाम।

—सायण भाष्य।

समिति तथा सभा के निर्वाचन में एक पार्थक्य दृष्टिगत होता है। समिति में जन-साधारण को स्थान मिलता था, परन्तु इसके विपरीत सभा में राष्ट्र के वृद्धों को ही स्थान मिलता था। "न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धाः" "न सा सभा यत्थ न संति संतो" (जातक की गाथा)–आदि वाक्यों का निष्कर्ष यही है कि सभा राष्ट्र के वृद्धों की एक विशिष्ट संस्था थी। इसका कार्य अपराधियों के अपराध का निर्णय करना तथा तदनुसार दण्डविधान होता था, क्योंकि पारस्कर गृह्यसूत्र (३।१३) में सभा के लिए 'नादि' तथा 'त्विषि' शब्दों का प्रयोग किया गया है जिनका तात्पर्य जयराम की व्याख्या के अनुसार धर्म निरूपण करने से 'नदनशील तथा दीपनशील' (नदनशीला दीप्ता धर्मनिरूपणात्) प्रतीत होता है। फलतः सभा उच्च न्यायालय का कार्य सम्पादन करती थी। इन्हीं की सहायता से राजा अपने कार्य का निर्वाह करता था।

राजा का कर्तव्य केवल शान्तिकाल में प्रजा का पालन होता था, परन्तु उसका एक प्रधान कार्य युद्ध के समय शत्रुओं के आक्रमणों से अपनी प्रजा का रक्षा करना था। राजा स्वय युद्ध में जाता था तथा उसके साथ उसका सेनानी (सेनापति) तथा पुरोहित भी अवश्यमेव रहता था। पुरोहित का काम युद्धस्थल में देवताओं की प्रार्थना कर राजा को विजय में सहायता करना होता था। दाशराज्ञ युद्ध के अवसर पर सुदास के साथ उनके पुरोहित वसिष्ठ के रहने तथा विजय के निमित्त देव प्रार्थना करने का स्पष्ट निर्देश मिलता है (ऋग्० ७।८३।४) इस प्रसग म पुरोहित का महत्ता पर ध्यान देना आवश्यक है।

ब्राह्मण काल में राजा का पद नितान्त प्रतिष्ठित हुआ तथा उसके अधिकारों में भी विशेषरूप से वृद्धि सम्पन्न हुई। अभिषेक के निमित्त उपादेय यागों में राजसूय महत्त्वशाली है। उसके स्वरूप की मीमांसा करने से राजा की प्रभुशक्ति के गौरव का परिचय मिलता है। राजा

होने के निमित्त राजसूय का विधान नियत किया गया था। कालान्तर में अश्वमेध का अनुष्ठान सम्राट् तथा चक्रवर्ती पद के लिए आवश्यक बतलाया गया है (शतपथ ब्राह्मण १३ काण्ड) ११ अधिकारी 'रत्नी' के नाम से प्रख्यात थे जिनके पास अभिषेक से पहिले राजा को जाना आवश्यक था। इनके नाम ये हैं (शतपथ ५।३।१):—(१) सेनानी (सेना का अध्यक्ष), (२) पुरोहित, (३) अभिषेचनीय राजा, (४) महिषी (राजा की पट्टरानी), (५) सूत, (६) ग्रामणी (ग्राम या पचायत का अध्यक्ष), (७) क्षत्तृ, (८) संग्रहीतृ (कोषाध्यक्ष), (९) भागदुह (प्रजाओं से कर वसूल करने वाले अधिकारी), (१०) अक्षावाप (रुपया-पैसों के हिसाब रखने वाले अफसर), (११) गोविकर्तृ (जगल का अधिकारी)। वेद में उल्लिखित "राजकृतः" के ही ये ब्राह्मणयुगीय प्रतिनिधि थे।

अभिषेक का महत्त्व

ब्राह्मण ग्रन्थों में राज्याभिषेक का बहुशः वर्णन मिलता है जो राजनैतिक दृष्टि से बड़ा ही महत्त्व रखता है। शतपथ (५।३।५।२) तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण (१।७।१०।१–६) में इस अवसर पर राजा जो प्रतिज्ञा करता है उसका उल्लेखमात्र है, परन्तु इसका पूरा वर्णन ऐतरेय ब्राह्मण में ऐन्द्र महाभिषेक के अवसर पर दिया गया है। देवों में इन्द्र अत्यन्त बलशाली, ओजिष्ठ तथा सहिष्णु थे और इन्हीं गुणों से मुग्ध होकर देवों ने उन्हें अपना राजा बनाया तथा उनका 'महाभिषेक' संस्कार सम्पन्न किया गया। क्षत्रिय राजाओं का भी महाभिषेक इसी पद्धति पर किया जाता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रदत्त अभिषेक के अवसर पर राजा अपनी प्रजा के सामने एक बड़ी प्रतिज्ञा करता है जिसका राजनैतिक मूल्य बहुत ही गम्भीर तथा महनीय है। राजा श्रद्धा के साथ यह प्रतिज्ञा उद्घोषित करता है—

यां च रात्रिमजायेऽहं यां च प्रेतास्मि तदुभयमन्तरे
मे लोकं सुकृतमायुः प्रजां वृञ्जीथा यदि ते द्रुह्येयमिति

(ऐत० ब्रा० ८ [illegible])

अर्थात् जिस रात को मैं पैदा हुआ तथा जिस रात को मैं मरूँगा इन दोनों के बीच में जितने यज्ञीय अनुष्ठान मैंने किये हैं, उनसे तथा स्वर्गलोक, मेरे जीवन, मेरी सन्तान से वञ्चित हो जाऊँ यदि मैं तुमसे द्रोह करूँ (पीड़ा पहुँचाऊँ)। यह प्रतिज्ञा राज्य की प्राप्ति के अवसर पर अवश्यमेव कहनी पड़ती है। इस घोषणा के अनन्तर उसे व्याघ्रचर्म से आच्छादित **आसन्दी** (काष्ठ-निर्मित सिंहासन) पर बैठने के लिए आज्ञा दी जाती है तथा पुरोहित उसके ऊपर सोने की थाली से एक सौ या नव छिद्रों से बहने वाले जल के द्वारा अभिषेक करता है तथा शुक्लयजुर्वेद के कतिपय मन्त्रों (९।४०, १०।१७-१८) का इस प्रसंग में उच्चारण करता है। तीन सीढ़ी ऊपर चढ़कर राजा लकड़ी के सिंहासन पर बैठता है और तब उसे राज्यपद प्रदान किया जाता है। इस अवसर पर प्रयुज्यमान वाक्य बड़े ही महत्त्व के हैं—

इयं ते राट् ··यन्तासि यमनो ध्रुवोऽसि धरुणः।
कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा[१]॥

'तुमको यह राष्ट्र दिया जाता है। तुम इसके नियमन करनेवाले हो, तुम दृढ़ हो तथा धारणकर्ता (राज्य या उत्तरदायित्व के) हो। कृषिकर्म के लिए, कल्याण के लिए, समृद्धि के लिए तथा पुष्टि के लिए तुम्हें (यह राष्ट्र दिया गया है)।' इन वाक्यों के अनन्तर वह आसन ग्रहण करता है। इन वाक्यों के अनुशीलन करने से वैदिक कालीन राज्यविषयिणी धारणा का भव्य रूप हमारे सामने उपस्थित हो जाता

१ [illegible]

है। राज्य राजा को किसी दैवी शक्ति से प्राप्त नहीं हुआ है, प्रत्युत वह मानवों की ही एक सृष्टि है। राज्य दान नहीं है, प्रत्युत एक संरक्ष्य वस्तु है जिसकी रक्षा करना राजाका उच्चतम लक्ष्य है। राज्य राजा को किस लिए दिया जाता है ? इस प्रश्न का उत्तर इन वाक्यों में सुन्दरता से दिया गया है। राज्य भोग की वस्तु नहीं है जिसे राजा अपनी स्वच्छन्द अभिलाषाओं की पूर्ति के लिए उपयोग करता है, प्रत्युत उसका प्रधान कर्तव्य कृषि के द्वारा उसमें समृद्धि उत्पन्न करना, कल्याण तथा पुष्टि सम्पन्न करना होता है। इस कथन से वैदिक राजा के कर्तव्यों का पूरा परिचय हमें मिलता है।

अभिषेक के अवसर पर की गई प्रतिज्ञा हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचाती है कि राजा प्रजा का यथार्थतः सेवक है, प्रजा के कल्याण के निमित्त वह एक प्रतिष्ठापित पदाधिकारी है। जब तक वह उस प्रतिज्ञा को निभाता है तबतक वह सिंहासन पर बैठने की योग्यता रखता है। अन्यथा वह हटाया जा सकता है। इस प्रकार अत्यन्त प्राचीनकाल मे हिन्दू राजा स्वेच्छाचारी नरपति कभी नहीं होता था। सभा तथा समिति की सहायता से राष्ट्र का मंगल साधन करना ही वैदिक राजा का चरम लक्ष्य है।

शासन—पद्धतियाँ

ऐतरेय ब्राह्मण के ऐन्द्र महाभिषेक (८।३) के अध्ययन से वैदिक युग में प्रचलित अनेक शासन पद्धतियों से भी हमें परिचय मिलता है, परन्तु इन पद्धतियों के यथार्थ रूप का थोड़ा पता अवान्तरकालीन राजनीतिशास्त्र के ग्रन्थों की तथा राजाओं के शिलालेखों की सहायता से चलता है। इन्द्र का अभिषेक दक्षिण दिशा में भौज्य के लिए किया गया। भौज्य ब्राह्मणयुग की एक शासन पद्धति थी जिसमें गणराज्य

की स्थापना मान्य थी । ऐतरेय के अनुसार यह पद्धति सात्वत राजाओं (= अर्थात् यादवों) में प्रचलित थी । महाभारत के अनुसार यादव लोगों का अन्धक-वृष्णि नामक संघ था । अतः भौज्य शासन गणराज्य का एक विशिष्ट प्रकार का शासन था । स्वाराज्य का राजनैतिक विधान उस प्रणाली से सम्बद्ध है जिसमें गणों के ऊपर एक अध्यक्ष (या राष्ट्रपति) शासन करता था । वाजपेय यज्ञ करने का फल स्वाराज्य की प्राप्ति बतलाया गया है[1] । स्वाराज्य वह शासन है जिसमें कोई भी व्यक्ति समान व्यक्तियों में अग्रगण्य स्थान प्राप्त करता है । गण के समस्त सभासद् 'सदृशा. सर्वे' माने जाते थे और इसलिए 'अग्र समानाना पर्येति' का तात्पर्य गणराज्य के अध्यक्ष पद पाने से है । 'फलत. स्वाराज्य शासन' भी गणतन्त्रीय शासन विधान है । वैराज्य पद्धति का प्रचार ऐतरेय के अनुसार उदीच्य देशों में हिमालय से भी आगे (परेण हिमवन्तम्) था जहाँ उत्तर कुरु तथा उत्तर मद्र नामक जातियाँ निवास करती थीं । 'वैराज्य' का अर्थ है राजा से रहित देश । फलत' यह एक विशिष्ट प्रजातन्त्रीय शासन पद्धति थी जिसमें राजा का नितान्त अभाव था । कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में 'वैराज्य' की निन्दा की है क्योंकि इसमें कोई भी राष्ट्र के लिए अपने को उत्तरदायी नहीं समझता, कोई भी उसमें ममता नहीं रखता, कोई भी राष्ट्र को बेच सकता है अथवा विरक्त होने पर राज्य छोड़कर कोई व्यक्ति चला भी जाता है । इन दोषों की सत्ता के कारण यह शासन विधान नितान्त गर्हणीय माना जाता था । 'वैराज्य' का अर्थ पिछले टीकाकारों ने सुशोभित होना लिखा है, परन्तु यह राजनीति का शब्द है । महाभारत में भी राजा 'विराट्' के नाम से

---

[1] य एवं विद्वान् वाजपेयेन यजते । गच्छति स्वाराज्यम् । अग्र समानाना पर्येति । तिष्ठन्तेऽस्मै ज्यैष्ठ्याय ।

—तैत्ति० ब्रा० १।३।२२।

निर्दिष्ट किया गया है (राजा भोजो विराट् सम्राज्-शान्ति पर्व अध्याय ५८, श्लोक ५४)।[1]

ऐतरेय साम्राज्य पद्धति का प्रचलन भारत की प्राची दिशा में बतलाया गया है तथा मध्यदेश में जहाँ कुरुपचालों का निवास था राज्य पद्धति का प्रचार अंगीकृत है। ब्राह्मण ग्रन्थों से हम भली भाँति जानते है कि कुरु तथा पंचाल देशों पर शासन करनेवाला राजा कहलाता था। छान्दोग्य (पष्ठ प्रपाठक) में पांचालों के राजा का नाम प्रवाहण जैवलि दिया गया है। इस प्रकार वैदिक युग में गणतन्त्र तथा राज्यतन्त्र दोनों प्रकार के शासन विधान के दृष्टान्त मिलते है। निष्कर्ष यही है कि वैदिक आर्य शासन-दृष्टि से भी एक सुव्यवस्थित राष्ट्र के अधीन थे।

———

१ इन शब्दों की विस्तृत व्याख्या के लिए द्रष्टव्य के० पी० जायसवाल—'हिन्दू पालिटी' पृष्ठ ८६-९४; कलकत्ता १९२४

की स्थापना मान्य थी। ऐतरेय के अनुसार यह पद्धति सात्वत राजाओं (= अर्थात् यादवों) में प्रचलित थी। महाभारत के अनुसार यादव लोगों का अन्धक-वृष्णि नामक संघ था। अतः भौज्य शासन गणराज्य का एक विशिष्ट प्रकार का शासन था। स्वाराज्य का राजनैतिक विधान उस प्रणाली से सम्बद्ध है जिसमें गणों के ऊपर एक अध्यक्ष (या राष्ट्र-पति) शासन करता था। वाजपेय यज्ञ करने का फल स्वाराज्य की प्राप्ति बतलाया गया है[१]। स्वाराज्य वह शासन है जिसमें कोई भी व्यक्ति समान व्यक्तियों में अग्रगण्य स्थान प्राप्त करता है। गण के समस्त सभासद् 'सदृशा. सर्वे' माने जाते थे और इसलिए 'अग्र समानाना पर्येति' का तात्पर्य गणराज्य के अध्यक्ष पद पाने से है। 'फलतः स्वाराज्य शासन' भी गणतन्त्रीय शासन विधान है। वैराज्य पद्धति का प्रचार ऐतरेय के अनुसार उदीच्य देशों में हिमालय से भी आगे (परेण हिमवन्तम्) था जहाँ उत्तर कुरु तथा उत्तर मद्र नामक जातियाँ निवास करती थीं। 'वैराज्य' का अर्थ है राजा से रहित देश। फलतः यह एक विशिष्ट प्रजातन्त्रीय शासन पद्धति थी जिसमें राजा का नितान्त अभाव था। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में 'वैराज्य' की निन्दा की है क्योंकि इसमें कोई भी राष्ट्र के लिए अपने को उत्तरदायी नहीं समझता; कोई भी उसमें ममता नहीं रखता, कोई भी राष्ट्र को बेच सकता है अथवा विरक्त होने पर राज्य छोड़कर कोई व्यक्ति चला भी जाता है। इन दोषों की सत्ता के कारण यह शासन विधान नितान्त गर्हणीय माना जाता था। 'वैराज्य' का अर्थ पिछले टीकाकारों ने सुशोभित होना लिखा है, परन्तु यह राजनीति का शब्द है। महाभारत में भी राजा 'विराट्' के नाम से

---

१ य एव विद्वान वाजपेयेन यजते। गच्छति स्वाराज्यम। अग्र समानाना पर्येति। तिष्ठन्तेऽस्मै ज्यैष्ठ्याय।

—तैत्ति० ब्रा० १।३।२२

निर्दिष्ट किया गया है (राजा भोजो विराट् सम्राज्–शान्ति पर्व अध्याय ५८, श्लोक ५४) ।[1]

ऐतरेय साम्राज्य पद्धति का प्रचलन भारत की प्राची दिशा में बतलाया गया है तथा मध्यदेश में जहाँ कुरुपचालों का निवास था राज्य पद्धति का प्रसार अंगीकृत है। ब्राह्मण ग्रन्थों से हम भली भाँति जानते हैं कि कुरु तथा पचाल देशों पर शासन करनेवाला राजा कहलाता था। छान्दोग्य (षष्ट प्रपाठक) में पांचालों के राजा का नाम प्रवाहण जैवलि दिया गया है। इस प्रकार वैदिक युग में गणतन्त्र तथा राज्यतन्त्र दोनों प्रकार के शासन विधान के दृष्टान्त मिलते हैं। निष्कर्ष यही है कि वैदिक आर्य शासन-दृष्टि से भी एक सुव्यवस्थित राष्ट्र के अधीन थे।

———

१ इन शब्दों की विस्तृत व्याख्या के लिए द्रष्टव्य के० पी० जायसवाल— 'हिन्दू पालिटी' पृष्ठ ८९–९४; कलकत्ता १९२४

पञ्चदश परिच्छेद

धार्मिक जीवन

वैदिक आर्य एक धर्मप्रधान जाति थे। उनका देवताओं की सत्ता, प्रभाव तथा व्यापकता में दृढ़ विश्वास था। उनकी कल्पना में यह जगत्—पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश इस तीन विभाग में विभक्त था और प्रत्येक लोक में देवताओं का निवास था। वैदिक आर्यों अग्नि के उपासक वीर पुरुष थे जो अग्नि में विभिन्न देवताओं के उद्देश्य से सोमरस की आहुति दिया करते थे। यज्ञ की संस्था उनके धर्म का एक विशिष्ट अंग था। यह संस्था ऋग्वेद के समय में लघुकाय थी, परन्तु ज्यों-ज्यों आर्य का प्रभुत्व और प्रभाव बढ़ता था त्यों-त्यों इस संस्था ने भी विकास प्राप्त किया। देवता के स्वरूप, प्रभाव तथा महत्ता का परिचय हमें ऋग्वेद के अनुशीलन से भलीभाँति लग सकता है। वैदिकधर्म में बहुदेवतावादी यज्ञ प्रधान धर्म है जिसके कतिपय मन्त्रों में ही सर्व-देवता वादी धारणा दृष्टिगोचर होती है।

देवों की आकृति मनुष्य के समान है। उनके शारीरिक अवयव अनेक स्थलों पर उन प्राकृतिक दृश्यों के रूपात्मक प्रतिनिधि हैं जिनके वे वस्तुतः प्रतीक हैं। इस प्रकार सूर्य के बाहु उसकी किरणों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और अग्नि की जिह्वा तथा अंग उसकी ज्वाला के द्योतक हैं। कुछ देवता योद्धा पुरुष हैं जैसे विशेषतः इन्द्र, और कतिपय यज्ञ करानेवाले ऋत्विज् हैं जैसे अग्नि और बृहस्पति देव रथ पर चढ़ आकाशमार्ग में गमन किया करते हैं। इन रथों में विशेषतः

घोड़े जुते रहते हैं। देवों का भोजन मानवों के समान ही दूध, घी अन्न, भेड़ तथा बकरे का मांस है। उनका सबसे अधिक प्रिय पेय है सोमलता का उत्साहवर्धक रस। देवों का निवास स्वर्ग, या विष्णु का तृतीय पद है जहाँ वे सोमरस का पान करते हुए आनन्द का जीवन बिताते हैं।

पाश्चात्य आलोचकों की दृष्टि में वैदिक धर्म के भीतर अनेक वस्तुएँ ऐसी हैं जो भारोपीय धर्म के अविभाज्य अंग तथा विशिष्टतायें थीं तथा अनेक बातें हैं जो ईरानी धर्म से भी समता रखती हैं, क्योंकि उनकी मान्यता के अनुसार प्राचीन काल में भारतीय आर्य यूरोपीय आर्यों के साथ भारत के बाहर किसी विशिष्ट स्थान में एक साथ निवास करते थे। इस मूल स्थान के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मत भिन्नता है। मैक्स-मूलर के मत में आर्यों की यह आदिभूमि एशिया के मध्य में कहीं पर थी, श्रोडर तथा मेयर के मत में यूरोप तथा एशिया की सीमा पर और बेण्डर के मत में भाषागत साम्य के प्रामाण्य पर 'लिथुएनिया' के समीपस्थ प्रदेश में विद्यमान थी। सर्वाधिक नवीनतम मत डा० गाइल्स का है जिसके अनुसार आर्यों का मूल देश आस्ट्रिया-हंगेरी में कहीं पर था। आर्य लोगों ने अपने मौलिक धर्म के विविध वैशिष्ट्यों को लेते हुए भारत में नवीन धर्म की स्थापना की। ईरान में भी वे पारसीकों के साथ बहुत दिनों तक रहते थे। फलत. ईरानी धर्म की भी कुछ बातें वैदिक धर्म में मिलती हैं। भारोपीय धर्म की मुख्य बातें जो वैदिक धर्म में उपलब्ध होती हैं ये हैं.—

(१) देव द्युतिमान प्राणी हैं। प्राचीन आर्य भाषाओं में देव-द्योतक समस्त शब्द प्रकाशनार्थं दिव धातु से निष्पन्न हैं। (२) आदिम पिता द्यौः तथा आदिम माता पृथ्वी मानी जाती है। इसीलिये वैदिक द्यौस्पितर् = ग्रीक ज़ुएस पेटर = लैटिन जुपिटर। द्यावापृथवी ही

मानवों के माता पिता हैं। वरुण की उपासना इसी काल से सम्बद्ध है (वरुण=ग्रीक यूरेनस) (३) अधिकतर उपास्य देवता दो थे—अग्नि तथा उषस्। इन दोनों के द्योतक शब्द सर्वत्र समान हैं अग्नि=लैटिन इग्-निस= लिथुएनियन उग्निस=रूसी ओगोन। उषस्=ग्रीक एआस=लैटिन अरोरा। (४) ऊर्ध्वलोक के निवासी इन देवों की आराधना हविष्य की आहुति से की जाती थी। (५) मरणानन्तर जीव की सत्ता में लोगों का दृढ़ विश्वास प्रतीत होता है क्योंकि भाषागत प्रामाण्य इसका साधक है। आत्मन्=प्राचीन जर्मन आतुम्=जर्मन आतेम्। (६) भारोपीय देशों में, विशेषतः रूस, लिथुएनिआ, ग्रीस, रोम तथा भारतवर्ष में सर्वत्र पितृपूजा एक मान्य धार्मिक संस्था थी। परलोक-गत पितरों का नाम प्रायः सर्वत्र एक समान उपलब्ध होता है। वैदिक पितर्, ग्रीक दिव्य पितृव्य (मूल ग्रीक का हिन्दी अनुवाद), लैटिन दि पेरेन्टीज (दिव्य पितर), रूसी दिव्य पितामह एक ही भावना के समर्थक पद हैं और इसीलिए इन देशों में हमारे 'श्राद्ध' के समान ही आदर सत्कार सूचक विधि विधानों का अनुष्ठान आज भी मिलता है।

भारत-पारसीक युग—इस युग के धार्मिक संस्थानों का साम्य उपलब्ध होता है (१) देवों तथा पितरों की उपासना अबाध गति से ही प्रचलित नहीं थी, प्रत्युत वह विशेष लोकप्रिय भी बन गई थी। भारतीयों तथा पारसीकों के धार्मिक भाव एक—समान हैं। पितरों को अवेस्ता में 'फ्रवर्शी' शब्द के द्वारा अभिहित करते हैं। सोम (अवस्ता 'हओम') के द्वारा देवों की पूजा की जाती थी। यम वैवस्वत (अवस्ता यिम विवन्हुन) इस भूतल के प्रथम पार्थिव हैं जिन्होंने सोम याग का अनुष्ठान किया था तथा मृत्यु पाकर परलोक का मार्ग बनानेवाले तथा स्वर्ग में निवास करनेवाले प्रथम मानव हैं (द्रष्टव्य ऋ० १०।१४।१)। दोनों के उपास्य देवता एक ही हैं (वेद भग=अ० बग, वे० अर्यमन्= एर्यमन)। बोघाजकोई स्थान में उपलब्ध वरुण, इन्द्र, मित्र तथा

नासत्यों को डा० ओल्डनवर्ग जरथुष्ट्र के द्वारा धर्म-सुधार से पूर्व ईरानी देवता मानते हैं जब वरुण की प्रधानता थी। पीछे वरुण के स्थान पर 'अहुर मज़्दा' को स्थान मिला तथा अन्य देव असुरों में परिणत किये गए।

(२) ऋत्विज् संस्था का उदय—जरथुष्ट्र के द्वारा संस्कृत समाज का प्रधानतम पुरुष था अथ्रवन्=वैदिक अथर्वन् अर्थात् ऋत्विज्। यह समाज भी चार वर्णों में विभक्त था। हओम याग के लिए आठ ऋत्विजों की आवश्यकता होती थी। पत्नी की सहायता से प्रातःकाल अग्नि में होम करना नियम था। 'हओम' के रस को छानने के लिए सोने या चाँदी के वर्तनों का उपयोग किया जाता था।

(३) संघर्ष की कल्पना—जगत् में दो तत्त्व जागरूक माने जाते थे जो सर्वदा संघर्ष किया करते थे। इनमें से एक है ईश्वर का सत्-रूप (स्तेन्तोमैन्यु) और दूसरा है असत्-रूप (अंग्रो मैन्यु)[1] इनमें सन्तत विरोध तथा संघर्ष इस जगत् में होता है और अन्त में सत् की विजय असत् पर, भलाई की विजय बुराई पर, ज्योति की विजय तम पर होती है और जगत् का मङ्गल सम्पन्न होता है। वैदिक धर्म में इन्द्र-वृत्र-युद्ध का भी यही रहस्य है। दानववृत्र पर इन्द्र देवका आक्रमण तथा विजय इसी संघर्ष का द्योतक तथ्य है।

(४) नियम तथा सुव्यवस्था की कल्पना—वैदिक ऋत के समान ही अवेस्ता में अश की कल्पना है। यह भावना पारसियों में भी बहुत प्राचीन काल से प्रचलित थी क्योंकि यह 'तेल-एल-अमर्ना' के शिलालेख में (१४०० ईस्वी पूर्व) 'अर्त' शब्दधारी नाम मिलते हैं और यह 'अर्त' भी 'अश' का ही प्राचीन द्योतक माना जाता है। ऋत् की

१ देखिए डा० तारापुरवाला की 'दि रिलीजन आफ जरथुष्ट्र' नामक पुस्तक (पृष्ठ ४८-५८) थियासोफिकल सोसाइटी, अड्यार, १९२६।

मानवों के माता पिता हैं। वरुण की उपासना इसी काल से सम्बद्ध है (वरुण=ग्रीक यूरेनस) (३) अधिकतर उपास्य देवता दो थे—अग्नि तथा उपस्। इन दोनों के द्योतक शब्द सर्वत्र समान हैं अग्नि=लैटिन इग्-निस= लिथुएनियन उग्निस=रूसी ओगोन। उपस्=ग्रीक एआस=लैटिन अरोरा। (४) ऊर्ध्वलोक के निवासी इन देवों की आराधना हविष्य की आहुति से की जाती थी। (५) मरणानन्तर जीव की सत्ता में लोगों का दृढ़ विश्वास प्रतीत होता है क्योंकि भाषागत प्रामाण्य इसका साधक है। आत्मन्=प्राचीन जर्मन आतुम्=जर्मन आतेम्। (६) भारोपीय देशों में, विशेषतः रूस, लिथुएनिआ, ग्रीस, रोम तथा भारतवर्ष में सर्वत्र पितृपूजा एक मान्य धार्मिक संस्था थी। परलोक-गत पितरों का नाम प्राय. सर्वत्र एक समान उपलब्ध होता है। वैदिक पितर्, ग्रीक दिव्य पितृव्य (मूल ग्रीक का हिन्दी अनुवाद), लैटिन दि पेरेन्टीज (दिव्य पितर), रूसी दिव्य पितामह एक ही भावना के समर्थक पद हैं और इसीलिए इन देशों में हमारे 'श्राद्ध' के समान ही आदर सत्कार सूचक विधि विधानों का अनुष्ठान आज भी मिलता है।

भारत-पारसीक युग—इस युग के धार्मिक संस्थानों का साम्य उपलब्ध होता है (१) देवों तथा पितरों की उपासना अबाध गति से ही प्रचलित नहीं थी, प्रत्युत वह विशेष लोकप्रिय भी बन गई थी। भारतीयों तथा पारसीकों के धार्मिक भाव एक—समान हैं। पितरों को अवेस्ता में 'फ्रवशी' शब्द के द्वारा अभिहित करते हैं। सोम (अवस्ता 'हओम') के द्वारा देवों की पूजा की जाती थी। यम वैवस्वत (अवस्ता यिम विवन्हत) इस भूतल के प्रथम पार्थिव हैं जिन्होंने सोम याग का अनुष्ठान किया था तथा मृत्यु पाकर परलोक का मार्ग बनानेवाले तथा स्वर्ग में निवास करनेवाले प्रथम मानव हैं (द्रष्टव्य ऋ० १०।१४।१)। दोनों के उपास्य देवता एक ही हैं (वेद भग=अ० बग, वे० अर्यमन्= एर्यमन)। बोघाजकोई स्थान में उपलब्ध वरुण, इन्द्र, मित्र तथा

नासत्यौ को डा० ओल्डनबर्ग जरथुष्ट्र के द्वारा धर्म-सुधार से पूर्व ईरानी देवता मानते हैं जब वरुण की प्रधानता थी। पीछे वरुण के स्थान पर 'अहुर मज्दा' को स्थान मिला तथा अन्य देव असुरों में परिणत किये गए।

(२) ऋत्विज् संस्था का उदय—जरथुष्ट्र के द्वारा संस्कृत समाज का प्रधानतम पुरुष था अथ्रवन्=वैदिक अथर्वन् अर्थात् ऋत्विज्। यह समाज भी चार वर्णों में विभक्त था। हओम याग के लिए आठ ऋत्विजों की आवश्यकता होती थी। पत्नी की सहायता से प्रातःकाल अग्नि में होम करना नियम था। 'हओम' के रस को छानने के लिए सोने या चाँदी के बर्तनों का उपयोग किया जाता था।

(३) संघर्ष की कल्पना—जगत् में दो तत्त्व जागरूक माने जाते थे जो सर्वदा संघर्ष किया करते थे। इनमें से एक है ईश्वर का सत्-रूप (स्तेन्तोमैन्यु) और दूसरा है असत्-रूप (अंग्रो मैन्यु)[1] इनमें सन्तत विरोध तथा संघर्ष इस जगत् में होता है और अन्त में सत् की विजय असत् पर, भलाई की विजय बुराई पर, ज्योति की विजय तम पर होती है और जगत् का मङ्गल सम्पन्न होता है। वैदिक धर्म में इन्द्र-वृत्र-युद्ध का भी यही रहस्य है। दानववृत्र पर इन्द्र देवका आक्रमण तथा विजय इसी संघर्ष का द्योतक तथ्य है।

(४) नियम तथा सुव्यवस्था की कल्पना—वैदिक ऋत के समान ही अवेस्ता में अश की कल्पना है। यह भावना पारसियों में भी बहुत प्राचीन काल से प्रचलित थी क्योंकि यह 'तेल-एल-अमर्ना' के शिलालेख में (१४०० ईस्वी पूर्व) 'अर्त' शब्दधारी नाम मिलते हैं और यह 'अर्त' भी 'अश' का ही प्राचीन द्योतक माना जाता है। ऋत् की

---

[1] देखिए डा० तारापुरवाला की 'दि रिलीजन आफ जरथुष्ट्र' नामक पुस्तक (पृ० ८८-५८) थियासोफिकल सोसाइटी, अड्यार, १९२६।

त्रिविध—आर्थिक, सामाजिक तथा नैतिक-भावना के समान ही 'अश्' की धारणा है। अश की स्तुति में 'यस्न' का कथन है कि जगत् में एक ही पन्थ है और वह है अशका पन्थ। इसके अतिरिक्त अन्य समस्त पन्थ झूठे हैं:—

अएवो पन्ताओ यो अशहे, वीस्पे अन्यएसां अपन्ताम्।

(४) नैतिक देव की कल्पना—अवस्ता के सर्वश्रेष्ठ देवता 'अहुर मज़्दा' वैदिक देवता वरुण (असुरो वरुणः) ही है। इसका प्रमाण यह है कि दोनों ही 'असुर' (असु = प्राण; अतएव प्राणदायक, जीवनप्रदाता) उपाधि धारण करते हैं तथा दोनों 'मित्र' के साथ अविभाज्य रूप से संश्लिष्ट हैं। वेद में 'मित्रावरुणौ' द्वन्द्व-देवता के रूप में गृहीत है तथा उसी प्रकार अवस्ता में अहुरमज्दा का सम्बन्ध 'मिथ्र' के साथ विद्यमान है।

इस प्रकार वैदिक धर्म के अनेक मान्य कल्पनायें तथा मान्यतायें भारोपीय धर्म तथा भारत—ईरानी धर्म के साथ आश्चर्यमय साम्य रखती हैं। हमारी दृष्टि में भारतीयों ने जब इन विभिन्न देशों में अपने उपनिवेश स्थापित किये, तब उन देशों में अपने धार्मिक अनुष्ठानों का भी प्रचुर प्रचार किया। इस साम्य का यही रहस्य प्रतीत होता है।

देवता का स्वरूप

प्रकृति की विचित्र लीलायें मानवमात्र के दिन-प्रतिदिन के अनुभव के विषय हैं। इस पृथ्वीतल पर जन्म-ग्रहण के समय से ही मनुष्य अपने को कौतुकावह प्राकृतिक दृश्यों से चारों ओर घिरा हुआ पाता है। प्रातःकाल प्राची-दिशा में कमनीय किरणों को छिटका कर भूतल को काञ्चन-रञ्जित बनानेवाला अग्निपुञ्जमय सूर्यबिम्ब तथा सायकाल

में रजत रश्मियों को बिखेर कर जगत्-मण्डल को शीतलता के समुद्र में गोता लगानेवाले सुधाकर का बिम्ब किस मनुष्य के हृदय में कौतुकमय विस्मय उत्पन्न नहीं करते ? वर्षाकालीन नील गगनमण्डल में काले-काले विचित्र बलाहकों की दौड़, उनके पारस्परिक संघर्ष से उत्पन्न चौंधनेवाली बिजुली की लपक तथा कर्ण-कुहरों को बधिर बना देनेवाले गर्जन की गड़गड़ाहट आदि प्राकृतिक दृश्य मनुष्य मात्र के हृदय पर एक विचित्र प्रभाव जमाये बिना नहीं रह सकते ? वैदिक आर्यों ने इन प्राकृतिक लीलाओं को सुगमतया समझाने के लिए भिन्न-भिन्न देवताओं की कल्पना की है। यह विश्व भिन्न-भिन्न देवताओं का क्रीडा-निकेतन है। वैदिक आर्यों का विश्वास है कि इन्हीं देवताओं के अनुग्रह से जगत् का समस्त कार्य संचालित होता है तथा भिन्न-भिन्न प्राकृतिक घटनायें उनके ही कारण सम्पन्न होती हैं। पाश्चात्य वैदिक विद्वानों की वैदिक देवताओं के विषय में यही धारणा है कि वे भौतिक जगत् के—प्राकृतिक दृश्यों के—अधिष्ठाता हैं। भौतिक घटनाओं की उपपत्ति के लिए उन्हें देवता मान लिया गया है। ऋग्वेद के आदिम काल में बहुल देवताओं की सत्ता मानी जाती थी जिसे वे पोलीथीज़म (बहुदेववाद) की संज्ञा देते हैं। कालान्तर में जब वैदिक आर्यों का मानसिक विकास हुआ तब उन्होंने इन बहु देवताओं के अधिपति या प्रधान रूप में एक देवता—विशेष की कल्पना की। इसी का नाम है—मॉनोथीजम (एकेश्वर-वाद)। अतः बहुदेवतावाद के बहुत काल के पीछे एकदेव-वाद का जन्म हुआ और उसके भी अवान्तरकाल में सर्वेश्वरवाद (पैन्थीज़्म) की कल्पना की गई। सर्वेश्वरवाद का सूचक पुरुषसूक्त दशम मण्डल का ९० वाँ सूक्त है जो पाश्चात्य गणना के हिसाब से दशतयी के मण्डलों में सबसे अधिक अर्वाचीन है। मैक्समूलर के अनुसार प्रत्येक वैदिक देवता स्तुतिकाल में सब से बड़ा, व्यापक, स्रष्टा तथा संसार का उपकारी माना गया है। इसी से अन्य देवों की उत्पत्ति

होती है। इस विशिष्टता के कारण इस धर्म को मैक्समूलर 'हेनो थीज्म' के नाम से पुकारते हैं।

पश्चिमी विद्वानों की सम्मति में वैदिक देवतावाद की उत्पत्ति तथा विकास का यही संक्षिप्त क्रम है, परन्तु हमारी यह दृढ़ धारणा है कि वैदिक धर्म का यह विकासक्रम नितान्त निराधार है।

वेद में अद्वैततत्त्व

यास्क के अनुसार इस जगत् के मूल में एक ही महत्त्वशालिनी शक्ति विद्यमान है जो निरतिशय ऐश्वर्यशालिनी होने से 'ईश्वर' कहलाती है। वह एक, अद्वितीय है। उसी एक देवता की बहुत रूपों से स्तुति की जाती है—

> माहाभाग्यात् देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते।
> एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति॥ (७।४।८,९)

अतः यास्क की सम्मति में देवतागण एक ही देवता की भिन्न-भिन्न शक्तियों के प्रतीक हैं। बृहद्देवता निरुक्त के कथन का अनुमोदन करती है[1]। सर्वव्यापी सर्वात्मक ब्रह्मसत्ता का निरूपण करना ही ऋग्वेद का प्रधान लक्ष्य है। यही 'कारणसत्ता' कार्यवर्गों में अनुप्रविष्ट होकर सर्वत्र भिन्न-भिन्न आकारों से परिलक्षित हो रही है। प्रकृति की कार्यावली के मूल में एक ही सत्ता है, एक ही नियन्ता है, एक ही देवता वर्तमान है, अन्य सकल देवता इसी मूलभूत सत्ता के विकाशमात्र हैं। इस महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन भिन्न-भिन्न प्रकारों से वैदिक ऋषियों ने किया है। ऐतरेय आरण्यक ने[2] स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित किया है कि "एक ही महती सत्ता की उपासना ऋग्वेदी लोग 'उक्थ'

---

[1] बृहद्देवता—अध्याय १, श्लोक ६१–६५।

[2] एतं ह्येव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्त एतमग्नावध्वर्यव एतं महाव्रते छन्दोगाः —ऐतरेय आरण्यक—३।२।३।१२।

में किया करते हैं, उसी को यजुर्वेदी लोग याज्ञिक अग्नि के रूप में उपासना किया करते हैं तथा सामवेदी लोग 'महाव्रत' नामक याग में उसी की उपासना करते हैं"। शंकराचार्य ने (१।१।२५ सूत्र के भाष्य में) इस मन्त्र का उल्लेख किया है। ऋग्वेद का भी प्रमाण इस विषय में नितान्त सुस्पष्ट है।

देवतागण को ऋग्वेद में 'असुर' कहा गया है[1]। 'असुर' का अर्थ है असुविशिष्ट अथवा प्राणशक्ति-सम्पन्न। इन्द्र, वरुण, सविता, उषा आदि देवता असुर हैं। देवताओं को बल-स्वरूप कहा गया है। देवतागण अविनश्वर शक्तिमात्र हैं। वे आतस्थिवांसः (स्थिर रहनेवाले), अनंतासः (अनन्त), अजिरासः, उरवः, विश्वतस्परि (५।४७।२) कहे गये हैं। वे विश्व के समस्त प्राणियों को व्याप्त कर स्थित रहते हैं। उनके लिए 'सत्य', 'ध्रुव' 'नित्य' प्रभृति शब्दों का प्रयोग किया गया उपलब्ध होता है। इतना ही नहीं, एक समस्त सूक्त (ऋ० ३।५५) में देवताओं का 'असुरत्व' एक ही माना गया है। 'असुरत्व' का अर्थ है बल या सामर्थ्य। देवताओं के भीतर विद्यमान सामर्थ्य एक ही है, भिन्न-भिन्न, स्वतन्त्र नहीं। इस सूक्त के प्रत्येक मन्त्र के अन्त में यही पद बार-बार आता है—महद् देवानामसुरत्वमेकम्; देवों का महत् सामर्थ्य एक ही है। एक ही महामहिमशालिनी शक्ति के विकसित रूप होने से उनकी शक्ति स्वतन्त्र नहीं है, प्रत्युत उनके भीतर विद्यमान शक्ति एक ही है। "जीर्ण ओषधियों में, नवीन उत्पन्न होनेवाली ओषधियों में, पल्लव तथा पुष्प से सुशोभित ओषधियों में तथा गर्भ

---

१ तद् देवस्य सवितुः असुरस्य प्रचेतसः (४।५३।१)
(पर्जन्यः) असुरः पिता नः (५।८३।६)
महद् विष्णोः (इन्द्रस्य) असुरस्य नाम (३।३८।४)

धारण करनेवाली ओषधियों में एक ही शक्ति विद्यमान रहती है। देवों का महत् सामर्थ्य वस्तुतः एक ही है" (ऋ० ३।२५।४)।

ऋत—ऋग्वेद में 'ऋत' की बड़ी मनोरम कल्पना है। ऋत का अर्थ है सत्य, अविनाशी सत्ता। इस जगत् में 'ऋत' के कारण ही सृष्टि की उत्पत्ति होती है[1]। सृष्टि के आदि में 'ऋत' ही सर्व—प्रथम उत्पन्न हुआ[2]। विश्व में सुव्यवस्था, प्रतिष्ठा, नियमन का कारणभूत तत्त्व यही 'ऋत' ही है। इस 'ऋत' की सत्ता के कारण ही विषमता के स्थान पर समता का, अशान्ति की जगह शान्ति का, साम्राज्य विराजमान है। इस सुव्यवस्था का कारण क्या है ? 'ऋत' अर्थात् सत्यभूत ब्रह्म। देवतागण भी ऋत के स्वरूप हैं या ऋत से उत्पन्न हुए हैं। सोम ऋत के द्वारा उत्पन्न (ऋतजात) तथा वर्धित होते हैं, वे स्वय ऋत रूप है (ऋग्वेद ९।१०८।८) सूर्य ऋत का ही विस्तार करते है तथा नदियां इसी ऋत को वहन करती है[3] (ऋ० वे० १।१०५।१५)। सकल देवताओं के भीतर सकल कार्यों के अन्तर में यही ऋत या कारण-सत्ता अनुप्रविष्ट है। इसी सत्ता का अवलम्बन कर कार्य-वर्ग अपनी स्थिति बनाये हुए है।

ऋग्वेद में देवताओं के द्विविध रूप का वर्णन मिलता है—एक तो स्थूल दृश्य रूप है और दूसरा सूक्ष्म अदृश्य गूढ़ रूप है। उनका जो रूप हमारे नेत्रों के सामने आता है वह है उनका स्थूल रूप (या आधिभौतिक रूप), परन्तु जो रूप हमारी इन्द्रियों से अतीत है, भौतिक इन्द्रियों में जिसे ग्रहण करने की शक्ति नहीं है वह है उनका गूढ़रूप (आधिदैविक रूप)। इनसे अतिरिक्त एक तृतीय प्रकार—

---

१ द्रष्टव्य ऋ० वे० ३।५५।५

२ ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत। ऋ० वे० १०।१९०।१

३ ऋतमर्षन्ति सिन्धवः।

आध्यात्मिक रूप—का भी परिचय किन्हीं मन्त्रों में उपलब्ध होता है। उदाहरण के लिए विष्णु, सूर्य तथा अग्नि के द्विविध रूप की समीक्षा कीजिए। जिस रूप में विष्णु ने पार्थिव लोकों का निर्माण किया, 'उत्तर सधस्थ' अन्तरिक्ष को स्थिर किया तथा तीन क्रमों से इस विश्व को माप डाला, वह उनका एक रूप है[1], परन्तु इससे अतिरिक्त उनका 'परम पद' है जहाँ विष्णु का सूक्ष्म रूप निवास करता है। उस लोक में विष्णु के भक्त लोग अमृत पान करते हुए आनन्दानुभव किया करते हैं। उसमें मधुचक्र है—अमृतकूप है[2]। उस परमपद को ज्ञानसम्पन्न जागरणशील विप्रलोग, विद्वज्जन ही, जानते हैं[3]। विष्णु के परमपद की प्राप्ति ब्रह्म की ही उपलब्धि है। इसीलिए श्रुति विष्णु को हमारा सच्चा बन्धु बतलाती है।

इसी प्रकार सूर्य के त्रिविध रूपों का नितान्त स्पष्ट वर्णन उपलब्ध होता है। ऋषि अन्धकार को दूर करने वाले सूर्य के तीन रूपों का वर्णन करते हैं—उत्, उत्+तर=उत्तर, उत्+तम=उत्तम, जो क्रमशः माहात्म्य में बढ़कर है। सूर्य की उस ज्योति का नाम 'उत्' है जो इस भुवन के भौतिक अन्धकार के अपनयन में समर्थ होती है। देवों के मध्य में जो देव-रूप से निवास करती है वह 'उत्तर' है, परन्तु इन दोनो से बढ़कर एक विशिष्ट ज्योति है, उसकी संज्ञा इस मन्त्र में 'उत्तम' है। अतः ये तीनों शब्द सूर्य के कार्यात्मक, कारणात्मक तथा कार्य-कारण से अतीत अवस्था के द्योतक हैं। अतः इस एक ही मन्त्र में सूर्य के आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक स्वरूपों का संकेत

---

१ ऋ० वे० १।१५४।१

२ विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः। (ऋ० १।१५४।५)

३ तद् विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते।
विष्णोर्यत् परमं पदम्॥ (ऋ० वे० १।२२।२१)

किया गया है[1]। 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' (जगम तथा स्थावर समस्त विश्व का आत्मा सूर्य है) इस मन्त्र का लक्ष्य आधिभौतिक सूर्य नहीं है। 'आत्मा' शब्द स्पष्टत सूर्य के परमात्म-तत्त्व को लक्ष्य कर प्रयुक्त किया गया है।

अग्नि के इसी प्रकार स्थूल तथा सूक्ष्म रूपों की मनोरम कल्पना ऋग्वेद में मिलती है। ऐतरेय आरण्यक का कहना है कि अग्नि दो प्रकार का होता है—(१) तिरोहित अग्नि और (२) पुरोहित अग्नि। 'तिरोहित' शब्द अग्नि के अव्यक्त, गूढ़ तथा सूक्ष्म रूप का परिचायक है। अतः पुरोहित अग्नि व्यक्त, पार्थिव अग्नि का प्रतिपादक है। 'अग्निमीडे पुरोहितम्' मन्त्र में पुरोहित अर्थात् अभिव्यक्त, पार्थिव अग्नि की सत्ता का निर्देश किया गया है[2]।

इन प्रमाणों के आधार पर हम निःसन्देह कह सकते हैं कि ऋग्वेद इस विश्व के अनुपम शक्तिशाली एक नियन्ता से परिचित है तथा वह विभिन्न देवताओं को उसी की नाना शक्तियों का प्रतिनिधि बतलाता है। अतः वैदिक धर्म अद्वैत-तत्त्व के ऊपर अवलम्बित है। नाना के बीच में एकता की भावना, भिन्नता के बीच अभिन्नता की कल्पना दार्शनिक जगत् में मौलिक तत्त्व है और इस निगूढ़तम तत्त्व के अनुसन्धान करने का समस्त गौरव हमारे वैदिक-कालीन आर्षचक्षुःसम्पन्न महर्षियों को निःसन्देह है।

---

१ उद् वयं तमसस्परि ज्योतिः पश्यन्त उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥

—ऋ० वे० १।५०।१०

२ देवतातत्व के विशद विवेचन के लिये देखिए कोकिलेश्वर शास्त्री—अद्वैतवाद (बंगला), पञ्चम अध्याय।

दे व - प रि च य

द्युस्थान देवता

वरुण—वरुण सूक्तों की संख्या एक दर्जन से अधिक न होने पर भी वरुण इन्द्र के महनीय देवता हैं। उनका मानव रूप एकान्त सुंदर है। वह अपने भुजाओं को हिलाते हैं, भ्रमण करते हैं, रथ हाँकते हैं, बैठते हैं तथा खाते पीते हैं। उनका शरीर पुष्ट तथा मांसल है। उनका सुनहला कवच (हिरण्यय द्रापि) दर्शकों के नेत्रों को चकाचौंध किया करता है। सूर्य उनका नेत्र है। वह दूर के वस्तुओं को भी देख सकते हैं तथा उनके हजार नेत्रों का उल्लेख है। उनका रथ सूर्य की तरह चमकता है जिनमें सुन्दर घोडे जुते रहते हैं। अपने नेत्र के द्वारा वे समस्त भुवनों के भीतर घटित होनेवाली घटनाओं का निरीक्षण करते हैं तथा मनुष्यों के हृदय में संचरणशील भावों का भी उन्हें पूर्ण ज्ञान रहता है। ऊर्ध्वतम लोक में उनका सुवर्णमय प्रासाद है—एक हजार खम्भों तथा एक सहस्र द्वारों से मण्डित विशाल प्रासाद, जहाँ बैठकर वे अद्भुत, अतीत तथा भविष्य में करणीय समस्त कार्यों को देखा करते हैं। पितृगण उसी प्रासाद में वरुण का दर्शन करते हैं और वहाँ वरुण के चारो ओर दूत गण (स्पशः) बैठते हैं तथा दोनों लोकों का निरीक्षण किया करते हैं। वरुण सम्राट् तथा स्वराट् की उपाधि से विभूषित हैं। वे क्षत्र (प्रभुत्व) के अधिपति होने से क्षत्रिय नाम से व्यवहृत किये जाते हैं। असुर (प्राणदायक) शब्द मुख्यतः वरुण के लिए ही प्रयुक्त होता है। उनकी अनिर्वचनीय शक्ति का नाम माया है जिसके द्वारा वे जगत् का संचालन किया करते हैं।

इसी माया के बल पर वह जगत् का रक्षण तथा संवर्धन करता है। वृष्टि को भेजकर अन्न उपजाता है तथा जगती को बलीयसी बनाता है। सूर्य को आकाश के बीचो बीच प्रकाश के निमित्त भेजता है तथा हिरण्मयी उषा की प्रेरणा करता है। अत्रि ऋषि इसी माया का निर्देश तथा रूप-संकलन स्पष्टतः कर रहे हैं—

माया वां मित्रावरुणा दिवि श्रिता
सूर्यो ज्योतिश्चरति चित्रमायुधम्।
तमभ्रेण वृष्ट्या गूहथो दिवि
पर्जन्य द्रप्सा मधुमन्त ईरते॥
(ऋ० ५।६३।४)

हे मित्रावरुण, आप की माया शक्ति आकाश का आश्रय लेकर निवास करती है। चित्र-विचित्र किरणों से सम्पन्न होनेवाला ज्योतिष्मान् सूर्य इसी शक्ति के सहारे चलता है। आकाश में उस सूर्य को मेघ तथा वृष्टि से आप लोग छिपा देते हैं जिससे पर्जन्य मधुमान् जल बिन्दुओं की वर्षा कर जगती को मधुमयी, मंगलमयी तथा मोदमयी बना देता है। समस्त गौरव है आप की माया शक्ति का।

वैदिक ऋषियों की मर्मस्पर्शी आध्यात्मिक दृष्टि विश्व की विषमता तथा विपुलता का बाह्य आवरण भंग कर उसके अन्तस्तल में प्रवेश करती है और बतलाती है कि इसके भीतर सुव्यवस्था का अखण्ड साम्राज्य विराजता है—सर्वत्र एकसूत्र में बंधी व्यवस्था-नटी अपना नर्तन कर जगती के प्राणियों का मंगल साधन करती है। इस भौतिक व्यवस्था का वैदिक अभिधान ऋत है और वेद के मन्तव्यानुसार ही जगत् पर उत्पन्न होनेवाले पदार्थों में सर्वप्रथम उत्पन्न होने का गौरव इसी ऋत को उपलब्ध है। सृष्टि के इस आधार स्थानीय ऋत की प्रशस्त प्रशंसा मन्त्रों बहुत मिलती है। वरुण के अनुशासन के वशवर्ती बनकर ही नक्षत्र

अपने गमनागमन का निश्चय करते हैं। जगती को चमकाता हुआ चन्द्रमा रात को आता है वरुण की ही आज्ञा से। तथ्य यह कि वरुण के व्रत अदब्ध—अधर्षणीय होते हैं। ऋतगोपा वरुण के अनुशासन में इस विश्व का अणु से भी अणुतर पदार्थ तथा महत् से भी महत्तर पदार्थ परिचालित होकर अपनी सत्ता तथा स्थिति धारणा करता है तथा इसे महनीय बनाता है। विश्व के इस महनीय तथ्य का प्रतिपादक ऋषि का यह मार्मिक कथन है—

अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि—जो कोई व्यक्ति वरुण के इस व्रत का उल्लंघन करता है, व्रतपालन में शिथिलता करता है, व्रत-मार्ग की व्यवस्था का तिरस्कार कर अव्यवस्था को अपने जीवन का लक्ष्य बनाता है उसे वरुण कभी क्षमा नहीं करते। वे क्रुद्ध होकर उस व्यक्ति को अपने नाशकारी आयुध का पात्र बनाते हैं तथा पाशहस्त वरुण उस व्यक्ति को अपने विकट पाश से जकड़ देते हैं।

वरुण के नियम सर्वदा ही निश्चित तथा दृढ़ हैं और इसीलिए उन्हीं के लिए 'धृतव्रत' शब्द प्रयुक्त होता है। स्वयं देवता लोग भी उनके व्रत का पालन करते हैं। उनकी शक्ति इतनी अधिक है कि उनके बिना न तो उड़ने वाली पक्षियाँ, न बहने वाली सरिताएँ अपने गन्तव्य स्थान को प्राप्त कर सकती हैं। वह समग्र विश्व को और सब प्राणियों के निवास स्थान को व्याप्त कर विद्यमान है। वह सर्वज्ञ है। वह आकाश में उड़ने वाली पक्षियों के मार्ग को, समुद्रगामी नावों के पथ को, सुदूर बहने वाले वायु के प्रवाह को वे भली भाँति जानते हैं। इतना ही नहीं वे मनुष्यों के सत्य-अनृत भावों को भी देखते हैं। इस जगत् में ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है जो बिना उनके ज्ञान के निमेष तक भी उठा सके।

इस विश्व के नैतिक अध्यक्ष के रूप में वरुण से बढ़कर कोई भी देवता नहीं है। पाप करने से, उनके व्रतों को भग करने से उनका क्रोध उत्पन्न होता है और पापियों को दण्ड देते हैं। पापियों को बाँधने के लिए उनके हाथ में पाश रहता है। परन्तु वे दयालु भी हैं। वे अपनी अनुग्रहशक्ति के द्वारा अपने किये गये अपराधों को स्वीकार करने वाले प्राणियों पर दया की वर्षा करते हैं। ऋग्वेद में एक बड़ा सुन्दर सूक्त (७।८६) मिलता है जिसमें वरुण के कोपभाजन बनने की आशका से विचलित उपासक के हृदय का मार्मिक उद्गार है। भौतिक पार्थिव के गुप्तचरों के समान आध्यात्मिक आधिपत्य से आहत सम्राट् वरुण के स्पश जगतीतल के प्राणियों के जीवन को स्पर्श करते हैं तथा उनके गुणदोषों की खबर अपने मालिक के पास क्षणभर में पहुँचा देते हैं। इस प्रकार गुणदोषों के द्रष्टा, पाप-पुण्यों के विवेचक, कर्मानुसारी फलों के उपस्कर्त्ता सम्राट् वरुण का स्थान वैदिक देवता-मण्डली में प्रजापति के समकक्ष है।

विशाल समुद्र के वक्षः स्थल पर एक ही नाव में बैठकर झूले में झूलते हुये वरुण तथा वसिष्ठ का मानस साक्षात्कार किस व्यक्ति के हृदय में आध्यात्मिकता की भव्य झाँकी नहीं कराता ?

> आ यद् रुहाव वरुणश्च नावं
> प्र यत् समुद्रमीरयाव मध्यम्।
> अधि यदपां स्नुभिश्चराव
> प्र प्रेङ्ख ईङ्खयावहै शुभे कम्॥ (ऋ० ७।८८।३)

वरुण कर्मद्रष्टा ईश्वर के प्रतिनिधि हैं। वसिष्ठ कर्मभोक्ता जीव के प्रतीक हैं। समुद्र में बहने वाली नाव भवसागर पर छलकने

वाले इस मानव शरीर का प्रतीक है। समान वृक्ष पर बैठने वाले दो पक्षियों का चित्र, नरनारायण के परस्पर सगमन का दृश्य तथा समान रथ पर आरूढ़ कृष्ण तथा अर्जुन का दृश्य इसी वसिष्ठ-वरुण के परस्पर मिलन की विभिन्न अभिव्यक्तियां हैं।

कतिपय विद्वान् मित्र के साम्य पर वरुण को रजनी का देवता मानते हैं तो दूसरे लोग चन्द्रमा का। 'मित्रावरुणौ' में मित्र निःसन्देह सूर्य का प्रतिनिधि है तथापि इसी कारण वरुण को चन्द्रमा का प्रतिनिधि मानना कथमपि सम्भव नहीं दीखता। वरुण के जिस रूप तथा कार्य-कलाप का वर्णन ऊपर किया गया है वह चन्द्रमा के लिये यथार्थ सिद्ध नहीं होता। अतः निरुक्तकार यास्क की ही सम्मति सुसंगत प्रतीत होती है। सूर्य-चन्द्रमा की विचरण लीला का ललित निकेतन, नील सलिल के सतह पर फैलने वाले फेनपुञ्जों के समान विकसित तारापुञ्जों से चमत्कृत, विश्व का आवरणकर्त्ता यह आकाश ही वरुण देवता का भौतिक प्रतीक है। इस समीकरण में व्युत्पत्ति ही सहायक नहीं है, अपि तु कार्यावली भी। 'वृणोति सर्वम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार वरुण ही जगत् के आवरणकर्त्ता देवता हैं। आकाश जगती तल से आवरण करने के कारण ही वरुण का चल-चक्र कहा जा सकता है। वरुण के कार्यकलाप की समता नितान्त स्पष्ट है। वरुण की देवत्व-कल्पना नितान्त प्राचीन युग में ही सम्पन्न हो गई थी, क्योंकि ग्रीस देश में वरुण की कल्पना 'यूरेनस' के रूप में उपलब्ध होती है। बोगाजकोई से प्राप्त शिलालेख में वरुण वर्त्तमान है जिससे स्पष्ट है कि इस्वी पूर्व पन्द्रह सौ वर्ष पहले मितानी लोगों के भी वे उपास्य देवता थे। पिछला युग वरुण के ह्रास का युग है जिसमें उनका नैतिक उदात्तता से ह्रास उत्पन्न हो जाता है और उनका साम्राज्य इस विशाल विश्व से धीरे-धीरे हटकर केवल जल तक ही सिमिट कर रह जाता है।

सौर देवता

पूषन्—ऋग्वेद के आठ सूक्तों में पूषन् की स्तुति है जिनमें से पाँच षष्ठ मण्डल में विद्यमान हैं। उनकी मानुषाकृति के विशेष चिन्हों का परिचय नहीं मिलता। उनके शिर पर जटायें हैं तथा दाढ़ी है। उनके हाथ सुवर्ण का बना हुआ भाला तथा अंकुश है। घोड़ों के स्थान पर बकरे रथ के वाहन हैं। वह अपनी भगिनी (पूषा) का प्रेमी तथा सूर्य की कन्या सूर्या का पति है। वह सब प्राणियों को देखनेवाला तथा जाननेवाला देवता है। उनका वासस्थान स्वर्ग में है जहाँ से वह सब संसार को देखते हुए अपने रथ पर चढ़ कर आते-जाते हैं। प्रेतात्माओं को पितृ-लोक में ले जाने का काम उनका है। वह मार्गों के अध्यक्ष हैं तथा उन्हें विपत्तियों से दूर कर प्राणियों की रक्षा करते हैं। वह गोचर भूमि में जाने वाले पशुओं के पीछे जाते हैं, उनकी रक्षा करते हैं तथा बिना किसी हानि तथा हिंसा के वह उन्हें घर पहुँचा देते हैं तथा भूले हुए पशुओं को घर लाते हैं। इसीलिए वे मुक्ति के पुत्र (विमुचो नपात्) कहलाते हैं। 'आघृणि' (प्रकाशमान) उनका विशिष्ट विशेषण है। 'पूषन्' शब्द का अर्थ है 'पोषण कर्ता' और इसीलिए वे सूर्य की पोषण शक्ति के प्रतिनिधि देव हैं।

मित्र—पूषन् की अपेक्षा 'मित्र' के सूक्त बिल्कुल नगण्य हैं। वह वरुण के संग में इतनी अधिकता तथा घनिष्ठता से उल्लिखित है कि उसके लिए एक ही स्वतन्त्र सूक्त है (३।५९)। वह मनुष्यों को उद्यमशील बनाता है (यातयति) और 'यातयज्जनः' (मनुष्यों को एकत्र बोध करानेवाला) विशेषण उसी के लिए प्रयुक्त होता है। मित्र सूर्य के संचार का नियामक है। इसीलिए वह सविता के साथ अभिन्न माना जाता है (५।८१)। अग्नि, जो उषाओं का अग्रगामी होता है (अर्थात् उषा के उदय से प्रथम ही जलाया जाता है) मित्र को उत्पन्न करता

है और प्रज्वलित होने पर वही 'मित्र' होता है। ब्राह्मणों में मित्र का सम्बन्ध दिन से माना गया है तथा वरुण का रात्रि के साथ। वैदिक मित्र पारसी धर्म का मुख्य देवता 'मिथ्र' से अभिन्न है। मिथ् निश्चित रूप सूर्य का प्रतीक है। इस प्रकार मित्र के सौर देवता होने में कुछ भी सन्देह नहीं। मित्र का अर्थ है सुहृद् या सहायक और इस लिए मित्र सूर्य की रक्षण शक्ति का निःसन्देह प्रतिनिधि है।

सवितृ—मित्र की अपेक्षा सवितृ की भूयसी महत्ता ऋग्वेद में दृष्टिगोचर होती है। वह स्वतन्त्र रूप से एकादश सूक्तों द्वारा प्रशंसित है। वह 'हिरण्यमय' देव है जिसके हाथ, नेत्र और जिह्वा सब हिरण्यमय हैं। शीघ्र-गामी दो अश्वों के द्वारा सचालित रथ पर चढ़कर सविता विश्व को अपने हिरण्मय नेत्रों से देखता हुआ गमन किया करता है। वह प्राणियों के पापों तथा दोषों को दूर कर उन्हें निर्दोष बनाता है। वह ऋत का अनुगामी है। हिन्दुओं के गायत्री मन्त्र का उपास्य यही सविता देवता है—यह नितान्त पवित्र तथा स्फूर्तिदायक मन्त्र जिसका प्रातः और सन्ध्या-वन्दन में जपना प्रत्येक द्विज का मुख्य धर्म है। सविता का सम्बन्ध प्रातःकाल के समान सायंकाल से भी है क्योंकि इन्हीं के आदेश पर रात्रि का आगमन होता है। 'सविता' का अर्थ है प्रसव करनेवाला, स्फूर्ति देनेवाला देवता। अतः विश्व में गति के संचार करने तथा प्रेरणा देनेवाले सूर्य का सविता निश्चय ही प्रतिनिधि है।

आकृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन् ॥

(१।३५।२)

सूर्य

सौर देवों में सूर्य का रूप इतना ठोस है कि इसके भौतिक आधार, उदय लेनेवाला सूर्य, को मन्त्रों में कभी भुलाया नहीं गया है। इनकी आँख का वर्णन मिलता है, परन्तु वे स्वयं मित्रावरुण के नेत्र कहे गये हैं। वह सब प्राणियों का उनके शोभन तथा अशोभन कार्यों का द्रष्टा है तथा मनुष्यों को कर्म का प्रेरक देव; जंगम तथा स्थावर पदार्थों का आत्मा है। (सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च)। 'एतश' नामक एक घोड़ा अथवा 'हरित' नामक सात तेज चलनेवाली घोड़ियाँ उसके रथ को खींचती हैं।

अनेक मन्त्रों में सूर्य कभी तो आकाश में उड़ने वाले पक्षी के रूप में, कभी लालरंग के पक्षी के रूप में और कभी उड़नेवाले गृध्र के रूप में माना गया है। वह आकाश में चमकता हुआ अन्धकार को दूर भगाता है जिसे वह चर्म की भाँति लपेट लेता है अथवा जिसकी किरणें पानी में चर्म के समान उसे फेंक देती हैं। वह दिनों को मापता है और जीवन को बढ़ाता है। वह रोग, बीमारी तथा दुष्ट स्वप्नों को दूर भगा देता है। वह अपने गौरव तथा महत्व के कारण देवों का पुरोहित कहा गया है (असुर्य पुरोहित·) 'सूर्य' का सम्बन्ध स्वर् (प्रकाश) से है तथा वह अवस्ता के ह्वरे (सूर्य) के समान ही है जो तेज घोड़ों को रखता है तथा जो अहुरमज्दा का नेत्र है। उसके वैशिष्ट्य को यह मन्त्र स्पष्टत प्रकट कर रहा है—

> उद् वेति सुभगो विश्वचक्षाः
> साधारणः सूर्यो मानुषाणाम्।
> चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्य देव-
> श्चर्मेव यः समविव्यक् तमांसि ॥
>
> (ऋ० ७।६३।१)

विष्णु

व्यापनशील होने से विष्णु सूर्य के क्रियाशील रूप के प्रतिनिधि हैं। सूर्य की नाना क्रियाओं तथा दशाओं की विभिन्नता से अनेक देवताओं के रूप में ऋग्वेद में कल्पना की गई है। सूर्य एक स्थान पर कभी नहीं टिकता। वह प्रातःकाल प्राची के क्षितिज से उठकर दोपहर को ठीक आकाश के मध्य में आ विराजता है तथा सन्ध्याकाल में पश्चिम दिशा में अस्त हो जाता है। यह सूर्य का क्रियाशील उद्योग-सम्पन्न रूप है जिसकी कल्पना 'विष्णु' के रूप में की गई है। उसके स्वरूप की तुलना पर्वत पर रहनेवाले, यथेच्छ भ्रमण करनेवाले, भयानक पशु (= सिंह) से की गई है (मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः; ऋग्० १।१५४।२)। विष्णु का महत्त्वशाली कार्य पृथ्वी को तीन डगों में माप डालने का है। वह एक होकर भी तीन डगों से विश्व को नाप लेता है (एको विममे त्रिभिरित् पदेभिः)। इन विशाल डगों या क्रमों के कारण वह 'उरुक्रम' तथा 'उरुगाय' कहलाता है। विष्णु के इन तीन पदक्रमों के विषय में पर्याप्त मतभेद था। यास्क के उल्लेखानुसार (निरुक्त १२।१९) आचार्य और्णवाभ के मत में प्रातः, मध्याह्न तथा सायंकाल में सूर्य के द्वारा अंगीकृत आकाश के तीन स्थान-विन्दुओं का निर्देश है। अन्य आचार्य शाकपूणि के मत में त्रिक्रमणों से पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश—इन तीनों लोकों के मापने तथा अतिक्रमण करने का संकेत है। इन दोनों मतों में से द्वितीय मत की पुष्टि ऋग्वेदीय मन्त्रों से स्वतः होती है जिनमें तृतीय पद की सत्ता उर्ध्वतम लोक में मानी गई है। विष्णु के परम पद—उच्चलोक में मधु का उत्स (झरना) बतलाया गया है तथा भूरिश्रृंगा (नाना सींगों से युक्त) चञ्चल (अयासः) गायों का अस्तित्व माना गया है (यत्र गावो भूरिश्रृंगा अयासः, ऋ० १।१५४।६)। ये गायें सूर्य की किरणें ही हैं जिनका आकाश के मध्य में नाना प्रकार के प्रसरण की उपमा

शृंगों से दी गई है। विष्णु की स्तुति में यह मन्त्र उनके रूप का पर्याप्त परिचायक है—

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।
स मूढमस्य पांसुरे ॥ (ऋ० १।२२।७)

विष्णु के इस रूप-निर्देश में अवान्तर-युगीय पौराणिक कल्पनाओं के बीज अन्तर्निहित हैं। त्रिविक्रम विष्णु ही पुराणों में वामन के रूप में चित्रित हैं जिसके लिए 'उरुक्रम' तथा 'उरुगाय' जैसे वैदिक पदों का प्रयोग दोनों के एकत्व का परिचायक है। वैष्णव तन्त्रों के अनुसार भगवान् विष्णु का वैकुण्ठलोक 'गोलोक' कहलाता है। इस धारणा का भी मूल पूर्वोक्त मन्त्र में पर्याप्तरूपेण उपलब्ध होता है। विष्णु के भक्त लोग इसी वैकुण्ठलोक में मृत्यु के अनन्तर जाते हैं तथा स्वादिष्ट वस्तुओं का उपभोग करते हुए आनन्द उठाते हैं (नरो यत्र देवयवो मदन्ति, ऋ० १।१५४।५)। इस सूर्यरूपी विष्णु की प्रमुखता वैदिक युग में भले ही न हो, परन्तु उसमें वे समस्त चिन्ह विद्यमान हैं जिनका विकाश तथा महत्त्व पीछे के युग में सम्पन्न दीखता है विशेषतः वैष्णव धर्म के माननीय ग्रन्थों में।

अश्विन्

अश्विनौ सयुक्त देवता हैं जिनकी महत्ता इन्द्र, अग्नि तथा सोम के अनन्तर मान्य होती है। पूरे पचास सूक्त इनकी प्रार्थना में प्रयुक्त हैं। ये दो देवता हैं जो अविभक्त रूप से एकत्र रहते हैं। ये प्राचीन होते हुए भी युवक हैं। ये प्रकाशमान, प्रकाश के अधिपति, सुवर्ण की चमक धारण करने वाले तथा कमलों की माला से अलकृत वर्णित हैं। इनके लिए दो स्वतन्त्र तथा बहुशः प्रयुक्त विशेषण हैं—दस्रा (अद्भुत) तथा नासत्या (सत्य)। इनके ही लिए 'हिरण्यवर्तनि' (सुवर्ण मार्ग वाले) शब्द का प्रयोग किया गया है। सोम की अपेक्षा मधु से ही इनका

घनिष्ट सम्पर्क है। अन्य देवों की अपेक्षा ये मधु अधिक पीते हैं, उनके पास मधु से भरा हुआ कोष है, मधु के एक सैकड़े घड़ों को वे उड़ेलते हैं। उनका अंकुश ही मधुमय नहीं है, प्रत्युत उनका रथ भी मधु वर्ण वाला तथा मधु धारण करने वाला है। यह रथ घोड़ों के द्वारा, अधिकतर पक्षियों या पक्षधारी अश्वों के द्वारा खींचा जाता है। इसी पर बैठकर वह एक ही दिन में द्यावापृथिवी की परिक्रमा कर आते हैं। उषा तथा सूर्य के उदय काल के मध्य में इनका आविर्भाव होता है; उषा के आगमन के अनन्तर वे उसका अनुगमन करते हैं। वे अन्धकार दूर करते हैं तथा मानवों को क्लेश पहुँचाने वाले राक्षसों को दूर भगा देते हैं।

वे सूर्यपुत्री सूर्या के पति हैं जिन्हें उसने स्वयं वरण किया है तथा जिनके रथ पर वह चढ़ती है। उनके रथ पर सूर्या की स्थिति इनका वैशिष्ट्य है। इसीलिए ऋग्वेद के विवाह सूक्त (१०।८५) में इनसे विवाहित वधू को अपने रथ पर चढ़ा कर घर लाने की तथा सन्तान उत्पन्न करने की क्षमता प्रदान करने की प्रार्थना की गई है।

विपत्तियों से प्राणियों का उद्धार करना अश्विन् देवता का प्रधान कार्य है। विपत्ति से शीघ्रतम उद्धारक के रूप में इनकी ख्याति अक्षुण्ण है। ये देवताओं में कुशल वैद्य हैं जो अपने औषधों से रोगों को दूर करते हैं, अन्धों को वे देखने की शक्ति देते हैं तथा बीमार पड़े लोगों को रोगमुक्त करते हैं। इनके परोपकार की कार्यावली का निर्देश अनेक मन्त्रों में बहुशः किया गया है। उन्होंने च्यवान ऋषि को वृद्धता से मुक्त कर यौवन प्रदान किया तथा उनकी पत्नी के लिए उन्हें सुन्दर बना दिया। पेदु को उन्होंने एक सफेद शीघ्रगामी अश्व प्रदान किया। अन्धकार के कारागृह में वह अत्रि का उद्धार किया, परन्तु इनकी सब से श्रेष्ठ घटना है भुज्यु का समुद्र के तल से उद्धार, जब इनकी

शृंगों से दी गई है। विष्णु की स्तुति में यह मन्त्र उनके रूप का पर्याप्त परिचायक है—

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।
स मूढमस्य पांसुरे॥ (ऋ० १।२२।७)

विष्णु के इस रूप-निर्देश में अवान्तर-युगीय पौराणिक कल्पनाओं के बीज अन्तर्निहित हैं। त्रिविक्रम विष्णु ही पुराणों में वामन के रूप में चित्रित हैं जिसके लिए 'उरुक्रम' तथा 'उरुगाय' जैसे वैदिक पदों का प्रयोग दोनों के एकत्व का परिचायक है। वैष्णव तन्त्रों के अनुसार भगवान् विष्णु का वैकुण्ठलोक 'गोलोक' कहलाता है। इस धारणा का भी मूल पूर्वोक्त मन्त्र में पर्याप्तरूपेण उपलब्ध होता है। विष्णु के भक्त लोग इसी वैकुण्ठलोक में मृत्यु के अनन्तर जाते हैं तथा स्वादिष्ट वस्तुओं का उपभोग करते हुए आनन्द उठाते हैं (नरो यत्र देवयवो मदन्ति, ऋ० १।१५४।५)। इस सूर्यरूपी विष्णु की प्रमुखता वैदिक युग में भले ही न हो, परन्तु उनमें वे समस्त चिन्ह विद्यमान हैं जिनका विकाश तथा महत्त्व पीछे के युग में सम्पन्न दीखता है विशेषतः वैष्णव धर्म के माननीय ग्रन्थों में।

अश्विन्

अश्विनौ संयुक्त देवता हैं जिनकी महत्ता इन्द्र, अग्नि तथा सोम के अनन्तर मान्य होती है। पूरे पचास सूक्त इनकी प्रार्थना में प्रयुक्त हैं। ये दो देवता हैं जो अविभक्त रूप से एकत्र रहते हैं। ये प्राचीन होते हुए भी युवक हैं। ये प्रकाशमान, प्रकाश के अधिपति, सुवर्ण की चमक धारण करने वाले तथा कमलों की माला से अलकृत वर्णित हैं। इनके लिए दो स्वतन्त्र तथा बहुशः प्रयुक्त विशेषण हैं—दस्रा (अद्‌भुत) तथा नासत्या (सत्य)। इनके ही लिए 'हिरण्यवर्तनि' (सुवर्ण मार्ग वाले) शब्द का प्रयोग किया गया है। सोम की अपेक्षा मधु से ही इनका

घनिष्ट सम्पर्क है। अन्य देवों की अपेक्षा ये मधु अधिक पीते हैं, उनके पास मधु से भरा हुआ कोष है, मधु के एक सैकड़े घड़ों को वे उड़ेलते हैं। उनका अंकुश ही मधुमय नहीं है, प्रत्युत उनका रथ भी मधु वर्ण वाला तथा मधु धारण करने वाला है। यह रथ घोड़ों के द्वारा, अधिकतर पक्षियों या पक्षधारी अश्वों के द्वारा खींचा जाता है। इसी पर बैठकर वह एक ही दिन में द्यावापृथिवी की परिक्रमा कर आते हैं। उषा तथा सूर्य के उदय काल के मध्य में इनका आविर्भाव होता है, उषा के आगमन के अनन्तर वे उसका अनुगमन करते हैं। वे अन्धकार दूर करते हैं तथा मानवों को क्लेश पहुँचाने वाले राक्षसों को दूर भगा देते हैं।

वे सूर्यपुत्री सूर्या के पति हैं जिन्हें उसने स्वयं वरण किया है तथा जिनके रथ पर वह चढ़ती है। उनके रथ पर सूर्या की स्थिति उनका वैशिष्ट्य है। इसीलिए ऋग्वेद के विवाह सूक्त (१०।८५) में उनसे विवाहित वधू को अपने रथ पर चढ़ा कर घर लाने की तथा सन्तान उत्पन्न करने की क्षमता प्रदान करने की प्रार्थना की गई है।

विपत्तियों से प्राणियों का उद्धार करना अश्विन् देवता का प्रधान कार्य है। विपत्ति से शीघ्रतम उद्धारक के रूप में उनकी ख्याति अक्षुण्ण है। वे देवताओं में कुशल वैद्य हैं जो अपने औषधों से रोगों को दूर करते हैं, अन्धों को वे देखने की शक्ति देते हैं तथा बीमार पड़े लोगों को रोगमुक्त करते हैं। उनके परोपकार की कार्यावली का निर्देश अनेक मन्त्रों में बहुशः किया गया है। उन्होंने च्यवान ऋषि को वृद्धता से मुक्त कर यौवन प्रदान किया तथा उनकी पत्नी के लिए उन्हें सुन्दर बना दिया। पेदु को उन्होंने एक सफेद शीघ्रगामी अश्व प्रदान किया। अन्धकार के कारागृह में बद्ध अत्रि का उद्धार किया, परन्तु उनकी सब से श्रेष्ठ घटना है भुज्यु का समुद्र के तल से उद्धार, जब उसकी

हज़ार डाँडों वाली जहाज समुद्र के बीच टूट गई थी और वह उसमें अपने प्रिय प्राणों को गवाँ रहा था।

अश्विनौ के भौतिक आधार के विषय में प्राचीनकाल से मतवैभिन्य चला आता है। यास्क ने ही विविध मतों का उल्लेख कर इस मतभेद की सूचना दी है। आधुनिक पश्चिमी विद्वानों ने भी अनेक व्याख्यायें दी हैं। सब से सम्भाव्य मत यह है कि ये प्रातःकालीन सन्ध्या के, आधा प्रकाशमय तथा आधा अन्धकारमय काल के, प्रतीक हैं अथवा प्रातः और सायंकाल उदय लेने वाले नक्षत्र (शुक्र) के प्रतिनिधि हैं। इनका उदय भारोपीय काल में सम्भवतः सम्पन्न हो गया था। ग्रीक धर्म में जुएस (देवाधिदेव) के दो पुत्रों की कल्पना है जो हेलेना देवी के भाई हैं। उन्हीं से उषा के भ्राता अश्वारोही अश्विनौ की समता विद्वानों ने की है। नासत्या के नाम से इनका उल्लेख मितानि जाति के देवताओं में किया गया है जिससे इनकी प्राचीनता तथा व्यापकता स्वतः सिद्ध होती है। अवस्ता में नासत्या एक असुर के रूप में कल्पित किया गया है।

उषा

उषा देवी के सूक्तों में वैदिक ऋषियों की प्रतिभा अपने चरम रूप में दृष्टिगोचर होती है। उषा के सूक्त ऋग्वेद के सूक्तों में अत्यन्त सुन्दर, प्रभावशाली तथा प्रतिभासम्पन्न हैं। ये वैदिक युग के गीति-काव्य के प्रमुख निदर्शन रूप में आलोचकों को चमत्कृत करते हैं। 'उषा' शब्द वस् दीप्तौ धातु से निष्पन्न हुआ है और इसलिए इसका अर्थ है प्रकाशमान्, दीप्तिसम्पन्न। उषा के वर्णन-प्रसंग में उसका भौतिक रूप मन्त्रद्रष्टाओं की दृष्टि से कभी ओझल नहीं होता। 'उषा' का मानवीय रूप सौन्दर्य का चरम अवसान है। नर्तकी के समान प्रकाशमय वस्त्रों से सज्जित, आलोक से आवृत उषा प्राची-क्षितिज पर उदय लेती है तब यह रजनी के घोर अन्धकार को मिले हुए वस्त्र के समान दूर फेंक देती

है। 'पुराणी युवतिः' शब्दों का प्रयोग उषा के लिए इसी निमित्त होता है कि वह पुराचीन होने पर भी नित्य उत्पन्न होती है। वह हिरण्य-वर्णा है तथा उसके सुवर्णमय रथ को लालरंगवाले, बलशाली तथा शिक्षित घोड़े (किरणें) खींचकर आकाश में लाते हैं। उस समय पक्षीगण अपने सुन्दर स्वरों से तथा मन्त्र-गायक लोग अपनी मधुर वाणी से उसका स्वागत करते हैं। वह प्रातः अग्नि के उपासकों को जगाती है तथा उन्हें अग्निहोत्र के लिए प्रेरित करती है और इस प्रकार देवों की सेवा करती है।

उषा सूर्य के साथ बहुशः सम्बद्ध है। वह देवों के नेत्र को लाती है, सूर्य के लिए मार्ग बनाती है। सूर्य तथा उषा के सम्बन्ध के विषय में अनेक कल्पनायें मन्त्रों में मिलती हैं। सूर्य उषा का अनुगमन उसी प्रकार करता है जिस प्रकार वर वधू का। फलतः वह सूर्य की पत्नी मानी गई है। सूर्य से प्रथम ही उदय लेने के कारण वह सूर्य की माता भी कहीं कही गई है जो चमकते हुए बालक को अपने साथ लाती है। वह रजनी की ज्येष्ठ भगिनी मानी जाती है और इन दोनों बहिनों के नाम द्वन्द्व समास में 'उषासानक्ता' तथा 'नक्तोषासा' के रूप में संयुक्त किये गये हैं। आकाश में उत्पन्न होने से वह 'दुहिता दिवः' भी प्रसिद्ध है। अग्नि भी उषा का कामुक कहा गया है जो उस समय ऋत्विजों के द्वारा प्रज्वलित होकर उससे मिलने के लिए जाता है। अश्विना भी उसके मित्र हैं, क्योंकि उषा उन्हें जगाती है तथा इसीलिए उनसे भी सम्बद्ध है।

वह मघोनी (दानशील), विश्ववारा (समस्त प्राणियों के द्वारा वरण-योग्य), प्रचेताः (प्रकृष्ट ज्ञान से सम्पन्न), सुभगा, रेवती (धन युक्त) आदि विशेषणों से मण्डित की जाती है। वह प्रकृति के नियम का पालन करती हुई उचित समय पर उपस्थित होती है और

इसी लिए वह 'ऋतावरी' शब्द का भाजन बनती है। वह अमरत्व का चिन्ह (अमृतस्य केतुः) है और वह प्रकाश-पुञ्ज को इसी प्रकार आवर्तन करती है जिस प्रकार कोई पहिए को लुढ़काता है। इस कमनीय कल्पना से मण्डित मन्त्र कितना कवित्वपूर्ण है—

> उषः प्रतीची भुवनानि विश्वो-
> र्ध्वा तिष्ठस्यमृतस्य केतुः
> समानमर्थं चरणीयमाना
> चक्रमिव नव्यस्या ववृत्स्व।
> (ऋ० ३।६१।३)

अन्तरिक्ष-स्थान देवता

इन्द्र

ऋग्वेद के चतुर्थांश सूक्तों में केवल इन्द्र की स्तुति है। इसका मुख्य कारण यही है कि वह वैदिक आर्यों का जातीय देवता है। उसके भौतिक रूप का वर्णन उपमा तथा अलंकार की सहायता से बड़ी सुन्दरता से किया गया है। उसके शरीर के भिन्न भिन्न अवयवों का बहुशः निर्देश मिलता है। सोमपान से वह अपने पेट को भरता है। वह स्वयं भूरे रंग का (हरि) है तथा उसके बाल और दाढ़ी भी भूरी है। वह अपने पराक्रम से समस्त देवों को परिभूत कर देते हैं तथा उत्पन्न होते ही देवों में अग्रगण्य स्थान पा लेते हैं। चलायमान पृथ्वी को तथा हिलने डुलनेवाले पर्वतों को उन्होंने स्थिर कर दिया। उनके व्यक्तिगत रूप का भी सुन्दर चित्र हमें मन्त्रों में मिलता है। उनका शरीर बड़ा ही गठीला तथा बलशाली है। उनकी ठुड्डी (हनु) बड़ी ही सुन्दर है (सुशिप्रः)। उनके बाहु वज्र के समान मजबूत हैं (वज्रबाहुः) तथा वे अपने हाथ में वज्र धारण करते हैं। उन्होंने शत्रुओं के पुरों को—दुर्ग से वेष्टित नगरों को—ध्वस्त कर दिया है (पुरभित्)। बल

शालिता के कारण इन्द्र की तुलना सात रस्सियों के सहारे कब्जे में आनेवाले बैल से दी गई है (वृषभः सप्तरश्मिः)। इन्द्र के वज्र को त्वष्टा ने लोहे से बनाया है जो सुनहला, भूरा, तेज, अनेक सिरा-वाला और कभी-कभी पत्थर का बना हुआ बताया गया है। वज्र इन्द्र का अपना विशिष्ट आयुध है और इसीलिए वह 'वज्रबाहु' तथा 'वज्री' के विशेषणों से मण्डित होता है। दो भूरे रंगवाले अश्वों (हरि) के द्वारा खींचे गये सुनहले रथ पर चढ़कर इन्द्र युद्ध करता है (रथेष्ठा)। अन्य देवों की अपेक्षा इन्द्र सोमपान का इतना अभ्यासी है कि 'सोमपा' शब्द उसी का विशिष्ट परिचायक है। सोम के पीने से उसमें उत्साह तथा शौर्य की इतनी अभिवृद्धि होती है जिससे वह अपने वीरमय कार्यों का सम्पादन करता है। वृत्र से युद्ध के अवसर पर उसने सोम से भरे हुए तीन तालाबों को पी डाला। ऋग्वेद का एक पूरा सूक्त (१०।११९) उसके सोमपान से उत्पन्न आनन्दोल्लास का कवित्वमय उद्‌गार है। उसके पिता द्यौः हैं और कहीं-कहीं अनुमानतः त्वष्टा प्रतीत होते हैं। उसकी पत्नी इन्द्राणी का भी उल्लेख मिलता है। वह अनेक देवताओं के साथ संयुक्तरूप में निर्दिष्ट है विशेषतः मरुतों के साथ ('मरुत्वन्त' इन्द्र का विशिष्ट अभिधान है'), अग्नि तथा वरुण के साथ। उसकी शक्ति अतुलनीय है जिसे न तो किसी मनुष्य ने पाया है और न किसी देवता ने। इस वैशिष्ट्य के कारण वह शचीपति तथा शक्र (बल का अध्यक्ष), शचीवन्त तथा शतक्रतु (सौ शक्तियों से सम्पन्न) विशेषणों का भाजन है।

उसका सब से महत्त्वशाली शौर्य वृत्र (दुर्भिक्ष तथा अकाल के असुर) का पराजय है। इन्द्र-वृत्र युद्ध का वर्णन नितान्त वीर रस का उत्पादक है और अत्यन्त सुन्दर प्रतिभा के सहारे यह घटना वर्णित है। वह अपने वज्र से वृत्र (अथवा अहि = सर्प) को, जो जल को व्याप्त कर उसे गिरने और बहने से रोके रहता है, ध्वस्त कर देता है और इसी

घटना से वह अप्सुजित् (जल में विजयी) की उपाधि धारण करता है। वह पर्वतों को चूर-चूर कर डालता है और गुफा में बद्ध गायों के समान जल को मुक्त कर प्रवाहित करता है।

वृत्र को अपने बल पर गर्व था (ओजायमानम्) और धूर्तता से वह अपने को इन्द्र की पकड़ से बचाये रखता था, परन्तु इन्द्र ने बड़े उद्योग से उसे चालीसवें वर्ष में (चत्वारिंश्यां शरदि) खोज निकाला और उसे अपने विकट वज्र से छिन्न-भिन्न कर दिया। उसके बुरे प्रभावसे नदियों का प्रवाह रुक गया था। सप्तसिन्धु प्रदेश की सातों नदियों की धारा रुक गयी थी। वृत्र वध के फल-स्वरूप सप्तसिन्धुओं में जल प्रवाहित होने लगा तथा देश में सुख सौख्य का साम्राज्य छा गया। इस प्रसग में मेघ कहीं पर्वत कहा गया है जहाँ वह दैत्य वास करता है अथवा जहाँ से वह उसे नीचे गिरा देता है। जलपूर्ण वलाहक का सकेत ऊधः (थन), उत्स (झरना), कबन्ध (पीपा), तथा कोप शब्दों के द्वारा किया गया है। मेघ वायुवीय दैत्यों के दुर्ग (पुर) भी कहे गये हैं और इसलिए उनके भेदक देवता के लिए 'पुरभिद्' का प्रयोग अनेकश. किया गया है। इन्द्र-वृत्र के वास्तव सकेत की व्याख्या अनेक प्रकार से प्राचीन तथा अर्वाचीन विद्वानों ने की है—

(१) निरुक्त के समय में भी वृत्र के विषय में अनेक कल्पनायें प्रचलित थीं। ऐतिहासिकों के अनुसार वृत्र वस्तुत. एक ऐतिहासिक राजा था और इन्द्र के साथ उसका युद्ध एक वास्तव युद्ध था। इसी पक्ष का आश्रयण कर भागवत में इस युद्ध का वर्णन किया गया है (भागवत, ६एस्कन्ध अध्याय ९-१३)।

(२) यास्क के अनुसार वृत्र मेघ का प्रतीक है। आवरणार्थक वृत्र् धातु से निष्पन्न वृत्र शब्द का अर्थ है आवरण करने वाला, जल को पृथ्वी पर गिरने से रोकने वाला। जल वर्षण न करने वाले मेघ ही

वृत्र के प्रतिनिधि हैं। इन्द्र वृष्टि के देवता हैं। दो पत्थरों (मेघों) के बीच में अग्नि (विद्युत्) उत्पन्न करने वाले इन्द्र (अश्मनोरन्तरग्निं जजान) का रूप वृष्टि देवता का परिचायक है। वृत्र के मारने के अनन्तर नदियों के रुके हुए जल-प्रवाह का वह निकलना इसी सिद्धान्त को पुष्ट करता है।

(३) लोकमान्य तिलक के अनुसार इन्द्र सूर्य का प्रतीक है तथा वृत्र हिम का प्रतिनिधि। उत्तरी ध्रुव में शीत ऋतु में समस्त नदियाँ अत्यन्त ठंढक के कारण जम जाती हैं, उनकी धारा रुक जाती है। वसन्तकालीन सूर्य अपनी प्रखर रश्मियों से जब बरफ को गला डालता है, तब वसन्त काल में नदियां प्रवाहित होने लगती हैं। अतः इन्द्र-वृत्र का आख्यान उत्तरी ध्रुव की भौगोलिक स्थिति का वास्तव परिचायक है।

(४) अधिकांश पश्चिमी वैदिक विद्वान् निरुक्त के पूर्वोक्त मत में ही अधिक श्रद्धा रखते हैं और इन्द्र को वृष्टि का ही मुख्य देवता मानते हैं। डा० हिलेब्राण्ट इस मत से सहमत नहीं हैं। उनकी दृष्टि में वृत्र उस हिमानी का संकेत करता है जो शीत के कारण जल को वर्फ के रूप में परिणत कर देती है। इस हिमानी का संहार ही इस आख्यान का परिणाम है। इन भिन्न-भिन्न मतों में अधिकांश वेदज्ञों की यही मान्यता है कि इन्द्र वृष्टि लाने वाले तूफान का देवता है।

वृत्र के वध के साथ-ही-साथ वह प्रकाश, सूर्य तथा उषा को भी इस जगतीतल पर लाता है। सोम को भी वह प्राप्त करता है। वह इस विश्व को क्षुब्ध करने वाली अनेक घटनाओं को शान्त करता है। कम्पायमान पर्वतों को तथा पृथ्वी को स्थिर करता है। उसने ही इस अन्तरिक्ष को विशाल बनाया है। इन्हीं की कृपा से आर्यों ने अपने शत्रुओं पर विजय पाई तथा दस्युओं को जंगल में खदेड़ कर उनके स्थानों

पर अधिकार कर लिया (दासं वर्णमधरं गुहाकः ऋ० २।१२।४)। अतएव आर्यों के विजय प्रदान करने वाले देव होने के नाते इनकी भव्य स्तुतियाँ बल तथा ओज के वर्णन से परिपूर्ण हैं। इन्द्र की स्तुति विजयप्रदात्री है—

> यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो
> यं युध्यमाना अवसे हवन्ते।
> यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव
> यो अच्युतच्युत् स जनास इन्द्रः॥
> (ऋ० २।१२।९)

अपां नपात्

इस देवता के नाम का अर्थ है—जल का पुत्र। इसके लिए एक पूरा सूक्त (२।३५) स्वतन्त्र रूप से मिलता है। युवक तथा दीप्तिमान् यह देवता बिना किसी इन्धन के ही जल के भीतर चमकता है जो इसे चारों ओर घेरे रहता है तथा उसे पुष्ट करता है। बिजुली से ढका हुआ यह देव रंग में, रूप में बिल्कुल सुवर्णमय है। मन के समान वेगशाली घोड़े उसे खींच कर लाते हैं। 'आशुहेमन्' (शीघ्रगामी) पद का प्रयोग अपां नपात् के लिए बहुशः तथा अग्नि के लिए एक बार किया गया है। इसीलिए यह अग्नि का, विशेषतः दिव्य अग्नि का (मेघों में छिपी हुई बिजुली का) सम्भवतः प्रतीक माना जाता है। इस देवता का उदय भारत में सम्बद्ध नहीं है, प्रत्युत यह पारसीक काल का निर्माण है, क्योंकि अवस्ता में अपां नपात जल में रहने वाला एक असुर है जो स्त्रियों से घिरा रहता है और जो तेज घोड़ों पर चढ़ता है। यह तो प्रसिद्ध ही है कि ऋग्वेद ने अनेक-अनेक देवों को अवस्ता धर्म वालों ने असुर का रूप प्रदान किया है।

पर्जन्य

यह बिलकुल साधारण श्रेणी का देवता केवल तीन सूक्तों में प्रशंसित है। 'पर्जन्य' का अर्थ है वर्षाकालीन मेघ और ठीक इसी रूप में इसका वर्णन भी मिलता है। उसकी उपमा जोर से रँभानेवाले वृषभ (कनिक्रदत् वृषभः) से दी गई है। वृष्टि का गिराना ही इसका मुख्य व्यापार है और इस समय वह बिजली तथा गर्जन के संग में अपने जलमय रथपर आरूढ़ होकर आकाश में गमन करता है। अपने घोड़ों को चाबुक से मारनेवाले सारथि के समान वह अपने वर्षा के दूतों को प्रकट करता है और जब वह आकाश को वर्षा से संयुक्त (वर्ष्यं) बनाता है, तब दूर से सिंह का गर्जन उत्पन्न होता है। वह विश्व में ओषधियों को पैदा करने वाला परम मंगलकारी देवता है और इसलिए वह शक्तिशाली पिता (असुरः पिता नः) कहा गया है। जलपूरित पर्जन्य की उपमा दृति ('मशक') से बड़ी सुन्दरता से दी गई है (दृतिं सु कर्ष विषितं न्यञ्चं)।

आपः—जल देवता हैं जिसका वर्णन चार सूक्तों में है। अपने वज्र की सहायता से इन्द्र ने उसके लिए मार्ग बना दिया है जिस पर वह सदा चलता है और कभी चलने से पराङ्मुख नहीं होता। राजा वरुण मनुष्यों के सत्य तथा अनृत को देखता हुआ उसके बीच में भ्रमण करता है। मधु के साथ इसका अनेक बार साथ में वर्णन मिलता है।

रुद्र

ऋग्वेद में केवल तीन सूक्त—प्रथम मण्डल का ११४ वाँ सूक्त, २ मण्डल का ३३ वाँ सूक्त तथा ७ मण्डल का ४६ वाँ सूक्त—रुद्र देवता के विषय में उपलब्ध होते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य देवताओं के साथ इनका नाम लगभग ५० बार आता है। ऋग्वेद में रुद्र का स्थान अग्नि, वरुण, इन्द्र आदि देवताओं की अपेक्षा बहुत ही कम महत्व का है, परन्तु यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में रुद्र का स्थान बहुत कुछ गौरव-मंडित है।

यजुर्वेद का एक पूरा अध्याय ही इनकी स्तुति में प्रयुक्त किया गया है। यह 'रुद्राध्याय' यजुर्वेद की अनेक संहिताओं में थोड़े बहुत अन्तर के साथ उपलब्ध होता है। तैत्तिरीय संहिता के चतुर्थ काण्ड का पाँचवाँ और सातवाँ प्रपाठक तथा शुक्ल यजुर्वेदीय संहिता का १६ वाँ अध्याय 'रुद्राध्याय' के नाम से विख्यात हैं। अथर्ववेद के ११ काण्ड के द्वितीय सूक्त में रुद्रदेव की स्तुति की गई है।

ऋग्वेद में रुद्र का मानव स्वरूप इस प्रकार का वर्णित है: रुद्र के हाथ तथा बाहु है (ऋ० २।३३।७)। उनका शरीर अत्यन्त वलिष्ठ है। उनके ओठ अत्यन्त सुन्दर हैं (सुशिप्रः) उनके मस्तक पर बालों का एक जटाजूट है जिसके कारण वे 'कपर्दी' कहलाते हैं (ऋ० १। १४।१)। उनका रंग भूरा है (बभ्रु) तथा आकृति देदीप्यमान है। वे नानारूप धारण करनेवाले हैं (पुरुरूपः) तथा उनके स्थिर अङ्ग चमकनेवाले सोने के गहनों से विभूषित हैं। वे रथ पर सवार होते हैं। यजुर्वेद के रुद्राध्याय में तथा अथर्व के रुद्रसूक्त में उनके स्वरूप का इससे कहीं अधिक विशद वर्णन उपलब्ध होता है। रुद्र के मुख, चक्षु, त्वच्, अङ्ग, उदर, जिह्वा तथा दाँतों का उल्लेख किया गया है (अथर्व ११ काण्ड, २ सूक्त ५-६ मन्त्र)। उनके सहस्र नेत्र हैं (सहस्राक्षः)। उनकी गर्दन का रंग नीला है (नीलग्रीव॰), परन्तु उनका कण्ठ उज्ज्वल रंग का है (शितिकण्ठः)[१]। उनके माथे पर जटाजूट का वर्णन भी है, साथ ही साथ कभी कभी वे मुण्डित केश (व्युप्तकेश शु० यु० १६।२९) भी कहे गए हैं। उनके केश लाल रंग या नीले रंग के हैं (हरिकेश॰)। वे माथे पर पगड़ी पहननेवाले हैं (उष्णीषी यजु० १६।२२) रंग उनके शरीर का कपिल है (बभ्लुश १६।१८)।

रुद्राध्याय के अनुसार रुद्र एक बलवान् सुसज्जित योद्धा के रूप में हमारे सामने आते हैं। उनके हाथ में धनुष् तथा बाण हैं। उनके धनुष

१ •मो नीलग्रीवाय च शितिकण्ठाय च—शु० य० १६।२८

का नाम 'पिनाक' है (शु० यजुर्वेद १६।५१) उनका धनुष सोने का बना हुआ, हजारों आदमियों को मारनेवाला, सैकड़ों बाणों से सुशोभित तथा मयूरपिच्छ से विभूषित बतलाया गया है (धनुर्बिभर्षि हरितं हिरण्मयं सहस्रघ्नि शतवधं शिखण्डिनम्—अ० ११।२।१२) बाणों के रखने के लिये वे तरकस (इषुधि) धारण करते हैं जो संख्या में सौ हैं। उनके हाथ में तलवार भी चमकती रहती है (निषङ्गी) तथा इस तलवार के रखने के लिये उनके पास म्यान (निषङ्गधि) है। वे वज्र भी धारण करते हैं। वज्र का नाम सृक है (शु० य० १६।२१)। शरीर की रक्षा करने के लिये वे अनेक साधनों को पहने हुए हैं। माथे की रक्षा करने के लिये वे शिरस्त्राण धारण करते हैं (बिल्मी शु० य० १६।३५) और देह के बचाव के वास्ते कवच तथा वर्म पहने हुए हैं। महीधर की टीका के अनुसार वर्म कवच से भिन्न होता था[1]। कवच कपड़ों का सिला हुआ 'अंगरखा' के ढग का कोई पहनावा था। वर्म खास लोहे का बना हुआ जिरहबख्तर था। कवच के ऊपर वर्म पहना गया था। रुद्र शरीर पर चर्म का कपड़ा पहनते हैं (कृत्ति वसानः— शु० य० १६।५१)। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि जिस तरह रथ पर चढ़ कर धनुर्बाण से सुसज्जित योद्धा रणाङ्गण में शत्रुओं के संहार के लिये आता है, उसी भाँति रुद्र शिर पर बिल्म तथा देह पर कवच और वर्म पहन कर रथ पर आसन मार धनुष पर बाण चढ़ा कर अपने भक्तों के बैरियों को मारने के लिये मैदान में उतरते हैं। वे धनुष पर बाण सदा चढ़ाए रहते हैं। इसीलिए उनका नाम है—आततायी। इनके अस्त्र-शस्त्र इतने भयानक हैं कि ऋषि इनसे बचने के लिये सदा प्रार्थना किया करते हैं—

---

१ पटस्यूतकर्पासगर्भं देहरक्षकं कवचम्। लोहमयं शरीररक्षकं वर्म।

—शु० य० १६।३५ पर महीधरभाष्य।

विज्यं धनुः कपर्दिनो विशल्यो बाणवान् उत ।
अनेशन्नस्य या इषव आभुरस्य निषङ्गधिः ॥
—शु० य० १६।१०

रुद्र का शरीर नितान्त बलशाली है। ऋग्वेद में वे क्रूर बतलाए गए हैं। वे स्वर्गलोक के रक्तवर्ण (अरुप) वराह हैं (ऋ० १।११४।५)। वे सब से श्रेष्ठ वृषभ हैं, वे तरुण हैं और उनका तारुण्य सदा टिकने वाला है, वे शूरों के अधिपति हैं और अपने सामर्थ्य से वे पर्वतों में टिकी हुई नदियों में जल का प्रवाह उत्पन्न कर देते हैं। उन्हें न मानने वाले मनुष्यों को वे अवश्य अपने बाणों से छिन्न-भिन्न कर देते हैं, परन्तु अपने उपासक मनुष्यों के लिये वे अत्यन्त उपकारी हैं। इसीलिए वे 'शिव' नाम से भी पुकारे जाते हैं। उनके सम्बन्धियों का परिचय मन्त्रों के अध्ययन से चलता है। रुद्र मरुतों के पिता हैं (ऋ० १।११४।६)। यही कारण है कि अनेक मन्त्रों में मरुत् तथा रुद्र की स्तुति एक साथ की गई मिलती है। मरुतों के 'रुद्रिय' संज्ञा पाने का यही रहस्य है। 'त्रयम्बक' का प्रयोग ऋग्वेद के केवल एक ही मन्त्र में किया गया है जो शुक्ल यजुर्वेद (अ० ३, ६० मं०) में भी उद्धृत पाया जाता है। रुद्र का स्तुतिपरक यह मन्त्र नितान्त प्रसिद्ध है:—

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् ।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात् ॥
—ऋ० ७।५३।१४

'त्र्यम्बक' शब्द का अर्थ समस्त भाष्यकारों ने 'तीन नेत्र वाला' किया है, परन्तु पाश्चात्य विद्वानों को इस अर्थ में आस्था नहीं है। वे यहाँ 'अम्बक' शब्द को जननी वाचक मान कर रुद्र को तीन माता वाला बतलाते हैं, परन्तु यह स्पष्टतः प्रतीत नहीं होता कि रुद्र की ये तीन मातायें कौन सी थीं। वैदिक काल के अनन्तर रुद्र की पत्नी के लिये

प्रयुक्त 'अम्बिका' शब्द का प्रथम प्रयोग वाजसनेयी संहिता (३।५७) में आता है, परन्तु इतना अनन्तर अवश्य है कि यह उनकी पत्नी का नाम न होकर उनकी भगिनी का नाम बतलाया गया है—एष ते रुद्र भागः सह स्वस्राऽम्बिकया, तं जुषस्व स्वाहैष ते रुद्र भाग आखुस्ते पशुः (शु० य० ३।५७)। इनकी पत्नी के अन्य नाम वैदिक ग्रन्थों में मिलते हैं। 'पार्वती' शब्द तैत्तिरीय आरण्यक में और 'उमा हैमवती' शब्द केनोपनिषद् में प्रयुक्त हैं।

इस प्रकार ऋग्वेदीय देवमण्डली में रुद्र का स्थान नितान्त नगण्य-सा प्रतीत होता है, परन्तु अन्य संहिताओं में इनका महत्त्व बढ़ता-सा दीख पड़ता है। रुद्राध्याय में रुद्र के लिए भव, शर्व, पशुपति, उग्र, भीम शब्दों का प्रयोग मिलता है। विश्व में ऐसा कोई भी स्थान नहीं है, चाहे वह स्वर्लोक में, अन्तरिक्ष में, भूतल के ऊपर या भूतल के नीचे हो, जहाँ भगवान् रुद्र का आधिपत्य न हो। यह समस्त विश्व सहस्रों रुद्रों की सत्ता से ओतप्रोत है। रुद्र जगत् के समग्र पदार्थों के स्वामी हैं। वे अन्नों के, खेतों के, वनों के अधिपति हैं। साथ ही साथ चोर, डाकू, ठग आदि जघन्य जीवों के भी वे स्वामी हैं। अथर्ववेद में रुद्र के नामों में भव, शर्व, पशुपति तथा भूतपति उल्लिखित हैं (११।२।१) पशुपति का तात्पर्य इतना ही नहीं है कि गाय आदि जानवरों के ही ऊपर उनका अधिकार चलता है, प्रत्युत 'पशु' के अन्तर्गत मनुष्य की भी गणना अथर्ववेद को मान्य है:—

तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता
गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः

(अ० ११।२।९)

इस प्रकार 'पशु' के तान्त्रिक अर्थ का आभास हमें अथर्व के इस मन्त्र में सर्वप्रथम मिलता है। रुद्र का निवास अग्नि में, ओषधियों तथा

लताओं में ही नहीं है, वल्कि उन्होंने इस समस्त भुवनों की रचना कर इन्हें सम्पन्न बनाया है—

> यो अग्नौ रुद्रो य अप्स्वन्त
> र्य ओषधीर्वीरुध आविवेश।
> य इमा विश्वा भुवनानि चाक्लृपे
> तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये॥
>
> —अथर्व ७।८७।१

ब्राह्मण काल में तो रुद्र का महत्त्व और भी बढ़ता ही चला गया है। ऐतरेय ब्राह्मण के एक दो उल्लेखों से ही रुद्र की महनीयता की पर्याप्त सूचना मिलती है। ३।३।३३ में प्रजापति के उनकी कन्या के सहगम का प्रसङ्ग उठाकर रुद्र की उत्पत्ति की चर्चा की गई है। वहाँ गौरव की दृष्टि से इनके नाम का उल्लेख नहीं किया गया है, प्रत्युत 'एष देवोऽभवत्' कह कर समाननीय शब्द ही व्यवहृत किया गया है।

उपनिषदों में रुद्र की प्रधानता का परिचय हमें भली-भाँति मिलता है। छान्दोग्य (३।७।४), बृहदारण्यक (३।९।४), मैत्री (६।५) महानारायण (१३।२), नृसिंहतापनी (१।२) श्वेताश्वतर (३।२, ४) आदि प्राचीन उपनिषदों में रुद्र के वैभव तथा प्रभाव का वर्णन उपलब्ध होता है। श्वेताश्वर में रुद्र की एकता, जगन्निर्माण में निरपेक्षता, विश्व के आधिपत्य, महर्षि तथा देवताओं के उत्पादक तथा ऐश्वर्य-सम्पन्न बनाने के सिद्धान्तों का प्रतिपादन स्पष्ट भाषा में किया गया है। 'एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः' (३।२),

> 'यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च
> विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः।
> हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं
> स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु' (श्वेता० ३।४)

—आदि श्वेताश्वतर श्रुति के प्रसिद्ध मन्त्र इस विषय में प्रमाणरूप से उद्धृत किए जा सकते हैं। अवान्तरकालीन उपनिषदों में अनेक का विषय रुद्र-शिव की प्रभुता, महनीयता, अद्वितीयता दर्शाना है। अतः अथर्वशिर, कठरुद्र, रुद्रहृदय, पाशुपतब्रह्म आदि शिवपरक उपनिषदों के नामोल्लेखमात्र से हमें यहाँ सन्तोष करना पड़ता है।

प्रकृति के किस व्यक्त तथा दृश्य पदार्थ का निरीक्षण कर उसे 'रुद्र' की संज्ञा प्रदान की गई है? ग्रन्थों में सर्वत्र 'रुद्र' की व्युत्पत्ति 'रुद्' (रोना) धातु से निष्पन्न बतलाई गई है। शतपथ ब्राह्मण (६।१।३।८) में रुद्र की मनोरम कहानी दी गई है कि प्रजापति ने जब सृष्टि करना आरम्भ किया तब एक कुमार का जन्म हुआ जो जन्मते ही अपने नामकरण के लिये रोने लगा। नामकरण आगे किया गया अवश्य, परन्तु जन्म के समय ही रोदन क्रिया के साथ सम्बद्ध होने के कारण उस कुमार का नाम 'रुद्र' रखा गया (यदरोदीत् तस्मात् रुद्रः)। बृहदारण्यक (३।९।४) में इसी प्रकार दशों इन्द्रियों तथा मन को एकादश रुद्र के रूप में ग्रहण किया गया है। इन्हें 'रुद्र'[1] कहने का तात्पर्य यही है कि जब ये शरीर छोड़कर बाहर निकल जाते हैं, तो मृतक के सगे सम्बन्धियों को रुलाते हैं (ते यदास्माच्छरीरान्मर्त्यादुत्क्रामन्ति अथ रोदयन्ति। तद् यद् रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति)। पाश्चात्य वेदानुशीली विद्वानों ने रुद्र के प्राकृतिक आधार को ढूँढ निकालने का विशेष परिश्रम किया है[2]। डा० वेबर रुद्र को तूफान का देवता मानते हैं। डा० हिलेब्रान्त की सम्मति में ये ग्रीष्मकाल के

---

१ 'रुद्र' की अन्य व्युत्पत्तियों के लिये देखिए ऋ० १।११४।१ का सायण भाष्य।

२ इन सब मतों के लिए डा० ए० बी० कीथ का 'रिलिजन ऐण्ड फिलासफी आफ वेद' के पृ० १४६-४७ देखिए।

देवता हैं तथा किसी विशिष्ट नक्षत्र से भी इनका सम्बन्ध है। डा० श्रायदेर के विचार में मृतात्माओं के प्रधान व्यक्ति को देवत्व का रूप प्रदान कर रुद्र मान लिया गया है, क्योंकि यह वर्णन अनेक स्थलों पर मिलता है कि मृतकों की आत्माएँ आँधी के साथ उड़कर ऊपर जाती हैं। डा० ओल्डेनबर्ग इस मत में आस्था रखते हुए रुद्र का सम्बन्ध पर्वत तथा जङ्गल के साथ स्थापित करना श्रेयस्कर मानते हैं। रुद्र का सम्बन्ध पर्वत के साथ अवश्य है। उनकी पत्नी उमा भी हैमवती कही जाती हैं। अत इस मत के लिये भी कुछ आधार है। परन्तु इन कथनों में कल्पना का विशेष उपयोग किया गया है।

वस्तुत' रुद्र अग्नि के ही प्रतीक हैं। अग्नि के दृश्य, भौतिक आधार पर रुद्र की कल्पना खड़ी की गई है। अग्नि की शिखा ऊपर उठती है। अतः रुद्र के ऊर्ध्व लिङ्ग की कल्पना की गई है। अग्नि वेदी पर प्रज्वलित होता है। इसी कारण शिव जलधारी के बीच में रखे जाते हैं। अग्नि में घृत की आहुति दी जाती है। इसीलिये शिव के ऊपर जल से अभिषेक किया जाता है। शिवभक्तों के लिये भस्म धारण करने की प्रथा का भी स्वारस्य इसी सिद्धान्त के मानने से भलीभाँति हो जाता है। ऋग्वेद (२।१।६) ने 'त्वमग्ने रुद्रो' कहकर इस एकीकरण का सकेत किया है। अथर्व (७।८३) 'तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये' मन्त्र में इसी ओर इङ्गित करता है। शतपथ (३।१।२) ब्राह्मण 'अग्निर्वै रुद्र.' अत्यन्त स्पष्ट भाषा में दोनों की एकता का प्रतिपादन कर रहा है। रुद्र की आठ मूर्तियाँ आठ भौतिक पदार्थों की प्रतिनिधि हैं। 'रुद्र' अग्नि है; 'शर्व' जलरूप है, 'पशुपति' ओषधि है, 'उग्र' वायु है, 'अशनि' विद्युत् है, 'भव' पर्जन्य है; 'महान् देव' (महादेव) चन्द्रमा है, 'ईशान' आदित्य है। शतपथ से पता चलता है कि रुद्र को प्राच्य-लोग (पूरब के निवासी) 'शर्व' के नाम से तथा वाहीक (पश्चिम के

निवासी) लोग 'भव' नाम से पुकारते थे, परन्तु ये सब वस्तुतः अग्नि के ही नाम हैं:—

अग्निर्वै स देवः। तस्यैतानि नामानि शर्व इति यथा प्राच्या आचक्षते। भव इति यथा वाहीकाः, पशूनां पती रुद्रोऽग्निरिति तान्यस्याशान्तान्येवेतराणि नामानि, अग्निरित्येव शान्ततमम्।

—शतपथ १।७।३।८

शुक्लयजुर्वेद (३९।८) में अग्नि, अशनि, पशुपति, भव, शर्व, ईशान, महादेव, उग्र—ये सब एक ही देवता के पृथक् पृथक् नाम कहे गए हैं। शतपथ की व्याख्या के अनुसार 'अशनि' का अर्थ है विद्युत्। इस प्रकार यजुर्वेद के प्रमाण से स्पष्ट है कि पृथ्वीतल पर जो रुद्र देवता अग्निरूप से निवास करते हैं, आकाश में काले मेघों के बीच से चमकने वाली विद्युत् के रूप में वे ही प्रकट होते हैं। अतः रुद्र को विद्युत् का अधिष्ठाता देव मानना नितान्त उचित प्रतीत होता है।

इस विवेचन की सहायता से हम रुद्र के 'शिवत्व' को भली भाँति पहचान लेते हैं। वह भयानक पशु की भाँति उग्र तथा भयद अवश्य है, परन्तु साथ ही साथ वह अपने भक्तों को विपत्तियों से बचाता है तथा उनका मंगल साधन करता है। उसके रोग निवारण करने की शक्ति का अनेक बार उल्लेख आता है। उसके पास हजारों औषधें हैं जिनके द्वारा वह ज्वर (तक्मन्) तथा विष का निवारण करता है। वैद्यों में वह सब से श्रेष्ठ वैद्य है (भिषक्तमं त्वा भिषजां शृणोमि—ऋ० २।३३।४)। इस प्रसङ्ग में रुद्र के दो विशिष्ट विशेषण उपलब्ध होते हैं—जलाष (ठंडक पहुँचाने वाला) तथा जलाषभेषज (ठंडी दवाओं को रखनेवाला)।

क्व स्य ते रुद्र मृळयाकु-
र्हस्तो यो अस्ति भेषजो जलाषः। (ऋ० २।३३।७)

वस्तुतः अग्नि के दो रूप हैं—घोरा तनु और अघोरा तनु । अपने भयङ्कर घोर रूप से वह ससार के सहार करने में समर्थ होता है, परन्तु अघोर रूप में वही ससार के पालन में भी शक्तिमान् है । यदि अग्नि का निवास इस महीतल पर न हो, तो क्या एक क्षण के लिये भी प्राणियों में प्राण का सचार रह सकता है ? विद्युत् में संहारकारिणी शक्ति का निवास अवश्य है, परन्तु वही विद्युत् भूतल पर प्रभूत जल वृष्टि का भी कारण वनती है और जीवों के जीवित रहने में मुख्य हेतु का रूप धारण करती है । सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर प्रलय में भी सृष्टि के वीज निहित रहते हैं, सहार में भी उत्पत्ति का निदान अन्त-र्हित रहता है ।

अतः उग्ररूप के हेतु जो देव 'रुद्र' हैं, वही जगत् के मगल साधन करने के कारण 'शिव' हैं । जो रुद्र है, वही शिव है । रुद्र और शिव की अभिन्नता की प्रथम सूचना ऋग्वेद में ही उपलब्ध होती है (२।३३।७) ऋग्वेदीय ऋषि गृत्समद के साथ-साथ रुद्रदेव से हम भी प्रार्थना करते हैं कि रुद्र के वाण हमलोगों को स्पर्श न कर दूर से ही हट जायँ तथा हमारे पुत्र और सगे सम्बन्धियों के ऊपर उस दानशील की दया सतत वनी रहे.—

> परि णो हेती रुद्रस्य वृज्याः
>
> परि त्वेपस्य दुर्मतिर्मही गात् ।
>
> अव स्थिरा मघवद्भ्यस्तनुष्व
>
> मीढ्वस्तोकाय तनयाय मृळ ॥
>
> (ऋ० २।३३।१४)

मरुतः

मरुत् देवता का सम्बन्ध रुद्र से है । रुद्र के ये पुत्र हैं । ऋग्वेद में इनका स्थान पर्याप्त रूपेण महत्त्वपूर्ण है । ३३ सूक्तों में स्वतन्त्र रूप से, ७ सूक्तों में इन्द्र के साथ तथा एक-एक सूक्त में अग्नि तथा पूषण्

के साथ संयुक्त रूप से वर्णित होने से इनके ऋग्वेदीय गौरव का परिचय मिल सकता है। गोरूपा पृश्नि मरुतों की माता है। मरुत् देवों का एक गण है जिसमें सब सवयस्क, समान चेता, समनिवास तथा समान उदय स्थान वाले भ्राता हैं। रोदसी देवी उनके रथ पर विराजमान रहती हैं और इसीलिए उनकी पत्नी मानी जाती हैं। रंग में ये सुवर्ण के समान द्युतिमान्, अग्नि के समान प्रकाशमय तथा स्वतः प्रकाश भी हैं। वे माला, सुवर्णमय द्रापि, सुवर्णमय आभूषण तथा सुवर्णमय शिरस्त्राण धारण करते हैं। फलतः उनकी देहप्रभा आँखों को चकाचौंध बना देती है। उनके गर्जन तथा वायु के तुमुल ध्वनि का वर्णन मिलता है। उनके प्रभाव के सामने पर्वत तथा द्यावा-पृथिवी काँपते हैं। उनका प्रधानकार्य वृष्टि देना है और जल बरसाने के समय वे विश्व को अन्धकार से ढक लेते हैं। इन्द्र के साथ इनका सम्बन्ध नितान्त घनिष्ठ है, क्योंकि वृत्र वध के अवसर पर ये इन्द्र के प्रधान सहायक हैं। रुद्र के समान उनसे भी विपत्तियों से रक्षा की तथा रोगों के निवारण के लिए ओषधियों को बरसाने की भी प्रार्थना की गई है।

पृथ्वी-स्थान देव

अग्नि

पृथ्वीस्थान देवों में अग्नि ही मुख्य है जो यज्ञीय अग्नि का प्रतिनिधि रूप है। इन्द्र के अनन्तर अग्नि ही सर्वमान्य देवता है जिसकी स्तुति लगभग दो सौ सूक्तों में वर्णित है। अग्नि अनेक पशुओंके समान बतलाया गया है। यह गर्जनशील वृषभ के समान है। उत्पत्ति के समय वह एक बछड़ा प्रतीत होता है तथा प्रज्वलित होने के समय देवताओं को लाने वाला अश्व माना गया है। उसके प्रकाश का बहुल वर्णन मिलता है। उसकी ज्वाला और किरणें, उषा की प्रभा तथा

विद्युत् की चमक के समान है। काष्ठ तथा घृत अग्नि के भोजन हैं तथा आज्य उनका पेय है। उसकी आवाज इतनी तेज होती है मानों आकाश का गर्जन। 'धूमकेतु' उनकी विशिष्टता का द्योतक प्रख्यात अभिधान है। अग्नि कभी द्यावापृथिवी का पुत्र और कभी द्यौः का सूनु कहा गया है। 'अपां नपात्' के रूप में अग्नि एक स्वतन्त्र देवता ही है। अग्नि का जन्म स्थान स्वर्ग ही है जहाँ से मातरिश्वा ने मनुष्यों के कल्याण के निमित्त उसे इस भूतल पर आनयन किया। इस प्रकार यह कथा ग्रीक कथा से मिलती है। अग्नि का ज्ञान सर्वातिशायी है। वह समग्र उत्पन्न प्राणियों को जानता है। इसीलिए वह 'जातवेदाः' के नाम से प्रख्यात है। वह अपने उपासकों का सदा कल्याण करता है विशेषतः सन्तान, गार्हस्थ्य मंगल तथा सौख्य-समृद्धि का प्रदाता है। अग्नि की उपासना भारोपीय काल में भी मान्य और प्रतिष्ठित थी क्योंकि भारतीय तथा पारसीकों के समान ग्रीक तथा इटलीवासियों में भी यह अग्नि-पूजन प्रचलित था।

बृहस्पति

यह देवता ११ सूक्तों में स्वतन्त्र रूप से और अन्य दो सूक्तों में इन्द्र के साथ सयुक्त रूप में वर्णित है। इनका दूसरा नाम ब्रह्मणस्पति (=मन्त्र के पति) भी है। इनके शारीरिक चिन्हों का विशेष परिचय नहीं मिलता। उनकी तीखी सींगें तथा काली पीठ है। वे स्वयं सुवर्ण के समान देदीप्यमान हैं। हाथ में धनुष-बाण तथा सुनहला परशु है। उनके रथ को लाल रंग के घोड़े खींचते हैं और वे दैत्यों का नाश कर गोष्ठों को खोल देते हैं तथा आलोक का जगत् में आनयन करते हैं। सब प्रार्थनाओं तथा मन्त्रों के प्रेरक होने से बृहस्पति के बिना यागानुष्ठान एक निष्फल व्यापार है। इन्द्र के साथ अधिकतर संयुक्त रूप मे प्रशंसित होने के कारण इन्द्र के अनेक विशेषण जैसे मघवन् (दानशील)

तथा वज्री इन्हें प्रकृत्या प्राप्त हैं। इसी कारण गुहा के भीतर छिपी हुई गायों के निष्कासन व्यापार में इनका भी सम्बन्ध है। गायन करने वाले (ऋक्वता) गणों से घिरा हुआ बृहस्पति वल नामक असुर को अपने गर्जन से फाड़ डालता है, गायों को बाहर निकाल देता है, अन्धकार को दूर भगाता है तथा प्रकाश का आविर्भाव करता है। अपने उपासकों को वह दीर्घ आयु प्रदान करता है, यह कहना व्यर्थ है।

'बृहस्पति' तथा 'ब्रह्मणस्पति' का प्रथम अंश बृह् (वर्धन) धातु से निष्पन्न 'बृह्' शब्द का षष्ठी एकवचन है। फलतः इस पद का अर्थ है—मन्त्र या प्रार्थना का अधिपति। बृहस्पति अग्नि के प्रतीक प्रतीत होते हैं। अग्नि के समान ये भी यज्ञानुष्ठान के ऊपर शासन करने वाले एक दिव्य ऋत्विज् हैं। हिन्दू धर्म के विकास काल में ये बृहस्पति ही गणपति (= गणेश) के रूप में स्वीकृत किये गए हैं। गणपति के स्थूलकाय गजानन रूप से अनेक आलोचकों को भ्रम हुआ करता है कि ये वस्तुतः अनार्यों की देव-मण्डली से गृहीत देवता हैं; परन्तु ऋग्वेद के प्रामाण्य पर यह तथ्य पुष्ट नहीं होता[1]। गणों के अधिपति होने से बृहस्पति ही 'गणपति' के अभिधान से मण्डित हैं। बृहस्पति तथा इन्द्र दोनों अंगिरस् गण के साथ गायों की प्राप्ति के लिए सचद्ध हैं (१।६२। ३)। इन्हीं गणों का आधिपत्य गणपति का गणपतित्व है। बृहस्पति से यह भव्य प्रार्थना सुमति की दान-स्तुति की स्वीकृति तथा शत्रुओं से धन के हरण के लिए की गई है—

> बृहस्पत इन्द्र वर्धतं नः
> सचा सा वां सुमतिर्भूत्वस्मे।
> अविष्टं धियो जिगृतं पुरंधीः
> जजस्तमर्यो वनुषामरातीः॥
> (ऋ० ४।५०।११)

[1] द्रष्टव्य बलदेव उपाध्याय—धर्म और दर्शन, पृ० २१–२८, काशी।

विद्युत् की चमक के समान है। काष्ठ तथा घृत अग्नि के भोजन हैं तथा आज्य उनका पेय है। उसकी आवाज इतनी तेज होती है मानों आकाश का गर्जन। 'धूमकेतु' उनकी विशिष्टता का द्योतक प्रख्यात अभिधान है। अग्नि कभी द्यावापृथिवी का पुत्र और कभी द्यौः का सूनु कहा गया है। 'अपां नपात्' के रूप में अग्नि एक स्वतन्त्र देवता ही है। अग्नि का जन्म स्थान स्वर्ग ही है जहाँ से मातरिश्वा ने मनुष्यों के कल्याण के निमित्त उसे इस भूतल पर आनयन किया। इस प्रकार यह कथा ग्रीक कथा से मिलती है। अग्नि का ज्ञान सर्वातिशायी है। वह समग्र उत्पन्न प्राणियों को जानता है। इसीलिए वह 'जातवेदाः' के नाम से प्रख्यात है। वह अपने उपासकों का सदा कल्याण करता है विशेषतः सन्तान, गार्हस्थ्य मंगल तथा सौख्य-समृद्धि का प्रदाता है। अग्नि की उपासना भारोपीय काल में भी मान्य और प्रतिष्ठित थी क्योंकि भारतीय तथा पारसीकों के समान ग्रीक तथा इटलीवासियों में भी यह अग्नि-पूजन प्रचलित था।

बृहस्पति

यह देवता ११ सूक्तों में स्वतन्त्र रूप से और अन्य दो सूक्तों में इन्द्र के साथ सयुक्त रूप में वर्णित है। इनका दूसरा नाम ब्रह्मणस्पति (= मन्त्र के पति) भी है। इनके शारीरिक चिन्हों का विशेष परिचय नहीं मिलता। उनकी तीखी सींगें तथा काली पीठ है। वे स्वय सुवर्ण के समान देदीप्यमान हैं। हाथ में धनुष-बाण तथा सुनहला परशु है। उनके रथ को लाल रग के घोड़े खींचते हैं और ये दैत्यों का नाश कर गायों को खोल देते हैं तथा आलोक का जगत् में आनयन करते हैं। सब प्रार्थनाओं तथा मन्त्रों के प्रेरक होने से बृहस्पति के बिना यागानुष्ठान एक निष्फल व्यापार है। इन्द्र के साथ अधिकतर संयुक्त रूप से प्रशंसित होने के कारण इन्द्र के अनेक विशेषण जैसे मघवन् (दानशील)

तथा वज्री इन्हें प्रकृत्या प्राप्त है। इसी कारण गुहा के भीतर छिपी हुई गायों के निष्कासन व्यापार से इनका भी सम्बन्ध है। गायन करने वाले (ऋक्वता) गणों से घिरा हुआ बृहस्पति वल नामक असुर को अपने गर्जन से फाड़ डालता है, गायों को बाहर निकाल देता है, अन्धकार को दूर भगाता है तथा प्रकाश का आविर्भाव करता है। अपने उपासकों को वह दीर्घ आयु प्रदान करता है, यह कहना व्यर्थ है।

'बृहस्पति' तथा 'ब्रह्मणस्पति' का प्रथम अंश बृह् (वर्धन) धातु से निष्पन्न 'बृह्' शब्द का षष्ठी एकवचन है। फलतः इस पद का अर्थ है—मन्त्र या प्रार्थना का अधिपति। बृहस्पति अग्नि के प्रतीक प्रतीत होते हैं। अग्नि के समान ये भी यज्ञानुष्ठान के ऊपर शासन करने वाले एक दिव्य ऋत्विज् हैं। हिन्दू धर्म के विकास काल में ये बृहस्पति ही गणपति (= गणेश) के रूप में स्वीकृत किये गए हैं। गणपति के स्थूलकाय गजानन रूप से अनेक आलोचकों को भ्रम हुआ करता है कि ये वस्तुतः अनार्यों की देव-मण्डली से गृहीत देवता है, परन्तु ऋग्वेद के प्रामाण्य पर यह तथ्य पुष्ट नहीं होता[1]। गणों के अधिपति होने से बृहस्पति ही 'गणपति' के अभिधान से मण्डित हैं। बृहस्पति तथा इन्द्र दोनों अंगिरस गण के साथ गायों की प्राप्ति के लिए संबद्ध हैं (१।६२। ३)। इन्हीं गणों का आधिपत्य गणपति का गणपतित्व है। बृहस्पति से यह भव्य प्रार्थना सुमति की दान-स्तुति की स्वीकृति तथा शत्रुओं से धन के हरण के लिए की गई है—

> बृहस्पत इन्द्र वर्धतं नः
> सचा सा वां सुमतिर्भूत्वस्मे।
> अविष्टं धियो जिगृतं पुरंधीः
> जजस्तमर्यो वनुषामरातीः॥
> (ऋ० ४।५०।११)

---

१ द्रष्टव्य बलदेव उपाध्याय—धर्म और दर्शन, पृष्ठ २१-२८, काशी।

सोम

ऋग्वेद में सोमयाग प्रधान अनुष्ठान के रूप में गृहीत था। इसीलिए सोम की महत्ता अग्नि से ही किञ्चित् न्यून है। लगभग १२० सूक्तों में इनकी स्तुति इनकी महत्ता का परिचायक है। इनकी मानवाकृति के चिन्ह वरुण तथा इन्द्र की अपेक्षा कम विकसित हैं। सोमरस के चुलाने के प्रकार का वर्णन पीछे (पृ० ४२५ में) किया गया है। साथ ही साथ मन्त्रों में उस आनन्दोल्लास की भी प्रचुरता हमें उपलब्ध होती है जब इन्द्र सोमपान से मत्त होकर वृत्र-वध के लिए रणक्षेत्र में उतरता है। यद्यपि साधारणतः सोम (अवस्ता के हओम) पर्वतों पर उगनेवाला बताया जाता है, तथापि उसका वास्तव निवास स्वर्ग में है। सोम स्वर्ग का पुत्र है, स्वर्ग का दुग्ध है तथा स्वर्ग में वह शुद्ध किया जाता है, वह स्वर्ग का पति है और उसका वास स्थान उच्चतम स्वर्ग है और यहीं से वह इस भूतल पर लाया गया था। गृध्र के द्वारा इन्द्र के लिए सोम के आनयन की कथा दो सूक्तों (४।२६, २७) में वर्णित है। अमृत प्रदायी होने से वह 'वनस्पति' कहलाता है। वह राजा है। मानवों तथा देवों का अधिपति है चन्द्रमा के साथ उसका समीकरण ऋग्वेद तथा अथर्व में दृष्टिगोचर होता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में यह सिद्ध घटना है। सोम से यह प्रार्थना कितनी सुन्दर भाषा में है—

> शं नो भव हृद आ पीत इन्दो
> पितेव सोम सूनवे सुशेवः
> सखेव सख्य उरुशंस धीरः
> प्र ण आयु जीवसे सोम तारीः ॥
>
> (ऋ० ८।४८।४)

(३)

यज्ञ संस्था

यज्ञ वैदिकधर्म का मेरुदण्ड है। अग्नि में नाना देवताओं को उद्दिष्ट कर हविष्य अथवा सोमरस का हवन यज्ञ के नाम से अभिहित किया जाता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञसंस्था का साम्राज्य है तथा उसके नाना अनुष्ठानों का इतना सूक्ष्म तथा विस्तृत वर्णन है कि आलोचक को आश्चर्य-चकित हो जाना पड़ता है। इस संस्था का सर्वांगपूर्ण विवेचन श्रौत तथा गृह्यसूत्रों की सहायता से ही हो सकता है। इसका पूर्ण वैभव यहीं दृष्टिगोचर होता है। ऐतरेय ब्राह्मण में वैदिक कर्म पाँच भागों में विभक्त है—अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, पशु तथा सोम, परन्तु स्मृति तथा कल्प ग्रन्थों में स्मार्त तथा श्रौत कर्मों की सम्मिलित संख्या २१ मानी गई है। वैदिक कर्म के तीन प्रकार तथा अवान्तर प्रकारों का निर्देश इस प्रकार है:—

(क) पाक-यज्ञ संस्था—औपासन होम, वैश्वदेव, पार्वण, अष्टका, मासि श्राद्ध, श्रवणा, शूलगव = ७

(ख) हविर्यज्ञ संस्था—अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, आग्रयण, चातुर्मास्य, निरूढपशुबन्ध, सौत्रामणी, पिण्डपितृ यज्ञादिक दर्विहोम = ७

(ग) सोमसंस्था—अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र, आप्तोर्याम = ७

अग्नि मुख्यतया दो प्रकार का होता है—स्मार्ताग्नि तथा श्रौताग्नि। इनमें प्रथम अग्नि का स्थापन प्रत्येक विवाहित व्यक्ति को करना चाहिए और उस गृह्याग्नि में क्रियमाण यज्ञ 'पाकयज्ञ' के नाम से अभिहित होते हैं। अन्तिम दो प्रकार की यागसंस्थाओं का सम्बन्ध श्रौताग्नि से है। अग्न्याधान करनेवाला व्यक्ति ही इन यज्ञों का अधिकारी

होता है। अग्नि का आधान पच्चीस से ऊपर चालीस साल से पूर्व उम्र-वाले सपत्नीक व्यक्ति को अधिकार है तथा स्थापन करने पर उसे याव-ज्जीवन अग्नि की उपासना करते रहना अनिवार्य होता है। श्रौत अग्नि के चार प्रकार हैं—(१) गार्हपत्य, (२) आहवनीय, (३) दक्षिणाग्नि (४) सभ्याग्नि। इन्हीं में नाना होमद्रव्यों के प्रक्षेप का विधान है। अग्निहोत्र प्रतिदिन प्रात. तथा सन्ध्याकाल में अग्नि की उपासना है जिसमें मुख्यत दुग्ध की तथा गौणतः यवागू, तण्डुल, दधि तथा घृत की आहुति दी जाती है। दर्शपूर्णमास याग क्रमशः अमावास्या तथा पूर्णिमा में किया जाता है। दर्श में आग्नेय पुरोडाश याग, इन्द्रदेवताक दधिद्रव्यक याग तथा इन्द्रदेवताक पयोद्रव्यक याग—ये तीन याग होते हैं। पौर्णमास में अग्निदेवताक अष्टाकपाल पुरोडाश याग, अग्नीषोमीय आज्यद्रव्यक उपांशुयाग तथा अग्नीषोमीय एकादशकपाल पुरोडाश याग—ये तीन याग होते हैं। इस प्रकार छ यागों की समष्टि दर्शपूर्णमास के नाम से प्रसिद्ध है। आग्रयण इष्टि—नवीन उत्पन्न द्रव्य—धान तथा यव—से शरद् तथा वसन्त में यह इष्टि विहित है। द्रव्य है पुरोडाश तथा चरु। यह नित्य इष्टि है जिसके अनुष्ठान के अनन्तर ही आहिताग्नि नए अन्न को खाता है।

चातुर्मास्य—चार चार मासों में अनुष्ठेय होने के कारण इसका यह नामकरण है। इसमें चार पर्व होते हैं—(१) वैश्वदेव पर्व फाल्गुनी पूर्णिमा को अनुष्ठेय। (२) वरुण प्रघास—चार मास बीतने पर आषाढी पूर्णिमा में अनुष्ठेय पर्व। (३) साकमेध—चार मासों के अनन्तर कार्तिकी पूर्णिमा में अनुष्ठेय। (४) शुनासीरीय—फाल्गुन शुक्ल प्रतिपद् को अनुष्ठेय चतुर्थ पर्व। इसी क्रम से पुन इसका आवर्तन प्रति वर्ष होता है।

निरूढपशु—प्रतिवत्सर वर्षा ऋतु में करना चाहिए। कहीं-कहीं उत्तरायण के तथा दक्षिणायण के आरम्भ में दो बार भी विकल्प से

अनुष्ठान विहित है। द्रव्य है छाग और वह भी प्रत्यक्ष नहीं, प्रत्युत उसके वपा, हृदय, वक्षः, यकृत् आदि नाना अंगों का होम इन्द्राग्नी, सूर्य अथवा प्रजापति के उद्देश्य से अग्नि में विहित है। खदिर अथवा बिल्व से निर्मित यूप में छाग को बांधकर 'संज्ञपन' करते हैं ('संज्ञपन' का अर्थ है शस्त्रघात के बिना ही पशु का मुँह बंदकर श्वास रोकने से मारना)। तदनन्तर अंग-विशेषों को निकाल कर अग्नि में हवन किया जाता है।

सौत्रामणी—(सुत्राम्णः इयमिति सौत्रामणी इष्टिः) यह भी पशुयाग का ही एक प्रकार है। स्वतन्त्र तथा अंगभूत होने से यह दो प्रकार की होती है जिनमें स्वतन्त्र याग में ब्राह्मण का ही तथा अंगभूत में क्षत्रिय और वैश्य का अधिकार माना जाता है। पशु तीन होते हैं—अज, मेष तथा ऋषभ और देवता भी यथाक्रम अश्विनौ, सरस्वती तथा इन्द्र होते हैं। 'सौत्रामण्यां सुराग्रहः' एकान्त नियम नहीं है। अतः आपस्तम्ब श्रौत (१९।२।२३) में 'पयोग्रहा वा स्युः' नियम विकल्पतः मिलता है। इसलिए पयोग्रहण का भी विधान न्याय्य है। इसके भी कई प्रकार हैं।

पिण्डपितृ यज्ञ—नाम से ही पता चलता है कि पितरों के उद्देश्य से यज्ञ का विधान होता है।

सोमयाग

सोमयाग ही आर्यों का अत्यन्त प्रसिद्ध याग है। पारसी लोगों में भी यह प्रचलित था। यह बहुत ही विस्तृत, दीर्घकालीन तथा बहु-साधनव्यापी व्यापार है। इसके प्रधानतः कालगणना की दृष्टि से तीन प्रकार हैं—

[१) एकाह—एक दिन में साध्य याग। (२) अहीन—दो दिनो से लेकर १२ दिनों तक चलने वाला याग। (३) सत्र—१३ दिनों से आरम्भ कर पूरे वर्ष तक तथा एक हजार वर्षों तक चलने वाला याग। द्वादशाह दोनों प्रकार का होता है अहीन तथा सत्र भी।

सोमलता के रस की आहुति देने से यह सोमयाग कहलाता है। सोम के रूप-रग तथा प्रभाव का वर्णन ऊपर (पृष्ठ ४३३-३४) विस्तार के साथ किया गया है। आज यह लता भारतवर्ष में उपलब्ध नहीं है। अतः उसकी कोई प्रतिनिधि 'पूतीक' नामक लता का आजकल प्रयोग होता है। इसमें १६ ऋत्विजों का कार्य होता है। मुख्य ऋत्विजों के तीन-तीन सहायक होते हैं।

अग्निष्टोम—'यज्ञायज्ञा वो अग्नये' (ऋ० ६।४८।१; साम मन्त्र संख्या ३५) ऋचा पर साम गान 'अग्निष्टोम' कहलाता है। इस साम के अन्तिम होने से यह याग कहलाता है 'अग्निष्टोम संस्था' और लघुता की दृष्टि से केवल अग्निष्टोम। 'संस्था' का अर्थ है 'अन्त'। अग्निष्टोम ही इसमें सब से अन्तिम साम होता है। यही इस नामकरण का हेतु है। यह याग पाँच दिनों तक चलता है। ऐष्टिक वेदि में आनुषङ्गिक इष्टियो का तथा सौमिक वेदि पर प्रधान इष्टियों का अनुष्ठान किया जाता है। प्रकृति याग होने से इसका विशेष महत्त्व है। १२ शस्त्रों का प्रयोग इसकी विशिष्टता है।

उक्थ्य—उक्थ्य नामक साम से समाप्य याग। इसमें पूर्व याग से तीन शस्त्र अधिक होते हैं। अत शस्त्रों की संख्या १५। ये अधिक तीनो शस्त्र उक्थ्य शस्त्र कहलाते हैं।

षोडशी—इस इष्टि में उक्थ्य के अनन्तर एक षोडशी नामक स्तोत्र और भी विद्यमान रहता है। पन्द्रह स्तोत्रो को गर्भित कर एक अधिक स्तोत्र की सत्ता इसकी विशिष्टता है। यह स्वतन्त्र क्रतु नहीं

है। इसीलिए अग्निष्टोम के समान इसका अनुष्ठान पृथक् रूप से नहीं होता।

अतिरात्र—षोडशिस्तोत्र के अनन्तर अतिरात्र-संज्ञक सामों का गायन इस याग के अन्त में होता है। इसीलिए यह 'अतिरात्र' के नाम से प्रख्यात है। अब तक निर्दिष्ट इन चारों यागों का सामूहिक अभिधान 'ज्योतिष्टोम' है। तैत्तिरीय ब्राह्मण (१।५।११) के अनुसार त्रिवृत्, पञ्चदश, सप्तदश तथा एकविंश—इन चारों स्तोमों को 'ज्योतिः' पद के द्वारा संकेतित किया जाता है और इन यागों में इन्हीं की प्रधानता होने से यह नामकरण है।

अत्यग्निष्टोम—वह याग है जिसमें अग्निष्टोम के अनन्तर बिना उक्थ्य किये ही षोडशी का विधान किया जाता है। वाजपेय तथा आप्तोर्याम—पूर्वोक्त ज्योतिष्टोमों में आवापोद्वाप से निष्पन्न नवीन संस्थायें हैं। इन सब की प्रकृति होने से 'अग्निष्टोम' का ही विशेष वर्णन श्रौत-सूत्रों में अत्यधिक उपलब्ध होता है। सोम का त्रिषवण होता है—प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन तथा सायं सवन। सवन कर्म ही 'सुत्या' के नाम से अभिहित होता है। इन यागों के अतिरिक्त अन्य यागों में गवामयन (सत्र), वाजपेय, राजसूय तथा अश्वमेध मुख्य हैं[1]।

स्वर्ग की कल्पना—

यज्ञ का प्रधान फल स्वर्ग की प्राप्ति है। नाना उद्देश्यों से भी अनेक यज्ञों का सम्पादन किया जाता है, परन्तु स्वर्ग ही उसका सर्वोत्तम तथा परममंगलमय उद्देश्य है। ऋग्वेद सूक्तपञ्चक (१०।१४–१८)

---

[1] विशेष के लिए द्रष्टव्य—विद्याधर अग्निहोत्री रचित 'कातीय श्रौत सूत्र' की सरल व्याख्या की भूमिका (पृष्ठ ४०–७५), चिन्नस्वामी शास्त्री रचित 'यज्ञतत्त्वप्रकाश' (कलकत्ता), रामेन्द्रसुन्दर त्रिवेदी रचित 'यज्ञकथा' (बंगला, कलकत्ता से प्रकाशित)।

के अनुशीलन से मृत्यु तथा भविष्य जीवन की वैदिक मान्यताओं से हमें परिचय प्राप्त होता है। शवसंस्कार के लिए अग्निदाह ही श्रेष्ठ उपाय माना जाता था और इसलिए अग्नि शव को पितृ लोगों तथा देवों के लोक तक पहुँचाता है। प्रेत के लिए स्वर्ग तक जाने का रास्ता बहुत दीर्घ पन्था है जिस पर सविता प्रेतात्माओं को राह दिखलाता हुआ ले जाता है (ऋ० १।३५) तथा पूषन् उनकी रक्षा करता है (ऋ० ६।५४)। चिता जलने के पहिले प्रेत पुरुष की पत्नी, जो शव के साथ लेटी हुई थी, उठती है और उसका धनुष हाथ से हटा लिया जाता है। यह इसकी सूचना है कि प्राचीनतर काल में पत्नी तथा धनुष दोनों ही शव के साथ जला दिये जाते थे। पितरों के मार्ग पर चलकर प्रेत की आत्मा प्रकाशमान लोक में प्रवेश करती है और पितरों के साथ साक्षात्कार करती है। वहाँ उच्चतम लोक में यम पितरों के साथ बैठकर आनन्द में कालयापन करते हैं।

यम (अवस्ता 'यिम') प्रथम मानव हैं जिन्होंने मानवों के लिए पितृलोक में जाने का मार्ग खोज निकाला है (यमो नो गातु प्रथम विवेद, ऋ० १०।१४।२) उसी लोक में हमारे पूर्व पितृगण प्राचीनकाल में गए हे तथा उसके अनन्तर भावी पुरुष अनेक मार्गों से उसी लोक में जाते हैं। यम विवस्वान् के पुत्र होने से 'वैवस्वत' कहलाते हैं। यम के लिए 'राजा' शब्द का प्रयोग अनेकत्र किया गया है, व्यक्त रूप से 'देव' का नहीं। पितृलोक के मार्ग में यम के शबल दो कुत्ते रहते हैं जो सरमा के पुत्र, चार नेत्रवाले (चतुरक्षौ), मार्ग के रक्षक (पथिरक्षी) तथा मनुष्यों पर पहरा देनेवाले (नृचक्षसा) हैं। प्रेतात्मा को इनसे बच कर जाने का उपदेश दिया गया है। दीर्घ नासिकावाले (उरूणसौ) प्राण के संहारक (असुतृपौ) तथा नाना वर्णवाले (उदुम्बलौ) ये सारमेय यम के दूत बतलाये गये हैं। ये मनुष्यों में घूमते हैं तथा पितृलोक में जाने वालों को ढूँढा करते हैं। पितृ लोक प्रकाशमान देदीप्यमान लोक

हैं जहाँ यम पितृ लोगों के साथ आनन्द में मग्न दीखते हैं। पितरों के अनेक गण होते हैं जिनमें अंगिरस, नवग्वा, अथर्वण्, भृगु तथा वसिष्ठ मुख्य माने जाते हैं। ये सोमरस के अभिलाषुक हैं तथा उनके लिए मर्त्यलोक में प्रस्तुत आहुति के लिए सदा लालायित रहते हैं। उनमें यज्ञ में आने, सोम पीने तथा उपासकों की रक्षा करने के लिए नाना प्रार्थनायें की गई हैं—

> असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञा—
> स्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु॥
> (ऋ० १०।१५।१)

पितरों के नाना प्रकार हैं—अवर (नीचे रहनेवाले), पर तथा मध्यम, प्राचीन तथा नवीन। हम पितरों को न भी जानें, परन्तु अग्नि सबको जानता है।

स्वर्ग की धारणा बड़े ही सुन्दर तथा प्रकाशमय रूप में की गई है उस लोक में यम वरुण तथा पितरों के साथ निवास करते हैं। वहाँ मनुष्य को अमरत्व प्रदान करने के लिए कश्यप ऋषि प्रार्थना करते हैं—यत्र राजा वैवस्वतो यत्रावरोधनं दिवः।............तत्र माममृतं कृधि (९।११३।८)। वहाँ दिन, रात और जल सब सुन्दर तथा आनन्ददायक होते हैं (१०।१४।९)। वहाँ मनुष्य को बलिष्ठ सुन्दर शरीर प्राप्त हो जाता है तथा इस शरीर की रोग-व्याधि, दुर्बलता तथा त्रुटियाँ सब दूर हो जाती हैं। पुण्य कार्य करनेवाला प्राणी अपने सम्पादित इष्ट (यज्ञ) तथा पूर्त (कुँआ खोदना आदि स्मृति-निर्दिष्ट कार्य) के फल को प्राप्त कर लेता है तथा पितरों और यम से मिलकर आनन्द भोग करता है (ऋ० १०।१४।८)। प्रेतात्मा भौतिक प्रकाशमान शरीर से युक्त होकर स्वर्ग में सोम, सुरा, मधु दुग्ध तथा घी जैसी भौतिक वस्तुओं से ही आनन्द नहीं उठाता, प्रत्युत प्रेम करने के लिए स्त्रियों की भी

प्रोत होना चाहिए। इस भावना की प्रेरणा देने वाले अथर्व ऋषि का यह वाक्य वर्तमानकाल के मानवों के लिए आदर्श मन्त्र होना चाहिए—

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्योऽन्यमभिनवत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥
(अथर्व० पिप्पलाद ५।१९।१)

यह संज्ञान सूक्त (अथर्व० ३।३०) मानवों के परस्पर सौहार्द, सहानुभूति तथा मैत्री को मानव समाज के लिए आदर्श बतलाने वाला एक नितान्त श्लाघनीय सूक्त है जिसके भावों को समझना तथा अपने जीवन में उतारना ससार के प्राणियों का कल्याण साधक है।

वेद अपौरुषेय है। वेद नित्य है। वेद रहस्यमय है। वेद का ज्ञान गम्भीर है। वह विश्व में सर्वत्र व्यापक परम चैतन्य का आभामय शाब्दिक विग्रह है। वह देश तथा काल से अतीत है। वह किसी एक मानव समाज का ग्रन्थ नहीं है। वह विश्व-मानव का कल्याणाधायक ग्रन्थरत्न है। वह व्यवहार का उपदेष्टा है। वह अध्यात्म का शिक्षक है। वह परमज्योतिर्मय प्रभु का प्राणियों के लिए मधुर सन्देश है। उसकी उपासना उस अनन्त सर्वशक्तिमान् अचिन्त्य शक्तिशाली भगवान् के मगलमय साक्षात्कार कराने में कृतकार्य होती है। उस उस परम करुणावतार भगवान् से हमारी विनम्र प्रार्थना है कि हमें वह सुबुद्धि दे जिससे हम इस वेदवाणी को समझें, गूढ़ अर्थ को हृदयंगम करें, उसका आचरण कर अपने जीवन को मंगलमय बनावें तथा इस जन्म को सार्थक सिद्ध करें।

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥
(ऋ० १०।१९१।४)

ॐ तत् सद् ब्रह्मार्पणमस्तु॥

परिशिष्ट १

वैदिक व्याकरण और स्वरप्रक्रिया

ध्वनियों की उच्चारण-सम्बन्धी विशेषताएँ

स्वरवर्ण

उदात्तादि स्वरों की सत्ता वैदिक भाषा की एक विशेषता है। लौकिक संस्कृत में उदात्तादि स्वरों का महत्त्व नहीं होता। वैदिक भाषा में स्वर वर्णों का उच्चारण उदात्तादि स्वरों में से किसी न किसी के साथ ही होता है। उदात्तादि स्वर स्वर-वर्णों के धर्म हैं। ये संक्षेप में तीन कहे जा सकते हैं—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। इनके अतिरिक्त एक प्रचय स्वर भी होता है। ये स्वर प्रायः अर्थ समझने में भी सहायक होते हैं। इनका विस्तार से वर्णन आगे किया जायगा।

मात्रा—स्वरों के उच्चारण में मात्रा का भी विचार होता है। मात्रा उच्चारण का काल बतलाती है। ह्रस्व स्वर वर्णों का उच्चारण एक मात्रा काल में होता है। 'मात्रा ह्रस्वः'—(ऋ० प्रा० प० १ सू० २७)। दीर्घ स्वर वर्ण का उच्चारण दो मात्रा काल में होता है। 'द्वे दीर्घः'—(ऋ० प्रा० प० १ सू० २९)। प्लुत स्वर वर्ण का उच्चारण तीन मात्रा काल में होता है। 'तिस्रः प्लुत उच्यते स्वरः'—(ऋ० प्रा० प० १ सू० ३०)। ऋक् प्रातिशाख्य में 'अधः स्विदासी ३ त्', 'उपरि स्विदासी ३ त्' और 'भीरिव चिदन्ती ३' ये तीन प्लुत के उदाहरण दिये हैं। इन उदाहरणों में क्रिया-पद के अन्तिम स्वर प्लुत हैं।

अनुनासिकीकरण— पद के अन्त में आनेवाले प्रथम आठ स्वर अर्थात् अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ और ऌ, परवर्ती पद के आदि में आनेवाले स्वर के साथ सन्धि सभव होते हुए भी यदि सहत न हों तो, अनुनासिक हो जाते है। जैसे 'ईड्यो नूतनैरुतँ' (ऋ० १।१।२), 'इन्दवो वामुशन्ति हिँ' (ऋ० १।२।४) (ऋ० प्रा० प० १ सू० ६३)। परन्तु यह नियम शाकल शाखा में नहीं माना जाता। उस शाखा में केवल प्लुत स्वर यदि अवसान में हो तो उसे अनुनासिक किया जाता है (ऋ० प्रा० प० १ सू० ६४)।

अनुस्वार आदि—ऋक् प्रातिशाख्य के अनुसार अनुस्वार में स्वर और व्यजन दोनों के धर्म है। इसीलिये इसे स्वर और व्यञ्जन से भिन्न वर्ण माना गया है। 'अनुस्वारो व्यजनं वा स्वरो वा' (ऋ० प्रा० प० १ सू० ५)। इसका उच्चारण नासिका से होता है। 'नासिक्ययमानुस्वारान्' (ऋ० प्रा० प० १ सू० ४८)। आजकल इसका उच्चारण शुद्ध नहीं होता। 'सिंह' का उच्चारण 'सिह्' किया जाता है। ऋक् प्रातिशाख्य के अनुसार विसर्ग, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय व्यजन हैं। 'सर्वः शेषो व्यजनान्येव' (ऋ० प्रा० प० १ सू० ६) तथा 'उत्तरेऽष्टा ऊष्माण' (ऋ० प्रा० प० १ सू० १०)। विसर्गों के उच्चारण का स्थान कण्ठ माना गया है। 'प्रथम पञ्चमौ च द्वा उष्मणाम्' (ऋ० प्रा० प० १ सू० ३९)। इनके उच्चारण में भी आजकल कुछ दोष आ गया है। विसर्गों के अन्त में लोग 'ह्' की ध्वनि निकालते है। जिह्वामूलीय का उच्चारण जिह्वामूल से (ऋ० प्रा० प० १ सू० ४१) और उपध्मानीय का उच्चारण ओष्ठ से माना गया है (ऋ० प्रा० प० १ सू० ४७)। जिह्वामूलीय और उपध्मानीय से विसर्ग भिन्न पदार्थ है। विसर्ग के उच्चारण के बाद मुख खुला रहता है। परन्तु जिह्वामूलीय के बाद गला और उपध्मानीय के बाद ओष्ठ बद हो जाते है।

व्यञ्जन वर्ण

लौकिक संस्कृत के सभी व्यञ्जन वर्ण वैदिक संस्कृत में भी हैं। इनके अतिरिक्त 'ळ' और 'ळ्ह' दो व्यञ्जन वैदिक संस्कृत में अधिक हैं। दो स्वरों के बीच में आनेवाला 'ड' 'ळ' हो जाता है। वही 'ढ' यदि 'ह' के साथ आवे तो 'ड' होकर 'ळ्ह' हो जाता है (ऋ० प्रा० प० १ सू० ५२)। जैसे 'ईळा' 'माळ्हा' इन उदाहरणों में 'ई' और 'आ' के बीच में आनेवाला 'ड' 'ळ' और 'ह' के साथ आनेवाला 'ढ' 'ड' होकर 'ळ्ह' हो गया है। 'वीड्वङ्ग' और 'मीढ्वान्' का 'ड' दो स्वरों के बीच न होने से 'ळ' नहीं होता। परन्तु 'विड्वङ्गः' को यदि अवग्रह के साथ पढ़ा जाय तो उसका भी 'ड्' 'ळ' हो जाता है। जैसे—'वीळुऽअङ्गः'।

यमः—वैदिक भाषा में अननुनासिक स्पर्शसंज्ञक वर्ण ('क' से 'म' तक, वर्गों के पञ्चम वर्गों को छोड़कर) अनुनासिक स्पर्शसंज्ञक वर्ण (वर्गों के पञ्चम वर्ण) परे रहते अपने-अपने यम हो जाते हैं। जैसे 'पलिक्नीः' में 'क्' के बाद 'न' है, इसलिये उसका उच्चारण 'कँ्' होता है। 'गृभ्णीते' में 'भ्' के बाद 'न' है, इसलिये उसका उच्चारण 'भँ्' होता है। यमों की संख्या वर्णों के आधार पर बीस है (ऋ० प्रा० प० १ सू० ५० पर उव्वट भाष्य) परन्तु वर्गों में स्थान के आधार पर वे चार ही माने जाते हैं। इनका उच्चारण नासिका से होता है (ऋ० प्रा० प० १ सू० ४८)।

क्रम—वैदिक भाषा में उच्चारण के समय परिस्थिति-विशेष में व्यञ्जन वर्णों को द्वित्व हो जाता है। इस द्वित्व को क्रम कहते हैं। इसके बहुत से नियम और उनके अपवाद ऋक् प्रातिशाख्य में दिए हैं। परिचय के लिए कुछ नियम यहाँ दिये जाते हैं:—

(१) स्वर और अनुस्वार के बाद आनेवाले संयुक्त वर्ण के आदि के व्यञ्जन को द्वित्व हो जाता है, यदि वह विसर्ग के बाद न आया

हो जैसे—आत्त्वा रथं यथोतये (ऋ० ८।६८।१)। यहाँ 'आ' स्वर के वाद आनेवाले 'त्वा' सयुक्त वर्ण के आदि के व्यंजन 'त्' को द्वित्त्व हो गया है। सोमान स्स्वरणम् (ऋ० १।१८।१)। यहाँ 'न' के अनुस्वार के वाद आनेवाले 'स्व' संयुक्त वर्ण के आदि के व्यन्जन 'स' को द्वित्त्व हुआ है। यदि उपर्युक्त व्यञ्जन सोष्म वर्ण हो तो उसका अपने आदि के वर्ण के साथ उच्चारण होता है। जैसे—अब्भ्रातेव पुसः (ऋ० १।१२४।७)। यहाँ 'अ' स्वर के वाद 'भ्रा' संयुक्त वर्ण है। उसके आदि का व्यन्जन 'भ्' सोष्म वर्ण है। उसका अपने पूर्व वर्ण 'ब्' के साथ उच्चारण होता है। यहाँ 'पूर्व वर्ण' का अर्थ है अपने वर्ग में अपने पूर्व का वर्ण। पवर्ग में 'ब' पहिले आता है वाद 'भ'।

(२) स्वर के वाद आनेवाले सयोगादि रेफ के वाद के व्यन्जन वर्ण को द्वित्त्व होता है। जैसे—अर्द्ध वीरस्य (ऋ० ७।१८।१६)। यहाँ 'अ' स्वर के वाद के सयोगादि रेफ के वाद के 'ध्' को द्वित्त्व हुआ है। 'ध' सोष्म है। इसलिये उसका उच्चारण अपने पूर्व वर्ण 'द्' के साथ होता है।

(३) स्वर के वाद आनेवाले सयोगादि 'ल्' के वाद के स्पर्श वर्ण ('क' से 'म' तक) को द्वित्त्व होता है। 'पर रेफात्' (= ऋ० प्रा० प० ६ सू० ५) जैसे—महत्तदुल्व्व स्थविरम् (ऋ० १०।५१।१) यहाँ 'उ' स्वर के वाद के 'ल्' के वाद 'व' को द्वित्व हुआ है।

(४) ऊष्म वर्ण के वाद आने वाले वर्ग के प्रथम और द्वितीय स्पर्श वर्णों को विकल्प से द्वित्व होता है (ऋ० प्रा० प० ६ सू० ६)। जैसे—प्रास्त्तांदर्व्वाजा ऋष्वेभिः (ऋ० १०।१०५।६)। यहाँ ऊष्म वर्ण 'स्' के वाद वर्ग के प्रथम स्पर्श 'त्' को द्वित्व हुआ है। जब द्वित्व नहीं होता तब 'प्रास्तांदर्व्वाजा' होता है।

(५) सयुक्त वर्ण के आदि के अनुपध ऊष्म वर्ण को विकल्प से द्वित्व होता है (ऋ० प्रा० प० ६ सू० ९)। जैसे—ह्ह्वयाम्यग्निम्

(ऋ० १।२५।१)। यहाँ 'ह्व' संयुक्त वर्ण है। इसके आदि का 'ह' अनुपध है अर्थात् उसके पहिले कोई वर्ण नहीं है। उसे द्वित्व हुआ है। जब द्वित्व नहीं होता तब 'ह्वयाम्यग्निम्' होता है।

(६) ह्रस्व स्वर के बाद आने वाले अथवा 'मा' के बाद आने वाले 'छ' को, चाहे वह संयुक्त वर्ण के आदि का हो या न हो, द्वित्व होता है (ऋ० प्रा० प० ६ सू० ३ और १३)। जैसे—उपच्छायामिव घृणेः (ऋ० ६।१६।३८)। यहाँ 'छ' संयुक्त वर्ण के आदि का नहीं है। तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् (ऋ० १०।१२९।३)। यहाँ 'छ' संयुक्त वर्ण के आदि का है। मा च्छेद्म रश्मीं रिति (ऋ० १।१०९।३)। यहाँ 'मा' के बाद 'छ' को द्वित्व हुआ है।

स्वरभक्तिः—स्वर के बाद आने वाले रेफ से परे यदि व्यञ्जन हो तो रेफ से ऋकार-वर्णा स्वरभक्ति उत्पन्न होती है (ऋ० प्रा० प० ६ सू० ४६)। यह रेफ और व्यञ्जन के बीच होती है। स्वरभक्ति का अर्थ है स्वर-प्रकार (ऋ० प्रा० प० १ सू० ३२ पर उव्वट भाष्य)। यह दो प्रकार की होती है—द्राघीयसी और ह्रस्वा। जिस स्वरभक्ति के बाद श, ष, स और ह आवे वह द्राघीयसी कहलाती है (ऋ० प्रा० प० ६ सू० ४८)। जैसे—यदद्य कर्हि कर्हि चित् (ऋ० ८।७३।५)। यहाँ रेफ मे स्वरभक्ति उत्पन्न होती है और उसके बाद 'ह' है। अतः यह द्राघीयसी स्वरभक्ति है। यदि स्वरभक्ति के बाद श, ष, स और ह को द्वित्व हुआ हो तो उनके पूर्व की स्वरभक्ति ह्रस्वा होती है। जैसे—वर्ष्ष्यान् (ऋ० ५।८३।२)। यहाँ रेफ के बाद 'ष्' है। उसे द्वित्व हुआ है। अतः उसके पूर्व के रेफ से उत्पन्न होने वाली स्वरभक्ति ह्रस्वा है। श, ष, स और ह को छोड़कर अन्य किसी भी वर्ण के पहिले की स्वरभक्ति ह्रस्वा होती है। जैसे—अर्चन्त्यर्कमर्किणः (ऋ० १।१०।१)। यहाँ स्वरभक्ति के बाद 'च' और 'क' वर्ण हैं। अतः यह स्वरभक्ति ह्रस्वा है। द्राघीयसी स्वरभक्ति के

उच्चारण का काल अर्ध मात्रा है (ऋ० प्रा० प० १ सू० ३३)। ह्रस्वा स्वरभक्ति का उच्चारण-काल पाद-मात्रा है (ऋ० प्रा० प० १ सू० ३५)। स्वरभक्ति जिस व्यञ्जन से उत्पन्न होती है उस व्यञ्जन के सहित वह पूर्व स्वर का अंग होती है।

अभिनिधान—वर्णों का संधारण और श्रुति का संवरण अभिनिधान कहलाता है (ऋ० प्रा० प० ६ सू० १७)। यह उच्चारण की स्पष्टता के लिये संयुक्त वर्णों का विच्छेद है। यह संधि-कार्य हो जाने पर स्पर्श वर्ण और रेफ को छोड़ कर अन्तस्थ वर्ण को दूसरा स्पर्श वर्ण परे रहते होता है। जैसे—अर्वाग् देवा अस्य (ऋ० १०।१२९।६)। यहाँ 'अर्वाक्' के 'क्' को 'ग्' करना संधि-कार्य है। उसके हो जाने पर 'ग्' को 'ग्दे' संयुक्त वर्ण से तोड़ कर अलग कर लिया गया है। 'ग्' और 'दे' के बीच सूक्ष्म विराम है। वही 'ग्' पर अभिनिधान है। उसके कारण 'ग्दे' संयुक्त वर्ण का उच्चारण सुकर हो जाता है। उप मा षड् द्वाद्वा (ऋ० ८।६८।१४)। यहाँ 'ड्' पर अभिनिधान है। 'उल्कामिव' और 'दधिक्राव्ण' में क्रमशः 'ल्' और 'व्' पर अभिनिधान है। शाकल शाखा में यदि 'ल्' के बाद ऊष्म वर्ण आवे तो 'ल्' पर अभिनिधान होता है। जैसे—वनस्पते शतवल्शः (ऋ० ३।८।११)। यहाँ 'श' ऊष्म वर्ण परे रहते 'ल्' पर अभिनिधान है। स्वरभक्ति के ज्ञान के लिये अभिनिधान को अच्छी तरह समझना आवश्यक है।

व्यूह और व्यवाय—छन्दों के किसी चरण में वर्ण की कमी पड़ने पर पूर्ति (सम्पद्) के लिये एकाक्षरीभावापन्न संधियों को तोड़ कर दो वर्ण बना लिये जाते हैं। इस प्रक्रिया को व्यूह कहते हैं। व्यूह का अर्थ है पृथक्करण। जैसे—प्रेता जयता नर (ऋ० १०।१०३।१३)। यहाँ 'प्रे' में 'अ' और 'इ' का एकीभाव है। इसे तोड़ कर 'प्र इता' पढ़ने से छन्द की पूर्ति हो जाती है। क्षिप्र वर्ण (य्, व्, र्, ल्) वाले संयोगों में छन्द की पूर्ति

के लिये व्यवाय करना चाहिये। व्यवाय का अर्थ है व्यवधान। क्षैप्रवर्ण से संबद्ध उसके पूर्व के व्यञ्जन को अलग करके समान स्थान स्वर के साथ पढ़ना चाहिये। ऐसा करने से एक वर्ण बढ़ जाता है और छन्द की कमी पूरी हो जाती है। जैसे—त्र्यम्बकं यजामहे (ऋ० ७।५९।१२)। यहाँ 'त्र्य' में 'य' क्षैप्रवर्ण है। उसके साथ 'त्र्' का संयोग है। ऐसे स्थान पर 'त्र्' को अलग करके 'य' के समान स्थान वाले स्वर 'इ' के साथ 'त्रियम्बकं' पढ़ना चाहिये। कुछ आचार्यों का मत है कि व्यवाय केवल 'य' और 'व' के सयोग में ही करना चाहिये; 'र' और 'ल' के सयोग में नहीं। इस विषय में और भी मतभेद है। उनके लिये ऋक्-प्रातिशाख्य देखना चाहिये।

सन्धि-प्रकरण

स्वरसंधि—

वैदिक भाषा में सन्धि के नियम प्रायः वही है जो लौकिक संस्कृत में। कुछ ही नियम नये हैं। कुछ सन्धियां वही होने पर भी उनके पारिभाषिक नाम भिन्न हैं। उन नामों को भी जानना चाहिये।

वैदिक व्याकरण में दीर्घसन्धि, गुणसन्धि और वृद्धिसन्धि को 'प्रश्लिष्ट' सन्धि कहते हैं। लौकिक भाषा की यण्सन्धि को क्षैप्र सन्धि कहते हैं। पद के अन्त के 'ए' और 'ओ' के बाद आने वाले पादादि 'अ' का पूर्वरूप हो जाता है। जैसे—सुगं तत्ते तावकेभ्यो रथेभ्योऽग्ने (ऋ० १।९४।११)। दधासि रत्नं द्रविणं च दाशुषेऽग्ने (ऋ० १।९४। १४)। इस सन्धि को अभिनिहित सन्धि कहते हैं। इस सन्धि के कई नियम और अपवाद ऋक्प्रातिशाख्य में दिये हैं।

'ऐ' और 'औ' के बाद यदि कोई स्वर आवे तो उनके स्थान पर 'आ' हो जाता है (ऋ० प्रा० प० २ सू० २५)। जैसे—सूर्याय पन्था-

मन्वेतवा उ (ऋ० १।२४।८)। यहाँ 'वै' का 'वा' हो गया है। उभा उ नूनम् (ऋ० १०।१०६।१)। यहाँ 'भौ' का 'भा' हो गया है। इनको पदवृत्ति सन्धि कहते हैं।

'ए' और 'ओ' के बाद यदि कोई स्वर आवे तो उनके स्थान पर 'अ' हो जाता है (ऋ० प्रा० प० २ सू० २८)। जैसे—अग्न इन्द्र वरुण मित्र देवाः (ऋ० ५।४६।२)। यहाँ 'अग्ने' का 'ग्न' हो गया है। वाय उक्थेभिर्जरन्ते (ऋ० १।२।२)। यहाँ 'यो' का 'य' हो गया है। इन सधियों को उद्ग्राह संधि कहते हैं। यदि उद्ग्राह सधि में परवर्ती स्वर दीर्घ हो तो उसे उदग्राहपदवृत्ति कहते हैं। जैसे—क ईपते तुज्यते (ऋ० १।८४।१७) यहाँ 'के' का 'क' हो गया। उसके बाद दीर्घ 'ई' है। यदि उद्ग्राह सधि के फलस्वरूप 'ओ' और 'औ' के स्थान पर होनेवाले 'अ' और 'आ' के बाद कोई ओष्ठ्य स्वर हो तो दोनों के बीच 'व्' का आगम होता है। इस सन्धि को भुग्न सधि कहते हैं। कुछ परिवर्तन के साथ इन नियमों का पाणिनि ने 'एचोऽयवायाव' (अष्टा० ६।१।७८) और 'लोपः शाकल्यस्य (अष्टा० ८।३।१९) के द्वारा उपदेश किया है।

प्रकृतिभाव

संधि सम्भव होने पर भी उसका न होना 'प्रकृतिभाव' कहलाता है। प्रकृतिभाव का शब्दार्थ है जैसा है वैसा रहना। इसके कुछ नियम तो वैदिक और लौकिक दोनों भाषाओं में समान हैं। 'ई' 'ऊ' और 'ए' अन्तवाले द्विवचनों को स्वर परे रहते प्रकृतिभाव होता है। जैसे—इन्द्रवायू इमे सुता (ऋ० १।२।४) यह नियम लौकिक संस्कृत में तथा ऋग्वेद संहिता पाठ में समान रूप से चलता है (ऋ० प्रा० प० १ सू० ७१ तथा प० २ सू० ५२)। ऐसे नियमों के अतिरिक्त वैदिक भाषा में प्रकृतिभाव करनेवाले कुछ विशेष नियम भी हैं।

तीन वर्णोंवाले ईकारान्त द्विवचनों को 'इव' परे रहते संहिता में प्रकृतिभाव नहीं होता। जैसे—दम्पतीव क्रतुविदा (ऋ० प्रा० प० २ सू० ५५)। परन्तु 'बृहतीइव' अपवाद है। (ऋ० प्रा० प० २ सू० ७४)।

किसी को पुकारते समय पद के अन्त में आनेवाले 'ओ' को इति-करण में तथा ऋषि-निर्मित संहिता पाठ में प्रकृतिभाव होता है। जैसे—इन्दो इति (ऋ० प्रा० प० १ सू० ६८ तथा प० २ सू० ५१)

स्वतन्त्र पद के रूप में आनेवाले 'ओ' को भी इतिकरण में तथा संहिता पाठ में प्रकृतिभाव होता है। जैसे—ओ इति; ओ अयासीदिन्दुः (ऋ० प्रा० प० १ सू० ६९, प० २ सू० ५१ और ५२)।

अस्मे, युष्मे, त्वे, अमी इन पदों को प्रकृतिभाव होता है। जैसे—अस्मे आ वहतं रयिम्। त्वे इज्यते हविः। (ऋ० प्रा० प० १ सू० ७३ तथा प० २ सू० ५२)

'ॐ' को इतिकरण में प्रकृतिभाव होता है। जैसे—ॐ इति। (ऋ० प्र० प० १ सू० ७५ तथा प० २ सू० ५१)।

यण् संधि से उत्पन्न होनेवाले 'य' अथवा विवृत्ति के बाद के 'उ' को प्रकृतिभाव होता है। जैसे—प्रत्यु अदर्शि। यहाँ वस्तुतः 'प्रति उ अदर्शि' है। 'ति' के इकार को यण् सन्धि होकर 'प्रत्यु' हुआ है। अतः 'य्' के बादवाले 'उ' को प्रकृतिभाव हुआ है। अभूदु भा उ अंशवे। यहाँ 'भा' और 'उ' के बीच विवृत्ति है। अतः 'उ' को प्रकृतिभाव हुआ है और इसीलिए उसकी 'अ' से सन्धि नहीं हुई है।

ऋक् प्रातिशाख्य में प्रकृतिभाव के बहुत नियम दिये हैं। प्रकृति-भाव होने पर दो स्वरों के बीच के अन्तर को 'विवृत्ति' कहते हैं (ऋ० प्रा० प० २ सू० २)। विवृत्ति का काल स्वरभक्ति के काल के बराबर या उससे कुछ अधिक होता है (ऋ० प्रा० प० २ सू०)। स्वरभक्ति

दो प्रकार की होती है—ह्रस्वा और द्राघीयसी। ह्रस्वा स्वरभक्ति का काल पाद मात्रा और द्राघीयसी का अर्धमात्रा होता है। यह पहिले कहा जा चुका है। विवृत्ति यदि दो ह्रस्व स्वरों के बीच हो तो उसका काल पादमात्रा और यदि एक ह्रस्व और एक दीर्घ स्वर के बीच हो तो उसका काल अर्धमात्रा होता है। दो दीर्घ स्वरों के बीच की विवृत्ति का काल पौन मात्रा होता है।

विसर्ग सन्धि

वैदिक और लौकिक भाषा में विसर्ग सन्धि के सामान्य नियम प्रायः एक ही है। वैदिक भाषा के कुछ विशेष नियम है। उनका सारांश नीचे दिया जाता है।

ह्रस्व या दीर्घ स्वर के बाद का विसर्ग स्वर या घोषवत्-सञ्ज्ञक वर्ण (वर्गों के प्रथम दो वर्णों को छोड़कर बाकी सब व्यञ्जन, ह और य, र, ल, व,) परे रहते रेफ हो जाता है (ऋ० प्रा० प० ४ सू० २७)। जैसे—प्रातरग्नि प्रातरिन्द्रं हवा महे। यहाँ 'प्रातरग्नि' में ह्रस्व स्वर के बाद वाले विसर्ग को स्वर परे रहते 'र' हुआ है। श नो देवीरभिष्टय। यहाँ दीर्घ स्वर के बादवाले विसर्ग को स्वर परे रहते 'र्' हुआ है। प्रातर्मित्रावरुणा। यहाँ ह्रस्व स्वर के बादवाले विसर्ग को घोषवत् वर्ण परे रहते 'र्' हुआ है। अश्वावतीगोमितीर्न। यहाँ दीर्घ स्वर के बाद वाले विसर्ग को घोषवत् वर्ण परे रहते 'र्' हुआ है।

विसर्ग के बाद 'क' या 'ख' आवे तो वह विकल्प से जिह्वामूलीय हो जाता है। जैसे—यᳵ ककुभो निधारय'। यः ककुभो निधारय'। इसी तरह यदि विसर्ग के बाद 'प' या 'फ' आवे तो वह विकल्प से उपध्मानीय हो जाता है। जैसे—यᳶ पञ्च चर्षणीरभि। यः पञ्च चर्षणीरभि। (ऋ० प्रा० प० ४ सू० ३३)

एक पाद में विग्रह में आया हुआ अकारपूर्व विसर्ग दो अक्षर वाले पुरुषवाचक 'पति' शब्द परे रहते 'स्' हो जाता है (ऋ० प्रा०

प० ४ सू० ४२)। जैसे—उत्तिष्ठ ब्राह्मणस्पते। वाचस्पति विश्व-कर्माणम्।

वास्तोः शब्द का विसर्ग 'पति' शब्द परे रहते 'स्' हो जाता है (ऋ० प्रा० प० ४ सू० ४६)। जैसे—वास्तोष्पते ध्रुवा स्थूणा।

अकारपूर्व विसर्ग करं, कृतं, कृधि, करत्, कर् परे रहते तथा पदान्तप्राप्त परि रहते 'स्' हो जाता है। जैसे—अहं न्यन्य सहसा सहस्करम्। सोम न चारु मघवत्सु नस्कृतम्। उरुकृदुरु णस्कृधि। कुविन्नो वस्यसस्करत्। नि काव्या वेधसः शश्वतस्कः। तदुत्तानपदस्परि।

इळायाः, गाः, नमसः, देवयुः, द्रुहः, मातुः, इळः, इन शब्दों के विसर्ग को 'पद' शब्द परे रहते 'स्' हो जाता है (ऋ० प्रा० पा० ४ सू० ४९)। जैसे—इळायास्पदे सुदिनत्वे अह्नाम्। य ऋते चिद् गास्पदेभ्यो दात्। उपो एन जुजुपुर्नमसस्पदे। प्रवोऽच्छा रिरिचे देवयुष्पदम्। मा न स्तेनेभ्यो ये अभि द्रुहस्पदे। मातुष्पदे परमे अन्ति षद्गोः। इळस्पदे समिध्यसे।

विश्वतः, वीळितः, रजः, इन शब्दों के विसर्ग को 'स्' हो जाता है (ऋ० प्रा० प० सू० ५४)। जैसे—गिरिर्न विश्वतस्पृथुः पतिर्दिवः। रथचोदः श्रथनो वीळितस्पृथुः। वि धामेपि रजस्पृथु।

यदि विसर्ग से नत या अनत ऊष्म वर्ण परे हो और उसके बाद कोई अघोष-संज्ञक वर्ण (वर्गों के प्रथम और द्वितीय वर्ण तथा श, ष, स, विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय और अनुस्वार) आता हो तो विसर्ग का लोप होता है (ऋ० प्रा० प० ४ सू० ३६)। जैसे—समुद्र स्थः कलशः सोमधानः। यहाँ 'द्र' के बाद के विसर्ग का लोप हुआ है 'स्' ऊष्म वर्ण परे रहते। 'स्' के बाद 'थ' अघोष वर्ण का उदय हुआ है। प्र व स्पळक्रन् सुवितायदावने। यहाँ 'व' के बाद के विसर्ग का लोप हुआ है 'स्' ऊष्म वर्ण परे रहते। 'स्' के बाद 'प' अघोष वर्ण का

उदय हुआ है। ये दोनों उदाहरण 'अनति' के हैं। दन्त्य 'स्' का मूर्धन्य 'ष्' होना नति कहलाता है। क. स्विद् वृक्षो नि ष्ठितः। यहाँ 'निः' के विसर्ग का लोप हुआ है। 'स्' को 'ष्' होने से यहाँ 'नति' है।

व्यञ्जन सन्धि

पदान्त के 'म्' के बाद पदादि 'य्, व्, ल्' परे रहते 'म्' के स्थान पर यँ, वँ, लँ हो जाते हैं (ऋ० प्रा० प० ४ सू० ७)। जैसे—यय्यँ-य्युँज कृणुते। भद्रपाल्लँक्ष्मीः। तव्वँ इन्द्र न सुक्रतुम्। इन उदाहरणों में यम्, पाम् और तम् के 'म्' को य, ल, व परे रहते क्रमशः यँ, लँ, वँ हो गया है।

पदान्त के 'म्' के बाद यदि असवर्ण स्पर्श वर्ण आवे तो 'म्' के स्थान पर आगे आने वाले स्पर्श वर्ण का सवर्ण पञ्चम वर्ण हो जाता है (ऋ० प्रा० प० ४ सू० ६)। जैसे—यङ् कुमार नव रथम्। अहञ्च त्वञ्च वृत्रहन्। तन्ते माता परि योषा जनित्रा। इन उदाहरणों में यम्, त्वम्, तम् के 'म्' को क, च और त परे रहते क्रम से ङ्, ञ् और न् हो गया है।

'न्' के बाद 'श' या चवर्ग का कोई वर्ण आवे तो 'न्' 'ञ्' हो जाता है। (ऋ० प्रा० प० ४ सू० ९)। 'त्' के बाद यदि कोई अघोष तालव्य वर्ण (च, छ श) हो तो 'त्' के स्थान पर 'च्' हो जाता है (ऋ० प्रा० प० ४ सू ११)। इन नियमों के अनुसार 'न्' और 'त्' के स्थान पर आये हुए 'ञ्' और 'च्' के बाद का 'श्' 'छ' हो जाता है (ऋ० प्रा० प० ४ सू० १२)। जैसे—घनेव वज्रिञ्छ्नथिहि। यहाँ पहिले 'न्' का 'ञ्' हुआ है। तदनन्तर 'श्' का 'छ' हुआ है। तच्छ-योरा वृणीमहे। यहाँ पहिले 'त्' का 'च्' हुआ है। तदनन्तर 'श्' का छ्' हुआ है। यह नियम शाकल शाखा में नहीं चलता (ऋ० प्रा० प० ४ सू १३)। उस शाखा में ऐसे स्थानों पर 'श्' का 'श्' ही रह जाता है। जैसे—घनेव वज्रिञ्श्नथिहि।

इन संधियों को वर्णागम संधि कहते हैं।

'ङ्' के बाद अघोष उष्म वर्ण (श, ष, स्) आता हो तो 'ङ्' और श्, ष्, स् के बीच में 'क्' का आगम होता है (ऋ० प्रा० प० ४ सू० १६)। जैसे—तवाय सोमस्त्वमेह्यर्वाङ्क् छश्वत्तमम्। यहाँ 'ङ्' के बाद 'श' है। अतः दोनों के बीच में क् का आगम हुआ है। अनन्तर सर्वैः प्रथमैरुपधीयमानः—इत्यादि (ऋ० प्रा० प० ४ सू ४) से 'श' को 'छ' हुआ है।

ट् और न् के बाद 'स' आवे तो दोनों के बीच में 'त्' का आगम होता है (ऋ० प्रा० प० ४ सू० १७)। जैसे—अक्षेत्रवित्क्षेत्रविदं ह्यप्राट्त्स प्रेति। यहाँ 'ट्' और 'स' के बीच 'त्' का आगम हुआ है। त्वं तान्त्स च प्रति चासि मज्मना। यहाँ 'न्' और 'स' के बीच 'त्' का आगम हुआ है।

'न्' के स्थान पर आये हुए 'ञ्' और 'श' के बीच 'च्' का आगम होता है (ऋ० प्रा० प० ४ सू० १८)। जैसे—घनेव वज्रिञ्च्छ्नथिहि। यहाँ 'न्' के बाद 'श' होने के कारण 'न्' का 'ञ्' हुआ है (ऋ० प्रा० प० ४ सू ९)। उसके बाद 'ञ्' और 'श' के बीच 'च्' का आगम हुआ है। तदनन्तर 'श' का 'छ' हुआ है (ऋ० प्रा० प० ४ सू० १२)।

इन सधियों को अन्तःपात संधि कहते हैं।

नकार-विकार

'आ' के बाद आनेवाला 'न्' चाहे वह पदान्त का हो चाहे 'अपदान्त का, स्वर परे रहते लुप्त होता है। और उसके पूर्व का 'आ' सानुनासिक (आँ) हो जाता है (ऋ० प्रा० प० ४ सू० ६५ और ८०)। जैसे—महाँ इन्द्रो नृवदा चर्षणिप्राः।

जैसे—देवेभिः सर्वेभिः प्रोक्तम्। अहो भिस ऐस्। बहुलं छन्दसि (अष्टा० ७।१।९, १०)।

षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में 'श्री' और 'ग्रामणी' शब्दों के अन्त में 'नाम्' आता है। जैसे—श्रीणामुदारो धरुणो रयीणाम्। सूतग्रामणीनाम्। श्रीग्रामण्योश्छन्दसि (अष्टा० ७।१।५६)।

ऋक्पाद के अन्त में वर्तमान 'गो' शब्द के षष्ठी विभक्ति के बहुवचन के रूप के अन्त में 'नाम्' आता है। जैसे—विद्मा हि त्वा गोपतिं शूर गोनाम्। कभी-कभी केवल 'आम्' भी आता है। जैसे—हन्तारं शत्रूणा कृधि विराज गोपतिं गवाम्। (गोः पादान्ते, पा० अष्टा० ७ पा० १ सू० ५७)।

षष्ठ्यन्त शब्द के बाद प्रयुक्त 'पति' शब्द का रूप तृतीया के एकवचन में 'पतिना' भी बनता है। जैसे—क्षेत्रस्य पतिना वयम्। (षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा, अष्टा० ११४१९)।

उपर्युक्त नियम शब्दरूप बनाने के विशेष नियमों के उदाहरण हैं। इनके अतिरिक्त शब्दरूप बनाने के कुछ साधारण नियम भी हैं।

(१) किसी शब्द के किसी विभक्ति के किसी वचन के स्थान पर उस शब्द के प्रथमा के एकवचन का प्रयोग हो सकता है। जैसे—अनृक्षरा ऋजवः सन्तु पन्थाः। यहाँ 'पन्थानः' के स्थान पर 'पन्थाः' आया है।

(२) किसी मूल शब्द का उसके किसी विभक्ति के किसी वचन के स्थान पर प्रयोग हो सकता है। जैसे—आर्द्रे चर्मन्। यहाँ 'चर्मणि' के स्थान पर 'चर्मन्' का प्रयोग किया गया है।

(३) स्वरान्त शब्दों के अन्तिम स्वर को दीर्घ करके उसका उसकी किसी विभक्ति के किसी वचन के स्थान पर प्रयोग हो सकता है। जैसे—'धीत्या' के स्थान पर 'धीती' का प्रयोग अथवा 'मत्या' के स्थान पर मती का प्रयोग।

पोवोअन्नाँ रयिवृध., दधन्वाँ यः, जुजुर्वाँ य', स्ववाँ यातु, दद्वाँ वा, इन पांच उदाहरणों में 'आ' के बाद के 'न्' का 'य', 'र', परे रहते लोप होता है और पूर्व का 'आ' सानुनासिक (आँ) हो जाता है (ऋ० प्रा० प० ४ सू० ६७ और ८०)।

हतम्, योनौ, वचोभि', यान्, युवन्यून्, वनिपीष्ट, इनके परे रहते 'इ' और 'ऊ' के बाद का 'न्' 'ईँर्' 'ऊँर्' हो जाता है (ऋ० प्रा० प० ४ सू० ६९ और ८०)। जैसे—उरपर्णीहंतमूर्म्या मदन्ता। वि दस्यूँ-र्योनावतः। इत्यादि।

'ई' और 'ऊ' के बाद के न् का, स्वर परे रहते, 'ईँर्' 'ऊँर्' हो जाता है (ऋ० प्रा० प० ४ सू० ७० और ८०)। जैसे—परिधीँरति ताँ इहि। अभीशूँरिव सारथिः। यह नियम पाद के भीतर की अवस्था के लिये है।

'दस्यूँरेकः' में पादान्त के 'न्' को उत्तर पाद के आरम्भ का एकः पद परे रहते 'ऊँर्' हुआ है। 'नृँरभि' में ऋकार के बाद के 'न्' को 'अभि' परे रहते 'ऋँर्' है। ये दो विशेष उदाहरण हैं (ऋ० प्रा० प० ४ सू० ७१ और ८०)।

श ब्द रू प

लौकिक संस्कृत की अपेक्षा वैदिक भाषा शब्दरूपों की दृष्टि से अधिक सम्पन्न है। इस भाषा में एक-एक विभक्ति के प्रत्येक वचन में शब्दों के अनेक रूप बनते हैं। लौकिक संस्कृत के शब्दरूप तो इस भाषा में चलते ही हैं, इस भाषा के कुछ विशेषरूप भी होते हैं।

वैदिक भाषा में प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में अकारान्त शब्दों के अन्त में 'आ' और 'आस' दोनों आते हैं। जैसे—ब्राह्मणास पितरः सोम्यास'। आज्जमेरसुक् (अष्टा० ७।१५०)। तृतीया विभक्ति के बहुवचन में अकारान्त शब्दों के अन्त में 'ऐः' और 'एभि' आते हैं।

जैसे—देवेभिः सर्वेभिः प्रोक्तम्। अहो भिस ऐस्। बहुलं छन्दसि (अष्टा० ७।१।९, १०)।

षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में 'श्री' और 'ग्रामणी' शब्दों के अन्त में 'नाम्' आता है। जैसे—श्रीणामुदारो धरुणो रयीणाम्। सूतग्रामणीनाम्। श्रीग्रामण्योश्छन्दसि (अष्टा० ७।१।५६)।

ऋक्पाद के अन्त में वर्तमान 'गो' शब्द के षष्ठी विभक्ति के बहुवचन के रूप के अन्त में 'नाम्' आता है। जैसे—विद्मा हि त्वा गोपतिं शूर गोनाम्। कभी-कभी केवल 'आम्' भी आता है। जैसे—हन्तारं शत्रूणां कृधि विराज गोपतिं गवाम्। (गोः पादान्ते, पा० अष्टा० ७ पा० १ सू० ५७)।

षष्ठ्यन्त शब्द के बाद प्रयुक्त 'पति' शब्द का रूप तृतीया के एकवचन में 'पतिना' भी बनता है। जैसे—क्षेत्रस्य पतिना वयम्। (षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा, अष्टा० १।४।९)।

उपर्युक्त नियम शब्दरूप बनाने के विशेष नियमों के उदाहरण हैं। इनके अतिरिक्त शब्दरूप बनाने के कुछ साधारण नियम भी हैं।

(१) किसी शब्द के किसी विभक्ति के किसी वचन के स्थान पर उस शब्द के प्रथमा के एकवचन का प्रयोग हो सकता है। जैसे—अनृक्षरा ऋजवः सन्तु पन्थाः। यहाँ 'पन्थानः' के स्थान पर 'पन्थाः' आया है।

(२) किसी मूल शब्द का उसके किसी विभक्ति के किसी वचन के स्थान पर प्रयोग हो सकता है। जैसे—आर्द्रे चर्मन्। यहाँ 'चर्मणि' के स्थान पर 'चर्मन्' का प्रयोग किया गया है।

(३) स्वरान्त शब्दों के अन्तिम स्वर को दीर्घ करके उसका उसकी किसी विभक्ति के किसी वचन के स्थान पर प्रयोग हो सकता है। जैसे—'धीत्या' के स्थान पर 'धीती' का प्रयोग अथवा 'मत्या' के स्थान पर मती का प्रयोग।

(४) कभी कभी शब्दों में विभक्ति के स्थान पर 'आ', 'आत्', 'ए', 'या', इया, ई, जोडे जाते हैं। पाणिनि की अष्टाध्यायी में उपर्युक्त नियमों का एक ही सूत्र में संग्रह है। सुपा सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्याॅयाजालः (अष्टा० ७।१।३९)।

कारकों के प्रयोग में अन्तर—

वैदिक भाषा में 'हु' धातु का कर्म तृतीया और द्वितीया दोनों विभक्तियो में रखा जा सकता है। जैसे—यवाग्वा अग्निहोत्र जुहोति। यहाँ यवागू भी 'जुहोति' का कर्म है। तद्वाचक शब्द तृतीया विभक्ति में रखा गया है। तृतीया च होश्छन्दसि (अष्टा० पा० २ अ० ३ सू० ३)।

वैदिक भाषा में कभी-कभी चतुर्थी के स्थान पर षष्ठी और षष्ठी के स्थान पर चतुर्थी का प्रयोग होता है। जैसे—गोधाकालकादार्वाघाटास्ते वनस्पतीनाम्। यहाँ 'वनस्पतीभ्य.' के स्थान पर 'वनस्पतीनाम् आया है। अहल्यायै जार·। यहाँ 'अहल्याया ' के स्थान पर 'अहल्यायै' आया है। चतुर्थ्यर्थे वहुल छन्दसि (अष्टा० अ० २ पा० ३ सू० ६२) तथा षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वक्तव्या (पूर्व सूत्र पर वार्तिक)।

यज् धातु का करण षष्ठी और तृतीया दोनों विभक्तियों में रखा जा सकता है। जैसे—घृतस्य घृतेन वा यजते। यजेश्च करणे (अष्टा० अ० २ पा० ३ सू० ६३)।

समास—

सामान्यत द्वन्द्व और तत्पुरुष समास में समस्त शब्द का लिंग परवर्ती शब्द के लिंग के समान होता है। परन्तु वैदिक भाषा में हेमन्त और शिशिर शब्दों का द्वन्द्व समास करने पर समस्त शब्द का लिंग पूर्वशब्द के समान होता है। जैसे—हेमन्तश्च शिशिरश्च हेमन्तशिशिरौ। यहाँ पूर्व शब्द 'हेमन्त' पुलिङ्ग है। समस्त शब्द का लिङ्ग उसी के समान हुआ है। लौकिक संस्कृत में हेमन्तशिशिरे होता है।

अहन् और रात्रि शब्दों के द्वन्द्व समास में भी समस्त शब्द का लिंग पूर्वशब्द के अनुसार होता है। जैसे—अहश्च रात्रिश्च अहोरात्रे। हेमन्तशिशिरावहोरात्रे च छन्दसि (अष्टा० २।४।२८)।

पितृ शब्द और मातृ शब्द का द्वन्द्व समास करने पर वैदिक भाषा में 'पितरामातरा' रूप बनता है। वैदिक साहित्य में 'मातरापितरा' का भी प्रयोग मिलता है। पितरामातरा च छन्दसि (अष्टा० अ० ६ पा० ३ सू० ३३)।

धातुरूप और लकार

धातु रूप और लकारों के प्रयोग की दृष्टि से भी वैदिक भाषा लौकिक भाषा की अपेक्षा अधिक सम्पन्न है। वैदिक भाषा में लौकिक संस्कृत के नौ लकारों के अतिरिक्त लेट् लकार का भी प्रयोग होता है। लौकिक संस्कृत में इसका प्रयोग नहो होता। लेट् का प्रयोग लिङ् के अर्थों में होता है। लिङर्थे लेट् (अष्टा० अ० ३ पा० ४ सू० ७)। अर्थात् विधि, निमन्त्रण आदि और हेतु हेतुमद्भावादि लिङ् के सब अर्थों में वैदिक भाषा में लिङ् और लेट् दोनों का प्रयोग होता है।

लेट् प्रकार—

लेट् लकार में धातु के अनेक प्रकार के रूप बनते हैं। कभी-कभी लेट् के रूप में धातु के बाद 'इस्' आता है और उसका 'इष्' हो जाता है। जैसे—जोषिषत्, तारिषत् मदिषत् इत्यादि। जब 'इस्' नहीं आता तब 'पताति', 'च्यावयाति', 'भवाति' इत्यादि रूप बनते है। सिब्बहुलं लेटि (अष्टा० ३।१।३४) तथा आर्द्धधातुकस्येड् वलादेः (अष्टा० अ० ७पा० २ सू० ३५)।

लेट् के रूप में 'स्' आने पर कभी-कभी धातु के प्रथम स्वर की वृद्धि होती है। जैसे—तारिषत्। यहाँ प्रथम स्वर को वृद्धि हुई है। मन्दिषत्—यहा प्रथम स्वर को वृद्धि नहीं हुई है।

(४) कभी कभी शब्दों में विभक्ति के स्थान पर 'आ', 'आत्', 'ए', 'या', इया, ई, जोडे जाते हैं। पाणिनि की अष्टाध्यायी में उपर्युक्त नियमों का एक ही सूत्र में सग्रह है। सुपा सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्या-याजालः (अष्टा० ७।१।३९)।

कारकों के प्रयोग में अन्तर—

वैदिक भाषा में 'हु' धातु का कर्म तृतीया और द्वितीया दोनों विभक्तियों में रखा जा सकता है। जैसे—यवाग्वा अग्निहोत्रं जुहोति। यहाँ यवागू भी 'जुहोति' का कर्म है। तद्वाचक शब्द तृतीया विभक्ति में रखा गया है। तृतीया च होश्छन्दसि (अष्टा० पा० २ अ० ३ सू० ३)।

वैदिक भाषा में कभी-कभी चतुर्थी के स्थान पर षष्ठी और षष्ठी के स्थान पर चतुर्थी का प्रयोग होता है। जैसे—गोधाकालकादार्वाघाटास्ते वनस्पतीनाम्। यहाँ 'वनस्पतीभ्य.' के स्थान पर 'वनस्पतीनाम् आया है। अहल्यायै जार.। यहाँ 'अहल्यायाः' के स्थान पर 'अहल्यायै' आया है। चतुर्थ्यर्थे वहुल छन्दसि (अष्टा० अ० २ पा० ३ सू० ६२) तथा षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वक्तव्या (पूर्व सूत्र पर वार्तिक)।

यज् धातु का करण षष्ठी और तृतीया दोनों विभक्तियों में रखा जा सकता है। जैसे—घृतस्य घृतेन वा यजते। यजेश्च करणे (अष्टा० अ० २ पा० ३ सू० ६३)।

समास—

सामान्यत· द्वन्द्व और तत्पुरुष समास में समस्त शब्द का लिंग परवर्ती शब्द के लिग के समान होता है। परन्तु वैदिक भाषा में हेमन्त और शिशिर शब्दों का द्वन्द्व समास करने पर समस्त शब्द का लिंग पूर्वशब्द के समान होता है। जैसे—हेमन्तश्च शिशिरश्च हेमन्त-शिशिरौ। यहाँ पूर्व शब्द 'हेमन्त' पुलिङ्ग है। समस्त शब्द का लिङ्ग उसी के समान हुआ है। लौकिक सस्कृत में हेमन्तशिशिरे होता है।

अहन् और रात्रि शब्दों के द्वन्द्व समास में भी समस्त शब्द का लिंग पूर्वशब्द के अनुसार होता है। जैसे—अहश्च रात्रिश्च अहोरात्रे। हेमन्तशिशिरावहोरात्रे च छन्दसि (अष्टा० २।४।२८)।

पितृ शब्द और मातृ शब्द का द्वन्द्व समास करने पर वैदिक भाषा में 'पितरामातरा' रूप बनता है। वैदिक साहित्य में 'मातरापितरा' का भी प्रयोग मिलता है। पितरामातरा च छन्दसि (अष्टा० अ० ६ पा० ३ सू० ३३)।

धातुरूप और लकार

धातु रूप और लकारों के प्रयोग की दृष्टि से भी वैदिक भाषा लौकिक भाषा की अपेक्षा अधिक सम्पन्न है। वैदिक भाषा में लौकिक संस्कृत के नौ लकारों के अतिरिक्त लेट् लकार का भी प्रयोग होता है। लौकिक संस्कृत में इसका प्रयोग नहीं होता। लेट् का प्रयोग लिङ् के अर्थों में होता है। लिङर्थे लेट् (अष्टा० अ० ३ पा० ४ सू० ७)। अर्थात् विधि, निमन्त्रण आदि और हेतु हेतुमद्भावादि लिङ् के सब अर्थों में वैदिक भाषा में लिङ् और लेट् दोनों का प्रयोग होता है।

लेट् प्रकार—

लेट् लकार में धातु के अनेक प्रकार के रूप बनते हैं। कभी-कभी लेट् के रूप में धातु के बाद 'इस्' आता है और उसका 'इष्' हो जाता है। जैसे—जोषिषत्, तारिषत् मन्दिषत् इत्यादि। जब 'इस्' नहीं आता तब 'पताति', 'च्यावयाति', 'भवाति' इत्यादि रूप बनते हैं। सिब्बहुलं लेटि (अष्टा० ३।१।३४) तथा आर्द्धधातुकस्येड् वलादेः (अष्टा० अ० ७पा० २ सू० ३५)।

लेट् के रूप में 'स्' आने पर कभी-कभी धातु के प्रथम स्वर की वृद्धि होती है। जैसे—तारिषत्। यहाँ प्रथम स्वर की वृद्धि हुई है। मन्दिषत्—यहाँ प्रथम स्वर की वृद्धि नहीं हुई है।

लेट् के परस्मैपद के रूप में कभी-कभी विभक्ति के 'इ' का लोप हो जाता है। जैसे—तारिपत्, मन्दिपत्। इन उदाहरणों में विभक्ति के 'इ' का लोप हो गया है। भवाति, यजाति—यहाँ विभक्ति के 'इ' का लोप नहीं हुआ है। इतश्च लोपः परस्मैपदेषु (अष्टा० अ० ३ पा० ४ सू० ९७)।

लेट् के रूप में कभी-कभी विभक्ति के पूर्व 'अ' या 'आ' आता है। जैसे—तारिपत्। यहाँ 'त्' के पूर्व 'अ' है। भवाति—इस उदाहरण में 'ति' के पूर्व 'आ' है। लेटोऽडाटौ (अष्टा० अ० ३ पा० ४ सू० ९४)।

लेट् के उत्तम पुरुष के रूप में पद के अन्त के विसर्ग का विकल्प से लोप होता है। जैसे—करवाव, करवावः। एक रूप में विसर्ग का लोप हुआ है, दूसरे में नहीं। स उत्तमस्य (अष्टा० अ० ३ पा० ४ सू० ९८)।

लेट् के आत्मनेपद के रूप में प्रथम और मध्यम पुरुष के द्विवचन के अन्त में क्रमशः 'ऐते' और 'ऐथे' आते हैं जैसे—मन्त्रयैते, मन्त्रयैथे। पहिला प्रथम पुरुष का द्विवचन है और दूसरा मध्यम पुरुष का द्विवचन है। आत ऐ (अष्टा० ३ पा० ४ सू० ९५)

लेट् के आत्मनेपद के प्रथम और मध्यम पुरुष के द्विवचनों को छोडकर अन्य रूपों में अन्त के 'ए' को विकल्प से 'ऐ' हो जाता है। जैसे—ईशै, गृह्यान्तै इत्यादि। वैतोऽन्यत्र (अष्टा० अ० ३ पा० ४ सू० ९६)।

वैदिक भाषा में लुङ्, लङ् और लिट् लकारों का किसी भी लकार के स्थान पर प्रयोग किया जा सकता है। छन्दसि लुङ्लङ्लिटः (अष्टा० अ० ३ पा० ४ सू० ६)। पणबन्ध और आशंका में भी लेट् लकार का प्रयोग होता है। उपसंवादाशङ्कयोश्च (अष्टा० अ० ३ पा० ४ सू० ८)।

लोक भाषा में वर्तमान काल के उत्तम पुरुष के बहुवचन के अन्त में 'मः' आता है। वैदिक भाषा में उसके स्थान पर 'मसि' आता है। जैसे—मिनीमसि, एमसि इत्यादि। इदन्तो मसि (अष्टा० ७।१।४६)।

'एनम्' शब्द परे रहते 'ध्वम्' के 'अम्' का लोप हो जाता है। जैसे—यजध्वैनम् । 'यजध्वैनमिति च' (अष्टा० ७. १. ४२)।

लौकिक संस्कृत में लुङ्, लङ् और लृङ लकारों के रूपों के आदि में 'अ' जोडा जाता है। जैसे—अकार्षीत्, अकरोत्, अकरिष्यत्। यदि धातु अजादि (स्वरादि) हुए तो उनमें 'आ' जोड़ा जाता है। जैसे—ऐक्षिष्ट, ऐक्षत, ऐक्षिष्यत। परन्तु यदि 'मा' या 'मा स्म' का प्रयोग किया जाय तो 'अ' या 'आ' नहीं जोडना पड़ता। जैसे—मा भवान् कार्षीत्; मा स्म करोत्। यह नियम वैदिक भाषा में नहीं माना जाता। लुङ्, लङ् लृङ् का प्रयोग बिना 'अ' या 'आ' जोडे किया जाता है। जैसे—जनिष्ठा उग्र सहसे तुराय। यहाँ 'जनिष्ठा' लुङ् का रूप है। परन्तु उसमें 'अ' नहीं जोडा गया है। मा वः क्षेत्रे परबीजान्यवाप्सुः। यहाँ 'मा' का प्रयोग होने पर 'अवाप्सुः' में 'अ' जोडा गया है। बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि (अष्टा० अ० ६ पा ४ सू ७५)।

लुङ्—वेद में उपलब्ध लुट् लकारीय पदों की समीक्षा से प्रतीत होता है कि इस लकार के तीन मुख्य प्रकार हैं—(१) जिसमें कोई विशिष्ट प्रत्यय न जोडकर धातु से ही सामान्य प्रत्यय आते हैं। इसे अंग्रेजी में 'Root aorist' के नाम से पुकारते है। इसके भी दो प्रकार है—(1) अकारान्त, आकारान्त अथवा धातु में 'अ' के योग से अकारान्त धातु से निष्पन्न—जैसे अविदन्, अवोचन्, अस्थुः अयुः। (ii) व्यञ्जनान्त धातु से जैसे कृ धातु का रूप अकः, अकर्ताम्, अक्रन्, अकः, अकर्तम्, अकर्त, अकरम्, अकर्व, अकर्म

(२) धातु से द्वित्व करने पर निष्पन्न रूप, जैसे जन् से अजीजनत्; पृ—अपीपरत्, कृलृप्—अचीक्लृपत्

(३) धातु में स, सिप्, तथा प् प्रत्ययों के योग से निष्पन्न—ह्र अहार्षम्, बुध—अभुत्सि, अबुद्धा, अभुत्साथाम्; या—अयासिपम्—अयासिपु. ।

ज् श् प् तथा ह् से अन्त होनेवाले धातुओं से 'प्' जोड़ा जाता है। रुह—अरुक्षम्, अरुक्षाव, दुह—(आ०) अधुक्षि, अधुक्षाताम्, अधुक्षन्त ।

लौकिक संस्कृत में उपसर्ग क्रियापद के पहिले जोड़े जाते हैं। वैदिक भाषा में यह नियम अनिवार्य नहीं है। वे क्रियापद के बाद भी जोड़े जाते हैं। कभी कभी उपसर्गों और क्रियापदों के बीच शब्दों का व्यवधान भी होता है। जैसे—हन्ति नि मुष्टिना। निहन्ति। आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि। आयाहि।

कृदन्त के विशेष नियम—

वैदिक भाषा में सोपसर्ग धातु से भी क्त्वा प्रत्यय जोड़ा जाता है। जैसे—यजमान परिधापयित्वा। क्त्वापि छन्दसि (अष्टा० अ० ७ पा० १ सू० ३८)।

त्वा = त्वाय और कभी-कभी त्वी, दिव सुपर्णो गत्वाय, स्नात्वी और पीत्वी (= गत्वा, स्नात्वा, पीत्वा)

तव्य = तवै, ए, एन्य, त्व। जैसे अन्वेतवै, नावगाहे, शुश्रुषेण्यः, कर्त्वम् (कृत्यार्थे तवैकेन् केन्यत्वनः। अष्टा० ३।४।१४)।

तुमर्थक प्रत्यय—

तुम् = ए, असे, से, अध्ये, ध्यै, तवे, तवै (अष्टा० ३।४।९)। तुमर्थक पदों की परीक्षा करने पर यही प्रतीत होता है कि ये वस्तुतः धातुज संज्ञा पदों के चतुर्थ्यन्त, द्वितीयान्त, पंचमी-षष्ठ्यन्त तथा सप्तम्यन्त रूप ही हैं। इन चारों प्रकारों में चतुर्थ्यन्त द्वितीयान्त की अपेक्षा ऋग्वेद में बारह गुना तथा अथर्ववेद में तिगुना अधिक है। लौकिक संस्कृत का 'तुम्' प्रत्यय तो ऋग्वेद में केवल पांच चार ही आया है।

चतुर्थ्यन्त पद—(क) इसका सामान्य प्रत्यय 'ए' है जो धातु के अन्तिम 'आ' के साथ युक्त होकर 'ऐ' बन जाता है—भुवे (होने के लिए), परादै (देने के लिए), दृशे (द्रष्टुम्)। (ख) नौ प्रकार के प्रत्ययों से निष्पन्न धातुज संज्ञा पदों मे यह 'ए' प्रत्यय संयुक्त होता है:—(१) 'अस्' प्रत्ययान्त संज्ञा से—अवसे, चक्षसे, चरसे, पुष्यसे। (२) 'इ' प्रत्ययान्त संज्ञा से—दृशये (अर्थात् दृश + इ + चतुर्थी), महये, युधये, गृहये (ग्रहीतुम्)। (३) 'ति' प्रत्ययान्त सञ्ज्ञा से—पीतये (पातुं) सातये। (४) 'तु' प्रत्ययान्त संज्ञा से (यह 'तु' प्रत्यय जोड़ने से धातु में गुण हो जाता है और कभी-कभी इडागम भी होता है। सब से अधिक लोकप्रिय यही रूप है) ए-तवे, ओ-तवे ($\sqrt{}$ऊ = वे), कर्-तवे, गन्-तवे (गन्तुम्) पा-तवे, वक्-तवे (वक्तुम्)। (५) 'तवा' प्रत्ययान्त सञ्ज्ञा से ('ए' योग से यही 'तवै' बन जाता है। इसमें उदात्त दो रहते है धातु पर तथा प्रत्यय पर)—ए-तवै, ओ-तवै, गन्-तवै, सर्-तवै। (६) 'ध्या' प्रत्ययान्त सञ्ज्ञा से (ऋग्वेद में ही 'अध्यै' का प्रयोग सीमित है)—गमध्यै, पिबध्यै (पातुम्), हुवध्यै (होतुम्) चरध्यै। (७-९) 'मन्', 'वन्' तथा 'त्या' प्रत्ययान्त धातुज संज्ञाओं के चतुर्थ्यन्त का उदाहरण अत्यत अल्प है यथा त्रामणे (त्रातुम्), दामने (दातुं), दावने (दातुं) धूर्वणे (हानि पहुँचाने के लिए), इ-त्यै (एतुं)।

द्वितीयान्त पद—दो प्रकार के प्रयोग मिलते हैं—(१) धातु सामान्य से निष्पन्न सञ्ज्ञा में 'अम्' के योग से-संपृछम् (सम्प्रष्टु), आरभम् (आरब्धुं), शुभम् (शोभितुं)। (२) 'तु' प्रत्ययान्त सञ्ज्ञा से ('तु' का प्रयोग 'तवे' की अपेक्षा बहुत ही न्यून है) यथा दातुम्, प्रष्टुम्। लौकिक सस्कृत का यह विख्यात प्रत्यय ऋग्वेद में केवल पाँच बार ही आया है।

पञ्चम्यन्त-षष्ठ्यन्त पद—इस श्रेणी के प्रयोगों के अन्त में 'अस्' या तोस् (तोः) जोड़ा जाता है जो धातुज सञ्ज्ञा के पञ्चम्यन्त या षष्ठ्यन्त रूप प्रतीत होते हैं। यथा (१) संपृचः (सपृक्तुम्), आतृदः, (२) 'तो.' प्रत्ययान्त—एतोः, गन्तो., जनितो (जनितुं), हन्तोः (हन्तुम्)।

सप्तम्यन्त पद—(१) धातु-सञ्ज्ञा से—बुधि, दृशि, संदृशि (संद्रष्टुं), (२) 'सन्' प्रत्ययान्त सञ्ज्ञा से—नेषणि (नेतु), पर्षणि, तरीषणि (तर्तुं), गृणीषणि (गाने के लिए)।

लौकिक संस्कृत में उपसर्ग के साथ ही धातु का प्रयोग न्याय्य होता है, परन्तु वेद में दोनों के बीच में व्यवधान होता है तथा धातु के अनन्तर भी उपसर्ग प्रयुक्त हो सकता है यथा 'परा मे यन्ति धीतयः' में परायन्ति के बीच में 'मे' से व्यवधान है।

वैदिक स्वर

उदात्तादि स्वरों की सत्ता वैदिक भाषा की विशेषता है। प्रत्येक वर्ण का उच्चारण किसी न किसी स्वर के साथ होता है। उपलब्ध सभी संहिता ग्रन्थों में स्वर लगे हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों में आरण्यक-सहित तैत्तिरीय ब्राह्मण तथा बृहदारण्यक उपनिषद् सहित शतपथ ब्राह्मण में स्वर लगे हैं। अन्य ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों में स्वरों के चिन्ह नहीं मिलते।

उदात्त, अनुदात्त और स्वरित—तीन मुख्य स्वर हैं। ऋक्प्रातिशाख्य के अनुसार प्रचय भी एक स्वर है। स्वरितादनुदात्तानां परेषां प्रचयः स्वरः (ऋ० प्रा० प० ३ सू १९)। जिस स्वर के उच्चारण में आयाम हो उसे उदात्त कहते हैं। आयाम का अर्थ है गात्रों का ऊपर की तरफ खींचा जाना। जिस स्वर के उच्चारण में विश्रम्भ हो उसे

अनुदात्त कहते है। गात्रों की शिथिलता या उनका अधोगमन विश्रम्भ कहलाता है। जिस स्वर के उच्चारण में आक्षेप हो उसे स्वरित कहते हैं। आक्षेप का अर्थ है गात्रों का तिर्यग्गमन। उपर्युक्त उदात्तादि स्वर अकारादि स्वर वर्णों में रहते है। व्यंजनो से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। ये स्वरवर्णों के धर्म हैं। अक्षराश्रयाः (ऋ० प्रा० प० ३ सू० २)।

उदात्त और अनुदात्त शुद्ध और स्वतन्त्र स्वर है। इन्हीं दोनों के मेल से स्वरित की उत्पत्ति होती है। उदात्तानुदात्तौ स्वरौ तयोः स्वरितः स्वरो निष्पद्यते (ऋ० प्रा० प० ३ सू० २ पर उव्वट भाष्य)। पाणिनि ने भी कहा है--समाहारः स्वरितः (अष्टा० १-२-३१)। स्वरित पाँच प्रकार का होता है--सामान्य स्वरित, जात्यस्वरित, अभिनिहित स्वरित, प्रश्लिष्टस्वरित और क्षैप्र स्वरित। उदात्त के बाद का अनुदात्त स्वरित हो जाता है यदि उसके बाद पुनः स्वरित न हो। यह स्वरित सामान्य स्वरित कहलाता है। इसे पाश्चात्य विद्वान् परतन्त्र (Dependent) स्वरित कहते हैं, क्योंकि यह उदात्त के प्रभाव से उत्पन्न होता है। जैसे--अ॒ग्निभिः। यहाँ 'भिः' का 'इ' स्वरित है। एक ही पद में अपूर्व या अनुदात्तपूर्व स्वरित जात्य स्वरित कहलाता है। जैसे--स्वः। यह एक ही पद में अपूर्व स्वरित है। इसके पहिले कोई स्वर नहीं है। क॒न्या। यह अनुदात्तपूर्व स्वरित है। अभिनिहित प्रश्लिष्ट और क्षैप्र सधियों के फलस्वरूप उत्पन्न होनेवाले स्वरित तत् तत् संधियों के नाम पर अभिनिहित स्वरित, प्रश्लिष्ट स्वरित और क्षैप्र स्वरित कहलाते हैं। इस कार्य के लिये प्रश्लिष्ट संधि दो इकारों की होनी चाहिये। इकारयोश्च प्रश्लेषे क्षैप्राभिनिहितेषु च। उदात्तपूर्वरूपेषु शाकल्यस्यैवमाचरेत् (ऋ० प्रा० प० ३ सू० १३)। जैसे पूर्वोक्त त्रिविध स्वरितों के क्रमशः उदाहरण—तेऽवर्धन्त; स्रु॒ची॑व; योजा॒ न्विन्द्र ते॒ हरी॑। अभिनिहितादि स्वरित भी जात्य स्वरित की तरह अपूर्व या नीचपूर्व होते है। पाश्चात्य विद्वान् जात्य और अभिनिहितादि स्वरितों

को स्वतन्त्र (Independent) स्वरित कहते हैं। क्योंकि ये उदात्त के प्रभाव से उत्पन्न नहीं होते।

वैदिक ग्रन्थों में उदात्तादि स्वरों को पहिचानने के लिये चिह्न लगे रहते हैं। ये चिह्न सब वेदों में समान नहीं हैं। ऋग्वेद, अथर्ववेद और कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा के चिह्न समान हैं। शुक्ल यजुर्वेद के कुछ चिह्न ऋग्वेद के चिह्नों के समान और कुछ भिन्न हैं। कृष्ण यजुर्वेद की काठक और मैत्रायणी शाखाओं के चिह्न अपने अपने स्वतन्त्र हैं। ऋग्वेद में उदात्त पर कोई चिह्न नहीं लगाया जाता। अनुदात्त के नीचे एक वेड़ी रेखा लगाई जाती है। स्वरित के सिर पर एक खड़ी रेखा लगाई जाती है। प्रचयों पर भी कोई चिह्न नहीं लगाए जाते। उदात्त और प्रचय दोनों पर कोई चिन्ह न रहने के कारण पहिचानने में कुछ कठिनाई हो सकती है। अनुदात्त के बाद के विना चिह्नवाले वर्ण को उदात्त समझना चाहिये और स्वरित के बाद के विना चिह्न वाले वर्णों को प्रचय समझना चाहिये।

सामान्य नियम—

वैदिक भाषा के प्रत्येक शब्द में उदात्त सामान्यतः एक ही होता है और उनके अतिरिक्त अन्य स्वर अनुदात्त होते हैं (इन्हीं का नाम है—निघात स्वर) अनुदात्तं पदमेकवर्जम् (अष्टा० ६।१।१५८)। इसके अपवाद भी हैं जब एक ही पद में दो उदात्त रहते हैं अथवा उदात्त का सर्वथा अभाव होता है।

द्व्युदात्त पद—देवता द्वन्द्व में (जब दोनों पद द्विवचनान्त होते हैं)—यथा मित्रा वरुणा (यहां 'त्रा' और 'व' दोनों उदात्त हैं), अलुक्षष्ठी समास में जैसे बृहस्पतिः (बृ तथा स्प के स्वर उदात्त हैं), 'तवै' युक्त पद में एतवे (अन्तश्च तवै युगपत्, अष्टा० ६।१।२००)

उदात्त का अभाव—

(१) संबोधन पदों में (वाक्य या पद के आदि-स्थित होने से भिन्न स्थिति में)

(२) क्रियापदों में (वाक्य या पाद के आरम्भस्थ होने के अतिरिक्त) यथा इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृळय (१।२५।१९) यहाँ 'वरुण' तथा 'श्रुधी' में उदात्त का अभाव है।

(३) सर्वनाम शब्दों के वैकल्पिक रूप—मा, त्व, नः वः आदि उदात्तहीन होते हैं।

सन्धि-स्वर—सन्धि के कारण स्वरों में परिवर्तन होता है जिनका सामान्य रूप यह है:—

(१) उदात्त + उदात्त = उदात्त ।

(२) अनुदात्त + उदात्त = उदात्त ।

(३) स्वरित + उदात्त = उदात्त ।

(४) जात्य स्वरित + उदात्त = उदात्त ।

(५) उदात्त + अनुदात्त = प्रश्लिष्टादि स्वरित । इनका विस्तार निम्न लिखित प्रकार से समझना चाहिये:—

(क) उदात्त 'इ' + अनुदात्त 'इ' = ई प्रश्लिष्ट स्वरित ।

(ख) उदात्त 'इ', 'उ', 'ऋ', (ह्रस्व या दीर्घ) + कोई असदृश अनुदात्त स्वर = क्षेप्र स्वरित ।

(ग) उदात्त 'ए', 'ओ' + अनुदात्त 'अ' = एऽ, ओऽ । अभिनिहित स्वरित ।

(घ) उदात्त 'ई' + अनुदात्त 'इ' (ह्रस्व या दीर्घ) = उदात्त 'ई'।

(ङ) उदात्त 'अ' + कोई अनुदात्त स्वर = उदात्त ।

(च) उदात्त + स्वरित = असंभव ।

(छ) उदात्त + जात्यादि स्वरित = असंभव ।

स्वरों के परिवर्तन के सामान्य नियम हैं जिनका उपयोग पदपाठ तथा संहिता पाठ में सर्वत्र किया जाता है:—

(१) उदात्त के बाद आनेवाला अनुदात्त स्वरित हो जाता है यदि उसके बाद कोई उदात्त या स्वरित न आता हो (उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः, अष्टा० ८।४।६६) यथा 'गणपतिं' पद में 'ण' पर उदात्त होने से अन्य तीनों स्वर अनुदात्त हो गए परन्तु इस नियम से 'ण' से अव्यवहित पर अनुदात्त 'प' को स्वरित हो गया है।

(२) स्वरित के बाद के समस्त अनुदात्त प्रचय हो जाते हैं और उन पर कोई चिन्ह नहीं लगता, परन्तु उदात्त से अव्यवहित-पूर्व अनुदात्त का प्रचय नहीं होता और इसीलिए वह अनुदात्त के चिन्ह (नीचे आड़ी रेखा) से चिन्हित होता है।

(३) उदात्त से अव्यवहित पूर्व का अनुदात्त कभी नहीं बदलता। वह न स्वरित होता है, न प्रचय। यथा वाश्रा इव धेनवः स्यन्दमाना अञ्जः समुद्रमव जग्मुरापः (ऋ० १।३२।२), यहाँ 'श्रा' उदात्त से परे अनुदात्त 'इ' स्वरित हो गया है (प्रथम नियम से)। 'धेनवः' यदि स्वतन्त्र रहेगा, तो उदात्त 'न' के अनन्तर 'व.' स्वरित हो ही जायगा, परन्तु संहिता पाठ में अगले उदात्त 'स्य' से पूर्ववर्ती होने से यह बदलता नहीं (प्रथम नियम)। 'स्यन्दमाना' में स्वरित 'द' के अनन्तर मा और ना दोनों प्रचय स्वर हैं, परन्तु संहिता पाठ में इसके अनन्तर आता है 'अञ्जः' जिसका 'अ' उदात्त है। फलत उदात्त से अव्यवहित पूर्ववर्ती होने से 'ना' अनुदात्त ही रहा और तदनुसार अनुदात्त का चिन्ह वहाँ विद्यमान है (तृतीय नियम)। इसी प्रकार स्वरित 'व' के अनन्तर 'ज' प्रचय है, परन्तु उदात्त 'आ' से अव्यवहित पूर्ववर्ती 'ग्मु' अनुदात्त ही है (द्वितीय नियम)। पदपाठ करते समय इन नियमों का पालन नितान्त आवश्यक होता है।

पद्पाठ

संहिता पाठ को पदपाठ में परिवर्तन करने के लिए कई नियम है नीचे दिये जाते हैं जिन पर ध्यान देना नितान्त आवश्यक होता है—

(१) सब सन्धियों को पृथक् कर देना चाहिए,

(२) समासयुक्त पदों के बीच में अवग्रह (ऽ) रखकर उन्हें अलग कर देना चाहिए, परन्तु पूर्व पद में किसी प्रकार के परिवर्तन होने पर यह नियम नहीं लगता।

(३) दो से अधिक पद वाले समस्त पद में केवल अन्तिम पद ही अन्य पदों से पृथक् किया जाता है।

(४) किसी प्रकार के स्वर परिवर्तन के अभाव में सु, भिः तथा भ्यः, तर और तम, मत् और वत्, अकारान्त नामधातुओं में अकार के दीर्घ होने पर भी य और यु—ये सब अवग्रह के द्वारा पृथक् किये जाते हैं।

(५) सन्धिजन्य मूर्धन्य वर्ण का परिवर्तन दन्त्य में होता है। पादान्त में तथा दीर्घीकृत आ और ई को लघु कर देते हैं।

(६) ओकारान्त सम्बोधन, द्विवचनान्त तथा अन्य प्रगृह्य स्वरों के साथ 'इति' शब्द जोड़ा जाता है। यथा 'सदो द्वा चक्राते उपमा दिवि' (ऋ० ८।२९।९) में प्रगृह्यसञ्ज्ञक 'चक्राते' का पदपाठ 'चक्राते इति' होगा। संहितास्थ 'उ' का पदपाठ 'ऊँ इति' होता है।

(७) स्वरों के परिवर्तन पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता होती है। उदात्त स्वर तो यथास्थान बना रहा रहता है। कहीं अनुदात्त का स्वरित हो जाता है और कहीं स्वरित को अनुदात्त में परिवर्तित कर देते हैं। स्वरों के जो नियम ऊपर दिये गये हैं उन्हीं के अनुसार यह परिवर्तन होता है।

———

परिशिष्ट २

नामानुक्रमणी

अ

अउपनेखट	२५२
अक्षरसमाम्नाय	३०८
अग्निचयन	१२३, २८७
अग्नि तिरोहित	४८८
,, पुरोहित	४८८
अग्निष्टोम	१८०
अग्निशाला	४२२
अघोप	२६७
अघ्न्या	४५४
अग	३६७
अंगिरा	२३४
अंग्रो मइन्यु	४८१
अजातशत्रु	२५८, २६०
अजिन	४३६
अतिरात्र	२२०, ५२५
अतीन्द्रिया वाक्	२६
अत्क	४३९
अत्रि	१०१, १८२
अथर्व	१६४
अथर्व वेदीय कल्पसूत्र	२९५
अथर्ववेद प्रातिशाख्य सूत्र	२७८
अदिति	८३
अद्भुत ब्राह्मण	२२४
अध्यात्म	३२०
अध्वर्यु	१७७
अनन्तदेव	२८३
अनन्ताचार्य	३१६
अनुपद सूत्र	३४६
अनुभूति-स्वरूपाचार्य	३०९
अनुष्टुप्	३३२
अनड्वान्	४५८
अनस्	४५९
अनाहता वाक्	२६
अनितभा	३६१
अनु	३८३, ३९२
अनुक्रमणी	३४०
अनुदात्त	२६७
अनुनासिकीकरण	५३२
अनुवत्सर	३३९
अनुवाक	२१७, २४२

नामानुक्रमणी

…नुवाक्या ९४
…नुवाकानुक्रमणी ९९, २४०
अपर समुद्र ३७३
अपरा विद्या २६२
अपां नपात् ५०६
अपाच्य ३६३
अपाला ४१२
अपचित (रोग) १६२
अपृक्त २७४
अप्सुजित् ५०४
अभिचार २४२
अभिनिधान ५३६
अभिनिहित सन्धि ५३७
अभ्यावर्ती ११२, ३९१
अभ्यास १४६
अमरकोश ३१६
अमोघानन्दिनी शिक्षा २८२
अरण २४२
अराल सागर ३७५
अर्चनाना ३७२
अर्थवाद १७५, १८०
अलिन ३९२
अल्पप्राण २६७
अवकीर्णि २९१
अवसान निर्णय शिक्षा २८२
अविनाश चन्द्र दास ४०५
अव्याकृत ३०८
अश ४८१
अश्वमेध २८७
अश्विन् ४९८
अष्टक ९७
अष्टकर्णी ४९७
अष्टचत्वारिंश (स्तोम) १५१
अष्टाध्यायी ६, ३१०
अष्ट्रा ४५…
असिक्नी ३५…
असित १…
अस्थिपुर ३…
अहीन (याग) २२१, …
अहुर मज्दा

आ

आख्यात ३०…
आख्यान
आख्यान-समय
आगस्त्य
आगम
आग्रायण
आग्रयणेष्टि १७७, २८७, …
आत्मा
आदित्य सम्प्रदाय
आधान (याग)
आधिदैवत

आध्वर्यव ९५, १२१
आपण ४०१
आपया ३६१, ३८७
आपिशलि-शिक्षा-सूत्र २८४
आपिशली (शिक्षा) १४१
आपस्तम्ब गृह्यसूत्र २९३
आपस्तम्ब धर्मसूत्र २९३, २९९
आपस्तम्ब परिभाषासूत्र २९३
आपस्तम्ब श्रौत-सूत्र २९३
आप. ५०७
आम्रेडित २७४
आयवस ३८७
आयुष्याणि १६६
आरण्यक २३५
आरण्यक गान १४४, १४९
आरुणि १२२
आर्षेय ब्राह्मण २००
आर्च ज्योतिष ३२८
आर्जीकीया ३७८
आर्षानुक्रमणी ३४०
अर्षेय (ब्राह्मण) २०८
अर्षेय कल्प २९४, ३४५
आश्वलायन १०४, १०५
आश्वलायन गण १७५
आश्वलायन श्रौतसूत्र २८८
आसन्दी ४२६
आह्वरक ब्राह्मण १९९

इ

इदावत्सर ३३९
इन्द्र ५०२
इन्द्रवज्रा ३३५
इन्द्रोत ३९१
इरावती ३५७
इरिथिअन ४०५

ई

ईशावास्य उपनिषत् २५३

उ

उक्थ २२०, २४१
उग्र २१८
उच्छिष्ट १३५, १७१
उणादिसूत्र ४०१
उषा ५००
उष्णिक् ३३१
उष्णीष ४४१
उत्तर कुरु ३६४
उत्तरार्चिक १३८
उदात्त २६७
उदुम्बर १७९
उदीच्य सामग १३९
उद्गाता ९५, १४६, १५२
उद्दालक आरुणि २१६
उद्गीथ १०६, १३४
उपद्रव (सामगान) १५२

उपधा २७४
उपनिषद् २४५
उपनिषद् ब्राह्मण २२६
उपमश्रवस् ३८४
उपस्थान १७७
उपाकरण २८६
उमा हैमवती २५४
उशीनर २४२
उषस्वस ४५१
उपग्रन्थ सूत्र ३४५
उपनिदान सूत्र ३४६
उपमन्यु ३०९
उपमित ४२१
उपलप्रक्षिणी ४५९
उपसर्ग ३०२
उपानह् ४४२
उपेन्द्रवज्रा ३३५
उर (नगर) ४०६
उरवगश् ४०६
उवट (भाष्यकार) १२७

ऊ

ऊहगान १४४, १४९, ३०४

ऋ

ऋजीक ३५८
ऋणंचय ३९१
ऋक् तन्त्र २७७
ऋक् प्रातिशाख्य २७१
ऋग्विधान ३४०
ऋक् सर्वानुक्रमणी ९९
ऋक् संहिता ९७
ऋत ४८६
ऋत्विक् १४६
ऋषभ ४५८
ऋषि १४
ऋषिका ४१३

ए

एकविंश (स्तोम) १५१
एकवृष (साम) २२७
एकाह याग २२१, २८७
एकेसिनिज ३५८
एकपदागमा विद्या २६

ऐ

ऐतरेय आरण्यक २४०
ऐतरेय उपनिषद् २५६
ऐतिहासिकाः २२०
ऐकपदिक ३१६
ऐन्द्र निघन्टु ३०९
ऐन्द्र व्याकरण ३०९

ओ

ओपश ४२५

औ

औखेय ब्राह्मण १९९

औद्गात्र ९५
औदुम्बरायण ३१७
औपमन्यव ३१७
और्णवाभ ३१७

क

ककुप् ३३१
कङ्कति ब्राह्मण १९९
कठ उपनिषद् २५४
कठ संहिता १३१
कण्व १०१, २९९
कपिष्ठल १३२
कम्बोज ३६४
कर्काचार्य २१३, २६१
कर्की ४५७
कर्मार ४५८
कल्प २८६
कल्पानुपद सूत्र ३४५
कर्वीन्द्राचार्य १०५
कशु ३६८, ३८६, ३६१
कश्यप ३१५
कश्यप २८४
कहोल (आचार्य) १७५
काठक गृह्यसूत्र २६४
काठक ब्राह्मण १६६
काण्व संहिता १२६
कातीय श्राद्धसूत्र २९१
काशकृत्स्न ३१७
कात्यायन १००
कात्यायनी १२२
कात्यायनी शिक्षा २८१
कात्यायन श्राद्धसूत्र २९१
कात्यायन श्रौतसूत्र २६०
काबुल ३६०
काम्पिल ३६८
कारपचव १८८, २२४
कारु ४५८
काल १७०
कालबवि ब्राह्मण १६६
कालिदास ७
कालेय (साम) २२०
कावेरी ३५५
काशी ३६९
काशिका वृत्ति ३११
काशिकोशल २३३
काशीनाथ १६०
काश्य ३६६
काश्यप २७४
काश्यप संहिता १६२ टि०
कीकट ३६४
कुक्षि १३९
कुशिक २६६
कुन्म २६६

कुनार ३६०
कुन्ताप १६०
कुभा ३५९
कुमारिल भट्ट १९
कुमुद १५६
कुम्ब ४४५
कुयव ३६२
कुरीर ४४५
कुरु ३६२
कुरुक्षेत्र २४३
कुरु पञ्चाल २३३
कुरुश्रवण ३८४
कुरुंग ३९१
कुल्य १३९
कुसीद १३९
कृष्णमिश्र २९१
केकय अश्वपति २५८
केतु २४३
केन उपनिषत् २५२
केशव २९६
केशवी शिक्षा २८२
कैयट ३१० टि
कैवर्त ४५८
कोशल ३६१, ३६६
कौथुम १२८
कौथुमीय (शाखा) १४१
कौथुमीय गान १४४
कौरयाण ११०
कौशिक गृह्यसूत्र २६५
कौषीतक (आचार्य) १७५
कौषीतक गृह्यसूत्र २८९
कौषीतकि २०६, २४२, २६०
क्रम ५३२
क्रमपाठ ३१
क्रमसन्धान शिक्षा २८४
क्रिवि ३८६
क्रुमु ३६०
क्रैव्य पचाल ३८६
क्रौंच ३५४
क्रौष्टुकि ३१७
क्षीर स्वामी ३१६
क्षुद्रकल्प ३४५
क्षुद्र सूक्त १०२

ख

खनित्रिमा ४५२
खाण्डव २४३
खाण्डिकेय ब्राह्मण १९९
खादिर गृह्यसूत्र २९५

ग

गंगा ३५६
गण्डकी ३६१
गदाधर २९१

गन्धार ३५३
गन्धारि ३६४
गवामयन २४१, २८७
गर्भसूक्त ११७
गलदृक् शिक्षा २८४
गार्ग्य ३१७
गान संहिता १३७
गायत्री २३१
गायत्र्युपनिषद् २३१
गालव ३१७
गालव ब्राह्मण २००
गिलगित ३५६
गुणवाद ११४
गुप्तवेद २७
गृत्स २३९
गृत्समद १०१
गृष्टि ४५७
गृह ४२१
गृह्य सूत्र २८७
गोतम राहूगण २१५
गोत्र ४२३
गोदावरी ३५५
गोपथ ब्राह्मण २३२
गोपा २३७
गोपालिका (टीका) ३२१
गोभिल गृह्यसूत्र २९७
गोमती ३६०
गोमाल ३६०
गोविन्द स्वामी २९९ टि
गोष्ठ ४५६
गौतम धर्मसूत्र २९८
गौतमी शिक्षा २८३
गौडपादाचार्य २५६
ग्राम ४१९
ग्रामगान १३८, १४४

घ

घग्घर ३६१
घन ३०
घनपाठ ३२
घोष २६७
घोषा ४१३

च

चतुर्विंश (स्तोम) १५१
चतुश्चत्वारिंश (स्तोम) १५१
चन्द्रगोमी २८४
चन्द्रभागा ३५८
चरण १०३
चरक ब्राह्मण १९९
चरण व्यूह १००, १०४, ३४७
चर्मम्न ४२०
च्यवन २२२
चातुर्मास्य २८७, ५२२

	११३
	१५८
	३६१
	३६१
	२४३
	३६७, ४१६
	३६७, ३८६
	३५८

छ

छन्द	३२८
छन्दोनुक्रमणी	३४०
छन्दः सूत्र	३२९
छागलेय ब्राह्मण	१९९
छान्दोग्य उपनिषद्	६५, २५७

ज

जगती	३३२
जटा	३०
जटापाठ	३२
जनक	२५१
जनमेजय	२१६
जयन्त स्वामी	२८१
जयराम	२९१
जयादित्य	३११
जाजलि	१५६
जानश्रुति पौत्रायण	३६६
जावाल	२५७
जाबालि ब्राह्मण	१९९
जासकार	३५६
जैमिनि	१९
जैमिनीय (शाखा)	१४२
जैमिनीयगान	१४४
जैमिनीय गृह्यसूत्र	२६५
जैमिनीय ब्राह्मण	१९९, २३१
जैमिनीय श्रौतसूत्र	२९५
ज्योतिष	३३६
ज्योतिष्टोम	२, ५२५
ज्ञानयज्ञ (भाष्य)	१२९

झ

झेलम	३५८

ट

टीकाई	४०६

ड

ड्रास	३५६

त

तक्मन्	१६२, १६५
तक्षन्	४५८
तन्त्रवार्तिक	२९७
तल्प	४२५
तवलकार आरण्यक	२४४
तवलकार ब्राह्मण	१९९
ताण्ड्य ब्राह्मण	२२०
तिलक	८२

तुग्र ३५४
तुम्बरु ब्राह्मण २००
तुर्यवाह ४५८
तृत्सु ३८४
तुर्वश ३८५, ३९१
तूर्ष्न ३६९
तृक्षि ३८४
तृष्टामा ३५९
तैजस् २५६
तैटीकि ३१७
तैत्तिरीय आरण्यक २४२
तैत्तिरीय उपनिषद् २४२, २५६
तैत्तिरीय प्रातिशाख्य २७५
तैत्तिरीय संहिता १२९
तैमात १६५
त्रयास्त्रिंश १५१
त्रयी ९४
त्रसदस्यु ३८४
त्र्यम्बक ५१०
त्र्यरुण ३८४
त्रिणव (स्तोम) १५१
त्रिपुर ४१६
त्रिप्लक्ष ३६९
त्रिभाष्य रत्न २७६
त्रिवत्स ४५८
त्रिवृत (स्तोम) १५१
त्रिष्टुप् २३२
त्र्यवि ४५८

द

दण्ड ३०
दभीति ३९७
दिवारात्रि २२६
दर्श २८७
दशति १३७
दस्यु ३९३, ३९८
दाक्षायण (यज्ञ) १७७
दाक्षीपुत्र २८०
दानस्तुति ११२, ३८९
दाशराज्ञ युद्ध २५७, ३९२
दास ३९५
दित्यवाह् ४५८
दिवोदास ३८५
दुन्दुभि-सूक्त १९८
दुरोण ४२१
दुर्ग ४१५
दुर्गाचार्य ३२१
दुष्टरीतु पौंसायन ३८६
दुष्यन्त २१६
दुहिता ४१४
दूर्श ४६२
दृषद्वती ३६१
देवतानुक्रमणी ३४०

देवदर्श १५६
देवयान २६०
देवराज यज्वा ३१६
दैवत (ब्राह्मण) २२८
दैवत-कांड ३१६
दैववात ३८५, ३८६
द्याद्विवेद ३४२
द्यौतोन २२२
द्राह्यायण श्रौतसूत्र २६४
द्रुह्यु ३८३, ३९२
द्रोण (कलश) १८०
द्विपदा (ऋक्) १००

ध

धन्वी १४९
धरुण ४५८
धर्मसूत्र २८७, २९७
धुनि ३९७, ४१६
ध्वज ३०

न

नक्षत्रेष्टि २१७
नचिकेता २५४
नद ३६८
नदीसूक्त ३५६
नन्दिकेश्वर ३०९
नहुष ३८७
नागेश भट्ट ३१२
नागोजि भट्ट ३१४
नाद २६७
नारद २५८
नारदीय-शिक्षा २८३
नारायणीय-उपनिषद् २४३
नासदीय सूक्त ११७
निघात स्वर ५५४
निघण्टु ३१५
निचृव ३३२
निधन (साम) १५३
निपात ३०२
निर्भुज २४१
निमिसार ३६९
निरुक्त २४१, ३१५
निरुक्तनिचय ३२३
निरुक्तवार्तिक ३२१
निरुक्ति १८१
निरूढ पशु २८७
निष्केवल्य २४१
नीच्य ३६३
नीतिमंजरी ३४०
नैगम काण्ड ३१६
नैघण्टुक काण्ड ३१६
नैचाशाख ३८९
नैदानाः ३२०
नैमिश ३६९
नैमिषवन ३६९
नैरुक्ता. ३२०

नैपिध ३६८
नौधस (साम) २२०
न्यास ३११
न्यू ख २८८

प

पक्थ ३६२
पङ्क्ति ३३२
पक्षुम ३५६
पचकोश विवेक २५६
पचदश (स्तोम) १५१
पंचाल ३६३
पचावि ४५८
पचविधान-सूत्र ३४६
पचकोरा ३६०
पतजलि ५
पथि ३८५, ४००, ४०५
पत्नीना सदन ४२३
पदक्रम-सदन २७६
पद ३०६
पदपाठ २१, ९८
पदवृत्ति सन्धि ५३८
परतन्त्र स्वरित ५५३
पराशर ब्राह्मण २००
परिवत्सर ३२९
परिवृक्ती ४१२
परुष्णी ३५७
पर्जन्य ५०७
पर्वत ऋपि ३८५
पवमान (पर्व) १३७
पवमान (सोम) १०१
पवस्त ४६२
पशु-पशाह्निक ३०३
पाकस्थामा ११२, ३९१
पांचजन्य ३८२
पाणिनि २६४ टि०
पाणिनीय शिक्षा २८०, ३२०
पाद ३३१
पाद-विधान ३४०
पारसीक ३७५
पारस्कार गृह्यसूत्र २९०
पारावत ३८५
पाराशरी शिक्षा २८१
पाराशर्य व्यास २४४
परिभापेन्दुशेखर ३१२
पारिपद् २७१
पालागली ४१२
पार्षद २७१
पिंगलाचार्य ३२९
पिण्डपितृ याग २८७
पितृमेध २४३
पितृयान २६०
पिप्पलाद १५६, १५७

पितृमेध	१२५	पौष्यञ्जि	१३९
पिप्रु	४१६	प्रकण्व	११३
परिव्राजकाः	३२०	प्रकृतिगान	१४४
पुण्ड्र	३६८	प्रकृतिपाठ	२७६
पुर	४१६	प्रकृतिभाव	५३८
पुरउष्णिक्	३३१	प्रजापति	११८, १७९, १६२
पुरु	३८३, ३६२	प्रज्ञान	२५७
पुरुकुत्स	३८३	प्रतनन	२३८
पुरुरवा उर्वशी संवाद	११६	प्रतिगर	२८८
पुरुमीढ़	३८९	प्रतिधि	४३६
,,	३७२	प्रतिहर्ता	१५२, १७७
पुरुष	२४१	प्रतिहार	१४६, १५२
पुरुषमेध	१२४, २८७	प्रतृण्ण	२४१
पुरुष सूक्त	११७, ११६	प्रपाठकार्ध	१३२
पुरोनुवाक्या	२८८	प्रमगन्द	३८८
पुलिन्द	३६८	प्रयत्न	२६७
पुष्करसादि	२६९	प्रश्नोपनिषत्	२५४
पुष्पसूत्र	२७६	प्रश्लिष्टसन्धि	५२७
पूर्णमास	२८७	प्रस्ताव	१४६, १५२
पूषन्	४९४	प्रस्तोक	३८५
पृथु	४४७	प्रस्तोता	१५२, १७७
पृथुश्रवस्	३६१	प्रस्तार पंक्ति	३३२
पेकुस	४५४	प्राज्ञ	२५६
पेशस्	४४०	प्राण	२२८, २३६
पैङ्ग्य	१७५, २०९	प्राणविद्या	२३६, २४१
पाँष्टिकानि	१६६	प्रातर्दोह	४५६

प्रातिशाख्य　२७०
प्रातिशाख्यप्रदीपशिक्षा　२८३
प्रायश्चित्तानि　१६६
प्रासाद　४१८
प्रेयमेध　३५६
प्रोष्ठ　४२५
प्रास्रवण　२२४

फ

फीनिशिया　४०५

ब

बभ्रु　१५६
बर्बर स्वामी　३२१
बल　२६६
बलास (रोग)　१६२
बल्ब　३७५
बहिष्-पवमान　१७७
बालखिल्य　९८
बालाकि　२६०
बाल्कश ह्रद　२७५
बाष्कल　१०४
बुक्क (महाराज)　१०७
बृहत् (साम)　१८०
बृहती　३३०
बृहदारण्यक उपनिषत् २४२, २५८
बृहद्देवता　११३, ३४१
बृहस्पति　३०८
बेकनाट　४०३
बोपदेव　३०९
बौधायन गृह्यसूत्र　२९२
बौधायन धर्मसूत्र　२९२
बौधायन श्रौतसूत्र　२९२
ब्रह्मण्यानि　१६९
ब्रह्मबलि　१५६
ब्रह्मविद्या　२४६
ब्रह्म-सम्प्रदाय　१२१
ब्रह्मा (ऋत्विज्)　९५
ब्रह्मावर्त　१८९
ब्राह्मण　१७३

भ

भट्ट भास्कर　१७४ टि
भट्टोजिदीक्षित　२१३
भरद्वाज　१०१, १७५, २३९
भरद्वाज गृह्य सूत्र　२९४
भरत　२१६, २८७
भरत स्वामी　१४३
भर्तृध्रुव　३२३
भर्तृहरि　३११
भल्लु　२१२
भागवत　१०३ टि
भामती　१६ टि
भाल्लवि ब्राह्मण　१९९
भाष्यप्रदीप　३१२
भास्करराय　३१७

भीमसेन (टीकाकार) १२७
भुज्यु ३५४
भुरिक् ३३२
भूमा २५८
भूमिसूक्त १६८
भृगु २४३, ३९२
भैषज्यानि सूक्तानि १६५

म

मगध ३६७
मणिग्रीव ४४३
मण्डन मिश्र ३२१
मण्डल (ब्राह्मण) २१४
मण्डव्य शिक्षा २८२
मद्र ३६३
मत्स्य २४२
मना ४६६
मनु २६८
मनुसावर्णि ३६१
मनुस्मृति ५
मनोरमा ३१२
मनोरवसर्पण २१५, ३५३
मनःस्वारशिक्षा २८४
मन्त्रमहोदधि १०८
मन्देह २४४
मंत्र ब्राह्मण २२९
मरद् वृधा ३५८
मरुद्वर्द्वान् ३५८
मल्लशर्म शिक्षा २८२
मशक कल्पसूत्र २६४
मस्करि भाष्य २९८ टि०
मशशरि ३८७
महेश्वरदेव ३६१
महिदास १००, २४१
महीधर (भाष्यकार) १२७
महानाम्नी (ऋचा) १३८, २४१
महानारायणीय उपनिषत् २४२
महानिरष्ट ४५८
महापुर ४१६
महाप्राण २६७
महाब्राह्मण २२०
महाभारत ९४
महाभाष्य २६५ टि०
महामेरु ३५४
महाव्रत २४१
महावृष ३६५
महासूक्त १०२
माक्षव्य २७२
मांगलि १२९
माण्डूक्य उपनिषद् २५५
माण्डूकायन १०४, १०५
माण्डूकी शिक्षा २८२
माण्डूकेय २७२
माण्डूकेय गण १७५

मात्रा २६६, ५३१
माथव विदेघ २१५
माधव (साम) १४३
माधव भट्ट ३४४
माधव भाष्य १०६ टि०
माधवीय १०७
माध्यन्दिन शाखा १२६
माध्यन्दिनी शिक्षा २८२
मानव गृह्यसूत्र २९४
मानव श्रौतसूत्र २९४
मानुष तीर्थ ३६१
माया ४९०
माला ३०
मालिनी १२६
माषशरवि ब्राह्मण १९९
माहिषेय भाष्य २७६
मिताक्षराकार ३०१
मित्र ४९४
मिश्र ४८२
मीमांसा सूत्र २०
मुक्तिकोपनिषद् २४६
मुण्डक उपनिषद् २५५
मूजवत् ३५३
मूतिब ३६८
मृत सञ्जीवनी ३२९
मेदन्तू ३६०
मेधातिथि २२२, २९८
मैत्रायणी उपनिषद् २४२
मैत्रायणी १२०
मैत्रायणीय ब्राह्मण १९९
मैत्री उपनिषद् २६०
मैत्रेयी १२२
मैनाग ३५४
मोद १५६, १५८

य

यजुर्विधान २२५
यजुष् १२१
यज्ञेश्वर २१६
यदु ३८३, ३९२
यम १८५, ५३३
यमयमी-संवाद ११६
यमुना ३५६
यव्यावती ३६२
याजुष अनुक्रमणी ३४४
याजुष ज्योतिष ३३८
याज्ञवल्क्य १२२, १८७, २१२
याज्ञवल्क्य शिक्षा २८१
याज्ञिका. ३२०
याज्या ९४, २८८
यातु विद्या २९६
यास्क ७, १०६, २४१
योग भाष्य १६ टि०

योनिगान १४६
युगन्धर ३००

र

रक्षा ३०४
रगेशपुरी ३१६
रथ ३०
रथन्तर (साम) १८२
रथवीति दार्भ्य ३७२
रथस्या ३६२
रन्हा ३५६
रसा ३५९
रहस्यगान १४४
राजकर्माणि १६७
राजकुमार १३६
राजसूय २८७
राणायनीय शाखा १४०
रामचन्द्राचार्य ३१२
रुक्म ४४३
रुद्र ५०७
रुद्राध्याय १२४, ५०८
रैक्वपर्ण ३६६
रोहित १७०
रोहितकुल २८४
रोमशा ४१३
रौरुकि ब्राह्मण १९९

ल

लगध

लघुऋक्तन्त्र संग्रह ३४६
लघुमंजूषा ३१२
लाक्षा १६३
लाक्षासूक्त १६४ टि
लाट्यायन श्रौतसूत्र २९४
लोप २७४
लोपामुद्रा ४१२
लोमशी शिक्षा २८३
लौगाक्षि १३९
लौगाक्षि स्मृति १००

व

वयित्री ४६०
वरणावती ३६२
वररुचि ३०३
वरशिख ३६१
वराहमिहिर १३३
वरुण ४८९
वरुणा ३६२
वर्गद्वयवृत्ति २७१
वर्ण २६६
वर्णरत्नप्रदीपिका २८२
वर्ण समाम्नाय २७३
वलभी ३२३
वशागम सन्धि ५४३
वश–उशीनर २३३
वशा ४५७
[illegible] १०१, २३९

वसिष्ठ धर्मसूत्र ३०१
वसोर्धारा १२४
वध्य ४२६
वश मण्डल १०१
वंश ब्राह्मण २३१
वाक् १४
वाक्यपदीय २, ३११
वाक्सूक्त ११७
वाचस्पति १६, १७४ टि
वाजपेय १२३, २८७
वाजसनि १२२
वाजसनेयी प्रातिशाख्य २७३
वात्स २२२
वामदेव १०१, २३६, ४५४
वामन ३११
वाय ४६०
वाराह (अवतार) २१६
वाराह श्रौतसूत्र २९४
वार्ष्यायणि ३१७, ३९९
वावाता ४१२
वाल्हीक ३५३
वासिष्ठी शिक्षा २८१
वास्तोष्पति ४२४
वाह्नीक ३६४
विकर्पंग १२६
विकार १४६
विकृतिपाठ २७६
विज्ञानभिक्षु १७
विददश्व ३७२
विदर्भ ३६८
विदेघ माथव २६६, ३७७
विदेह २४२, ३६१, ३६६
विद्रध (रोग) १६२
विनशन १८८
विनायक २२६
विनियोग १७८
विपणि ४०१
विपाश ३५८, ३६१
विबाली ३६८
विभ्रद्वाज २३९
विराम १४६
विराट् ३३२
विवरण (भाष्य) १४३
विवार २६७
विवृत्ति ५३६
विशापिन् ३६२
विश्वनाथ २६१
विश्वामित्र १००, २३६
विश्लेपण १२६
विष्णु १७, ४६७
विष्णु धर्मसूत्र ३०१
विष्णु पुराण ११७

विष्णुमित्र २७१
विष्टुति १५१
विसर्ग सन्धि ५४०
वेंकट माधव १०६
वेणु (स्वर) १४५
वेददीप (भाष्य) १२७
वेदव्यास ६४
वेदांग २६२
वेदान्तपरिभाषा १८
वेदार्थदीपिका १०२ टि०
वेमन् ४६०
वेयगान १४४, १४९
वेहत् ४५७
वृचीवन्त ३८५, ३८६
वृत्र २६४, ५०४
वृत्त ४०३
वृषगिर ३८७
वृषभ ३०२, ३८५
वैखानस २२२
वैतदश्वि ३९०
वैतान श्रौतसूत्र २९५
वैन्य ४४७
वैवस्वत ३९१
वैशम्पायन १०२
वैशेषिक दर्शन १५
वैश्वानर २१५, २५६
व्यवाय ५३६
व्याकरण ३०२
व्याडि ३११
व्यास ३५८
व्यूह ५२६
व्रात्य २२३

श

शक्वरी (ऋचा) २१०
शंकराचार्य २९८
शतर्चिनः १०२
शतपथ (ब्राह्मण) ४, २११
शबर ३६८
शबरभाष्य ११४
शब्द कौस्तुभ ३१२
शब्देन्दुशेखर ३१२
शम्बर ३८५, ३९७
शशीयसी ३७२
शस्त्र ९५, १५१, २८८
शाकटायन २७४, २७७
शाकपूणि ३१७
शाकल १०४, १७५, २७४, ३६५
शांकर भाष्य १८ टि
शांखायन १०४, १०५
शांखायन आरण्यक २४२
शांखायनगण १७५
शांखायन (ब्राह्मण) २०९
शांखायन श्रौतसूत्र २८८

सुपोमा ३५८
सुसर्तु ३५९
सूक्ष्मा वाक् २४, २५
सूक्तानुक्रमणी ३४०
सूर्य ४९६
सूर्यवर्णा (कीट) १६४
सूर्या ४११, ४९९
सृञ्जय ३८५
सृष्टि १८४
सैन्धवायन १५६
सोम ४३३
सोमक साहदेव्य ३८५
सोम परिक्रयण ३५३
सोमयाग २८७
सोमलता ३५३
सोमाकर ३३८
सोहन ३५८
सौत्रामणी (यज्ञ) १२४, ५२३
सौलभ ब्रा० २००
स्कन्दभाष्य १०६
स्कन्द २२६
स्कन्द महेश्वर ११२, ३१७
स्कन्द स्वामी १०६
स्कम्भ १७१
स्तरी ४५७
स्तोभ १४६, १५३
स्तोम १५१
स्त्रीकर्माणि १६६
स्थानानुप्रदान ३०६
स्थूला वाक् २७
स्थौलाष्ठीवि ३१७
स्पेन्तो मइन्यु ४८१
स्फोट २७
स्फोटसिद्धि ३२१
स्वतन्त्र स्वरित ५५४
स्वनय-भाव्य ३९१
स्वयंजा ४५२
स्वर २६६
स्वरभक्ति ५३५
स्वरभक्ति-लक्षण-शिक्षा २८३
स्वराकुश शिक्षा २८३
स्वराट् गायत्री ३३३
स्वरित २६७, ५५३

ह

हरदत्त ३११
हरियूपीया ३६२
हरिस्वामी २१२
हरिहर (महाराज) १०७, २९१
हर्म्य ४१८
हारिद्रविक ब्राह्मण १९९
हारिल २९६

हारीत २९९
हलायुध भट्ट ३२९
हविर्धान ४२३
हिंकार १५३
हिमवन्त ३५३
हिरण्यगर्भ ११९
हिरण्यकेशि धर्मसूत्र ३००
हिरण्यकेशी श्रौतसूत्र २६३
हिरण्यनाभ कौशल्य १३९
हिरण्यवर्णा (कीट) १६४
हेतु १७९
हेतु वचन १८०
हेमचन्द्र २८४
हैमवती ५११